

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३३ : किरण १

जनवरी-मार्च १९८०

सम्पादन-मण्डल
डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री गोकुलप्रसाद जैन

□

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एस.ए., एल-एल. बी.,
साहित्यरत्न

□

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस अंक का मूल्य :
१ रुपये ५० पैसे

विषयानुक्रमिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	केवलज्ञान का स्वरूप	१
२.	भगवान महावीर की अध्यात्म-देशना —डा० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, सागर	२
३.	भागवत में भगवान ऋषभदेव	१०
४.	प्राकृत साहित्य में समता के स्वर —डा० प्रेम सुमन जैन	११
५.	सम्राट मुहम्मद तुगलक और महान जैन शासन-प्रभावक श्री जिनप्रभसूरि —श्री अग्रचन्द नाहुटा, बीकानेर	१३
६.	जैन कर्म-सिद्धान्त—श्री श्यामलाल पाण्डवीय	१८
७.	जयपुर पोथीखाने का संस्कृत जैन साहित्य —डा० प्रेमचन्द रावका, मनोहरपुर	२३
८.	ऋषभदेव : सिन्धु-सभ्यता के आराध्य —श्री ज्ञानस्वरूप गुप्ता	२५
९.	जैन पत्र : एक अध्ययन —श्रीलक्ष्मीचन्द्र 'सरोज'	२६

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर का एक महत्वपूर्ण प्रकाशन : जैन लक्षणावली

□ श्री अग्रचन्द नाहटा, बीकानेर

जैनधर्म एक वैज्ञानिक और विश्वकल्याणकारी धर्म है। तीर्थंकरों ने महान् साधना करके केवल ज्ञान प्राप्त किया और उसके द्वारा शान्ति व कल्याण का मार्ग जो कुछ भी उनके ज्ञान में झलका, प्राणीमात्र के कल्याण के लिए ही, जगह-जगह घूमकर लोक भाषा में प्रचारित किया। अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाने के लिए शब्दों का सहारा लेना ही पड़ता है। बहुत-से नये-नये शब्द गढ़ने भी पड़ते हैं। फिर भी सर्वज्ञ का ज्ञान बहुत थोड़े रूप में ही प्रचारित हो पाता है, क्योंकि वह शब्दातीत व अनन्त होता है। शब्द सीमित हैं। ज्ञान असीम है। जैन धर्म की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं जो वह उसके पारिभाषिक शब्दों से प्रकट है। बहुत-से शब्द जैन ग्रन्थों में ऐसे प्रयुक्त हुये हैं जो ग्रन्थ किन्हीं ग्रन्थों व कोष ग्रन्थों में नहीं पाये जाते। कई शब्द मिलते भी हैं तो उनका अर्थ वहाँ जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त अर्थों से भिन्न पाया जाता है। अतः जैन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ सहित कोष प्रकाशित होना बहुत ही आवश्यक है, और अपेक्षित था और अब भी है। अंग्रेजी भाषा आज विश्व में विशिष्ट स्थान रखती है पर जैन-ग्रन्थों के बहुत से शब्दों के सही अर्थ व्यक्त करने वाले शब्द उस भाषा में नहीं हैं। यह जैन ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवादकों को प्रायः अनुभव होता है। अतः जैन पारिभाषिक शब्दों के पर्यायवाची अंग्रेजी शब्दों के एक बड़े कोष की आवश्यकता आज भी अनुभव की जा रही है।

ढाई हजार वर्षों में शब्दों के रूप और अर्थ बदले हैं। परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। अनेकों आचार्यों, मुनियों और विद्वानों ने एक-एक पारिभाषिक शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। अतः एक ही शब्द के अर्थ अर्थान्तर पाया जाता है। किस-किस ने किस पारिभाषिक शब्द को किस तरह व्याख्यात किया है उसका पता लगाने का कोई साधन नहीं था। इस काम की पूर्ति और ऐसे ही एक कोष की आवश्यकता का अनुभव स्व० श्री जगलकिशोर जी मुतार को हुआ और उन्होंने इस काम को अपने ढंग से प्रारम्भ किया। पर वह काम बहुत बढ़ा था और वे अन्य दूसरे कामों में लगे रहते थे इसलिए इसे पूरा करना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाया। कुछ व्यक्तियों के सहयोग से इस प्रयत्न को आगे बढ़ाने

का प्रयत्न किया गया, पर वर्षों तक एकनिष्ठ होकर उसे पूरा कर पाना। दूसरों से संभव नहीं हो पाया किन्तु उसे पूरा करने का श्रेय प० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री को मिला। वर्षों से (वीर सेवा मन्दिर जब से स्थापित हुआ तभी से) मैं जब भी दिल्ली जाता हूँ तो वीर सेवा मन्दिर भी पहुँचता हूँ। अतः प० बालचन्द्र जी के काम का मुझे अनुभव भी है। अब वह काम पूरा हो गया, इससे मुझे व उन्हें दोनों को सन्तोष है।

जैन लक्षणावली ग्रन्थ के निर्माण में सबसे बड़ी उल्लेखनीय विशेषता तो यह रही है कि दि० श्री० दोनों सम्प्रदायों के करीब ४०० ग्रन्थों के आधार, ये यह महान् ग्रन्थ तैयार किया गया है। एक-एक जैनपारिभाषिक शब्द की व्याख्या किस आचार्य ने किस ग्रन्थ में किस रूप में की है, इसकी खोज करके उन ग्रन्थों का आवश्यक उद्धरण देते हुये हिन्दी में उन व्याख्याओं का सार दे दिया गया है। इससे उन ग्रन्थों के उद्धरणों के ढ़ंढने का सारा श्रम बच गया है और हिन्दी में उन व्याख्याओं का सार लिख देने से हिन्दी वालों के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी हो गया है। करीब ४०० ग्रन्थों का सार संक्षेप या मंत्र-दोहान इसी एक ही ग्रन्थ में कर देना वास्तव में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। प० बालचन्द्रजी ने तो वर्षों तक अथक श्रम करके जिज्ञासु के लिए बहुत बड़ी सुविधा उपस्थित कर दी इसके लिए वे बहुत ही धन्यवाद के पात्र हैं। वीर सेवा मन्दिर ने काफी खर्चा उठाकर बड़े अच्छे रूप में इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया। इसके लिए व संस्था व उसके कार्यकर्ता भी धन्यवाद के पात्र हैं।

जैन लक्षणावली इसका दूसरा नाम जैन पारिभाषिक शब्दकोष रखा गया है। इसके तीन भाग हैं, जिनमें १२२० पृष्ठों में पारिभाषिक शब्दों के लक्षण और अर्थ अकारादि क्रम से दिये गये हैं। पहले के दो भागों में, जिन-जिन ग्रन्थों का उपयोग इस ग्रन्थ में हुआ है उनका विवरण भी दिया गया था। तीसरे भाग के ४४ पृष्ठों की प्रस्तावना में बहुत से शब्दों सम्बन्धी विशेष बातें देकर ग्रन्थ की आंशिक पूर्ति कर दी गयी है। प्रत्येक भाग का मूल्य ४० रुपया और तीनों भागों का मूल्य १२० रुपये है। यह ग्रन्थ संग्रहणीय तो है ही, बहुत काम का है, इसलिए सभी जैन ग्रन्थालयों को खरीदना ही चाहिये। □□

श्रीम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यग्निसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३३
किरण १

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५०६, वि० सं० २०३६

{ जनवरी-मार्च
१९८०

केवलज्ञान का स्वरूप

गाथा—केवलज्ञानं साई अपञ्जवसियं ति दाह्यं सुते ।

तेत्तियमितोत्तूणा केइ बिसेसं ण इच्छंति ॥३४॥

छाया—केवलज्ञानं साद्यपर्यवसितमिति दर्शितं सूत्रे ।

तावन्मात्रेण दृप्ताः केचन विशेषं न इच्छंति ॥३४॥

गाथा—जे संघयणाईया भवत्थकेवलि बिसेसपज्जाया ।

ते सिज्झमाणसमये ण होंति विगय तओ होइ ॥३५॥

छाया—ये संहननादयः भवत्थकेवलीविशेषपर्यायाः ।

ते सिद्धमानसमये न भवन्ति विगतं ततो भवति ॥३५॥

एक बार होने पर केवलज्ञान सतत

केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह एकान्त मान्यता भेद-दृष्टि को लेकर है। जैनदर्शन में गुण और गुणी में न सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद। किन्तु इन दोनों में कथंचित् भेदाभेद कहा गया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्मा के निज गुण है, आत्मस्वरूप है। द्रव्यदृष्टि से ये दोनों अनादि अनन्त हैं। परन्तु अनादि काल से आत्मा कर्मों से मलिन हो रही है, इसलिए इसके निज गुण भी मलिन हैं, परन्तु जब आत्मा से केवलज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मों का विलय हो जाता है, तब आत्मा में केवलदर्शन और केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इस दृष्टि से केवलज्ञान उत्पन्न होता है और फिर सतत बना रहता है। एक बार केवलज्ञान के हो जाने पर यह त्रिकाल में भी अपने प्रतिपक्षी कर्म से आक्रान्त नहीं होता। इस दृष्टि से यह अपर्यवसित है। किन्तु यह एकान्त नहीं है। किसी अपेक्षा से इसे पर्यवसित भी कहा गया है।

शाश्वत होने पर भी किसी अपेक्षा से नश्वर

जो तेरहवें गुणस्थानवर्ती भवत्थकेवली वज्रवृषभनाराचसंहनन, केवलदर्शन, केवलज्ञान आदि से सम्पन्न है, जिनके आत्मप्रदेशों का एकक्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध है तथा अघातिया कर्मों का नाश कर जो सिद्ध पर्याय को प्राप्त करने वाले हैं, उनके शरीरादि आत्मप्रदेशों का एवं केवलज्ञान-दर्शनादि का सम्बन्ध छूट जाता है और सिद्ध अवस्था रूप नवीन सम्बन्ध होता है, इसलिए उन्हें पर्यवसित कहा जाता है।

भगवान महावीर की अध्यात्म-देशना

□ डा० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, सागर

लोक व्यवस्था

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं। इनमें सुख-दुःख का अनुभव करने वाला, अतीत घटनाओं का स्मरण करने वाला तथा आगामी कार्यों का सकल्प करने वाला द्रव्य, जीव द्रव्य कहलाता है। जीवद्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनेक गुण विद्यमान हैं। उन गुणों के द्वारा इसका बोध स्वयं होता रहता है। पुद्गल द्रव्य स्पष्ट ही दिखाई देता है। यद्यपि सूक्ष्म पुद्गल दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि उनके संयोग से निमित्त स्कन्ध पर्याय उनके अनुभव में आता है और उसके माध्यम से सूक्ष्म पुद्गल का भी अनुमान कर लिया जाता है। जीव और पुद्गल के चलने में जो सहायक होता है उसे धर्म द्रव्य कहा गया है और जो उक्त दोनों द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है वह अधर्म द्रव्य कहलाता है। पुद्गल द्रव्य और उसके साथ सम्बद्ध जीव द्रव्य की गति तथा स्थिति को देखकर उनके कारणभूत धर्म अधर्म द्रव्य का अस्तित्व अनुभव में आता है। समस्त द्रव्यों के पर्यायों के परिवर्तन में जो सहायक होता है उसे काल द्रव्य कहते हैं। पुद्गल के परिवर्तित पर्याय दृष्टिगोचर होते हैं, इससे काल द्रव्य का अस्तित्व जाना जाता है। जो सब द्रव्यों को निवास देता है वह आकाश कहलाता है। इस तरह आकाश का भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

जीवादि छह द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य ही भूतिक है—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से सहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य-द्रव्य है। शेष पांच द्रव्य अमूतिक हैं—रूपादि से रहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। जीवद्रव्य, अपने ज्ञानगुण से सबको जानता है और पुद्गल द्रव्य उनके जानने में माध्यम बनता है, इसलिए कोई द्रव्य

भूतिक हो अथवा अमूतिक, जीव के ज्ञान से बाहर नहीं रहता। पुद्गल द्रव्य के माध्यम होने की बात परोक्ष ज्ञान-इन्द्रियाधीन ज्ञान में ही रहती है, प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं।

असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश के भीतर सब द्रव्यों का निवास है, इसलिए सब द्रव्यों का परस्पर संयोग तो हो रहा है पर सबका अस्तित्व अपना-अपना स्वतन्त्र रहता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव रहता है, इसलिए संयोग होने पर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन त्रिकाल में भी नहीं करता है।

यह लोक की व्यवस्था अनादि अनन्त है। न इसे किसी ने उत्पन्न किया है और न कोई इसे नष्ट कर सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और घटपटादि रूप पुद्गल द्रव्य, जीव द्रव्य से पृथक् हैं, इसमें किसी को सन्देह नहीं, परन्तु कर्म नौकर्म रूप जो पुद्गल द्रव्य जीव के साथ अनादिकाल से लग रहा है, उसमें अज्ञानी जीव भ्रम में पड़ जाता है। वह इस पुद्गल द्रव्य और जीव को पृथक्-पृथक् अनुभव न कर एक रूप ही मानता है—जो शरीर है वही जीव है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुई एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति ही जीव कहलाती है। जीव नाम का पदार्थ, इन पृथ्वी आदि पदार्थों से भिन्न पदार्थ नहीं है। शरीर के उत्पन्न होने से जीव उत्पन्न होता है और शरीर के नष्ट हो जाने से जीव नष्ट हो जाता है।

जब जीव नाम का कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं है तब परलोक का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है। यह जीव विषयक अज्ञान का सबसे बृहद् रूप है। यह चार्वाक का सिद्धान्त है। तथा दर्शनकारों ने इसे नास्तिक दर्शनों में परिगणित किया है।

आत्मा का स्वल्प

अनेक पदार्थों से भरे हुए विश्व में आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकृत करना आस्तिक दर्शनों की प्रथम भूमिका है। आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करने पर ही अच्छे बुरे कार्यों का फल तथा परलोक का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। अमृतचन्द्र आचार्य ने आत्मा का अस्तित्व प्रदर्शित करते हुए कहा है—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णः ।

गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥

पुरुष—आत्मा है और वह चैतन्यस्वरूप है, स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण नामक पौद्गलिक गुणों से रहित है, गुण और पर्यायों से तन्मय है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सहित है।

किसी भी पदार्थ का वर्णन करते समय आचार्यों ने दो दृष्टियाँ अंगीकृत की है—एक दृष्टि स्वरूपोपादान की है और दूसरी दृष्टि पररूपोपाहन की। स्वरूपोपादान की दृष्टि में पदार्थ का अपना स्वरूप बताया जाता है और पररूपोपाहन की दृष्टि में पर पदार्थ से उसका पृथक्करण किया जाता है। पुरुष—आत्म चैतन्य रूप है, यह स्वरूपोपादान दृष्टि का कथन है और स्पर्शादि से रहित है, यह पररूपोपाहन दृष्टि का कथन है। देख, तेरा आत्मा का चैतन्य स्वरूप है, जाता दृष्टा है और उसके साथ जो शरीर लग रहा है वह पौद्गलिक पर्याय है। यह जो स्पर्श रस, गन्ध तथा वर्ण अनुभव में आते हैं वे उसी शरीर के घर्म हैं, उन्हें तू आत्मा नहीं समझ बैठना। यह तेरा आत्मा सामान्य विशेष रूप अनेक गुण तथा स्वभाव और विभावरूप पर्यायों से सहित है। साथ ही परिणमनशील होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।

अध्यात्म शब्द का अर्थ

उपर्युक्त प्रकार से परपदार्थों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करना अध्यात्म की प्रथम भूमिका है। 'आत्मनि इति अध्यात्म' इस प्रकार अध्ययीभाव समास के द्वारा अध्यात्म शब्द निष्पन्न होता है और उसका अर्थ होता है आत्मा में अथवा आत्मा के विषय में। अशुद्ध और शुद्ध के भेद से जीव का परिणमन दो प्रकार का होता है।

जिसके साथ नोकर्म, द्रव्य कर्म, और भावकर्म रूप पर पदार्थ का संसर्ग हो रहा है ऐसा संसारी जीव अशुद्ध जीव कहलाता है और जिसके साथ उपर्युक्त पर-पदार्थ का संसर्ग नहीं है ऐसा सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध जीव कहलाता है। अशुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमें अन्य धातुओं के समिश्रण से अशुद्धता आ गई है और शुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमें से अन्य धातुओं का समिश्रण अलग हो गया है। जिस प्रकार चतुर स्वर्णकार की दृष्टि में यह बात अनायास आ जाती है कि इस स्वर्ण में अन्य द्रव्य का समिश्रण कितना है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव की दृष्टि में यह बात अनायास आ जाती है कि आत्मा में अन्य द्रव्य का समिश्रण कितना है और स्वद्रव्य का अस्तित्व कितना है। जिस पुरुष ने स्वद्रव्य-आत्मद्रव्य में मिले हुए पर द्रव्य का अस्तित्व पृथक् समझ लिया वह एक दिन स्वद्रव्य की सत्ता से परद्रव्य की सत्ता को नियम से निरस्त कर देगा, यह निश्चित है।

स्वभाव-विभाव

शरीर को नोकर्म कहते हैं। यह नौ कर्म स्पष्ट ही पुद्गल द्रव्य की परिणति है, इसीलिए तो स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से सहित है। इससे आत्मा को पृथक् अनुभव करना यह अध्यात्म की पहली सीढ़ी है। ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, पौद्गलिक होने पर भी इतने सूक्ष्म है कि वे इन्द्रियों के द्वारा जाने नहीं जा सकते। साथ ही आत्मा के साथ इतने घुले-मिले हुए है। कि एक भव से दूसरे भव में भी उसके साथ चले जाते हैं उन द्रव्यकर्मों को आत्मा से पृथक् अनुभव करना यह अध्यात्म की दूसरी सीढ़ी है।

द्रव्य कर्म के उदय से होने वाला विकार आत्मा के साथ इस प्रकार तन्मयीभाव को प्राप्त होता है कि अच्छे अच्छे ज्ञानी जीव भी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। अग्नि का स्पर्श उष्ण है तथा रूप मास्वर है, पर जब वह अग्नि पानी में प्रवेश करती है तब अपने भास्वरूप को छोड़कर पानी के साथ इस प्रकार मिलती है कि सब लोग उस उष्णता को अग्नि न मानकर पानी की मानने लगते हैं। 'पानी उष्ण है' यह व्यवहार उसी मान्यतामूलक

है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म के उदय में होने वाले रागादिक विकारी भाव, आत्मा के साथ इस खूबी से मिलते हैं कि अलग से उनका अस्तित्व अनुभव में नहीं आता। तन्मयीभाव से आत्मा के साथ भिन्न हुए रागादिक विकारी भावों को आत्मा से पृथक् अनुभव करना अध्यात्म की तीसरी सीढ़ी है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभाव के अन्तर को समझता है, वह समझता है कि स्वभाव कहीं बाहर से नहीं आता, वह स्व में सदा विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि स्वभाव का द्रव्य के साथ त्रैकालिक तन्मयीभाव रहता है और विभाव, वह कहलाता है जो स्व में पर के निमित्त से उत्पन्न होता है। जब तक पर का संसर्ग रहता है तब तक वह विभाव रहता है और जब पर संसर्ग छूट जाता है तब वह विभाव भी दूर हो जाता है। जैसे शीतलता पानी का स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आती परन्तु उष्णता पानी का विभाव है क्योंकि वह अग्नि के संसर्ग से आती है। जब तक अग्नि का संसर्ग रहता है तब तक पानी में उष्णता रहती है और जब अग्नि का संसर्ग दूर हो जाता है, तब उष्णता भी दूर हो जाती है। ज्ञान दर्शन आत्मा का स्वभाव है, यह कहीं बाहर से नहीं आता, परन्तु रागादिक विभाव है, क्योंकि वे द्रव्यकर्म की उदयावस्था से उत्पन्न होते हैं और उसके नष्ट होते ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उनके आत्मा के साथ त्रैकालिक तन्मयीभावना नहीं है। इस प्रकार परपदार्थ से भिन्न अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करना अध्यात्म का प्रयोजन है।

अध्यात्म और स्वरूपनिर्भरता

ज्ञानी जीव अपने चिन्तन का लक्ष्य बाह्यपदार्थों को न बनाकर आत्मा को ही बनाता है। वह प्रत्येक कारण-कलाप को आत्मा में ही खोजता है। सुख-दुःख हानि-लाभ संयोग-वियोग आदि के प्रसंग इस जीव को निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। अज्ञानी जीव ऐसे प्रसंग पर सुख-दुःख का कारण अन्य पदार्थों को मानकर उनमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है, जबकि ज्ञानी जीव, उन सभी का कारण अपनी

परिणति मानकर बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से दूर रहता है।

ज्ञानी जीव विचार करता है कि मैंने जो भी अच्छा-बुरा कर्म किया है उसी का फल मुझे प्राप्त होता है। दूसरे का दिया हुआ सुख-दुःख यदि प्राप्त होने लगे तो अपना किया हुआ कर्म व्यर्थ हो जाय। पर ऐसा होता नहीं है।

ज्ञानी जीव की यह श्रद्धा रहती है कि मैं पर पदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुणपर्यायों से अभिन्न आत्मतत्त्व हूँ तथा उसी की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हूँ। इसकी उपलब्धि, अनादि काल में श्रुत परिचित और अनुभूत काम भोगबन्ध की कथा से नहीं हो सकती। उसकी प्राप्ति तो पर पदार्थों से लक्ष्य हटाकर स्वरूपाविनिवेश अपने उपयोग अपने आप में ही स्थिर करने से हो सकती है। अध्यात्म के सुन्दर उपवन में विहार करने वाला पुरुष, बाह्य जगत से पराङ्मुख रहता है। वह अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव का ही बार-बार चिन्तन कर उनमें बाधा डालने वाले रागादि विकारी भावों को दूर करने का प्रबल प्रयत्न करता है। द्रव्यकर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर यद्यपि उसकी आत्मा में रागादि विकारी भाव प्रगट हो रहे हैं, तथापि उसकी श्रद्धा रहती है कि यह तो एक प्रकार का तूफान है, मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव तो अत्यन्त शान्त है—पूर्ण वीतराग है, उसमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करना मेरा काम नहीं है, मैं तो अबद्वस्पृष्ट तथा पर से असंयुक्त हूँ। अध्यात्म इसी आत्मनिर्भरता के मार्ग को स्वीकृत करता है।

यद्यपि जीव की वर्तमानता में अबद्वस्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारी भाव उनके अस्तित्व में प्राप्त हो रहे हैं तथापि, अध्यात्म जीव के अबद्वस्पृष्ट और उसके फलस्वरूप रागादिरहित—वीतराग स्वभाव की ही अनुभूति करता है। स्वरूप की अनुभूति करना ही अध्यात्म का उद्देश्य है। अतः संयोगज दशा और संयोगज भावों की ओर से वह मृमृक्ष का लक्ष्य हटा देना चाहता है। उसका उद्बोध है कि हे मृमृक्ष प्राणी ! यदि

१. स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम् ।

परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥ —प्रमितगति ।

तू अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नहीं करता है तो इस संयोगज दशा और तज्जन्य विकारों को दूर करने का तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा ?

ज्ञानी जीव, कर्म नौकर्म और भावकर्म से तो आत्मा को पृथक् अनुभव करता ही है, परन्तु ज्ञेय ज्ञायक और भव्य भावक भाव की अपेक्षा भी आत्मा को ज्ञेय तथा भव्य से पृथक् अनुभव करता है। जिस प्रकार दर्पण अपने में प्रतिबिम्बित मयूर से भिन्न है उसी प्रकार आत्मा, अपने ज्ञान में घाये हुए घट पटादि ज्ञेयों से भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओं के प्रतिबिम्ब से संयुक्त होने पर भी तज्जन्य ताप से उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा, अपने अस्तित्व में रहने वाले सुख-दुःख रूप कर्म के फलानुभव से रहित है। ज्ञानी जीव मानता है कि मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ दर्शन ज्ञान से तन्मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। ज्ञानी यह भी मानता है कि ज्ञान दर्शन लक्षण वाला एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है, संयोग लक्षण वाले शेष समस्त भाव मुझसे बाह्य हैं।

इस प्रकार के भेद विज्ञान की महिमा बतलाते हुए भी अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार कलश में कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धाः ये किल केचन ।

तस्यैव भावतो बद्धा-बद्धा ये किल केचन ॥

आज तक जितने सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसार में बद्ध हैं वे सब भेद-विज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं।

अध्यात्म और नय व्यवस्था

वस्तुस्वरूप का अधिगम—ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो परस्पर विरोधी दो धर्मों में से एक

को प्रमुख तथा दूसरे को गौण कर विवेकानुसार क्रम से ग्रहण करता है। नयों का विवेचन करने वाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय—प्रागमिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय विवेचन में नय के द्रव्याधिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि की नय विवेचना में उसके निश्चय तथा व्यवहार भेदों का निरूपण है। इस विवेचना में द्रव्याधिक और पर्यायाधिक, दोनों ही निश्चय में समा जाते हैं और व्यवहार में उपचार कथन रह जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि में वस्तुरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि में उस नय-विवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। जिस प्रकार वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र में रख कर जगत् के स्वरूप का विचार करते हैं उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करती है। इस दृष्टि में शुद्ध-बुद्ध एक आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएँ व्यवहार सत्य हैं। इसलिए उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का विवेचन करने वाली दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय दृष्टि आत्मा के शुद्ध स्वरूप को दिखलाती है और व्यवहारदृष्टि अशुद्ध स्वरूप को।

अध्यात्म का लक्ष्य शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का है, इसलिए वह निश्चय दृष्टि को प्रधानता देता है। अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करना निश्चय दृष्टि का कार्य है और कर्म के मिमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को ग्रहण करना व्यवहार दृष्टि का विषय है। निश्चय दृष्टि, आत्मा में काम, क्रोध, मान माया, लोभ, आदि विकारों को

१. ग्रहमिको खलु शुद्धो दंसणणाणमइधो सदा रूती ।

णवि अत्थि मज्झ किञ्चि वि णणं परमाणुमिस्सिं ॥३॥

—समयसार, कुण्डकुण्ड

२. एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणों ।

सेसा बहिरमवा भावा सब्बे संजोगलक्खणा ॥२॥

—नियमसार, कुण्डकुण्ड

स्वीकृत नहीं करती। चूँकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं, अतः उन्हें पुद्गल मानती हैं^१, इसी तरह गुणस्थान मार्गणा आदि के विकल्प को जीव के स्वभाव नहीं कहती। इन सब को आत्मा कहना व्यवहार दृष्टि का कार्य है।

अध्यात्म निश्चयदृष्टि-निश्चयनय को प्रधानता देता है, इसका यह अर्थ ग्राह्य नहीं है कि वह व्यवहार दृष्टि को सर्वथा उपेक्षित कर देता है। आत्मनत्व की वर्तमान में जी अशुद्ध दशा चल रही है यदि उसका सर्वथा निषेध किया जाता है तो उसे दूर करने के लिए मोक्षमार्गरूप पुरुषार्थ व्यर्थ सिद्ध होता है। अध्यात्म की निश्चय दृष्टि का अभि-प्राय इतना ही है कि हे प्राणी ! तू इस अशुद्ध दशा को आत्मा का स्वभाव मत समझ। यदि स्वभाव समझ लेगा तो उसे दूर करने का तेरा पुरुषार्थ समाप्त हो जायगा। आत्मद्रव्य शुद्धाशुद्ध पर्यायो का समूह है, उसे मात्र शुद्ध पर्याय रूप मानना सगत नहीं है। जिस पुरुष ने वस्त्र की मलिन पर्याय को ही वस्त्र का वास्तविक रूप समझ लिया है वह उसे दूर करने का पुरुषार्थ क्यों करेगा? वस्तु-स्वरूप के विवेचन में अनेकान्त का आश्रय ही स्व-पर का अधिकारी है, अतः अध्यात्मवादी की दृष्टि उस पर होना अनिवार्य है।

अध्यात्म और कार्यकारण भाव

कार्य की सिद्धि में उपादान और निमित्त इन दो कारणों की आवश्यकता रहती है। उपादान वह कहलाता है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त वह कहलाता है जो उपादान की कार्यरूप ररिणति में सहायक होता है। मिट्टी, घट का उपादान कारण है और कुम्भकार, बक, चीवर आदि निमित्त कारण है।

जिस मिट्टी में बालू के कणों की प्रचुरता होने से घटाकार परिणत होने की आवश्यकता नहीं है उसके लिए कुम्भकारादि निमित्त कारण मिलने पर भी उसे घट का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस स्निग्ध मिट्टी में घटाकार परिणत होने की योग्यता है, उसके लिए यदि कुम्भकारादि निमित्त कारणों का योग नहीं मिलता है तो

उससे घट का निर्माण नहीं हो सकता। फलितार्थ यह है कि घट की उत्पत्ति में मिट्टी रूप उपादान और कुम्भ-कारादि रूप निमित्त दोनों कारणों की आवश्यकता है। इस अनुभवसिद्ध और लोकसंमत कार्य-कारण भाव का निषेध न करने हुए अध्यात्म, मूमुक्षु प्राणी के लिए यह देशना भी देता है कि तू आत्मशक्ति को सबसे पहले सभाल, यदि तू मात्र निमित्त कारणों की खोज-बीन में उलझा रहा और अपनी आत्मशक्ति को और लक्ष्य नहीं किया तो उन निमित्त कारणों से तेरा कौन-सा कार्य सिद्ध हो जायेगा? जो किसान, खेत की भूमि को तो खूब सभालता है परन्तु बीज की ओर दृष्टिपात नहीं करता, उस सभाली हुई खेत की भूमि में यदि सड़ा घुना बीज डालना है उसमें क्या अंकुर उत्पन्न हो सकेंगे? कार्यरूप परिणति उपादान की होने वाली है इसलिए उसकी ओर दृष्टि देना आवश्यक है। यद्यपि उपादान निमित्त नहीं बनता और निमित्त उपादान नहीं बनता यह निश्चित है, तथापि कार्य की सिद्धि के लिए दोनों की अनुकूलता अपेक्षित है इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

अध्यात्म और मोक्ष मार्ग

“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः”—(तत्त्वार्थ सूत्र) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है। इस मान्यता को अध्यात्म भी स्वीकृत करता है, परन्तु वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की व्याख्या को निश्चयनय के साँचे में ढाल कर स्वीकृत करता है उसकी व्याख्या है—पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है। पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता दृष्टा आत्मा में लीन होना सम्यक् चारित्र है। इस निश्चय अथवा अभेद रत्नत्रय की की प्राप्ति कर सकता है अन्यथा नहीं। इसलिये मोक्ष का साक्षात् मार्ग यह निश्चय रत्नत्रय ही है। देवणास्त्र गुरु की प्रतीति अथवा सप्त तत्व के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन, जीवादि तत्वों को जानने रूप सम्यग्ज्ञान और व्रत, समिति

१. एए सव्वे भावा पुग्गलदब्बपरिणामणिप्पणा । केवलजिणेहि भणिया कह ते जीवो ति वुच्चंति ॥४४॥

२. णेव य जीवट्टाणा ण गुणट्टाणा य अत्थि जीवस्स । जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदब्बस्स परिणामा ॥४५॥

गुप्ति आदि आचरण रूप सम्यक चरित्र—यह व्यवहार रत्नत्रय, यदि निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति में सहायक है तो वह परम्परा से मोक्षमार्ग होता है। व्यवहार रत्नत्रय की प्राप्ति अनेक बार हुई परन्तु निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना वह मोक्ष का साधक नहीं बन सकी।

निश्चय रत्नत्रय आत्मा से सम्बन्ध रखता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत जीवा-जीवादि पदार्थों के श्रद्धान और ज्ञान को तथा व्रत समिति गुप्ति रूप आचरण को हेय मानता है। उसका अभिप्राय इतना ही है कि इन सब का प्रयोजन आत्मश्रद्धान, ज्ञान और आचरण में ही सनिहित है अन्यथा नहीं। इसलिये सबको करते हुए मूल लक्ष्य की ओर दृष्टि रखना चाहिये।

नव पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकृत करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा इस प्रकार की है—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपार्व च।

आसवसंवर्णिज्जरब्धो मोक्खो य सम्मत ॥१३॥

मूलार्थ—निश्चय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। यहाँ विषय और विषयी में अभेद करते हुए नौ पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है। वस्तुतः ये सम्यग्दर्शन के विषय हैं।

जीव' चेतना गुण से सहित तथा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द से रहित है। जीव के साथ अनादि काल से कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल का सम्बन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्वदशा में यह जीव, शरीर रूप नौ कर्म की परिणति को आत्मा की परिणति मानकर उसमें अहंकार करता है—“इस रूप में हूँ” ऐसा मानता है। इसलिये सर्वप्रथम इसकी शरीर से पृथक्ता सिद्ध की जाती है। उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागादि भाव कर्मों से इसका पृथक्त्व दिखाया जाता है। कहा गया है—हे भाई! ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न हैं, तू इन्हे जीव क्यों मान रहा है?

जो स्पष्ट ही अजीव है उनके अजीव कहने में कोई

बात नहीं है किन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीव के साथ झुलमिलकर अनित्य सम्बन्धी भाव से तादात्म्य जैसी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं उन्हें अजीव मानना सम्यक्त्व की प्राप्ति में साधक है। रागादिक भाव अजीब हैं, यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है।

यहाँ ‘अजीव है’ इसका इतना ही तात्पर्य है कि वे जीव की स्वाभाविक परिणति नहीं। यदि जीव की स्वभाव परिणति होती तो त्रिकाल में भी इनका अभाव नहीं होता, परन्तु जिस पौद्गलिक कर्म की सद्बस्था में ये भाव होते हैं उसका अभाव होने पर स्वयं विलीन हो जाते हैं।

संसारचक्र से निकल कर मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी प्राणी को पुण्य का प्रलोभन अपने लक्ष्य से भ्रष्ट कर देता है, इसलिये आस्रव पदार्थ के विवेचन के पूर्व ही इसे सचेत करते हुए कहा गया है कि “हे ममूक्षु प्राणी! तू मोक्ष रूपी महानगर की यात्रा के लिये निकला है। देख, कहीं बीच में पुण्य के प्रलोभन में नहीं पड़ जाना। यदि उसके प्रलोभन में पड़ा तो एक झटके में ऊपर से नीचे आ जायेगा और सागरी पर्यन्त के लिये उसी पुण्य महल में नजर कैद हो जायेगा। दया, दान, व्रताचरण आदि भाव लोक में पुण्य कहे जाते हैं और हिंसादि पापों में प्रवृत्तिरूप भाव पाप कहे जाते हैं। पुण्य के फलस्वरूप पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है और पाप के फलस्वरूप पाप प्रकृतियों का। जब उन पुण्य पाप प्रकृतियों का उदय-काल आता है तब जीव को सुख-दुख का अनुभव होता है। परमार्थ से विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध इस जीव को संसार में ही रोकने वाला है। स्वतन्त्रता की इच्छा करने वाला मनुष्य जिस प्रकार लोहशृंखल से दूर रहना चाहता है।”

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के इच्छुक प्राणी को बन्धन की अपेक्षा पुण्य और पाप को एक समान मानना आवश्यक है सम्यग्दर्शन, पुण्य रूप आचरण का निषेध नहीं करता किन्तु उसे मोक्ष का साक्षात् कारण मानने का निषेध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव, अपने पद के अनुरूप

१. अरसमरुवगधं अवत्त चेदणागुणमसह।

जाण अलिगगहणं जीवनणिद्विट्ठं संठाण ॥४६॥

—समयसार, कुन्दकुन्द

पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है, परन्तु श्रद्धा में यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है और उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नहीं है।

संक्षेप में जीव द्रव्य की दो अवस्थायें हैं—एक संसारी और दूसरी मुक्त। इनमें संसारी अवस्था शुद्ध होने में उपादेय है। संसार का कारण आस्रव और बन्ध तत्व है तथा मोक्ष अवस्था का कारण सवर और निर्जरा है। आत्मा के जिन भावों से कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। ऐसे भाव चार हैं १ मिथ्यात्व, २ अविरमण, ३ कषाय और ४ योग। इन भावों का यथार्थ रूप समझकर उन्हें आत्मा से पृथक् करने का पुरुषार्थ सम्यग्दृष्टि जीव के ही होता है।

आस्रवतत्त्व का विरोधी तत्व सवर है अतः अष्ट्यात्म ग्रन्थों में आस्रव के अनन्तर सवर की चर्चा आती है। आस्रव का रुक जाना सवर है। जिन मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग रूप परिणामों से आस्रव होता है उनके विपरीत सम्यक्त्व, समय निष्कषाय वृत्ति और योग निग्रह रूप गुणित से संवर होता है अष्ट्यात्म में इस संवर का मूल कारण भेदविज्ञान को बताया है। कर्म और नौ-कर्म तो स्पष्ट ही आत्मा से भिन्न हैं, अतः उनसे भेद-विज्ञान प्राप्त करने में महिमा नहीं है। महिमा तो उन रागादिक भाव कर्मों से अपने ज्ञानोपयोग को भिन्न करने में है, जो तन्मयी भाव को प्राप्त होकर एक दिख रहे हैं। मिथ्यादृष्टि जीव, इस ज्ञानधारा और मोहवाग को भिन्न-भिन्न नहीं समझ पाता, इसलिये वह किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर उसमें तत्काल राग-द्वेष करने लगता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उन दोनों धाराओं के अन्तर को समझता है इसलिए वह किसी पदार्थ को देखकर उमका जाता द्रष्टा तो रहता है परन्तु रागी-द्वेषी नहीं होता। जहाँ यह जीव, रागादि को अपने ज्ञान द्रष्टा स्वभाव से अनुभव करने लगता है वही उनके सम्बन्ध से होने वाले राग-द्वेष से बच जाता है।

राग-द्वेष से बच जाना ही सच्चा संवर है। किसी

वृक्ष को उखाड़ना है तो उसके पत्ते नोचने से काम नहीं चलेगा, किन्तु उसकी जड़ पर प्रहार करना होगा। राग-द्वेष की जड़ है भेदविज्ञान का अभाव। अतः भेदविज्ञान के द्वारा उन्हें अपने स्वरूप से पृथक् समझना, यही उनको नष्ट करने का वास्तविक उपाय है। मोक्षामिलायी जीव को इस भेदविज्ञान की भावना तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि ज्ञान, ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता।

सिद्धों के अनन्तर्वे भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणित कर्म परमाणुओं की निर्जरा संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति समय ही रही है, पर ऐसी निर्जरा से किसी का कल्याण नहीं होता, क्योंकि जितने कर्म पर परमाणुओं की निर्जरा होती है उतने ही कर्म परमाणु आस्रवपूर्वक बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। कल्याण, उस निर्जरा से होता है जिसके होने पर नवीन कर्म परमाणुओं का आस्रव और बन्ध नहीं होता। ऐसी निर्जरा सम्यग्दर्शन होने पर ही होती है।

सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्दृष्टि जीव का प्रत्येक कार्य निर्जरा का साधक हो जाता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत सामर्थ्य है। जिस प्रकार विष का उपभोग करता हुआ वैद्य मरण को प्राप्त नहीं होता और अरतिभाव से मदिरा पान करने वाला पुरुष मद को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भोगोपभोग में प्रवृत्ति करता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। सुवर्ण, कीचड़ में पड़ा रहने पर भी जंग को प्राप्त नहीं होता और लोहा थोड़ी सी सड़ पाकर जंग को प्राप्त नहीं हो जाता है। यह सुवर्ण और लोहा की अपनी-अपनी विशेषता है।

यद्यपि आत्मा और पौद्गलिक कर्म दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य हैं और दोनों में चेतन अचेतन की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर है, फिर भी अनादिकाल से इनका एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग बना रहा है। जिस प्रकार चुम्बक में लोहा को खींचने की और लोहा में खिंच जाने की योग्यता है उसी प्रकार आत्मा में कर्म रूप पुद्गल को खींचने की और कर्म रूप पुद्गल में खिंच जाने की योग्यता है। अपनी अपनी योग्यता के कारण दोनों का एक क्षेत्रावगाह

रूप बन्ध हो रहा है। इस बन्ध का प्रमुख कारण स्नेह-भाव रागभाव है। जिस प्रकार धूलिबहुल स्थान में व्यायाम करने वाले पुरुष के शरीर के साथ जो धूलि का सम्बन्ध होता है उसमें प्रमुख कारण शरीर में लगा हुआ स्नेह है, उसी प्रकार कर्मबन्धना से भरे हुए इस संसार में योग रूप व्यायाम को करने वाले जीव के साथ जो कर्मों का सम्बन्ध होता है उसमें प्रमुख कारण उसकी आत्मा में विद्यमान स्नेह रागभाव ही है।

सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध के इस वास्तविक कारण को समझता है इसलिये वह उसे दूर कर निर्बंध अवस्था को प्राप्त होता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नहीं समझ पाता इसलिये करोड़ों वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्बंध अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव कर्म का आचरण तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु उसका वह धर्माचरण भोगोपभोग की प्राप्ति के उद्देश्य से होता है, कर्मक्षय के लिये नहीं।

समस्त कर्मों से रहित आत्मा की जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द ही इसकी पूर्व होने वाली बंध अवस्था का प्रयत्न करता है। जिस प्रकार खिरकाल से बन्धन में पड़ा हुआ पुरुष बन्ध के कारणों को जानता है तथा बन्ध के भेद और उनकी तीव्र मन्द व मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है, पर इतने मात्र से वह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। बन्धन से मुक्त होने के लिये तो छिनी और हथौड़ा लेकर उसके छेदन का पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसी प्रकार अनादि काल के कर्मबन्धन से पड़ा हुआ यह जीव कर्मबन्धन के कारणों को जानता है तथा उसके भेद और तीव्र मन्द व मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है पर इतने मात्र से वह कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। उसके लिये तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ होने वाला सम्यक्चरित्र रूप पुरुषार्थ करना पड़ता है। इस पुरुषार्थ को स्वीकृत किये बिना कर्मबन्धन से मुक्त होना दुर्लभ है।

हे प्राणी ! मात्र ज्ञान और श्रद्धा के लिये हुये डेरा सागरों पर्यन्त का दीर्घकाल यों ही निकल जाता है परन्तु

कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो पाता, परन्तु उस श्रद्धालु और ज्ञान के साथ जहाँ सम्यक् चरित्र रूप पुरुषार्थ को अंगीकृत करता है वहाँ तेरा काम बनने में बिलम्ब नहीं लगता। यहाँ तक कि अन्तर्मुहूर्त में भी काम बन जाता है। प्रज्ञा-भेदविज्ञान के द्वारा कर्म और आत्मा को अलग-अलग समझकर आत्मा को ग्रहण करना चाहिये और कर्म को छेदना चाहिये।

इस प्रकार अध्यात्म, जीवाजीवादि पदार्थों की व्याख्या अपने ढंग से करता है।

सम्यग्ज्ञान की व्याख्या में अध्यात्म, अनेक शास्त्रों के ज्ञान को महत्व नहीं देता। उसका प्रमुख लक्ष्य पर पदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मतत्त्व के ज्ञान पर निर्भर करता है। इसके होने पर अष्टप्रवचनमातृका जघन्य श्रुत लेकर भी यह जीव बारहूँ गुणस्थान तक पहुँच जाता है और अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवलज्ञानी बन जाता है। परन्तु आत्मज्ञान के बिना ग्यारह भ्रम और नौ पूर्वों का पाठी होकर भी अनन्त काल तक संसार में भटकता रहता है। अन्य ज्ञानों की बात जान दो, अध्यात्म तो केवलज्ञान के विषय में भी यह चर्चा प्रस्तुत करता है कि केवलज्ञानी निश्चय से आत्मा को जानता है और व्यवहार से लोकालोक को। यह ठीक है कि केवलज्ञानी की आत्मज्ञान में ही सर्वज्ञता निहित है, परन्तु यह भी निश्चित है कि केवलज्ञानी को अन्य पदार्थों को जानने की इच्छारूप कोई विकल्प नहीं होता।

अध्यात्म, यथाख्यात चरित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानता है, क्योंकि उसके होने पर ही मोक्ष होता है। महाव्रत और समिति के विकल्परूप जो सामायिक तथा छेदोपस्थाना आदि चरित्र हैं वे पहले ही निवृत्त हो जाते हैं औपशमिक यथाख्यात चरित्र मोक्ष का साक्षात् साधक नहीं है। उसे धारण करने वाला उपशान्त मोह गुण-स्थानवर्ती जीव नियम से अपनी भूमिका से पतित होकर नीचे घाता है, परन्तु क्षय से होने वाला यथाख्यात चरित्र मोक्ष का साधक नियम से है। उसके होने पर यह जीव

१. सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि । धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं । २७५।

— समयसार कुंकुम्भ

उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करता है : स्वरूप मे स्थिरता यथाख्यात चारित्र्य से ही होती है।

इस प्रकार अध्यात्म की देशना में निश्चय रत्नत्रय अथवा अनेकरत्नत्रय ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है। व्यवहार रत्नत्रय अथवा भेदरूप रत्नत्रय, निश्चय का साधक होने के कारण उपचार से मोक्षमार्ग माना जाता है।

महावीर स्वामी की अध्यात्मदेशना को सर्वप्रथम कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने ग्रन्थों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका समयसार तो अध्यात्म का ग्रन्थ माना ही जाता है, पर प्रवचनसार, पचास्तिकाय, नियमसार तथा अष्टपादुह आदि ग्रन्थों में भी यथाप्रसंग अध्यात्म का अच्छा समावेश हुआ है। कुन्दकुन्द स्वामी की विशेषता यह रही है कि वे अध्यात्म के निश्चयनय सम्बन्धी पक्ष को

प्रस्तुत करते हुए आगम के व्यवहार पक्ष को भी उचित करते चलते हैं।

कुन्दकुन्द के बाद हम इस अध्यात्मदेशना को पूज्यपाद के समाधितन्त्र, इष्टोपदेश में पुष्कलता से पाते हैं। योगीन्द्र देव का परमात्माप्रकाश और योगसार भी इस विषय के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। प्रकीर्णक स्तम्भ के रूप में आचार्य पद्मनन्दी तथा पण्डितप्रवर आशाधर जी ने भी इस धारा को समुचित प्रश्रय दिया है। अमृतचन्द्रसूरि ने कुन्दकुन्द स्वामी के अध्यात्म रूप उपवन की सुरभि से ससार को सुरभित किया है यशस्तिलकचम्पू तथा नीति-वाक्यामृत के कर्ता सोमदेवाचार्य की अध्यात्माभूततरंगिणी भी इस विषय का एक उत्तम ग्रन्थ है।

□

१. जाणदि पस्सदि सर्व्वं व्यवहारणयेण केवली भगवँ । केवलणाणी जाणदि पस्सदि नियमेण अप्पाणं । १५६।

नियमसार, कुन्दकुन्द

भागवत में भगवान् ऋषभदेव

भारतीय रहस्यवाद के विकास की रूपरेखा देते हुए भार. डी. रानाडे ने भागवत पुराण, (स्कंद ५ श्लोक ५-६) से एक अन्य प्रकार के योगी का मनोरजन प्रसंग उद्धृत किया है जिसकी परम विदेहता ही उसकी आत्मानुभूति का स्पष्टतम प्रमाण था। उद्धरण यह है : 'हम पढ़ते हैं कि अपने पुत्र भरत को पुष्टी का राज सौंपकर किस प्रकार उन्होंने संसार से निलिप्त और एकांत जीवन बिताने का निश्चय किया ; कैसे उन्होंने एक अर्घे, बहरे या गूंगे मनुष्य का जीवन बिताना प्रारम्भ किया ; किस प्रकार वे नगरों और ग्रामों में, खानों और उद्यानों में, वनों और पर्वतों में समान मनोभाव से रहने लगे ; किस प्रकार उन्होंने उन लोगों से घोर अपमानित होकर भी मन में बिकार न आने दिया जिन्होंने उन पर पत्थर और गोबर फेंका या उन पर मृत्-त्याग किया या उन्हें सभी प्रकार से तिरस्कार का पात्र बनाया, यह सब होते हुए भी किस प्रकार उनका दीप्त मुखमण्डल और पुष्ट सुगठित शरीर, उनके सबल हस्त और मुस्कराते होठ राजकीय भन्त-पुर की महिलाओं को आकृष्ट करते थे ; वे अपने शरीर से किस सीमा तक निर्मोह थे कि वे उसी स्थान पर मलत्याग कर देते जहाँ वे भोजन करते, तथापि, उनका मन कितना सुगठित था कि उसके बस भील घासपास का क्षेत्र उससे सुवासित हो उठता ; कितना घटल अधिकार था उनका उपनिषदों में

वर्णित सुख की सभी अवस्थाओं पर ; कैसे उन्होंने अंततो-गत्वा संकल्प किया शरीर पर विजय पाने का ; जब उन्होंने भौतिक शरीर में अपने सूक्ष्म शरीर को विलीन करने का निश्चय किया उस समय वे कर्नाटक तथा अन्य प्रदेशों में भ्रमण कर रहे थे ; वहाँ दिगम्बर, एकाकी और उन्मत्तवत् भ्रमण करते समय वे बांस के भुरमुट्ट से उत्पन्न भीषण दावानल की लपटों में जा फसे थे और तब किस प्रकार उन्होंने अपने शरीर का अंतिम समर्पण अग्निदेव को कर दिया था। यह विवरण वस्तुतः जैन परम्परा के अनुरूप है जिसमें उनके प्रारंभिक जीवन के अन्य विवरण भी विद्यमान हैं। कहा गया है कि उनकी दो हस्तियाँ थी—सुमंगला और सुनन्दा ; पहली ने भरत और ब्राह्मों को जन्म दिया और दूसरी ने बाहुबली और सुन्दरी को। सुनन्दा ने और अष्टानवें पुत्रों को जन्म दिया। इस परंपरा से हमें यह भी ज्ञात होता है कि ऋषभदेव बचपन में जब एक बार पिता की गोद में बैठे थे तभी हाथ में इक्षु (गन्ना) लिए यहाँ आया। गन्ने को देखते ही ऋषभदेव ने उसे लेने के लिए अपना मांगलिक लक्ष्णों से युक्त हाथ फैला दिया, बालक की इक्षु के प्रति अभिरुचि देखकर इन्द्र ने उस परिवार का नाम इक्ष्वाकु रख दिया।

प्राकृत साहित्य में समता का स्वर

□ डा० प्रेमसुमन जैन

प्राकृत साहित्य कई दृष्टियों से सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र से समता का पोषक है। इस साहित्य की आधार शिला ही समता है क्योंकि भाषागत, पात्रगत एवं चिन्तन के घरातल पर समत्वबोध के अनेक उदाहरण प्राकृत साहित्य में उपलब्ध हैं।

जन-भाषाओं का सम्मान:

भारतीय साहित्य के इतिहास में प्रारम्भ से ही संस्कृत भाषा को अधिक महत्व मिलता रहा है। संस्कृत की प्रधानता के कारण जन सामान्य की भाषाओं को प्रारम्भ में वह स्थान नहीं मिल पाया जिसकी वे अधिकारिणी थी। अतः साहित्य-सृजन के क्षेत्र में भाषागत विषमता ने कई विषमताओं को जन्म दिया है। प्रबुद्ध और लोक-मानस के बीच एक अन्तराल बनता जा रहा। प्राकृत साहित्य के मनीषियों ने प्राकृत भाषा को साहित्य और चिन्तन के घरातल पर संस्कृत के समान प्रतिष्ठा प्रदान की। इससे भाषागत समानता का सूत्रपात्र हुआ और संस्कृत तथा प्राकृत, समान्तर रूप से भारतीय साहित्य और आध्यात्म की संवाहक बनी।

प्राकृत साहित्य का क्षेत्र विस्तृत है। पालि, अर्ध-मागधी, अपभ्रंश आदि विभिन्न विकास की दशाओं से गुजरते हुए प्राकृत साहित्य पुष्ट हुआ है। प्राकृत भाषा के साहित्य में देश की उन सभी जन बोलियों का प्रतिनिधित्व हुआ है, जो अपने-अपने समय में प्रभाववाली थीं। अतः प्रदेशगत एवं जातिगत सीमाओं को तोड़कर प्राकृत साहित्य ने पूर्व से मागधी उत्तर से शौरसेनी पश्चिम से पेशाबी दक्षिण से महाराष्ट्री आदि प्राकृतों को सहर्ष स्वीकार किया है, किसी साहित्य में भाषा की यह विविधता उसके समत्वबोध की ही ओतक कही जायेगी।

शब्दगत-समता :—

भाषागत ही नहीं, अपितु शब्दगत समानता को भी प्राकृत साहित्य में पर्याप्त स्थान मिला है। केवल विभिन्न

प्राकृतों के शब्द ही प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुए हैं अपितु लोक में प्रचलित उन देशज शब्दों की भी प्राकृत साहित्य में भरमार है जो आज एक शब्द-सम्पदा के रूप में विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हैं। दक्षिण भारत की भाषाओं में कन्नड़ तमिल आदि के अनेक शब्द प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत के कई शब्दों का प्राकृतीकरण कर उन्हें अपनाया गया है। अतः प्राकृत साहित्य में शब्दों में यह विषमता स्वीकार नहीं की गयी है कि कुछ विशिष्ट शब्द उच्च श्रेणी के हैं कुछ निम्न श्रेणी के कुछ ही शब्द परमाथ का ज्ञान, करा सकते हैं कुछ नहीं। इत्यादि।

शिष्ट और लोक का समन्वय :—

प्राकृत साहित्य कथावस्तु और पात्र-चित्रण की दृष्टि से भी समता का पोषक है। इस साहित्य की विषय वस्तु में जितनी विविधता है, उतनी और कहीं उपलब्ध नहीं है। संस्कृत में वैदिक साहित्य की विषय वस्तु का एक निश्चित स्वरूप है। लौकिक संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में आभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधित्व का ही प्राधान्य है। महा-भारत इसका अपवाद है, जिसमें लोक और शिष्ट दोनों वर्गों के जीवन की क्रियाएँ हैं किन्तु भाग्य चलकर संस्कृत में ऐसी रचनाएँ नहीं लिखी गयीं। राजकीय जीवन और सुख समृद्धि के वर्णन ही इस साहित्य को भरते रहे, कुछ अपवादों को छोड़कर।

प्राकृत साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास विषमता से समता की ओर प्रवाहित हुआ है। उसमें राजाओं की कथाएँ हैं तो लकड़हारों और छोटे-छोटे कर्म शिल्पियों की भी। बुद्धिमानों के ज्ञान की महिमा का प्रदर्शन है तो भोले भजानी पात्रों की सरल भंगिमाएँ भी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय जाति के पात्र कथाओं के नायक हैं तो शूद्र और वैश्य जाति के साहसी युवकों की गौरवगाथा भी इस साहित्य में वर्णित है। ऐसा समन्वय प्राकृत के किसी भी ग्रन्थ में देखा जा सकता है। 'कुवलयमाला'कहा, और 'समरादम्ब'कहा, इस

प्रकार की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। नारी और पुरुष पात्रों का विकास भी किसी विषमता से आक्रान्त नहीं है इस साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनमें पुत्र और पुत्रियों के बीच कोई दीवार नहीं खड़ी की गयी है। बेटी और बहू को समानता का दर्जा प्राप्त रहा है। अतः सामाजिक पक्ष के जितने भी दृश्य प्राकृत साहित्य में उपस्थित किए हैं। उनमें निरन्तर यह आदर्श सामने रखा गया है कि समाज में समता।

प्राणीमात्र की समता :—

प्राध्यात्मिक क्षेत्र में समता के विकास के लिए प्राकृत साहित्य का अपूर्ण योगदान है। प्राणी मात्र को समता की दृष्टि से देखने के लिए समस्त आत्माओं के स्वरूप को एक माना गया है। देहगत विषमता कोई अर्थ नहीं रखती है यदि जीवगत समानता की दिशा में चिन्तन करने लग जाए। सब जीव समान है इस महत्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत साहित्य में अनेक उदाहरण दिए गये हैं। परिमाण की दृष्टि से सब जीव समान हैं। ज्ञान की शक्ति सब जीवों में समान है जिसे जीव अपने-अपने प्रयत्नों से विकसित करता है। शारीरिक विषमता पुद्गलों की बनावट के कारण है। जीव पौद्गलिक है अतः सब जीव समान है। देह और जीव में भेद-दर्शन की दृष्टि को विकसित कर इस साहित्य ने वैषम्य की समस्या को गहराई से समाधित किया है। परमाणुप्रकाश में कहा गया है कि जो व्यक्ति देह भेद के आधार पर जीवों में भेद करता है, वह दर्शन ज्ञान, चारित्र्य को जीव का लक्षण नहीं मानता। यथा—

देहिबिभेदय ओ कुण्ड जीवह भेद बिबिस्तु ।

तो न बिलक्षण नुनई तहं बंसण-जाण-चरित्तु ॥१०२॥

अभय से समत्व :—

विषमता की जननी मूल रूप से भय है। अपने शरीर परिवार धन आदि सबकी रक्षा के लिए ही व्यक्ति औरों की अपेक्षा अपनी अधिक सुरक्षा का प्रबन्ध करता है और धीरे-धीरे विषमता की खाई बढ़ती जाती है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही 'सूत्रकृतांग' में कहा गया है कि समता उसी के होती है जो अपने को प्रत्येक भय से अलग रखता है।

सामाह्वयमाहु तस्संजं ओ अप्पाण भएण बंसए ।

—१-२-२-१७।

अतः अभय से समता का सूत्र प्राकृत ग्रन्थों ने हमें दिया है वस्तुतः जब तक हम अपने को भयमुक्त नहीं करेंगे तब तक दूसरों को समानता का दर्जा नहीं दे सकते। अतः आत्मा के स्वरूप को समझकर राग द्वेष से ऊपर उठना ही अभय में जीना है, समता की स्वीकृति है।

विषमता की जननी व्यक्ति का अहंकार भी है। पदार्थों की अज्ञानता से अहंकार का जन्म होता है। हम मान में प्रसन्न और अपमान में क्रोधित होने लगते हैं और हमारा ससार दो खेमों में बँट जाता है। प्रिय और अप्रिय की टोलियाँ बन जाती हैं। प्राकृत के ग्रन्थ यही हमें सावधान करते हैं। 'दसर्वकालिक का सूत्र है कि जो बन्दना न करें उस पर कोप मत करो और बन्दना करने पर उत्कण्ठ (धमङ्) में मत आओ—

ओ न बन्धे न से कुप्पे बंदिओ न सम्भुक्क से ।

—५-२-३०।

तो तुम सम्भव कारण कर सकते हो।

अप्रतिबद्धता : समता :—

समता के विकास में एक बाधा यह बहुत आती है कि व्यक्ति स्वयं को दूसरों का प्रिय अथवा अप्रिय करने वाला समझने लगता है। जिसे वह ममत्व की दृष्टि से देखता है उसे सुरक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करता है और जिसके प्रति उसे द्वेष पैदा हो गया है, उसका वह अनिष्ट करना चाहता है। प्राकृत साहित्य में इस दृष्टि से बहुत सतर्क रहने को कहा गया है। किसी भी स्थिति या व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्धता समता का हनन करती है अतः 'भगवती आराधना' में कहा गया है कि सब वस्तुओं से जो अप्रतिबद्ध है (ममत्वहीन) वही सब जगह समता को प्राप्त करता है—

सब्बत्थ अपटिबद्धो उबेहि सब्बत्थ समभावं ।

(अ० भा० १६८३)

समता सर्वोपरि :—

समता की साधना को प्राकृत भाषा के अनीविधों ने अंश स्थापन प्रदान किया है। अभय की बात कहकर (शेष पृष्ठ १७ पर)

सम्राट् मुहम्मद तुगलक और महान जैन शासन-प्रभावक श्री जिनप्रभ सूरि

□ श्री अग्ररचन्द नाहटा, बीकानेर

जैन ग्रन्थों में जैन शासन की समय-समय पर महान् प्रभावना करने वाले घाठ प्रकार के प्रभावक-पुरुषों का उल्लेख मिलता है। ऐसे प्रभावक पुरुषों के सम्बन्ध में प्रभावक-चरित्रादि महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गये हैं। घाठ प्रकार के प्रभावक पुरुष इस प्रकार माने गए हैं—प्रावचनिक धर्मकथी, वादी, नैमित्तिक, तपस्वी, विद्यावान्, सिद्ध और कवि। इन प्रभावक पुरुषों ने अपने अक्षरधारण प्रभाव से आपत्ति के समय जैन शासन की रक्षा की, राजा-महाराजा एवं जनता को जैन धर्म की प्रतिबोध द्वारा शासन की उन्नति की एवं शोभा बढ़ाई। आर्यरक्षित अभयदेवसूरि को प्रावचनिक, पादलिप्तसूरि को कवि, विद्यावाली और सिद्धविजयदेवसूरि व जीवदेवसूरि को सिद्ध, मल्लवादी वदवादी और देवसूरि को वादी, बप्पभट्टिसूरि, मानतुंग-सूरि को कवि, सिद्धिषि को धर्मकथी महेन्द्रसूरि को नैमित्तिक आचार्य हेमचन्द्र को प्रावचनिक धर्मकथी और कवि प्रभावक, 'प्रभावक-चरित्र' की मुनि कल्याण विजय जी की महत्वपूर्ण प्रस्तावना में बतलाया गया है।

खरतरगच्छ में भी जिनेश्वरसूरि, अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि, मणिधारी-जिनचन्द्रसूरि, और जिनपतिसूरि ने विविध प्रकार से जैन शासन की प्रभावना की है। जिनपतिसूरि के पट्टधर जिनेश्वरसूरि के दो महान् पट्टधर हुए—जिनप्रबोधसूरि तो घासवाल और जिनसिंहसूरि श्रीमालसंघ में विशेष धर्म प्रचार करते रहे। इसलिए इन दो आचार्यों से खरतरगच्छ की दो शाखाएं अलग हो गई। जिनसिंहसूरि की शाखा का नाम खरतर लघु आचार्य प्रसिद्ध हो गया, जिनके शिष्य एवं पट्टधर जिनप्रभसूरि बहुत बड़े शासन प्रभावक हो गए हैं, जिनके सम्बन्ध में भारतीय इतिहासकारों व साधारणतया लोगों को बहुत ही कम जानकारी है। इसलिए यहाँ उनका

आवश्यक परिचय दिया जा रहा है।

बृद्धाचार्य प्रबन्धावली के जिनप्रभसूरि प्रबन्ध में प्राकृत भाषा में जिनप्रभसूरि का अच्छा विवरण दिया गया है, उनके अनुसार ये मोहिल वाड़ी-लाडनू राजस्थान के श्री-माल ताम्बी गोत्रीय आचर महाधर के पुत्र रत्नपाल की धर्म पत्नी खेतलदेवी की कुक्षि से उत्पन्न हुए थे। इनका नाम सुभटपाल था। सात-घाठ वर्ष की बाल्यावस्था में ही पद्मावती देवी के विशेष संकेत द्वारा श्री जिनसिंहसूरि ने उनके निवास स्थान में जाकर सुभटपाल को दीक्षित किया सूरि जी ने अपनी आयु अल्पज्ञात कर सं० १३४१ किडवाणा नगर में इन्हे आचार्य पद देकर अपने पट्टपर स्थापित कर दिया। 'उपदेश सप्ततिका', में जिनप्रभसूरि सं० १३३२ में हुए लिखा है, यह सम्भवतः जन्म समय होगा। थोड़े ही समय में जिनसिंह सूरि जी ने जो पद्मावती आराधना की थी वह उनके शिष्य-जिनप्रभसूरि जी को फलवती हो गई और आप व्याकरण, कोश, छंद, लक्षण, साहित्य, न्याय, षट्दर्शन, मन्त्र-तंत्र और जैन दर्शन के महान् विद्वान् बन गए। आपके रचित विशाल और महत्वपूर्ण विविध विषयक साहित्य से यह भली-भाँति स्पष्ट है। अन्य गच्छीय और खरतरगच्छ की हट्टपल्लीय शाखा के विद्वानों को आपने अध्ययन कराया एवं उनके ग्रन्थों का संशोधन किया।

असाधारण विद्वत्ता के साथ-साथ पद्मावती देवी के सान्निध्य द्वारा आपने बहुत से चमत्कार दिखाये हैं जिनका वर्णन खरतरगच्छ पट्टावलियों से भी अधिक तपागच्छीय ग्रन्थों में मिलता है और यह बात विशेष उल्लेख योग्य है। सं० १५०३ में सोमधर्म ने उपदेश-सप्ततिका नामक अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ के तृतीय गुरुवाधिकार के पंचम उपदेश में जिनप्रभसूरि के बादशाह की प्रतिबोध एवं कई

चमत्कारों का विवरण दिया है। प्रारम्भ में लिखा है कि इस कलियुग में कई आचार्य जिन शासन रूपी घर में दीपक के समान हुए। इस सम्बन्ध में म्लेच्छ पति को प्रतिबोध को देने वाले श्री जिनप्रभसूरि का उदाहरण जानने लायक है। अन्त में निम्न श्लोक द्वारा उनकी स्तुति की गई है—

स श्री जिनप्रभः सूरि दूरिताशेष तामसः।

भद्रं करोतु संघाय, शासनस्य प्रभावकः ॥१॥

इसी प्रकार संवत् १५२१ में तपागच्छीय शुभशील गणि में प्रबन्ध पचशती नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ बनाया जिसके प्रारम्भ में ही श्री जिनप्रभसूरि जी के चमत्कारिक १६ प्रबन्ध देते हुए अन्त में लिखा है—

‘इति कियन्तो जिनप्रभसूरि भवदातसम्बन्धाः’

इस ग्रन्थ में जिनप्रभसूरि सम्बन्धी और भी कई श्लाघ्य प्रबन्ध हैं। उपरोक्त १६ के अतिरिक्त नं० २०, ३०६, ३१४ तथा अन्य भी कई प्रबन्ध आपके सम्बन्धित हैं। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में मुनि जिनविजय जी के प्रकाशित जिनप्रभसूरि उत्पत्ति प्रबन्ध व अन्य एक रविवर्द्धन लिखित बिम्बुत प्रबन्ध है। खरतरगच्छ-वृहद्-गुरुवावली-युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अंत में जो वृद्धाचार्य प्रबन्धावली नामक प्राकृत की रचना प्रकाशित हुई है। उसमें जिनसिंह सूरि और जिनप्रभसूरि के प्रबन्ध खरतरगच्छीय विद्वानों के लिखे हुए हैं। एवं खरतरगच्छ की पट्टावली आदि में भी कुछ विवरण मिलता है पर सबसे महत्वपूर्ण घटना या कार्य विशेष का समकालीन विवरण विविध तीर्थकल्प के कन्यानयनीय महावीर प्रतिमा कल्प और उसके कल्प परिशेष में प्राप्त है। उसके अनुसार जिनप्रभसूरि जी ने यह मुहम्मद तुगलक से बहुत बड़ा सम्मान प्राप्त किया था। उन्होंने कम्नाणा की महावीर प्रतिमा सुलतान से प्राप्ता कर दिल्ली के जैन मन्दिर में स्थापित करायी थी। पीछे से मुहम्मद तुगलक ने जिनप्रभसूरि के शिष्य ‘जिनदेवसूरि को सुरतान सराई दी थी’ जिनमें चार सौ श्रावकों के घर, पोषणशाला व मन्दिर बनाया उसी में उक्त महावीर स्वामी को विराजमान किया गया। इनकी पूजा व भक्ति बबेताम्बर समाज ही नहीं, दिगम्बर और अन्य मतावलम्बी भी करते रहे हैं।

कन्यानयनीय महावीर प्रतिमा कल्प के लिखने वाले ‘जिनसिंहसूरि-शिष्य’ बतलाये गये हैं अतः जिनप्रभसूरि या उनके किसी गुरु-भ्राता ने इस कल्प की रचना की है। इसमें स्पष्ट लिखा है कि हमारे पूर्वाचार्य श्री जिनपतिसूरि जी ने सं० १२३३ के आषाढ़ शुक्ल १० गुरुवार को इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी और इसका निर्माण जिनपति-सूरि के चाचा मानदेव ने करवाया था। अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज के निधन के बाद तुर्कों के भय से सेठ रामदेव के सूचनानुसार इस प्रतिमा को कंयबास स्थल की विपुल बालू में छिपा दिया गया था। सं० १३११ के दारुण दुर्मिक्ष में जोज्जग नामक सूत्रधार को स्वप्न देकर यह प्रतिमा प्रगट हुई और श्रावकों ने मन्दिर बनवाकर विराजमान की। सं० १३८५ में हासी के सिकदार ने श्रावकों को बन्दो बनाया और इस महावीर बिम्ब की दिल्ली लाकर तुगलकाबाद के शाही खजाने में रख दिया।

जनपद विहार करते हुए जिनप्रभसूरि दिल्ली पधारे और राज सभा में पंडितों की गोष्ठी के द्वारा सम्राट को प्रभावित कर इस प्रभु-प्रतिमा को प्राप्त किया। मुहम्मद तुगलक ने अर्द्ध-रात्रि तक सूरिजी के साथ गोष्ठी की और उन्हें वहीं रखा। प्रातःकाल संतुष्ट सुलतान ने १००० गायें, बहुत सा द्रव्य, वस्त्र-कबल, चदन, कर्पूरादि सुगन्धित पदार्थ सूरिजी को भेंट किया। पर गुरुश्री ने कहा ये सब साधुओं को लेना अकल्प्य है। सुलतान के विशेष अनुरोध से कुछ वस्त्र-कबल उन्होंने ‘राजाभियोग’ से स्वीकार किया और मुहम्मद तुगलक ने बड़े महोत्सव के साथ जिनप्रभसूरि और जिनदेवसूरि को हाथियों पर आरूढ़ कर पोषणशाला पहुंचाया। समय-समय पर सूरिजी एवं उनके शिष्य जिनदेवसूरि की विद्वत्तादि से चमत्कृत होकर सुलतान ने शत्रुंजय, गिरनार, फलोदी आदि तीर्थों की रक्षा के लिए फरमान दिए। कल्प के रचयिता ने अन्त में लिखा है कि मुहम्मदशाह को प्रभावित करके जिनप्रभसूरि-जी ने बड़ी शासन प्रभावना एवं उन्नति की। इस प्रकार पंचमकाल में चतुर्थ धारे का भास कराया।

उपर्युक्त कम्नाणय महावीर कल्प का परिशेष रूप अन्य कल्प सिद्धांतिकसूरि के आदेश से विद्यातिलक मुनि

ने लिखा है जिसमें जिनप्रभसूरि और जिनदेवसूरि की शासन प्रभावना व मुहम्मद तुगलक को सविशेष प्रभावित करने का विवरण है। ये दो ही कल्प जिनप्रभसूरिजी की विद्यमानता में रहे गए थे। इसी प्रकार उन्हीं को सम-कालीन रचित जिनप्रभसूरि गीत तथा जिनदेवसूरि गीत हमें प्राप्त हुए जिन्हें हमने स० १९६४ में प्रकाशित अपने ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित कर दिया है। उनमें स्टैट लिखा है सं० १३८५ के पौष शुक्ल ८ शनि-वार को दिल्ली में मुहम्मदशाह से श्रीजिनप्रभसूरि मिले सुलतान ने उन्हें अपने पास बैठा कर आदर दिया। सूरिजी ने नबीन काव्यों द्वारा उसे प्रसन्न किया। सुलतान ने इन्हें धन-कनक आदि बहुत सी चीजें दी और जो चाहिए, मांगने को कहा पर निरीह सूरिजी ने उन प्रकल्प्य वस्तुओं का ग्रहण नहीं किया। इससे विशेष प्रभावित होकर उन्हें नई बस्ती आदि का फरमान दिया और वस्त्रादिद्वारा स्वहस्त से इनकी पूजा की।

स० १९८६ में पं० लालचन्द भ० गांधी का जिनप्रभ-सूरि और सुलतान मुहम्मद सम्बन्धी एक ऐतिहासिक निबन्ध 'जैन' के रौप्य महोत्सव अंक में प्रकाशित हुआ। जिसे श्री हरिसागर सूरिजी महाराज की प्रेरणा से परि-वर्द्धित कर पंडितजी ने ग्रन्थ रूप में तैयार कर दिया, जिसे स० १९९५ में श्रीजिनहरिसागरसूरि ज्ञान भण्डार, लोहावट से देवनागरी लिपि व गुजराती भाषा में प्रकाशित किया गया।

प्रतिभासम्पन्न महान् विद्वान् जिनप्रभसूरिजी की दो प्रधान रचनाएं विविधतीर्थकल्प और विधि मार्ग-प्रपा मुनि जिनविजयजी ने सम्पादित की है, उनमें से विधिप्रपा में हमने जिप्रभसूरि सम्बन्धी निबन्ध लिखा था। इसके बीच हमारा कई वर्षों से यह प्रयत्न रहा कि सूरि महाराज सम्बन्धी एक अध्ययनपूर्ण स्वतन्त्र बृहद्ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय और महो० विनयसागर जी को यह काम सौंपा गया। उन्होंने वह ग्रन्थ तैयार भी कर दिया है, साथ ही सूरि जी के रचित स्तोत्रों का संग्रह भी संपादित कर रखा है। हम शीघ्र ही उस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को प्रकाशन करने में प्रयत्नशील हैं।

सूरि जी सम्बन्धी प्रबन्धों की एक सतरहवीं शती की

लिखित संग्रह प्रति हमारे संग्रह में है, पर वह अपूर्ण ही प्राप्त हुई। हम उपदेश सप्तति, प्रबन्ध-पंचशती एवं प्रबन्ध संग्रहादि प्रकाशित प्रबन्धों को देखने का पाठकों को अनुरोध करते हैं जिससे उनके सामत्कारिक प्रभाव और महान् व्यक्तित्व का कुछ परिचय मिल जायगा। जिन प्रभसूरि जी का एक महत्त्वपूर्ण मंत्र-तंत्र संबंधी ग्रन्थ रहस्य-कल्पद्रुम भी अभी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हुआ, उसकी खोज जारी है। सोलहवीं शताब्दी की प्रति का प्राप्त अन्तिम पत्र यहां प्रकाशित किया जा रहा है। 'रहस्य कल्पद्रुम' का प्राप्त अंश—

त सद्यः प्रत्यनीकानां भयंकरादेशाः । करीयं जयः । स्वदेशे जयः परदेशे अपराजितत्वं तीर्थादिप्रत्यनीकमभ्ये एतत्त्रयमस्य महापोठस्य स्मरणेन भवति । ॐ ह्रीं महामातंगे शुचि चंडाली अमुक दह २ पंच २ मथ २ उच्चाटय २ हुंफुट् स्वाहा ॥ कृष्ण खडी खंड १०८ होमयेत् उच्चाटनं विशेषतः । सपत्नी विषये । ॐ रक्त चामुंडे नर शिर तुड मुड भालिनी अमुकी आकषय २ ह्रीं नमः । आकृष्टि मत्र सहस्रत्रयजापात् सिद्धिः सिद्धिः पञ्चात् १०८ आकषयति । ॐ ह्रीं प्रत्यगिरे महाविघे येन केनचित् पापं कृतं कारितं अनुमतं वा नश्यतु तत्पापं तन्त्रं गच्छतु”

ॐ ह्रीं प्रत्यगिरे महाविघे स्वाहा बार २१ लवणहली जच्चा आतुरस्योपरि आययित्वा कांजिके क्षिप्त्वा । आतुरे ढाल्यते कामं भद्रो भवति ।

उभयलिङ्गी बीज ७ साठी चोखा ६ पली गोदूध १ ऋतुस्नातायाः पान देयं स्निग्ध मधुरभोजनं । ऋतुगर्भो-त्पत्तिप्रधानसूकडिद्वारान् वात् एकवर्णगोदुग्धेन पीयते गर्भाधानादि ७५ अन्तर दिन ३ गर्भव्यत्ययः ॥७॥

संवत् १५४६ वर्षे श्रावण सुदि १३ त्रयोदशी दिने गुरो श्रीमदपमहादुर्गे श्री खरतरगच्छे श्री जिनभद्रसूरि पट्टालकार श्री जिनचन्द्रसूरि पट्टीदया चलचूला सहस्रक-रावतावतार श्री संप्रतिविजयमान श्रीजिन समुद्रसूरि विजय-राज्ये श्री वादीन्द्रचक्र चूणामणि श्री तपोरत्न महोपाध्याय विनेय वाचनाचार्य वर्ध श्री साधुराज गणिवराणामादेशेन शिष्यलेश...लेखि श्री रहस्य कल्पद्रुममहाम्नायः ॥७॥७॥ श्रेयोस्तु । पं० भक्तिवल्लभ गणिसान्निध्येन ॥

[पत्र ११वां प्राप्त किनारे नूटित]

उपर्युक्त ग्रन्थ का उल्लेख जिनप्रभसूरि जी ने व उनके समकालीन रुद्रपल्लीव सोमतिलकसूरि रचित लघुत्सव टोकावि में प्राप्त है । यह टोका सं० १३६७ में रची गई और राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित है । बीकानेर में बृहद् ज्ञान भंडार में हमें बहुत वर्ष पूर्व इस ग्रन्थ का कुछ अंश प्राप्त हुआ था जिसे 'जैन सिद्धान्त भास्कर' एवं 'जैन सत्यप्रकाश' में प्रकाशित किया । उसके बाह्य उपर्युक्त १३वीं शती की प्रति का अन्तिम पत्र प्राप्त हुआ । इस प्राप्त अंश की नकल ऊपर दी है । इस ग्रन्थ राज की पूरी प्रति का पता लगाना आवश्यक है । किसी भी सञ्जन को इसकी पूरी प्रति की जानकारी मिले तो हमें सूचित करने का अनुरोध करते हैं ।

श्री जिनप्रभसूरि जी और उनके विविध तीर्थ कल्प के संबंध में मुनिजिनविजय जी ने लिखा है—ग्रन्थकार 'जिनप्रभसूरि' अपने समय के एक बड़े भारी विद्वान और प्रभावशाली थे । जिनप्रभसूरि ने जिस तरह विज्ञान की सतरहीं शताब्दी में जुगल व सम्राट अकबर बादशाह के दरबार में जैन जगद्गुरु हीरविजयसूरि (और युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि) ने शाही सम्मान प्राप्त किया था उसी तरह जिनप्रभसूरि ने भी चौदहवीं शताब्दी में तुगलक सुल्तान मुहम्मदशाह के दरबार में बड़ा गौरव प्राप्त किया । भारत के मुसलमान बादशाहों के दरबार में जैन धर्म का महत्व बतलाने वाले और उसका गौरव बढ़ाने वाले शायद सबसे पहले ये ही आचार्य हुए ।

विविधतीर्थकल्प नामक ग्रन्थ जैन साहित्य की एक विशिष्ट वस्तु है । ऐतिहासिक और भौगोलिक दोनों प्रकार के विषयों की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बहुत कुछ महत्व है । जैन साहित्य में ही नहीं, समग्र भारतीय साहित्य में भी इस प्रकार का कोई दूसरा ग्रन्थ अभी तक ज्ञात नहीं हुआ । यह ग्रन्थ विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में जैनधर्म के जितने पुरातन और विद्यमान तीर्थ स्थान थे उनके सम्बन्ध में प्रायः एक प्रकार की "गाइड बुक" है इसमें वर्णित उन तीर्थों का संक्षिप्त रूप से स्थान वर्णन भी है और यथाज्ञात इतिहास भी है ।

प्रस्तुत रचना के प्रबलोकन से ज्ञात होता है कि

इतिहास और स्थल भ्रमण से रचयिता को बड़ा प्रेम था । इन्होंने अपने जीवन में भारत के बहुत से भागों में परिभ्रमण किया था । गुजरात, राजपूताना, मालवा, मध्य प्रदेश, बराह, दक्षिण, कर्णाटक, केरल, बिहार कोशल, अवध, युक्तप्रान्त और पंजाब आदि के कई पुरातन और प्रसिद्ध स्थलों की इन्होंने यात्रा की थी । इस यात्रा के समय उस स्थान के बारे में जो जो साहित्यगत और परम्पराश्रुत बातें उन्हें ज्ञात हुईं । उनको उन्होंने संक्षेप में लिपिवद्ध कर लिया । इस तरह उस स्थान या तीर्थ का एक कल्प बना दिया और साथ ही ग्रन्थकार को संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में, गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार से ग्रन्थ रचना करने का एक सा अभ्यास होने के कारण कभी कोई कल्प उन्होंने संस्कृत भाषा में लिख दिया तो कोई प्राकृत में । इसी तरह कभी किसी कल्प की रचना गद्य में कर ली तो किसी की पद्य में । "प्रस्तुत विविध जीवकल्प का हमने हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवा दिया है ।

जिनप्रभसूरि का विधिप्रपाग्रन्थ भी विविध-विद्वानों का बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण संग्रह है । जैन स्तोत्र आपने सात सौ बनाये कहे जाते हैं, पर अभी करीब सौ के लगभग उपलब्ध हैं । इतने अधिक विविध प्रकार के और विशिष्ट स्तोत्र ग्रन्थ किसी के भी प्राप्त नहीं है । कल्पसूत्र की "सन्देश विषोषवि" टोका सं० १३६४ में सबसे पहले आपने बनाई । सं० १३५६ में रचित द्वयाभ्यमहाकाव्य आपकी विशिष्ट काव्य प्रतिभा का परिचायक है । सं० १३५२ से १३६० तक की आपकी पचासो पचासो रचनायें स्तोत्रों के प्रतिरिक्त भी प्राप्त हैं । सूरिमंत्रकल्प एवं चूलिका ह्रींकारकल्प वर्द्धमानविद्या और रहस्यकल्पद्रुम आपकी विद्याओं व मंत्र-तंत्र सम्बन्धी उल्लेखनीय रचनायें हैं । अजितशांति, उवसगह्वर, भयह्वर अनुयोग चतुष्टय, महावीर स्तव, षडावश्यक, साधु प्रतिभ्रमण, विदग्ध मुख-मंडन आदि अनेक ग्रन्थों की महत्वपूर्ण टीकायें आप ने बनाईं । कातन्त्रविभ्रमवृत्ति, हेमप्रनेकार्थशेषवृत्ति, रक्षादिगण वृत्ति आदि आपकी व्याकरण विषयक रचनायें हैं । कई प्रकरण और उनके विवरण भी आपने रचे हैं, उन सबका यही विवरण देना संभव नहीं ।

जिनप्रभसूरि जी की एक उल्लेखनीय प्रतिमा-मूर्ति महातीर्थ शत्रुञ्जय की खरतर वसही में विराजमान है जिसकी प्रतिकृति जिनप्रभसूरि ग्रन्थ में दी गई है। जिनप्रभसूरि की शिल्प परम्परा या गाथा सतरहवीं शताब्दी तक तो बराबर चलती रही जिसमें चरित्रवर्द्धन आदि बहुत बड़े-बड़े विद्वान इस परम्परा में हुए हैं।

जिनप्रभसूरि का श्रेणिक द्वयाश्रय काव्य पालीताना से अपूर्ण प्रकाशित हुआ था उसे सुसम्पादित रूप से प्रकाशन करना आवश्यक है।

हमारी राय में श्री जिनप्रभसूरि जी की यही गौरवपूर्ण स्थान मिलना चाहिए जो ग्रन्थ खरतर गच्छीय चारों दादा-गुरुओं का है। इनको इतिहास प्रकाशन द्वारा भारतीय इतिहास का एक नया अध्याय जुड़ेगा। सुलतान मुहम्मद तुगलक को इतिहासकारों ने अद्यावधि जिस दृष्टिकोण से देखा है, वस्तुतः वह एकाङ्गी है। जिनप्रभसूरि सम्बन्धी समकालीन प्राप्त उल्लेखों से यह सिद्ध होता है

कि वह एक विद्या प्रेमी और गुणवाही शासक था।

ऐतिहासिक जैन-काव्य-संग्रह में प्रकाशित श्री जिनप्रभसूरि के एक गीत से श्री जिनप्रभसूरि जी ने अश्वपति कुतुबुद्दीन को भी रंजित व प्रभावित किया था—

आगम् सिद्धतुपुराण बखानीहए, पडिबोहइ सब्वलोहए।

जिनप्रभसूरि गुरू सारिखउ हो, विरला दीसइ कोइ ए।

आठाहो, आठामिहि चउपि, तेडावइसुरिताणु ए।

पुहसितु मुखुजिनप्रभसूरि चलियउ जिमि ससि इदुविमाणि।

असपति कुतुबदीनु मनिरजिउ, दोठेलि जिनप्रभसूरि ए॥

एकतिही मन सासउ पूछइ, राय मणारह पुरि ए॥

तपागच्छीय जिनप्रभसूरि प्रबन्धों में पीरोजसाह को प्रतिबोध देने का उल्लेख मिलता है पर वे प्रबन्ध, सवा सौ वर्ष बाद के होनेसे स्मृति-दोष से यह नाम लिखा जाना संभव है।

नाहटों की गवाड़, बीकानेर



(पृष्ठ १२ का शेषांश)

उन्होंने परिग्रह-संग्रह से मुक्ति का संकेत दिया है। भया-तुर व्यक्ति ही अधिक परिग्रह करता है अतः वस्तुओं के प्रति ममत्त्व के त्याग पर उन्होंने बल दिया है, किन्तु समता के लिए सरलता का जीवन जीना बहुत आवश्यक बतलाया गया है। बनावटीपन से समता नहीं आयेगी, चाहे वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में हो। यदि समता नहीं है, तो तपस्या करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, मोन रखना आदि सब व्यर्थ है—

कि काहदि वणवासो कायवलेसो विचित्त उषवासो।

अरुण्य मोणयहुदी समदारहियस्स समणस्य ॥

(नियमसार० १२४)

प्राकृत साहित्य में सामायिक की बहुत प्रतिष्ठा है।

सामायिक का मुख्य लक्षण ही समता है। मन की स्थिरता की साधना समभाव से ही होती है। तण-कंचन, शत्रु-मित्र आदि विषमताओं में आसक्ति रहित हो कर उचित प्रवृत्ति करना ही सामायिक है। यही समभाव सामायिक का तात्पर्य है। यथा—

समभावो सामइयं तण-कंचण सत्तु-मित्त विसउत्ति।

जिरभिसमंभित्तं उच्चिय पणित्तिप्पहाणं च ॥

इस तरह प्राकृत साहित्य में समता का स्वर कई क्षेत्रों में गुंजित हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि उसका वर्तमान जीवन में व्यवहार हो। आज की विकट समस्याओं से जूझने के लिए समता दर्शन का व्यापक उपयोग किया जाना अनिवार्य हो गया है।



जैन कर्म-सिद्धान्त

□ श्री श्यामलाल पाण्डेय

भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही आध्यात्मिकता के अधिक निकट रही है। समय-समय पर अनेकों दिव्य एवं महान आत्माओं द्वारा विभूषित इस देश का इतिहास धर्म एवं दर्शन से अत्यधिक प्रभावित रहा है। भारतीय दर्शन के विविध पक्षों के रूप न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मोक्षांसा, वेदान्त, जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन में हमें मानव जीवन के प्रति विविध मतों के दर्शन होते हैं। इनमें से चार्वाक को छोड़कर अन्य समस्त भारतीय दर्शनों ने परलोक पुनर्जन्म, कर्म और मोक्ष की धारणा को ग्रहण किया है। ये सभी मानते हैं कि मानव जैसे कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है।

शाब्दिक दृष्टि से धर्म के तीन अर्थ प्रमुख हैं। पहला—कर्म कारक; कर्म का यह अर्थ जगत प्रसिद्ध है। दूसरा अर्थ है—क्रिया। इसके अनेक प्रकार हैं। सामान्यतः विविध दार्शनिकों ने कर्म के द्वितीय अर्थ को आधार मानकर ही अपने विचार प्रकट किये हैं। तीसरा अर्थ है—जीव के साथ बघने वाले विशेष जाति के स्कन्ध। यह अर्थ अप्रसिद्ध है, केवल जैन सिद्धान्त ही इसका विशेष प्रकार से निरूपण करता है।

भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त

न्याय दर्शन के अनुसार मानव शरीर द्वारा सम्पन्न विविध कर्म; राग, द्वेष और मोह के बशीभूत होकर

किये जाते हैं। अच्छा आचरण पुण्य प्रवृत्ति है, जो धर्म को उत्पन्न करती है। धर्म करने से पुण्य तथा अधर्म करने से पाप उत्पन्न होता है। धर्माधर्म को अदृष्ट भी कहते हैं। अदृष्ट कर्मफल के उत्पादन में कारण होता है। किन्तु अदृष्ट जड़ है और जड़ में फलोत्पादन शक्ति चेतना की प्रेरणा के बिना सम्भव नहीं है। अतः ईश्वर की प्रेरणा से ही अदृष्ट फल देने में सफल होता है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार अयस्कान्तमणि की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर की ओर चढ़ना, अग्नि की लपटों का ऊपर की ओर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की प्रथम परिस्पन्दात्मक क्रिया, ये सब कर्म अदृष्ट द्वारा होते हैं।

सांख्य दर्शन के मत में—“क्लेश रूपी सलिल से सिक्त भूमि में कर्म बीज के अकुर उत्पन्न होते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान रूपी शीघ्रम क कारण क्लेश जल के सुख जाने पर ऊपर जमीन में बसा कभी कर्म-बीज उत्पन्न हो सकते हैं।”

योग दर्शन के अनुसार पातञ्जल योगसूत्र में क्लेश का मूल कर्माशय वासना को बतलाया है। यह कर्माशय इस लोक और परलोक में अनुभव में आता है।

१. जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन. प्रो० उदयचन्द्र जैन, जैन सिद्धान्त भास्कर किरण १. प्र० श्री देवकुमार जैन औरियन्टल रिवर्च इन्स्टीच्यु० आरा। पृष्ठ ३८

२. मणिगमन सूचकभिसर्पणमित्यदृष्ट कारणम्।

बै० सू० ५।१।१५

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्ट कारणम्। बै० सू० ५।२।७

३. क्लेशसलिलावसिक्तार्था हि बुद्धिभूमौ कर्म—
—बीजाङ्कुरं प्रसुवते।

तत्त्वज्ञान निदाघणरीतसकलक्लेशसलिलार्था ऊषरायां कुतः कर्मबीजानामङ्कुरप्रसवः।

—तत्त्व कीमुदी सांख्या का० ६७

४. क्लेशमूलः कर्माशयः दृष्टादृष्टवेदनीयः। योगसूत्र २।१८

मीमांसा दर्शन के अनुसार-प्रत्येक कर्म में अपूर्व (अदृष्ट) को उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। कर्म से अपूर्व उत्पन्न होता है और अपूर्व से फल उत्पन्न होता है। अतः अपूर्व, कर्म और फल के बीच की अवस्था का द्योतक है। शंकराचार्य ने इसीलिए अपूर्व को कर्म की सूक्ष्मा उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है।^१

वेदान्त दर्शन के अनुसार कर्म से वासना उत्पन्न होती है। और वासना से संसार का उदय होता है। विज्ञान-दीपिका में यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार घर में तथा क्षेत्र में स्थित अन्न का विनाश विविध रूप से किया जा सकता है, किन्तु मृत अन्न का विनाश पाचन द्वारा ही होता है, परन्तु प्रारब्ध कर्म का क्षय भोग के द्वारा ही होता है।^२

बौद्ध धर्म में भी, जो कि अनात्मवादी है कर्मों की विभिन्नता को ही प्राणियों में व्याप्त विविधता का कारण माना है। अगुत्तर निकाय में सम्राट मिलिन्द के प्रश्नों के उत्तर में भिक्षु नागसेन कहते हैं—‘राजन्’ ! कर्मों के नानात्व के कारण सभी मनुष्य समान नहीं होते। भगवान् ने भी कहा है कि मानवों का सद्भाव कर्मों के अनुसार है। सभी प्राणी कर्मों के उच्चाधिकारी हैं। कर्मों के अनुसार ही योनियों में जाते हैं। अपना कर्म ही बन्धु है, आश्रय है और वह जीव का उच्च और नीच रूप में विभाग करता है।

यही नहीं भारत के लगभग सभी प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त की महत्ता तथा प्रकृति का यथा सम्भव उल्लेख मिलता है। गीता का मान्य सिद्धान्त है

१. नचाप्यनुत्पाद्य किमपि अपूर्वं कर्म विनश्यत्

कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति ।

अतः कर्मणो व सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य

वा पूर्वावस्था अपूर्वनामास्तीति तर्क्यते ।

शा. भा. ३।२।४०

६. जैन कर्म सिद्धान्त और भारतीय दर्शन, पूर्वोक्त, पृ. ४०

कि—प्राणी को कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये, किन्तु कर्म के फल का त्याग करना चाहिये। प्राणी का अधिकार कर्म करने में ही है, फल में नहीं।^३ महाभारत में भी आत्मा को बाधने वाली शक्ति को कर्म कहा है।^४ गोस्वामी तुलसी दास ने भी रामचरित मानस में कर्म को प्रधान कहा है,

कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।

जो जस करहि सो तस फल चाखा ॥

इस प्रकार भारतीय दर्शन में कर्म सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है। लगभग सभी दर्शनियों ने कर्म सिद्धान्त के विषय में अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार प्रकट कर इसे जीवन दर्शन का प्रमुख आधार माना है।

जैन कर्म दर्शन—

जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त का जितना सविस्तार विवेचन किया गया है, वह अन्य दर्शनों में कर्म सिद्धान्त के विवेचन से कई गुना है। जैन वाङ्मय में इस सम्बन्ध में बिपुल साहित्य भण्डार उपलब्ध है। प्राकृत भाषा का जैन ग्रन्थ ‘महाबन्ध’ कर्म सिद्धान्त पर विश्व का सबसे बृहद ग्रन्थ है, जिसमें चालीस हजार श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम गोमटसार कर्मकाण्ड, लघिसार तथा क्षपणासार आदि कर्म सिद्धान्त विषयक बृहद ग्रन्थ हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म की विशेष महत्त्व दिया गया है, तथा उसकी सूक्ष्म विवेचना की गई है।

‘कर्म’ का अर्थ—

मौलिक अर्थ की दृष्टि से तो कर्म का अर्थ वास्तव में क्रिया से ही सम्बन्धित है। मन, बचन एवं काय के

७. ‘महाराज कम्ममं नानाकरणेन मनुस्सा न सत्त्वे समंका । भासितं एतं महाराज भगवता कम्मस्स कारणेन माणवसत्ता, कम्मदायादा वम्मयोनी, कम्मबन्धु कम्मपरिसरणा कम्मं सत्ते विभजति यदिवं हीनप्पणीतत्तायीति ।’ — अगुत्तर निकाय

८. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

—भगवद्गीता २।७

९. ‘कर्मणा बध्यते जन्तुविद्यया तु विमुच्यते’,

—महाभारत-शान्तिपर्व (२४०।७)

द्वारा जीव जो कुछ करता है, वह सब क्रिया या कर्म है। मन, वचन और काय ये तीन उसके माध्यम हैं। इसे जीव कर्म या भावकर्म कहते हैं यहाँ तक कर्म की धारणा सभी को स्वीकार है। यह धारणा केवल संसारी जीवों की क्रिया पर ही विचार करती है, अर्थात् केवल चेतन की क्रियाएँ ही इसकी विषय वस्तु हैं, जड़ की क्रियाओं अथवा जड़ एवं चेतन की क्रियाओं में सम्बन्धों पर अन्य धारणाओं में विचार नहीं किया जाता, जैन दर्शन इन दोनों के सम्बन्ध में भी गम्भीरता पूर्वक विचार करता है। इस कारण उससे कर्म की व्याख्या अधिक व्यापक एवं विस्तृत है। जैन दार्शनिक कर्म शब्द की भौतिक व्याख्या करते हैं।

परिभाषा एवं व्याख्या

श्री क्ष० जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार^{१०} “भावकर्म से प्रभावित होकर कुछ सूक्ष्म जड़ पुद्गल स्कन्ध जीव के प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं और उसके साथ बंधते हैं, यह बात केवल जैनागम ही बताता है। यह सूक्ष्म स्कन्ध अजीव कर्म या द्रव्य कर्म कहलाते हैं और रूप रसादि धारक मूर्तक होते हैं। जैसे कर्म, जीव करता है, वैसे ही स्वभाव को लेकर द्रव्य कर्म उसके साथ बंधते हैं और कुछ काल पश्चात् परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय में आते हैं उस समय इनके प्रभाव से जीव के ज्ञानादि गुण तिरोभूत हो जाते हैं। यही उनका फलदान कहा जाता है सूक्ष्मता के कारण वे दृष्ट नहीं हैं।

इस प्रकार जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि यदि ‘कर्म’ भौतिक स्वरूप का है, तो ‘कारण’ भी भौतिक स्वरूप का होगा। अर्थात् जैन धर्म यह मानता है कि चूंकि विश्व की सभी वस्तुएँ सूक्ष्म स्कन्धों या परमाणुओं से बनी हैं, अतः परमाणु ही वस्तु का ‘कारण’ है और

चूंकि परमाणु भौतिक तत्त्व है, अतः वस्तुओं के ‘कारण’ भी भौतिक तत्त्व है, इस सम्बन्ध में आनोचकों की इस आपत्ति का कि “अनेकी क्रियाएँ, यथा-सुख, दुःख, पीड़ा आदि विशुद्ध रूप से मानसिक हैं, इसलिये उनके कारण भी मानसिक होने चाहिए, भौतिक नहीं।” उत्तर देते हुए कहा कि—ये अनुभव शारीरिक कारणों से सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि सुख-दुःख इत्यादि अनुभव उदाहरणार्थ—भोजन आदि से सम्बन्धित होते हैं। अभौतिक मत्ता के साथ सुख आदि का कोई अनुभव नहीं होता, जैसे कि आकाश के साथ। अतः यह माना गया है कि—इन अनुभवों के पीछे ‘प्राकृतिक कारण’ हैं, और यही कर्म है। इसी अर्थ में सभी मानवीय अनुभवों के लिये सुखद या दुःखद तथा पसन्द या नापसन्द कर्म जिम्मेदार हैं।^{११}

इसी कारण विभिन्न जैन दार्शनिकों ने जीव के रागद्वेषादिक परिणामों के निमित्त से जो कार्माणवर्गणा रूप पुद्गल-स्कन्ध जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं, उन्हें कर्म कहा है। आचार्य कुन्द-कुन्द के अनुसार—“जब रागद्वेष से युक्ता आत्मा अच्छे या बुरे कार्यों में प्रवृत्त होता है, तब कर्म रूपी रज ज्ञानवरणादि रूप से आत्म-प्रदेशों में प्रविष्ट होकर स्थित हो जाता है”^{१२}। श्री अकलंक देव ने कर्म की सोदाहरण व्याख्या करने हुए कहा है कि—‘जिम प्रकार पात्र विशेष में रखे गए अनेक रस वाले बीज, पुष्प तथा फलों का मदिरा रूप में परिणमन होता है; उसी प्रकार, क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषायों तथा मन, वचन और काय योग के निमित्त से आत्मप्रदेशों में स्थित पुद्गल परमाणुओं का कर्मरूप में परिणमन होता है।’^{१३}

१०. जैनन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १ जिनेन्द्रवर्णी,
भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० २५

११. ‘कर्म ग्रन्थ’ ३

१२. जैन दर्शन की रूपरेखा, एस. गोपालन, बाईली
ईस्टर्न लि० पृ० १५१

१३. परिणमदि जडा अप्पा मुहम्मि अमुहम्मि रागदोस
जुदो। त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहि ॥

—प्रवचनासार ६५

१४. यथा भोजन विशेषे प्रक्षिप्तानां
विविधरसबीज पुष्पलतानामदिराभावेन
परिमाणः तथा पुद्गलानामपि आत्मनि
स्थितानां योगकषायवशात् परिणामो वेदितव्यः।

—तत्त्वावधारितिक, पृ० २४६

इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने कर्म की विशद एवं सूक्ष्म व्याख्या की है जो अन्य दर्शनों में की गई व्याख्याओं से नितान्त भिन्न है। जहाँ अन्य दर्शन परिणमन-रूप भावात्मक पर्याय को कर्म न कह कर केवल परिस्पदन रूप क्रियात्मक पर्याय को ही कर्म कहते हैं, वहाँ जैन कर्म-सिद्धान्त इन दोनों को ही कर्म कहता है। जैन दर्शन में कर्म की यह व्याख्या अत्यन्त व्यापक है।

कर्म और आत्मा—

लगभग सभी दर्शन, जो कर्म की धारणा पर विचार करने हैं। कर्म को आत्मा से सम्बन्धित अवश्य मानते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा अनादिकाल से कर्म बंधन से युक्त है कर्म बंधन जन्म-जन्मान्तर में आत्मा को बाँधे रहते हैं, इस दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। परन्तु एक दृष्टि से वह सादि भी है; जिस प्रकार वृक्ष और बीज का सम्बन्ध सन्तति की दृष्टि से अनादि है, और पर्याय की अपेक्षा से वह सादि है, इसी प्रकार कर्मबंधन सन्तान या उत्पत्ति की दृष्टि से अनादि और पर्याय की दृष्टि से सादि है। जैनदर्शन में कर्म और आत्मा के सम्बन्ध में इस व्याख्या के कारण ही आगे चलकर उसे वैज्ञानिक रूप दिया है जिस कारण वह अन्य दर्शनों में अलग है। जैन दर्शन कर्मबंधन को अनादि और पर्याय की दृष्टि से सादि मानकर ही आगे यह और व्याख्या करता है कि—पर्याय की दृष्टि से सादि होने के कारण पूर्व के कर्मबंधनों को तोड़ा भी जा सकता है। कोई भी सम्बन्ध अनादि होने से अनन्त नहीं हो जाने, विरोधी कारणों का समागम होने पर अनादि सम्बन्ध टूट भी जाते हैं, जिस प्रकार बीज और वृक्ष का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी, पर्याय विशेष में सादि होता है, और पर्याय विशेष में किसी बीज विशेष के जल जाने पर, अर्थात् विरोधी कारणों से समागम के कारण उसमें अकुर उत्पन्न नहीं होता। इस विषय में आचार्य अकलंक देव तत्त्वार्थराजवातिक (२/७) में ऐसा ही दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि जिस प्रकार बीज के जल

जाने पर अकुर नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भवांकुर उत्पन्न नहीं होता।

यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने आत्मा के स्वभाव की सकारात्मक व्याख्या करते हुए उसे विशुद्ध एवं असीम क्षमताओं वाली कहा है। उनके अनुसार कर्म के दुष्ट प्रभाव के कारण वह अपने को सीमित अनुभव करती है। कर्म के इस दुष्ट प्रभाव से आत्मा को मुक्त करा पाने पर ही सद्कर्मों की उत्पत्ति होती है, सद्कर्मों से कर्मबंध टूटते हैं और कर्मबंधों से पूर्ण मुक्ति पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जैन दर्शन में मोक्ष की धारणा का विकास, कर्म दर्शन के विकास पर ही आधारित है।

कर्म के भेद—

जैन दार्शनिकों ने कर्म की बृहद् व्याख्या करते हुए कहा है कि—मिथ्यात्व, भ्रजान, अविरति, योग, मोह तथा क्रोधादि कषाय ये भाव जीव और अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।^{१५} इस प्रकार कर्म को दो आधारों भौतिक तथा मानसिक के आधार पर दो भेद किये गये हैं—‘द्रव्य कर्म’ एवं ‘भाव कर्म’। द्रव्य कर्म का अर्थ है। जहाँ द्रव्य का आत्मा में प्रवेश हो गया हो अर्थात् जहाँ रागद्वेषादि रूप भावों का निमित्त पाकर जो कार्मण्य वर्णारूप पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ बँध जाते हैं उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। यह पौद्गलिक है, और इनके और भी भेद किये गए हैं।

भावकर्म आत्मा के चैतन्य परिणामात्मक है। इनमें इच्छा तथा अनिच्छा जैसी मानसिक क्रियाओं का समावेश होता है। अर्थात् ज्ञानारणादि रूप द्रव्य कर्म के निमित्त से होने वाले जीव के राग द्वेषादि रूप भावों को भावकर्म कहते हैं।

द्रव्य कर्म और भाव कर्म की पारस्परिक कार्यकारण-परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। इन दोनों में नैमित्तिक सम्बन्ध है। भावकर्म का निमित्त द्रव्य कर्म है और द्रव्य कर्म का निमित्त भावकर्म है। रागद्वेषादि रूप

१५. मिच्छन्त पुण दुबिह जीवमजीवं तहेव घण्णाण ।

अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ।

समयसार-मूल । ८७ प्र० ग्रहसा मंदिर प्रकाशन, दिल्ली

भावों का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बँधता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा में रागद्वेषादि भावों की उत्पत्ति होती है।^{१६}

कर्म बन्ध

जैन दर्शन के अनुसार दोनो ही प्रकार के कर्मों से उत्पन्न कर्माणु विभिन्न कालावधियों के लिए मनुष्य को बांधकर रखते हैं। इस प्रकार कर्मबन्धन कर्म और आत्मा के सम्बन्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न अवस्था में है। यह अवस्था कषाय एवं योग के कारण उत्पन्न होती है आचार्य गृद्धपिच्छ ने कहा है कि—“जीव कषाय सहित होने के कारण कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इसी का नाम बन्ध है। शुद्ध आत्मा में कर्म का बंध नहीं होता है, किन्तु कषायवान् आत्मा ही कर्म का बँध करता है। आचार्य जिनसेनाचार्य ने भी कर्मबन्ध की लगभग ऐसी ही व्याख्या करते हुए कहा है कि—“यह अज्ञानी जीव इष्ट और अनिष्ट सकल्प द्वारा वस्तु में प्रिय और अप्रिय की कल्पना करता है, इससे रागद्वेष उत्पन्न होता है और रागद्वेष से कर्म का बन्ध होता है, इस प्रकार रागद्वेष के निमित्त से ससार का चक्र चलता रहता है।^{१७}

इस प्रकार रागद्वेष रूप भावकर्म का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म आत्मा से बँधता है और द्रव्यकर्म के निमित्त से आत्मा में रागद्वेष रूपी भावकर्म उत्पन्न होता है। इन कर्मों से उत्पन्न परमाणु प्रत्येक समय बँधते रहने से अनन्तानन्त होते हैं। यह बंध केवल जीवप्रदेश के क्षेत्रवर्ती कर्म परमाणुओं का होता है, बाहर के क्षेत्र में स्थित कर्म परमाणुओं का नहीं। आत्म-प्रदेशों में होने वाला बंध यह सम्भव नहीं है कि किसी समय किन्हीं आत्म प्रदेशों के साथ बन्ध हो और किसी समय अन्य आत्म प्रदेशों के साथ।

कर्मफल—ईश्वरवादी दर्शन ईश्वर को कर्म का फल दाता मानते हैं। उसके अनुसार यह भ्रज प्राणी अपने सुख और दुःख में असमर्थ है। यह जीव ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग में या नरक में जाता है।^{१८} जैन दर्शन के अनुसार कर्म स्वयं अपना फल देते हैं, किसी के माध्यम से नहीं। इसी कारण कहा है कि उस कर्म से उत्पन्न किया जाने वाला सुख दुःख कर्मफल है।^{१९} कर्मफल कर्म की प्रकृति से प्रभावित होता है। जैन दर्शन के अनुसार शुभ एवं अशुभ भावों से किये गए, कर्मों में जीव पर अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति होती है, अतः इन भावों का प्रभाव कर्म परमाणुओं पर ही होता है और हमी के अनुसार वे कर्म अपने उदय के अवसर पर तदनुरूप सुख और दुःख प्रदान करते हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त की अत्यन्त सूक्ष्म एवं विषद तथा वैज्ञानिक विवेचना की गई है जो यह बतलाती है कि मनुष्य स्वयं अपने कर्म का मृष्टा एव भाग्य विधाता है। ईश्वर या अन्य कोई शक्ति न तो उसके कर्म को निर्धारित करती है न ही उसके फल को। यही नहीं ईश्वरीय या अन्य कोई ऐसी शक्ति उसे बुरे कर्मों के उदय या फल भोगने से मुक्त भी नहीं करा सकती। कर्मों से मुक्ति के लिए कर्ता द्वारा स्वयं कर्मक्षय करना आवश्यक है। कर्मक्षय से कोई भी जीव शुद्ध अवस्था अर्थात् मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण स्वामी कार्तिकेय ने कहा है कि न तो कोई लक्ष्मी देता है और न कोई इसका उपकार करता है। शुभ और अशुभ कर्म ही जीव का उपकार और अपकार करते हैं।

णय को बि देदि लच्छी ण को बि जीवस्य कुणई उवयारं अवयार कम्मं पि सुहासुह कुणदि ॥

१६. जैन कर्म सिद्धांत और भारतीय दर्शन,

पूर्वोक्त पृ० ४७

१७. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।
—तत्त्वार्थसूत्र ८।२

१८. संकल्पवशो मूढः वस्तिष्ठानिष्टता नयते
रागद्वेषोत्तस्ताभ्यां बन्ध दुर्मोचिमवनुते ।

—महापुराण २४।२१

१९. भ्रजो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख दुःखयो ।

ईश्वर प्रेरितो गच्छेत स्म वाश्वभ्रमेव वा ॥

महाभारत वन पर्व ३०।२८

२०. तस्य कर्मणो यान्निष्पायं सुख दुःख तत्कर्म फलम् ।

—प्रवचनसार त. प्र. १२४

जयपुर पोथीखाने का संस्कृत जैन साहित्य

□ डा० प्रेमचन्द राबका, मनोहरपुर

विद्वानों में इस विषय पर मतभेद है कि भारत में संस्कृत राजकाज की अथवा बोलचाल की भाषा थी। परन्तु यह निर्विवाद मत्त है कि इसकी दोनों ही वर्गों में सम्मानित स्थिति रही है। वेद-वेदांग, श्रुति-स्मृति, पुराणादि विविध विषयक ग्रन्थों की प्रतियाँ लिपिबद्ध कराकर संगृहीत और सुरक्षित करने में मध्ययुगीन और मध्यान्तर कालीन नरेशों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। साथ ही उन्होंने नवीन साहित्य के सृजन में भी विद्वानों, पण्डितों, कवियों और लेखकों को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन देने की परम्परा निभाई है। उन्हीं के अनुकरण में सामन्त वर्ग तथा अन्य सम्पन्न लोगो ने भी इस प्रवृत्ति को अपनाया है। फलतः हमारे देश का बहुत-सा साहित्य इन घरानों में किसी प्रकार बचा रहा। जबकि अन्यान्य सामान्य गृहों में उपेक्षा एवं अज्ञान के कारण इसमें भी अधिक सामग्री नाश की प्राप्त हुई। इस ग्रन्थ-सुरक्षा दृष्टि से जैन मन्दिरों के शास्त्र-भण्डारों का योगदान स्तुत्य एवं अविस्मरणीय है।

जयपुर नगर की स्थापना से बहून् पूर्व अमेर राजधानी में ही यहाँ के राजवंश में विद्वानुगांग और विद्वत् समादर की भावना विद्यमान थी। जयपुर राजवंश का पोथीखाना इस तथ्य का साक्षी है। यह 'पोथीखाना' जयपुर राजघराने के शासकों द्वारा अपने राज्य की आन्तरिक शासन व्यवस्था के सम्यक् संचालन की दृष्टि से विभिन्न विभागों के रूप में स्थापित ३६ कारखानों में से एक है। इसमें अमेर एवं जयपुर राज्य के तत्कालीन शासकों द्वारा समय-समय पर संगृहीत भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखित भिन्न-भिन्न विषयों की पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं।

जयपुर राजवंश का पोथीखाना विगत मान सौ वर्षों में सृजित एवं लिपिबद्ध असूक्ष्म साहित्य को अपने में समा-विष्ट करता है, जो उक्त शासकों के साहित्यानुगांग का प्रतीक है। इसमें अमेर एवं जयपुर राज्य के भू० पू० शासकों में मिर्जा राजा जयसिंह (वि० सं० १६७८-१७२४)

से लेकर अन्तिम महाराजा मानसिंह द्वितीय (वि० सं० १९७९-२०२७) तक के समय में रचित साहित्य सुरक्षित है।

अपने पूर्वजों द्वारा निमित्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ संग्रह को सुव्यवस्थित एवं पृथक् विभाग का रूप देने का श्रेय महाराजा सवाई जयसिंह (मन् १७०० से १६४३ ई०) को है। अपनी नवीन राजधानी सवाई जयनगर की स्थापना के पश्चात् विद्या, कला और राजकीय उपकरणों के संग्रह, सुरक्षा एवं वृद्धि के लिये ही उन्होंने ३६ कारखाने स्थापित किये थे। उनमें पोथीखाना अनन्यतम एवं गणनीय है। इसके तुरन्त बाद ही महाराजा ने देश-विदेश से हस्त-लिखित एवं मुद्रित दुर्लभ ग्रंथ उपलब्ध किये एवं प्राचीन जीर्ण एवं उपयोगी ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाने, उन्हें सुरक्षित रखे जाने तथा कुछ को चित्रित करने के लिये आवश्यक पण्डितों, मुलेखकों और चतुर चित्रकारों की नियुक्तियाँ कीं। तब से यह प्रवृत्ति जयपुर राज घराने में किसी न किसी रूप में सक्रिय है।

पोथीखाने में संस्कृत भाषा में लिखे ग्रन्थ सर्वाधिक हैं। जो प्रायः सभी विषयों से सम्बद्ध हैं। यह विपुल ग्रन्थ राशि संस्कृत-क्षेत्र में एक उज्ज्वल कीर्तिमान के रूप में विद्यमान है। महाराजा सवाई जयसिंह, रामसिंह, प्रतापसिंह आदि स्वयं संस्कृत के अच्छे विद्वान् और स्वयं सवाई प्रतापसिंह ने जो ब्रजनिधि के नाम से विख्यात हैं, भनूहरि के शतकत्रय का ने हिन्दी पद्य अनुवाद किया है।

पोथीखाने की सामग्री निम्न तीन संग्रहों में विभक्त है:—(१) खास मोहर संग्रह, (२) पोथीखाना संग्रह, और (३) पुण्डरीक संग्रह। एक और ग्रन्थ संग्रह प्राचीन मुद्रित ग्रन्थों का है। खास मोहर संग्रह में ७८०० ग्रन्थ हैं। यह संग्रह अमेर के शासकों का निजी संग्रह है। इस संग्रह में महत्त्वपूर्ण अतिप्राचीन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह राजाओं के निजी अधिकार में रहता था। पोथीखाना संग्रह के ग्रन्थों

की संख्या २३५० है। इस संग्रह के कुछ ग्रन्थ तो खास मोहर संग्रह से स्थानान्तरित हुये हैं। इसके अलावा इसमें पोथीखाने के कर्मचारियों द्वारा लिखित, अन्य लेखकों, पण्डितों, कवियों आदि द्वारा भेंट में प्राप्त एवं ग्रन्थ श्रोतों से उपलब्ध ग्रन्थ हैं। तृतीय पुण्डरीक संग्रह में २८५१ ग्रन्थ हैं जो सवाई जयसिंह प्रथम (वि०स० १७५६-१८००) के गुरु रत्नाकर पुण्डरीक और उसके विद्वान उत्तराधिकारियों द्वारा सङ्कलित हैं। चतुर्थ मुद्रित ग्रन्थों की संख्या ३,००० के लगभग है। इस प्रकार पोथीखाने के विभिन्न संग्रहों में कुल १६००० ग्रन्थ हैं जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, ब्रज, बंगला, मराठी, राजस्थानी और गुजराती आदि भाषाओं में वेद, स्मृति, पुराण, धर्मशास्त्र, इतिहास, वेदान्त, न्याय, योग, मीमांसा, बौद्ध, जैन, स्तोत्र, तंत्र, आगम, मन्त्र-शास्त्र, काव्य, नाटक, चम्पू, व्याकरण, निघण्टु, कोष, छन्द-शास्त्र, रस, अलंकार, आयुर्वेद, ज्योतिष, कामशास्त्र आदि से सम्बद्ध हैं।

‘खास मोहर संग्रह’ के ग्रन्थों की सूची का प्रकाशन “Literary Heritage of the Rulers of Amber & Jaipur” नामक पुस्तक में श्री गोपालनारायण बहुरा के सम्पादकत्व में हो चुका है। जैन संस्कृत ग्रन्थों की सूची इसी के आधार पर यहाँ दी जा रही है :—

पोथीखाने के ‘खास मोहर संग्रह’ में २५० के लगभग जैन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं; जिनमें १२२ हिन्दी भाषा के और शेष संस्कृत के हैं। हिन्दी ग्रन्थों की सूची वीरवाणी एवं महावीर जयन्ती स्मारिका १९७८ में मेरे प्रकाशित लेख “जयपुर पोथीखाना का हिन्दी जैन साहित्य” में दी जा चुकी है। संस्कृत ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है :—

१. अकलक स्तोत्रम्
२. अनेकार्थ कोश
३. अनेकार्थ ध्वनि मंजरी, क्षपणक
४. „ ध्वनि मंजरी हेमचन्द्र
५. „ नाम माला, हेमचन्द्र
६. „ नामवृत्ति
७. „ मंजरी-अटीक
८. „ शब्द सङ्ख्या कोश
९. „ संग्रह, हेमचन्द्र

१०. अनेकार्थ संग्रह टीका
११. अभिधान नाममाला, हेमचन्द्र
१२. अभिधान चिन्तामणि नाममाला
१३. अर्जुन पनाका
१४. आचाराग सूत्र प्रदीपिका जिनहंस सूरि
१५. आदि पुराणम्
१६. आप्त मीमांसाकृत
१७. एकाक्षरी नाममाला कोश, वरहचि
१८. एकीभाव स्तोत्रम्, वादिराज
१९. औचित्य विचार चर्चा, क्षेमन्द्र
२०. कर्म ग्रन्थ (कर्म विपाक व्याख्या), देवेन्द्र सूरि
२१. कर्म विपाक
२२. कल्याण मन्दिर स्तोत्रम्
२३. कल्याण मन्दिर, कुमुदचन्द्राचार्य
२४. कल्याण मन्दिर सभाष्यम्, अश्वराज श्रीमाल
२५. कैवल्य कल्पद्रुम (स्वराज्य सिद्धि व्याख्या)
२६. ग्रह भाव प्रकाश (भुवन दीपक पद्मप्रभ सूरि)
२७. चतुर्विंशति जिनस्तोत्रम्
२८. चतुर्विंशति तीर्थंकर स्तोत्रम्
२९. चन्द्रप्रभ स्तोत्रम्
३०. चिन्तामणि पाश्वन्ताथ स्तोत्रम्
३१. छन्दोऽनुशासनम्, हेमचन्द्राचार्य
३२. जिन तीर्थंकराः
३३. जिन पञ्जर स्तोत्रम्
३४. जिनराज स्तव
३५. जिन सहस्रनाम स्तोत्रम्, आशाधर
३६. जिन स्तवन संग्रह
३७. जिन स्तुति (समाचारि)
३८. जिन स्तुति, अभय सूरि
३९. जिन स्तोत्र संग्रह
४०. जैन मंत्र पाठ
४१. जैन मंत्र संग्रह
४२. जैन यंत्र लेखन विधि
४३. जैन स्तोत्रादि संग्रह
४४. ज्ञाता धर्म कथा सूत्रम्
४५. ज्ञाता धर्म कथा सूत्रम् सटब्धार्थम्

४६. ज्ञानार्णव (नित्यातंत्र)
 ४७. विषयलोचकोश मुक्तावली, श्रीधरसेन
 ४८. ज्योतिष सारोहार, हर्षकीर्ति
 ४९. तत्त्वार्थविगम मोक्षसूत्रम्
 ५०. तत्त्वार्थविगम सूत्र टिप्पणकः प्रभाकर
 ५१. तीर्थंकर चरित्रम्
 ५२. कर्म ग्रन्थ : कुन्दकुन्दाचार्य
 ५३. देवागमस्तोत्रवृत्ति, वसुनन्दाचार्य
 ५४. देशो नाम महन्त कोश
 ५५. धर्म रसायन सूत्रम्
 ५६. धर्मशर्माम्युदय-काव्यम्
 ५७. धर्मोपदेश माला पद्मनन्दि
 ५८. धातु पाठः (सारस्वत व्याकरणे)
 ५९. धातु-पाठः (हेमचन्द्र)
 ६०. नमस्कार महात्म्यम्
 ६१. नमस्कार स्तोत्रादयः
 ६२. नवतत्त्व प्रकरणम्
 ६३. पचाक्षर महामन्त्र
 ६४. पद्मपुराणम्
 ६५. पद्मावती स्तोत्रम्
 ६६. पार्श्वनाथ स्तोत्रम्
 ६७. प्रतिक्रमण सूत्रम्
 ६८. प्रत्याख्यान विवरणम्
 ६९. प्रव्रज्या विधिः
 ७०. भक्तामर स्तोत्रम्, मानतुंगाचार्य
 ७१. भक्तामर स्तोत्रम् सटीका
 ७२. भक्तामर स्तोत्रम् सभाष्यम्
 ७३. भक्तामर स्तोत्रम् भाषार्थ सहितम्
 ७४. भुवन दीपकम्, पद्मप्रभसूरि
 ७५. भुवन दीपकम् वृत्ति, सिंहलिक सूरि
 ७६. भूपाल चतुर्विंशतिका
 ७७. भूपाल जिन स्तोत्रम्
 ७८. महावीर स्वामी स्तोत्रम्
 ७९. मृत्यु महोत्सव स्तोत्रम्
 ८०. योग चिन्तामणि (प्रायुर्वेद)
 ८१. रामचन्द्र स्तोत्रम्
 ८२. विवेक विलास, जिनदत्तसूरि
 ८३. विषयपहार स्तोत्रम्
 ८४. विषयपहार स्तोत्रम् सभाष्यम्
 ८५. विहरमान स्तोत्रम्
 ८६. वीतराग स्तोत्रम्
 ८७. शान्तिनाथ चरित्रम्, सकलकीर्ति
 ८८. शान्तिनाथ स्तोत्रम्
 ८९. श्रावकाचार, सकलकीर्ति
 ९०. षट्पद-काव्य वृत्ति, जिनप्रभसूरि
 ९१. षट्-पाण्डु-ग्रन्थः, कुन्दकुन्दाचार्य
 ९२. षट्-दर्शन-समुच्चय, हरिभद्रसूरि
 ९३. सज्जन-चित्तबल्लभ-स्तोत्रम्
 ९४. साधु-संग्रहणी-प्रकरणम्
 ९५. सामयिकाप्रकरणम्
 ९६. सारस्वत-चन्द्रिका-चन्द्रकीर्तिसूरि
 ९७. सारस्वत व्याकरणम्
 ९८. सिन्दूरप्रकरस्तव सटीकम्, सोमप्रभाचार्य
 ९९. सुप्रभात-स्तोत्रम्
 १००. सूक्तिमुक्तावलि, सोमप्रभाचार्य
 १०१. सोमनाथ-स्तोत्रम्
 १०२. स्नान-विधि (जैनपुराण)
 उक्त संग्रह मे जैन व्याकरण, स्तात्र एव सुभाषित
 ग्रन्थो का संकलन अधिक है ।

चतुर्थ विश्व पुस्तक मेले
 में
 वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनों
 की
 प्रदर्शनी
 वीर सेवा मन्दिर ने नई दिल्ली में २९ फरवरी,
 १९८० से ११ मार्च, १९८० तक हुए चतुर्थ विश्व
 मेले में जैन तत्त्वज्ञान विषयक अपने प्रकाशनों का स्टाक
 लगाया था जो जैन धर्म विषयक पुस्तकों का एक मात्र
 स्टाक था । पुस्तकों की पर्याप्त विक्री हुई एवं इस कार्य
 की सर्वत्र सराहना की गयी ।

ऋषभदेव : सिन्धु-सभ्यता के आराध्य ?

□ श्री ज्ञानस्वरूप गुप्ता

मोहनजोदडो व हड़प्पा, विश्व के सबसे प्राचीन नगर, विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यता सिन्धुघाटी सभ्यता के आदि केन्द्र थे। ईसा से ३००० वर्ष से भी अधिक पहले ये समृद्धिशाली थे। इनके नागरिकों की संस्कृति धर्म, राजनीतिक रूप क्या था यह आज भी रहस्य में डूबा हुआ है यद्यपि पुरातत्त्ववेत्ताओं के आह्वान पर इन्होंने लगभग ढाई हजार मिट्टी की बनी हुई आग में तपी हुई मुद्रायें उपलब्ध की हैं जिन पर तरह-तरह के चित्र व दृश्य बने हुए हैं। इन मुद्राओं से भारतीय जीवन में रम हुए धार्मिक चिह्न भोम्, स्वस्तिक, नवग्रह व बड़े चिह्न जिस दशहर या दीवाली पर सम्पूर्ण उत्तरी भारत में आठ या गोबर से बनाकर पूजा जाता है और जिसे अयोध्या का प्रतीक माना जाता है, प्रचुरता से पाये जाते हैं।

इतना होते हुए भी इतिहासज्ञ इस सभ्यता को भारतीय संस्कृति, धर्म व सभ्यता का मूल आधार मानने को इसलिये तैयार नहीं थे क्योंकि इन मुद्राओं पर अंकित चिह्न व दृश्य एक-दूसरे से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होते थे। उनका मानना है कि यह सभ्यता कोई अन्य सभ्यता थी, जिसे १९वीं शताब्दी ईसा पूर्व में बाहर से आने वाली आर्ये जाति ने समाप्त कर दिया। परन्तु अब कुछ ऐसे तथ्य सामने आये हैं व इन मुद्राओं के चिह्नों का पुनः अध्ययन करने से पता लगता है कि इन मुद्राओं पर अनेकों चित्र भगवान् विष्णु के अवतार व जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवजी के कथानक की मुख्य घटनायें—श्री ऋषभदेव का चित्र, उनके ज्ञान प्राप्ति के बाद का प्रथम भाषण (समवसरण), उनके पुत्र सम्राट भरत का बाल्यकाल का चित्र भी इसमें पाया जाता है। इस कथानक का देखने से यह सभ्यता न केवल रहस्यमय युग से बाहर आ जाती है, परन्तु भारतीय इतिहास के अन्धकारमय युग को भी धालोकिन कर देती है।

ऋषभदेव का चित्रण

भारतीय इतिहासज्ञ इस बात को मानकर चलते थे कि वैदिक युग की हिसाबों को देखकर व उनसे दया से प्रेरित होकर जैन धर्म व बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, अतः

इन दोनों धर्मों की छठी शताब्दी ईसा पूर्व से अधिक प्राचीन न मानते हुए उन्होंने सिन्धु घाटी सभ्यता के आराध्य देव शिव या रुद्र को माना है। परन्तु इन मुद्राओं पर अन्य कोई चित्र शिव या रुद्र से सम्बन्धित नहीं पाया गया व इस तरह एक सूत्र में सम्बद्ध नहीं हो पाया। अब जो तथ्य सामने आये हैं जिनमें उपरोक्त मुद्रायें भी शामिल हैं, यह पता चलता है कि कदाचित् ऋषभदेव उपादेय व उनकी आराधना ही प्राचीन भारत का धर्म था जो धर्म ईसा पूर्व छठी शताब्दी में महावीर व गौतम बुद्ध के अनुयायियों में बँट गया, व मौर्य साम्राज्य के पतन के साथ ही वह भी समाप्त हो गया। उसका स्थान लिया वैष्णव धर्म ने, जिसके पूज्य देवता वामनावतार अर्थात् के पुत्र त्रिविक्रम विष्णु थे जो जनभाषा में विक्रमादित्य कहे जाते हैं। इस प्रकार इन धर्मों का क्रम उल्टा मानने से जैन धर्म प्राचीन हो जाता है और उसके मूल सिद्धान्तों की झलकें सिन्धुघाटी सभ्यता की उत्खनित मुद्राओं पर एक ही सूत्र में सम्बद्ध पाई जाती हैं। आइये, इन मुद्राओं पर चित्रण का अध्ययन करें।

सिन्धुघाटी सभ्यता के क्षेत्र से निकली हुई मुद्राओं में से मोहनजोदडो से निकली मुद्रा नम्बर ४२० (फरदर एक्सकेवेशन एट मोहनजोदडो) इस रहस्य की कुजी है। अतः इसी को आधार मानना उचित रहेगा। इस मुद्रा पर एक दैवी पुरुष की आकृति है जिसके सिर पर सिंगो के आकार का एक मुकुट है। शरीर के ऊपरी भाग में कोई वस्त्र या कवच पहना हुआ है जो ताड़ के पत्ते का भी आभास देता है। देखने से इसका मुख कुछ विचित्र प्रकार का नजर आता है। सर जोन माशेल, (जिनकी देखरेख में हड़प्पा और मोहनजोदडो का उत्खनन हुआ था) का विचार है कि इस चित्रण में वह व्यक्ति है जिसके तीन मुख हैं। केदारनाथ शास्त्री, जो हड़प्पा के उत्खनन रहे हैं, का विचार है कि यह एक पशु मुख है, शायद भैंसे का। देखने से यह पशु मुख नजर आता है परन्तु भैंसे का न होकर बेल का मुख प्रतीत होता है। यह व्यक्ति एक आसन पर बैठाया गया है जिसके तीन या चार पाये हो सकते हैं।

इस आसन के नीचे दो हिरनों को घामने-सामने खड़े हुए पीछे की तरफ मुड़कर देखते हुए दिखाया गया है। इस मूर्ति के एक तरफ गण्डा और भैंसा बने हुए हैं और दूसरी तरफ एक हाथी और शेर और मानव का भी प्रतीकात्मक चित्रण किया हुआ है। इस व्यक्ति को सर जोन मार्शल ने पशुपति नाथ शिव बनाया है जबकि केदारनाथ शास्त्री के अनुसार यह शिव न होकर वेदो में वर्णित रुद्र का रूप होना चाहिये।

इस मूर्ति को, जो इस सभ्यता की प्राण है, जानने के लिये एक बार पुनः प्रकाश में लाना उचित रहेगा। सबसे पहले इस मूर्ति के मिगाकार मुकुट को देखा जाय व उसका अध्ययन किया जावे। अगर हम इसके मुकुट को जो मुद्रा नम्बर ४२० में बना है, देखें और अन्य मुद्राओं को भी देखें तब हम पायेंगे इसमें बना हुआ यह मुकुट अघूरा है। मोहनजोदड़ो से उत्खनित मुद्रा नम्बर ४३० (फरदर एक्सकेवेशन एट मोहनजोदड़ो-मंके) का देखें तो उसके अन्दर इस मुकुट का पूर्ण रूप आया है जिससे इस त्रिशूलाकार मुकुट के नीचे एक पूछ लटक रही है जो मूर्ति के बायीं तरफ और देखने वाले के दायीं तरफ झुकी हुई है। अगर इस मुकुट को पूरे को ही निकाल कर अलग रख लिया जाय तो यह एक अनूठा दृश्य दिखाता है क्योंकि बाहर निकालकर अगर इसे ९० डिग्री के कोण पर बायीं तरफ मोड़ दिया जाय तो यह हिन्दुओं के सबसे पवित्र चित्र ॐ [ओम्] का आकार ले लेता है, क्योंकि हिन्दुओं व अन्य धर्मावलम्बियों के समस्त धार्मिक चिह्न सिन्धुघाटी सभ्यताओं की मुद्राओं पर पाये जाते हैं इसलिए इसे ओम् मानने में हमें भ्रमक नहीं होनी चाहिए। ओम् रूपी चिह्न को मुकुट रूप में पहनने के कारण यह व्यक्ति देवी माना जाना चाहिये। इसे पूर्णरूप से समझने के लिये हमें पौराणिक कथाओं का अध्ययन कर उनकी सहायता से इस व्यक्ति की जानकारी लेना उचित रहेगा। हमारी पौराणिक गाथाओं में ओम् सदा ही विष्णु से सम्बन्धित रहा है शिव और रुद्र से नहीं, अतः यह व्यक्ति वह होना चाहिए जो कालान्तर में विष्णु का अवतार माना गया हो।

विष्णु के अवतारों में सोलह मानवावतार हैं जिनमें ऐसे व्यक्ति जो ऋषि हों और जिनका बेल से सम्बन्ध रहा हो

केवल दो ही हैं। संकरक्षण बलराम और ऋषभ। संकरक्षण बलराम का चिह्न हल है और ऋषभ का मतलब बैल है व इनका चिह्न बैल है, अतः यह निश्चित करना होगा कि इन दोनों में से यह व्यक्ति कौन हो सकता है। दोनों ही प्राचीन पौराणिक व्यक्ति हैं। अगर हम इस मुद्रा को देखें इस व्यक्ति के नीचे दो हिरनों की जोड़ी पायी जाती है। अगर गौतम बुद्ध की मूर्तियों को देखा जाय तो उसमें भी उनके आसन के नीचे दो हिरनों की जोड़ी पायी जाती है। जैन तीर्थंकर २४ हुये हैं और सबकी मूर्तियों के नीचे हिरनों की जोड़ी एक विशिष्ट प्रतीक है। दिगम्बर रहता और ससार के समस्त जीवों से दया और मित्रता का व्यवहार रखना जैन धर्म का मूल विचार है। अतः यह मूर्ति ऋषभ देव जो विष्णु के आठवें अवतार व जैनियों के प्रथम तीर्थंकर हैं, की हो सकती है। दूसरी तरफ इस मुद्रा में बैठा व्यक्ति एक ऊपरी भाग में एक ऐसा वस्त्र पहने हुए है जो ताड़ के पत्तों की तरह से नजर आता है। ताड़ का पत्ता बलराम का प्रतीक है, जिसे तालध्वज भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक सील में इसी तरह का एक व्यक्ति बैठा हुआ दिखाया गया है जिसके आसन के नीचे दो हिरन हैं और ओम् का मुकुट है और उसके दोनों तरफ दोनों घुटनों के बल बैठे हुए व्यक्ति उसे दो प्रतीक भेंट कर रहे हैं। उनके पीछे एक-एक बड़े सर्प फन फैलाये हुये खड़े हैं। बलराम को शेषावतार माना जाता है और अगर यह दोनों व्यक्ति जो उसे नमस्कार कर रहे हैं, वास्वव में सर्प हैं, तब यह व्यक्ति बलराम हो सकता है। भारतीय पौराणिक गाथा के अनुसार, अगर साप किसी व्यक्ति के ऊपर छत्री की तरह से फन फैलाता है तो वह राजा माना जाता है। अतः अगर यह दोनों व्यक्ति राजा हैं तब यह प्रतीत होता है कि यह उन स्थानों के राजा होंगे जो आज के दिन हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के नाम से जाने जाते हैं और वह एक धार्मिक अध्यक्ष को नमस्कार कर रहे हैं। अगर हम मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा का अध्ययन करें, तो इसके अन्दर एक तरफ एक विचित्र प्रतीक बना हुआ है और दूसरी तरफ एक घुटनों के बल बैठा हुआ व्यक्ति एक वृक्ष की प्रतीक भेंट कर रहा है। यह विचित्र प्रतीक इस प्रकार का चिह्न है जिस प्रकार का प्रतीक समस्त उत्तरी भारत में लोग

दशहरे या दिवाली के दिन घाटे या गोबर से बनाकर पूजा करते हैं। यह प्रतीक अयोध्या का है, जैसा अथर्ववेद से भी पता लगता है। इसमें दूसरी तरफ घुटनों के बल बैठा हुआ व्यक्ति एक दूसरा प्रतीक का वृक्ष को भेंट कर रहा है। वह इस प्रकार का प्रतीक भेंट कर रहा है, जैसा प्रतीक पूर्व मुद्रा में देवी व्यक्ति को भेंट कर रहा था। एकमा ही प्रतीक एक देवी व्यक्ति को और एक वृक्ष को भेंट करना महत्वपूर्ण विशिष्टता है। यह यही दिखाता है कि यह वृक्ष सिन्धुघाटी सभ्यता के देवी पुरुष का भी प्रतीक है और अलग-अलग मुद्राओं पर बड़ा हम इस तरह से वृक्ष को पाते हैं, हमें यह मानना चाहिये कि यह हमी पुरुष को बता रहे हैं।

§ निर्वाण अयोध्या में

इस बात से इसकी और पुष्टि होती है कि मुद्राओं में इस वृक्ष के साथ दोनों तरफ वही हिरनो का जोड़ा मिलता है जो इस देवी पुरुष के आसन के नीचे पूर्व मुद्राओं पर देखा गया था। इन मुद्राओं पर क्योंकि इस देवी पुरुष के प्रतीक है, इसलिए यह माना जा सकता है कि इस देवी पुरुष का अयोध्या से भी सम्बन्ध है। हम यह देखते हैं कि जैन पौराणिक गाथाओं के अन्दर ऋषभ का § निर्वाण अयोध्या में हुआ था। हम यह भी पाते हैं कि महान् पुरुषों को वृक्षों से प्रतीकात्मक रूप में सदा ही बताया जाता रहा है। हम यह पाते हैं कि प्रारम्भिक काल में गौतम बुद्ध को बोधि वृक्ष से ही मूर्तियों पर बताया जाता था व केवल बाद में ही उनकी मूर्ति बनने लगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह देवी विजय बलराम का न होकर ऋषभ का ही है।

जैन समवसरण का संकेत

इस सबके बाद अन्य मुद्राओं को देखना उचित होगा। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा नम्बर १३ में मुद्रा की तीन दिशाएँ हैं। उस दिशा पर एक पेड़ है जिसके दोनों तरफ हिरन है जो इस बात को बताते हैं कि यह वृक्ष देवी पुरुष का प्रतीक है। दूसरी तरफ तीन जानवरों का—एक भृग, हाथी और गण्डा का जुलूस है जो देवी वृक्ष की तरफ जा रहा है। तीसरी तरफ एक पेड़ है, बाखिरी डाली पर एक व्यक्ति बैठा हुआ है जिसके नीचे एक शेर पीछे

की तरफ देखता खड़ा है। यह दृश्य बहुत अधिक मुद्राओं पर पाया जाता है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा नम्बर १४ में भी तीन दिशाएँ हैं, एक दिशा पर वृक्ष है जिसके दोनों तरफ हिरनों का जोड़ा है और एक तीन सिर वाला जानवर है, इसकी अन्य दोनों दिशाओं पर १० जानवरों का एक जुलूस है। इस जुलूस दो मगर भी हैं जो अपने मुँह में एक-एक मछली लिये जा रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मछलियाँ क्योंकि पृथ्वी पर नहीं चल सकती हैं इसलिए मगर के द्वारा ले जाई जा रही हैं। इस प्रकार मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा नम्बर ४८८ में चार पशुओं का, तीन मगर व तीन पशुओं का जुलूस है, मगर मछलियाँ मुँह में लिये जा रहा है और यह जुलूस बहुत आदरपूर्वक जा रहा है। इन तीन मुद्राओं पर जानवरों के जुलूस को देवी पुरुष की तरफ श्रद्धापूर्वक जाते हुए दिखाया गया है। इसका क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है? इससे यही प्रतीत होता है कि यह उस देवी पुरुष के जीवन का कोई ऐसा विशिष्ट क्षण है जब समस्त जीव जिनमें पशु और पक्षी भी सम्मिलित थे, उसे नमस्कार करने के लिए और उसे सुनने के लिए भी जा रहे थे। हिन्दू पौराणिक गाथाओं में कोई ऐसा जिक्र नहीं आता है जबकि पशु और पक्षी किसी देवी पुरुष के पास गये थे, परन्तु जैन कथाओं में ऐसी कहानी पायी जाती है। ऋषभ, जो पहले तीर्थंकर थे, को जब केवल ज्ञान प्राप्त हुआ तब उन्हें भाषण देना आवश्यक हुआ। एक बहुत विशाल भाषण देने का स्थान बन गया जिसे जैन मान्यता के अनुसार समवसरण कहते हैं व समस्त देवता और समस्त जीव-जन्तु सुनने गये थे। इन उपरोक्त मुद्राओं पर कदाचित् इन घटनाओं को प्रदर्शित किया गया है और अगर यह सत्य है तब यह देवी पुरुष ऋषभदेव होना चाहिये और सिन्धुघाटी सभ्यता जैन सभ्यता होना चाहिये।

ऋषभदेव के पुत्र सत्ताट भरत

हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा नम्बर ३०८ में एक पुरुष दिखाया हुआ है, जिसके दोनों तरफ एक-एक शेर कड़े हैं। इसी दृश्य का चित्र मोहनजोदड़ो की प्राप्त चार मुद्राओं पर भी पाया जाता है। हिन्दू पुराणों में भरत को बचपन से ही शेरों के साथ दिखाया गया है परन्तु यह

§ विद्वान् सेलक ने अयोध्या को ऋषभदेव की निर्वाण-भूमि माना है किन्तु जैन मान्यतानुसार अयोध्या उनकी जन्मभूमि है तथा निर्वाण भूमि तो अष्टापद है।

—सम्पादक

भरत शकुन्तला का पुत्र था। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि भरत जो चक्रवर्ती सम्राट थे वे ऋषभ के पुत्र थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु सभ्यता के पतन के बाद जब छठी शताब्दी ईसा पूर्व में जैन धर्म समाप्तप्राय हो गया और वैष्णव धर्म प्रारम्भ हुआ तब भी जनमानस में भरत और शेरो में साथ बराबर बना रहा, परन्तु क्योंकि जनमानस जैन राजाओं को भुलाना चाहता था इसलिये शकुन्तला के पुत्र भरत के साथ गलती से इन शेरो का सम्बन्ध बना दिया गया। अतः हमें यह मानकर चलना चाहिये कि यह राजा ऋषभ के पुत्र भरत होंगे।

अन्य चित्र

कुछ अन्य मुद्राओं पर कुछ और दृश्य काफी संख्या में मिलते हैं, परन्तु उनका अर्थ वर्तमान समय में समझ में नहीं आता है। एक दृश्य बहुत आता है। वह है देवी पुरुष के प्रतीक वृक्ष की सबसे नीचे की शाखा पर एक मनुष्य बैठा हुआ दिखाया है जिसके नीचे एक शेर पीछे की तरफ देखता हुआ खड़ा है। यह अकेला मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा ३५७ और ५२२ (फरदर एक्सकेवेशन एट मोहनजोदड़ो-मैके) और हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा न० २४८ ३०८ (एक्सकेवेशन एट हड़प्पा-वन्स) में पाया जाता है। अन्य मुद्राओं पर अन्य दृश्य के साथ पायी जाने वाली मुद्रायें नम्बर १, १३, २३ और हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा न० ३०३ पर पाया गया है। वह एक देवी पुरुष ओम् रूप का मुकुट पहने हुए पीपल के पेड़ की भूमि से निकली दो शाखाओं के बीच में खड़ा है। उसके सामने एक अन्य देवी पुरुष ओम् रूपी मुकुट पहने एक पंर पर बैठा है और उसकी पूजा कर रहा है और उस बैठे हुए व्यक्ति के पीछे या आगे एक अजीब सा जन्तु दिखाया गया है जिसके शरीर के अंग अलग-अलग जानवरों के शरीर के अंगों से मिलकर बने हैं। इनके साथ किसी मुद्रा पर मानव व्यक्ति, किसी में पाँच, किसी में एक भी नहीं दिखाया गया है। यह दृश्य मोहनजोदड़ो से प्राप्त मुद्रा न० ४३० (फरदर एक्सकेवेशन—मैके) और हड़प्पा से प्राप्त मुद्रा न० ३१६ और ३१० (एक्सकेवेशन एट हड़प्पा-वन्स) में पाया जाता है। यह उन देवी पुरुषों के जोड़ें हो सकते हैं जो कि पौराणिक गाथाओं में अक्सर साथ पाये जाते हैं।

उदाहरणार्थ नर-नारायण, कृष्ण-बलराम या ऋषभ और उनके पुत्र भरत जो ऋषभ के जीवन काल में ही सम्राट बना दिये गये थे। एक और दृश्य जो बहुत अधिक मुद्राओं पर पाया गया है वह एक ऐसे जानवर का है जिसके शरीर के अंग विभिन्न जानवरों के शरीरों के अंगों से मिलकर दिखाये गये हैं, परन्तु हर मुद्रा पर अलग-अलग रूप में दिखाये गये हैं। यह कदाचित् सब जन्तुओं में एक ही आत्मा का चित्रण है जो कि जैन धर्म का एक प्रमुख अंग है।

सिन्धु घाटी सम्यता का जनधर्म नर्म ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिन्धु घाटी सम्यता जो कि आज से ५००० वर्ष पूर्व फली-फूली थी और जो आज तक समझ में नहीं आ पाई है, वह भारतीय संस्कृति और इतिहास की आधार के रूप में देखी जाये तो स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगती है। हम यह भी देखते हैं कि भारत का प्राचीनतम धर्म जैनधर्म इस सम्यता में प्रारम्भ होकर फला-फूला और उसके मुख्य आधार इस सम्यता की मुद्राओं पर प्रतिबिम्बित होते हैं। गौतम बुद्ध के सम-कालीन, ईसा पूर्व छठी शताब्दी में महावीर स्वामी जैनियों के चौबीसवें तीर्थंकर हुए थे। अगर दो तीर्थंकरों के बीच में औसतन १५० वर्ष का समय माना जाए तो ऋषभदेव का समय ईसा पूर्व ४००० वर्ष का हो जाएगा जो कि सिन्धु घाटी सम्यता का लगभग आदि काल था। इसलिये यह पुष्टि हो जाती है कि ऋषभदेव जो सिन्धु घाटी सम्यता के पूजनीय पुरुष थे और उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ सिन्धु घाटी से उत्पन्नित मुद्राओं पर चित्रित दृश्यों में प्रतिबिम्बित हो रही हैं। जो दृश्य अभी समझ में नहीं आ रहे हैं वे कदाचिन् उनके या उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों के जीवन की उन घटनाओं को चित्रित करते हैं जिन्हें हम इतने युग बीत जाने पर भूल गए। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सिन्धु घाटी सम्यता का धर्म जैन धर्म या और सिन्धु घाटी सम्यता जैन सम्यता थी। यही कारण था कि जब जैन धर्म को हटाकर ईसा से ५६ वर्ष पूर्व वैष्णव धर्म, नवीन भारत के धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हुआ तो उसने भी ऋषभदेव जी को भगवान विष्णु का आठवा अवतार माना।

जैन पत्र : एक अध्ययन

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' एम० ए०

[पत्र की भाँति समस्याएँ मिला करती हैं।

मौत बेरंग लिफाफे की तरह आती है।।

सुश्री ज्ञानवती सक्सेना की ये पंक्तियाँ जैन पत्रों पर भी चरितार्थ होती हैं।]

सामाजिक धार्मिक और कभी-कभी राष्ट्रीय जीवन की झलक देने वाले अन्य माध्यमों की तरह जैन पत्र भी एक सशक्त माध्यम हैं। वे हमारे पठन-पाठन, मनन-चिन्तन और सूचना तथा मनोरंजन के भी श्रेष्ठ साधन हैं परन्तु दुःख का विषय यह है कि अधिकांश जैन पत्र, धर्म और समाज का न तो मही चित्र प्रस्तुत करते हैं और न समुचित सामयिक दिग्दर्शन ही करते हैं केवल इतना ही नहीं बल्कि रचना और समाचार मूलक स्वस्थ स्वच्छ पठनीय मननीय सामग्री भी अपने पाठको-ग्राहको को नहीं दे पाते हैं।

पत्र प्रकाशन के नाम पर घटिया छपाई सामान्य कागज साधारण रचनाएँ अस्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण संकुचित साम्प्रदायिक दृष्टि अदूरदर्शी सम्पादकीय किसी पिटी नवीनता विहीन बातें अनाकर्षक समाचार लगभग सब बेकार और बेगार सा लगता है। जैन पत्र समाज-सुधार की अपेक्षा आत्म उद्धार की चर्चा में विशेष रस लेते हैं। कभी-कभी त्रिसिर-पैर के समाचार और निबन्ध भी छाप देते हैं। कालांतर में पूर्वापर विचारक प्रौढ़ विद्वानों के प्रतिवादात्मक वृत्त-निबन्ध भी प्रकाशित कर देते हैं। एक से अधिक बार जो नहीं छापना चाहिए, जिससे पत्र/पत्रिका की छवि बिगड़ती है, वह छप जाता है और जो छपना चाहिए, वह पत्र की फाइल में वर्षों दबा रहता है या रद्दी की टांकरी में फेंक दिया जाता है।

जैन पत्र प्रायः 'चले चलन दो ढला चला' वाली नीति लिये रहते हैं। जैन पत्रों का निकलना और बन्द होना एक साधारण-सी बात है। वे बिजली की अनियमितता मुद्रणालय के कर्मचारियों की अकृपा, प्राकृतिक प्रकोप बाढ़, सम्पादक के प्रयास से परेशान होकर अनियमित भी

हो जाते हैं। कभी-कभी देश काल भूल जाते हैं। साप्ताहिक से मासिक, मासिक से त्रैमासिक तक हो जाते हैं। जैन पत्रों के सभी सहयोगी प्रायः कबीर के शब्दों में 'जो घर फूके आपना होहु हमारे साथ' सदृश होते हैं, उनमें कार्य करने की क्षमता का प्रादुर्भाव ही नहीं पाता है। जैन पत्रों के सम्पादक ही जब अवैतनिक होते हैं तब लेखको/कवियों के लिए रचना वाले पत्र की प्रति भिजवा दे तो बहुत समझो। जो पत्र कुछ लेखकों/कवियों को निःशुल्क पत्र भेजते हैं वे उन्हें अपने वर्ग की परिधि में ही देखना चाहते हैं। यदि वे कृत्रिम लक्ष्मण रेखा का उलघन करते हैं तो पत्र और पत्र व्यवहार तक बन्द कर देते हैं। कोई धूर्त कुशल पत्रकार तो पुरस्कार देने की घोषणा करके भी स्वयं ही पचा जाते हैं और पुरस्कार साफ बचा जाते हैं। ऐसे पत्र पाठको को भ्रम में डाले रहते हैं कि वे लेखको/कवियों को उनकी रचनाओं का पारिश्रमिक दे रहे हैं इस अमोघ उपाय द्वारा वे समाज से सम्पत्ति अवश्य बटोर लेते हैं। सम्बाददाता को तो शायद ही पत्र की प्रति मिलनी हो। महाममिति के बुलेटिन में भी स्वयं सेवा भावी संवाददाता चाहे गये थे। औसतन जातीय पत्रों की सख्या अधिक होने पर भी स्तर अतनत ही रहता है।

जैन पत्र दो प्रकार के हैं :—१. व्यक्तिगत २. संस्थागत। समाज दोनों में कोई भेदभाव नहीं करती है। समान रूप से सहायता देती है, ग्राहक बनती है। जो व्यक्तिगत पत्र हैं वे सामाजिक की अपेक्षा व्यवसायिक अधिक हैं। कारण उनसे सम्पादक का नाम ही नहीं बल्कि दाम भी जुड़ा है और जो संस्थागत पत्र हैं, वे भी नीति के नैतिक बन्धन में तो हैं ही। जब समान स्वार्थ में भी

धार्मिक-सामाजिक सस्यायें एक नहीं हो पाती है तब उनके पत्रों और सम्पादकों-लेखकों-कवियों का एक मेक होना कैसे सम्भव है ? अतीत में एक दो बार सम्पादक लेखक की भ्रष्टबारी चर्चा हुई। सम्मेलन हो भी जाता तो वह सभाओं के सम्मेलन सदृश सर्कस बन कर रह जाता। व्यक्तिगत पत्रकार तो समाज के सम्पर्क में रहकर भी उससे सुदूर रहते हैं, शायद उन्हें भय है कि कहीं कोई ग्रन्थ हस्तक्षेप न करने लगे या उन पर छा जावे। कोई प्रचारको द्वारा, कोई लाटरी द्वारा ग्राहक मरुया बढ़ाना चाहते या जो ग्राहक है, उन्हें बनाये रखना चाहते हैं। चूँकि सभी पत्रकार अपने लिए बहुत बड़ा मानते हैं। 'हम किसी से कम नहीं समझते हैं। अतएव वे पत्रकारिता की दिशा में विशेष परिश्रम करना तो दूर रहा, कोई समझदार उन्हें सकेत करें तो वे उसकी भ्रष्टहेलना करते हैं। सुभाव-सम्पत्ति मांगते हैं पर छापते वही है जो उनके अनुकूल हो। प्रतिकूल छापकर प्रतिवाद करना जैन पत्रों को लगभग नहीं आता है।

जैन पत्रों में धार्मिक-सामाजिक चर्चा की छाड़ में कभी-कभी व्यक्तिगत आक्षेप मूलक बातें भी बिता। पूर्वा-पर विचार बिधे छाय दी जाती है। जैन पत्र परायों की निन्दा और अपने की प्रशंसा करने में कुशल है। किसी भी विरोधी की वही बात को छापने के लिए न तो वे साहस जुटा पाते हैं और न छापकर तत्काल उमका मतक मटोक उत्तर भी दे पाते हैं। कानजी अकानजी, तेरहबीस पन्थ, महासभा। सिद्धान्त मरक्षणी। परिषद जातीय सजक जैसे विविध वर्ग रहते हैं। प्रत्येक पत्र अपने लिए सर्वोपरि शीर्षस्थ समझता है। नवीन पत्रकार तक पूर्वाग्रह लिए ग्रन्थ अनुभवियों के अनुभवों में लाभाश्रित होने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते हैं। सामयिक सुभाव आन पर भी नहीं मानते हैं। नवीन आन्दोलन तब तक नहीं छेड़ते हैं जब तक वह सिर पर घाह न पड़े। क्या जैन पत्रों में वास्तव में जैन जन की भाँकी मिलती है ? जैनत्व की झलक पत्र के नाम ग्रथवा उद्देश्य की उक्ति तक हो तो सीमित नहीं है ? जैन संस्कृति के आधार सदृश सहधर्मों बन्धुओं के सहयोग बाबत कोई सूचना भी निकलती है ? या पर्यूषण पर्व और अष्टाह्निका के अवसर पर,

मंदिर-वेदी-पंचकल्याणक प्रतिष्ठा और गज्जरथ-सम्मेलन-प्रधिवेशन के सीमित अवसर पर ही समस्तमद्राचार्य के शब्दों में 'न घर्मो धार्मिकजिना' की भावना की इतिश्री हो जाती है। जो जैन दरिद्रता की परिधि में है, जो जैन पिता अपनी कन्याओं के विवाह की चिन्तायें लिए हुए हैं, जो जैन युवक काम-नाम-दाम के लिए अधीर आतुर हैं ? उनके लिये भी जैन पत्र क्या व्यवस्था मूलक सहयोग देते हैं ? कोई जेनेतर हमारे जैन पत्रों को देख-देख कर क्या धारणा बनावेगा ? यही कि जैन परस्पर लडाकू हैं, आत्म प्रशंसा प्रिय है, प्रीति भोजों के इतने शोकीन हैं कि प्रतिष्ठाओं में भी नहीं भूलते हैं। वे कार्य की सफलता, प्रस्ताव और प्रतिक्रिया तथा परिणाम से नहीं, जमाव से मानने लगे हैं।

जैसे रामानन्द मिह ने लण्डन में कहा था—हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने में आज का साहित्यकार समुचित योगदान देने में लगभग असफल रहा है। अध्ययन एवं चिन्तन की कमी से साहित्यकारों में कल्पना एवं गृजन शक्ति का क्रमिक ह्रास होता जा रहा है वैसे ही जैन पत्र : एक अध्ययन निबन्ध के पाठकों से मुझे निवेदन करना है कि जैन धर्म और समाज को समुन्नत बनाने में जैन पत्र-पत्रकार, लेखक-कवि-कहानीकार भी असफल रहे हैं। जैन समाज समृद्ध सम्पन्न है और जैन साहित्यकारों में प्रतिभा का अभाव नहीं है पर सुयोग्य संयोजक और आर्थिक प्रोत्साहन के अभाव में जैन साहित्यकार आगे बढ़ नहीं पाते हैं और स्वर्गीय भगवत्स्वरूप भगवत के शब्दों में सोचना पड़ता है—आज कहानी के इस युग में जैन कथा-उपवन सूना क्यों ? जैन पत्रों की मरुया अधिक है पर उनमें "अनकान्" जैसे उच्च कोटि के और 'तीर्थंकर' सदृश मजग कितने हैं ? जबकि जैन पत्रों के संपादन में कुशलता का और प्रकाशन में मुरुचिपूर्णता का समावेश नहीं होता है, जब तक उनके कवि-लेखक समुचित पार-श्रमिक तो दूर रहा। सामान्य पाठक भी नहीं पाते हैं और मवाददाता पत्र की प्रति की प्रताक्षा में अपनी आँखें पण्डा रहे हैं जब तक पाठकों की स्थिति से न पत्र सन्तुष्ट होते हैं और न सामान्य पाठक के लिए वे सन्तुष्टि देते हैं तब तक जैन पत्र मेरी दृष्टि में उस वर्ग के समान हैं जो न हो तो अनावृष्टि का सकट और हा तो प्रतिवृष्टि

का संकट, दोनों ही स्थितियां सुखद नहीं होकर दुःखद हैं। जैन पत्र भी दैनिक जीवन धारा में जुड़े। आदर्शवादी धार्मिक चर्चा में इतने तन्मय नहीं हो जावें कि यथार्थ की बसुचा के जीवन की इतिश्री ही हो जावे। वे हल्के सस्ते छिछले उबाऊ, वातावरण से बचें। अपनी ही रंगीन सपनीली दुनियां में विचरण नहीं करते रहें बल्कि वास्तविक जैन जन की झंकी प्रस्तुत करें। जिनका दुश्चरित्र विख्यात है, जो सट्टा जुधा शराबखोरी तस्करी वृत्ति के लिए हैं। जो मांसाहारी भोग विलासी हैं, ऐसे व्यक्ति भले तीर्थंकर के माता-पिता भी पञ्चकल्याणक प्रतीष्टा में क्यों न बने पर उनके वृत्त-चित्र न छोपे तो जैन पत्र सार्थक हो। यदि वे आर्थिक प्रलोभन में फँसे तो पग-पग पर खतरा है। सेवा और मेवा दोनों पृथक् हैं। यदि जैन पत्र ऐसे लोगों के चरित्र-चित्र निकालते हैं, जो समाज के लिए सत्य-प्रेरणा नहीं देते हैं तो कहना होगा कि वे हाथी के दाँत हैं। उनके घासू मगर के घासू हैं, वे अपनी का भले भला कर लें पर समाज का नहीं कर सकते हैं।

'जैन पत्र : एक अध्ययन' निबन्ध का उद्देश्य जैन पत्रों की समीक्षा मात्र करना नहीं है बल्कि उनकी प्रत्यक्ष दुर्बलतायें बतलाकर उन्हें उन्नति की ओर जाने के लिए प्रेरणा देना है। जैन पत्र जिस स्थिति में निकल रहे हैं और उनके सम्पादक-प्रकाशक उन्हें जिन स्थिति में निकाल रहे हैं, वह तो स्तुत्य और श्लाघ्य कार्य है पर दीर्घकाल तक पुरानी ही परम्परा का निर्वह किये जाना और बीसवी-सताब्दी में भी अठारवी सदी जैसी बातें करना कोई बुद्धिमानो नहीं है। जैन समाज समृद्ध सम्पन्न समाज है, उसके पत्र आर्थिक दृष्टि से विपन्न हो, यह बड़ी विडम्बना का विषय है। जैन कविलेखक भी प्रतिभा सम्पन्न हैं परन्तु आर्थिक सामाजिक प्रोत्साहन के अभाव में उनकी प्रतिभा की प्रतिभा बन नहीं पाती है। आशा है समाज

के सभी सदस्य इस विषय में गम्भीरता पूर्वक विचार विनिमय करेंगे। जैन पत्र-पत्रिकाओं के संबंध में निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकेगा कि—

(१) जैन पत्र पत्रिकाएँ कम निकलती हैं, कार्यों में डूबे हुए समाज के लिए निकलती हैं, अविकसित पाठकों के लिए निकलती हैं, एकरूपता के लिए निकलती हैं, अतएव उन्हें बाहर से ही देखकर पहचाना जा सकता है।

(२) जैसे कुछ लोग बगीचा लगाते, ग्रन्थालय बनाते, कार खरीदते, सट्टा लगाते—प्रतिष्ठा बढ़ाते वैसे ही जैन पत्र शोक लिए निकलते, शोक पूर्ण होते ही शोक लिए समाप्त होते हैं। व्यक्ति-समा-संस्थागत सभी पत्रों का लगभग यही हाल है कि वे बेहाल होकर निहाल होने करने का दम्भ करते हैं।

(३) जैन पत्रों के प्रकाशन का उद्देश्य व्यावसायिक आर्थिक लाभ अत्यल्प रहता है पर साहित्य और समाज में प्रतिष्ठित होने का भाव अधिक रहता है। जो कविता-कहानी-निबन्ध-नाटक लेखन में निपुण नहीं हो पाते वे सम्पादक बन जाते हैं, अवैतनिक सम्पादक होकर पत्र को मिली धनराशि से अपना कार्य-व्यापार बढ़ाते हैं और लेखकों व कवियों को पत्र का घाटा बतलाते हैं।

(४) पत्र-पत्रिका निकालने या आलोचना-प्रत्या-लोचना में उलझने से भी उतनी भराजकता नहीं फैलती है, जितनी भराजकता व्यक्तिगत राग-द्वेष और ईर्ष्या-असहिष्णुता के प्रदर्शन से फैलती है। इसलिए जैन पत्र बातें वीतरागता की करते हैं परन्तु अपना आध्यात्मिक ऋष नही छोड़ते हैं।

(५) जो लोग बाहर से जैनत्व के लिए मर-मिटने की प्रेरणा देते हैं, वे ही लोग भीतर से अपने आचरण से सिद्ध करते हैं कि धर्म संस्कृति नहीं है बल्कि गन्दी खतरनाक राजनीति है। इसलिए दूसरों को उल्लू बनाकर अपना उल्लू सोँपा करना ही धर्म और समाज, साहित्य

१. "दिगम्बर जैन पत्र तो बहुधा घाटे में चलते हैं। पारिश्रमिक देने की स्थिति में नहीं है। एक ही पत्र सम्पन्न है सम्मति सन्देश, क्योंकि उसके बारह हजार ग्राहक हैं और स्थायी सदस्य बनाकर एक लाख रुपये प्राप्त कर लिया गया है। लेखक ने पुरस्कार योजना बालू की थी सो वह मात्र अप्रैल तक चली। फिर मई,

जून, जुलाई के अंकों में नहीं दिखाई दी। लाटरी निकालकर ग्राहकों को प्रतिवर्ष रुपये देते हैं उसमें फर्क नहीं पड़ता और लेखकों को एक वर्ष भी नहीं दे सके।' एक स्वर्गीय मित्र के २२ जुलाई १९७१ के पत्र का अंश, जिन्होंने मेरी तरह सम्मति सन्देश में काफी लिखा था।

और संस्कृति की सेवा करना समझा जाता है।

(६) जैसे कुछ कवि और अभिभूत पंडित भी कविता सुनाने या धार्मिक प्रवचन देने की बात सुन कर सब कुछ भूल जाता है, वैसे ही जैन पत्र रचना युग की बात भुलाकर वक्तव्य युग में फूल जाता है। पत्र से पाठक को भले असन्तोष हो पर कवि-लेखक-सम्पादक को तो सन्तोष रहता है कि रचना छप गई।

(७) जैन-पत्र सहयोगी, पारिश्रमिक पर दृष्टि नहीं डालते हैं। निःशुल्क सम्पादन-लेखन में निःशुल्क ग्रंथ-ग्रन्थ होता रहता है। जैन-पत्र शब्द की गेद को चाहे जब चाहे जैसा उछालते हैं। इसलिए कभी लालबहादुर बालबहादुर, तेजकुमारी सेजकुमारी, कापड़िया कीपड़िया, जयपुर जमपुर होकर हास्य रस की सृष्टि करता है। वैसे किसी भी जैन पत्र ने कभी भूले-भटके भी हँसी की रचना छापी हो, मुझे स्मरण नहीं आता।

(८) मतभेद भुला कर एक होना चाहिए, सभी दलों सहयोगी को होना चाहिए। यह कहने वाले भी दिगम्बर श्वेताम्बर कानजी अकानजी, तेरह-बोस पन्थ की बातें भूल-भुला नहीं पाते हैं और ऐसे लोग शायद कहना चाह रहे हैं कि हम मतभेद कर रहे हैं पर मतभेद और मन भेद मत करो तो जानें।

(९) अधिकांश जैन पत्र-पत्रिकाएँ धर्म प्रधान होती हैं। वे प्रथम और चतुर्थ (धर्म और मोक्ष) पुरुषार्थ को आशा से भी अधिक महत्व देती हैं पर द्वितीय और तृतीय (अर्थ और काम) पुरुषार्थ को अतीव नगण्य समझती हैं, इसलिए समाज के युवक समुचित काम और गृहिणी नहीं पाते हैं तथा समाज में धनिक वर्ग दहेज-दग्न से ही अपने गौरव की परम्परा को आंकने में लगा है। एक वाक्य में धन देव हो गये और धर्म दास हो गया है।

(१०) जैन पत्र ग्रहिसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के गीत वर्षों से गाते आ रहे पर विस्मय का विषय यही है कि वे बिखरी समाज को सही ग्रंथों में एकता का संदेश नहीं दे सके, वे मन्दिरों और मूर्तियों को पूर्णतया अपरिग्रही नहीं बना सके, वे अनेकान्तवाद की सूक्ष्म व्याख्या-विवेचन प्रस्तुतीकरण भले कर सकें हों पर जीवन में समन्वयवादी अनेकान्तवादी अस्तित्ववादी नहीं बन सके।

(११) जैनपत्र आदर्शवादी आसमान में चाहे जितनी देर तक रहे हों परन्तु यथार्थ की धरती पर वे निष्क्रिय हो रहे हैं। जैसे आज के युवक भूखे होकर भी गल्ले के गोदाम पर छापा नहीं मारेंगे बल्कि सिनेमा घर में या रेलगाड़ी भयवा मोटर में मुफ्त यात्रा करना चाहेंगे वैसे ही जैन पत्र औसतन जन-जीवन से दूर रहे हैं और अपने लिए तीसमारखा समझते रहे हैं।

जैन पत्र बहुत बड़ी क्षति हैं। अनुबन्ध इतना है कि वे अपना दायित्व समझे समाज की समता-ममता-क्षमता सिखावें। समय श्रम सम्पत्ति का सही दिशा में सदुपयोग करना वे ही सिखा सकते हैं। □□□

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली

मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त

प्रकाशन अधि—त्रैमासिक श्री भोमप्रकाश जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज दिल्ली-२

सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१,

दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, भोम प्रकाश जैन, एतद्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—भोम प्रकाश जैन प्रकाशक

लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादकमण्डल लेखक के सभी विचारों से सहमत हो। —सम्पादक

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

- पुस्तक जैनवाक्य-सूची :** प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। २२-००
- स्वयम्भू स्तोत्र :** समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ३-००
- स्तुतिविद्या :** स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०
- बुद्ध्यनुशासन :** तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०
- समीचीन धर्मशास्त्र :** स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ :** संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ६-००
- समाधितन्त्र और इष्टोपदेश :** अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित १-५०
- आवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ :** श्री राजकृष्ण जैन ... २-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ :** अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १४-००
- न्याय-दीपिका :** भ्रा० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००
- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश :** पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००
- कसायपाट्टसुत :** मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री पतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिमुद्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २५-००
- Reality :** भ्रा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००
- जैन निबन्ध-रत्नावली :** श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००
- ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) :** संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००
- आवक धर्म संहिता :** श्री बरयार्वसिह सोधिया ५-००
- जैन लक्षणावली (तीन भागों में) :** स० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००
- Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)**

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३३ : किरण २

अप्रैल-जून १९६०

सम्पादन-मण्डल

डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री पद्मचन्द्र शास्त्री
श्री गोकुलप्रसाद जैन

□

सम्पादक

श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल. बी.,
साहित्यरत्न

□

वार्षिक मूल्य ६) रुपये

इस अंक का मूल्य :

१ रुपये ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	नमः समयसाराय	१
२.	आत्मा सर्वथा असंख्यात प्रवेशी है —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	२
३.	श्री अग्रचन्द्र नाहटा और उनको साहित्य- साधना —डा० मनोहर शर्मा	३
४.	जागरण — श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली	६
५.	नाट्योत्पत्ति सम्बन्धी जैन परम्परा —श्री कपूरचन्द्र जैन, खतोली	१०
६.	आचार्य कुन्दकुन्द की प्राकृत —श्री पद्मचन्द्र शास्त्री नई दिल्ली	१३
७.	क्या तिलोपपण्णत्ति में वर्णित विजयार्थ ही वर्तमान विन्ध्य प्रदेश है —डा० राजाराम जैन	१६
८.	पचराई और गुडर के महत्त्वपूर्ण जैन लेख —कु० उषा जैन जबलपुर	१९
९.	आगम सूत्रों की कथायें इतिहास नहीं है —श्री श्रीचन्द्र गोलेछा	२१
१०.	जैन दर्शन का अनेकाश्ववाद —डा० रामनन्दन मिश्र	२२
११.	हुंवड जैन जाति की उत्पत्ति एवं प्राचीन जनगणना —श्री अग्रचन्द्र नाहटा, बीकानेर	२४
१२.	सीता जन्म के विविध कथानक —श्री गणेश प्रसाद जैन, वाराणसी	२७
१३.	भारतीय विश्वविद्यालयों में जैन शोध	— प्रा० पृ० २ ३

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

भारतीय विश्वविद्यालयों में जैन-शोध

संस्था का नाम	निर्देशक का नाम	क. संख्या	शोध स्नातक का नाम	विषय	अभ्युक्ति
श्री देवेन्द्रकुमार जैन ओरियंटल रिसर्च इंस्टी- च्यूट, आरा (भगव विश्व- विद्यालय गया से माण्यता प्राप्त)	डा० राजाराम जैन मानद निर्देशक, श्री देवकुमार जैन ओरियंटल रिसर्च, इंस्टीच्यूट, आरा बिहार तथा रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत-प्राकृत विभाग, ह० दा० जैन कालेज (आरा)	१	डा० कमलकुमारी सिंह अध्यक्ष-संस्कृत विभाग म० म० महिला महा- विश्वविद्यालय आरा	संस्कृत बराज्ज चरितम् महाकाव्य का काव्य- शास्त्रीय एवं सांस्कृतिक अध्ययन	फरवरी ७८ मे उपाधि प्राप्त ।
"	"	२	श्री नेमिचन्द जैन एम० ए०, आचार्य, शोध स्नातक आरा	आचार्य समन्तभद्र व्यक्तित्व एवं कृतित्व	शोध कार्य चल रहा है ।
"	"	३	प्रो० (श्रीमती) विद्या- वती प्राध्यापिका-हिन्दी विभाग, म० म० महिला महाविद्यालय आरा	महाकवि सिंह एवं उनके अद्यावधि अप्रकाशित प्रद्युम्नचरित का समी- क्षात्मक अध्ययन	टंकण कार्य चल रहा है । परीक्षणार्थ शोध ही प्रस्तुत किया जाने वाला है ।
"	"	४	श्री रामकृष्ण तिवारी, एम० ए० शोध स्नातक आरा	अभिमान मेरु पुष्पदन्त उनके साहित्य का आलो- चनात्मक परिशीलन	शोध कार्य चल रहा है ।
"	"	५	श्री सुरेशद्रकुमार जैन एम. ए. शोध स्नातक आरा	महाराष्ट्री प्राकृत कथा साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन	शोध कार्य चल रहा है ।
"	"	६	श्रीराय हनुमानप्रसाद एम. ए. शोध स्नातक आरा	महाकवि स्वयम्भू एवं उनके पञ्चम चरित का काव्यशास्त्रीय एवं सांस्कृ- तिक अध्ययन	शोधकार्य प्रगति कर रहा है ।
"	"	७	श्री बाबूलाल जैन एम. ए. आचार्य शोध स्नातक, आरा	जीवधर चम्पू काव्य का काव्यशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक अध्ययन	शोधकार्य समाप्त हो चुका है । अंतिम संशोधन चल रहा है ।
"	"	८	श्री प्रो० वात्सोकि प्र० सिंह हिन्दी विभाग, हर प्रसाद दि० जैन कालेज, आरा	महाकवि बनारसी दास व्यक्तित्व एवं कृतित्व	रूपरेखा तैयार कर स्वीकृत हेतु विश्वविद्यालय को प्रेषित
"	"	९	श्रीमती प्रमिला श्रीवा- वास्तव शोध स्नातक, आरा	मुगल कालीन कुछ हिंदी जैन काव्यों का समीक्षा- त्मक अध्ययन	"
"	"	१०	प्रो० द्वारिकाप्रसाद श्रीवास्तव (शोध आवरण पृष्ठ ३ पर)	ज्ञाता घर्म कथा साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन	"

श्रीमद्ग्रन्थम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्वसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३३
किरण २

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २४०६, वि० सं० २०३७

अप्रैल-जून
१९८०

नमः समयसाराय

सम्यक् त्रिकालावच्छिन्नतया स्वगुरुपर्यायान् अयन्ति-प्राप्नुवन्ति ते समयाः पदार्थाः तेषु मध्ये सारः परम-आत्मा तस्मै नमः ।'—

जा त्रिकालावच्छिन्न स्वगुण और पर्यायो को प्राप्त होते हैं—उन्ही में विचरण करते हैं, वे समय कहलाते हैं अर्थात् पदार्थ । उन पदार्थों में—समयों में जो सारभूत पदार्थ है आत्मा—परम आत्मा । ऐमे समयसार शूद्ध आत्मा को मेरा नमस्कार है ।

ये सम्यक् स्याद्वादात्मकं वस्तु अयन्ति जानन्ति-सातिशयसम्यग्दृष्टिप्रभृतिक्षीणकषाय-पर्यन्तः जीवाः तेषां पूज्यत्वेन सारो जिनस्तस्मै नमः ।'—

जा सम्यक् स्याद्वादात्मक वस्तु को जानते हैं ऐसे सातिशय सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक के जीव, उन जीवों में जा पूज्यपने से सारभूत हैं ऐसे 'जिन' भगवान है । ऐसे जिन भगवान का मेरा नमस्कार है ।

'समं साम्यं यान्ति प्राप्नुवन्ति ते समयाः योगिनः तेषां मध्ये ध्येयतया सारः सिद्धपरमेष्ठी तस्मै नमः ।'—

जा साम्यभाव को प्राप्त होते हैं वे समय है—अर्थात् योगी है । उन योगियों में ध्येय होने से सिद्धपरमेष्ठी सार है (यतः योगियों के ध्येय सिद्धपरमेष्ठी हैं) उन सिद्धपरमेष्ठी को मेरा नमस्कार है ।

'सम्यक् अयनं गमनं यतं चरेदित्यादिलक्षणं चरणं तेषां ते समयाः योगिनः तेषुमध्येसारः आचार्यः । तस्मै नमः ।'—

जा सम्यक् यत्नाचार्य पूर्वक आचरण करते हैं वे समय—योगीगण हैं, उन योगियों में सारभूत—उत्तम आचार्य हैं । उन आचार्य परमेष्ठी को मेरा नमस्कार है ।

'समयः सिद्धान्तः लियते प्राप्यते यस्ते समयाः—तेषु मध्ये सारः—उपाध्यायः । तस्मै नमः ।'—

जिनके द्वारा समय अर्थात् सिद्धान्त प्राप्त किया जाता है वे समय है । उन समयों में जो सारभूत हैं वे हैं उपाध्याय परमेष्ठी । उन उपाध्याय परमेष्ठी को मेरा नमस्कार है ।

'समयेषु कालावलिषु सारः साधुः ।'—

कालावलियों में जो सार हैं वे हैं साधु । उन साधु परमेष्ठी को मेरा नमस्कार है ।

'स सम्यक्त्वं, अयो ज्ञानं, सरणं सारः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि इत्यर्थः तैम्योनमः ।'—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र समयसार हैं । इन्हें मेरा नमस्कार है ॥

आत्मा सर्वथा असंख्यात प्रदेशी है

□ श्री पञ्चसूत्र शास्त्रो, नई दिल्ली

आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की १५वीं गाथा में गृहीत 'अपदेश' शब्द के अर्थ को लेकर चर्चा उठ खड़ी हुई है और इस शब्द को आत्मा का विशेषण मानकर इसका अर्थ अप्रदेश मानी आत्मा अप्रदेशी है ऐसा भी किया जा रहा है। जो सर्वथा—सभी नयों से भी किसी भाँति उचित नहीं है। आत्मा तो सर्वथा असंख्यात प्रदेशी ही है। तथाहि—

१. विज्जवि केवलणानं, केवलमोक्ख च केवलविरिय।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थितं सप्पदेसत्त ॥

—नियमसार १८६

सप्रदेशत्वादि स्वभावगुणा भवन्ति इति—टीका।

सिद्ध भगवान के केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलधीयं, केवलदर्शन, अमूर्तिकपता, अस्तित्वभाव तथा सप्रदेशीयता अर्थात् असंख्यात प्रदेशीयता है। ये सभी स्वाभाविक गुण होते हैं—जो पृथक् नहीं हो सकते हैं।

२. आत्मा की गणना अस्तिकायों में है और अस्तिकाय में एक से अधिक प्रदेश माने गए हैं। काल द्रव्य जो अस्तिकाय नहीं है उसे भी किसी अपेक्षा, कम से कम एक प्रदेशी तो माना ही गया है।—

असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैरुजीवानाम्।

आकाशस्याऽनताः।

सख्येयासख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥”—तत्त्वार्थसूत्र ५

३. प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्धजीव का अस्तिकाय और सप्रदेशी कहा है। गाथा १/४१ की टीका में जयसेनाचार्य स्पष्ट करते हैं—'अपदेश अप्रदेश—कालाणुपरमाण्वादि, सपदेश शुद्धजीवास्तिकायादि पञ्चास्तिकायस्वरूपम्'।—अर्थात् कालाणु परमाणु आदि अप्रदेश हैं, शुद्धजीवास्तिकायादि सप्रदेश हैं।

४. आत्म को अप्रदेशी मानने पर उसका अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा—वह शून्य—खरविषाणवत् ठहरेगा—उत्पाद-व्यय-धीव्य का अभाव होने से भी सत्ता का सर्वथा अभाव होगा। कहा भी है—

'जस्स ण सति पदेसा पदेसमेत्त तु तच्चदो णादं'।

सुष्णं जाण तमत्थं—प्रवचनसार २/५२ ॥

'उत्पाद-व्यय-धीव्ययुक्तं मत्'।

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥—तत्त्वार्थसूत्र ३

५. यदि येन केन प्रकारेण आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उसे एक प्रदेशी (कालवत्) भी माना जायगा तो आत्मा को सिद्धावस्था में परमाणु अवगाहमान आकाश प्रदेश को अवगाह करके ही रहना पड़ेगा और जैसा कि सिद्धान्त है—सिद्धात्माएँ 'किञ्चूणा चरमदेहदो सिद्धाः' धनुषी क्षेत्र परिमाण आकाश को घेरकर विराजमान हैं—का व्याघात होगा।

६. आत्मा में प्रदेशत्व गुण नहीं बनेगा, जबकि प्रदेशत्वगुण का होना अनिवार्य है—'प्रदेशवत्त्व तु लोकाकाशप्रदेश परिमाणप्रदेश एक आत्मा भवति'।—अर्थात् एक आत्मा लाकाकाश जितने (असंख्यात) प्रदेश वाला होता है।—न० भा० सि० वृ० २/८

७. प्रदेशत्व शक्ति की सिद्धि नहीं होगी, जबकि आत्मा के इस शक्ति की अनिवार्यता है—

'आससारं सहरण-विस्तरणलक्षितकिञ्चिदूनचरमशरीर-परिमाणवस्थितलोकाकाशसंमितात्मावयवत्वलक्षणानियत-प्रदेशत्वशक्तिः'।

—समयसार कलश स्थावावाचिकार/२६३ टीका

८. प्रवचनसार में 'तियंक्प्रचय' और 'ऊर्ध्व-प्रचय' नामक दो प्रचय बतलाए हैं और कहा है कि, प्रदेशों के समूह का नाम 'तियंक्प्रचय' है। वह 'तियंक्प्रचय' काल के अतिरिक्त सभी द्रव्यों और मुक्तात्मद्रव्य में भी है। इससे शुद्धनय से भी शुद्ध आत्मा बहुप्रदेशी ही ठहरता है। 'प्रदेशप्रचयो हि तियंक्प्रचयः'—अमृतचन्द्राचार्य।

'स च प्रदेशप्रचयलक्षणस्तियंक्प्रचयो

यथा मुक्तात्मद्रव्ये भणितस्तथा कालं

विहाय स्वकीय-स्वकीयप्रदेशसख्या—

नुसारेण शेषद्रव्याणां स सम्भवतीति

तियंक्प्रचयो व्याख्याता'।

□□□

श्री अग्रचन्द नाहटा और उनकी साहित्य साधना

□ डा० मनोहर शर्मा

सिद्धान्ताचार्य, संघ रत्न, जैन इतिहास रत्न, राजस्थानी साहित्य वाचस्पति, विद्यावारिधि, साहित्य वाचस्पति (हि० सा०) श्री अग्रचन्द नाहटा देश के प्रतिभासम्पन्न विद्वान् है। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी है। वे कला के महान् प्रेमी व मर्मज्ञ पुरातत्व और इतिहास के गम्भीर अनुसंधानकर्ता, प्राचीन साहित्य और प्राचीन ग्रन्थों के अध्यवसायी ग्रन्थेषक, संग्राहक एवं उद्धारक, मातृभाषा राजस्थानी और राष्ट्रभाषा हिन्दी के श्रेष्ठ सेवक और अग्रणी साहित्यकार; मननशील विचारक, विशिष्ट साचक, सफल व्यापारी और कर्मठ कार्यकर्ता हैं। उनका जीवन 'सादा जीवन और उच्च विचार' इस उक्ति का श्रेष्ठ निदर्शन है। वे भारत के गौरव हैं ऐसे विशिष्ट महापुरुष को यह अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने हुए हमें गर्व का अनुभव हो रहा है।

श्री नाहटाजी का जन्म ग्राज से ६७ वर्ष पूर्व वि० स० १९६७ सन् (१९११ ई०) की चैत्र वदि ४ को राजस्थान के बीकानेर नगर में सम्पन्न जैन परिवार में हुआ था। पारिवारिक परिवाटी के अनुसार आपकी स्कूली शिक्षा अधिक नहीं हुई। पाँचवी कक्षा की शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् स० १९८१ में जब आपकी अवस्था १४ वर्ष की थी, पत्रिक व्यवसाय-व्यापार में दीक्षित होने के लिए आपको बेलपुर कनकते भेज दिया गया। स्कूली शिक्षा अधिक न होने पर भी अपनी अद्भुत लगन और अपने अध्यवसायपूर्वक निरन्तर अध्ययन के फलस्वरूप आपने अपने ज्ञान की परिधि को बहुत विस्तृत कर लिया।

स० १९८४ में, १७ वर्ष की अवस्था में, आप श्री प्राचार्यप्रवर श्री कृपाचन्द्रसूरि के सम्पर्क में आये। यह आपके जीवन का एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ। उमने आपके सामने आत्म शोध और साहित्य शोध का नया क्षेत्र खोल दिया। व्यापार से आपने मुँह नहीं मोड़ा पर अध्ययन

और अनुसन्धान ही अब जीवन का मुख्य ध्येय बन गया। इस क्षेत्र में भी आप सफलता की चोटी पर पहुँचने में समर्थ हुए। चार सौ (४००) से ऊपर पत्र-पत्रिकाओं में ४००० से ऊपर लेख लिखकर एक कीर्तिमान स्थापित किया। आपने सहस्रशः ग्रन्थों का तथा शोधः प्राचीन साहित्यकारों का ग्रन्थकार से उद्धार किया।

नाहटा की कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

१. हस्त लिखित ग्रन्थों की खोज

पिछले पचास वर्षों में नाहटा जी ने सेकड़ों ज्ञात और अज्ञात हस्तलिखित ग्रन्थ-भण्डारों की खानबीन की और महसूस प्राचीन, नये और महत्वपूर्ण ग्रन्थों का पता लगा कर उनका उद्धार किया है। इनमें अज्ञात ग्रन्थ भी हैं ज्ञात ग्रन्थों की विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतिमाँ भी, जिनमें पृथ्वीराज रासो, बीमलदेव-रास डोलामाला रा दूहा, बेनि किस रूकमणी गी जैसे पूर्व ज्ञात ग्रन्थों की अनेक महत्वपूर्ण नय प्रतियों, मूरसागर, पदमावन, बिहारी मतसई जैसे ग्रन्थ की प्राचीनतम प्रतियों तथा चंदायन, हम्मीगायण वयामय रासो एवं छिनाईचरित जैसे अभी तक अज्ञात ग्रन्थों का ज्ञात ग्रन्थों की विशेष रूप से उल्लेखनीय प्रतियों के नाम गिनाये जा सकते हैं।

नाहटाजी जब यात्रा में जाते हैं तो गतस्थ स्थानों पर जहाँ किसी हस्तलिखित ग्रन्थ-भण्डार की सूचना उन्हें मिलती है वहाँ पहुँचकर उसको अग्रश्य देखते हैं और वहाँ विद्यमान महत्वपूर्ण ग्रन्थों का विवरण सकलित करके उसको प्रकाशित करवाते हैं।

हस्तलिखित ग्रन्थभण्डारों की सूचियों का निर्माण

नाहटा जी ने ग्रन्थभण्डारों की विवरण-त्मक सूचि भी प्रस्तुत की।

३. अमयजैन ग्रन्थालय नाम से हस्तलिखित ग्रन्थों के विशाल भंडार की स्थापना

अपने स्वर्णीय बड़े ज्ञाता अमयरजजी नाहटा की स्मृति में अमयजैन ग्रन्थालय और अमय जैन ग्रंथमाला की स्थापना की गई।

अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ से ही नाहटा जी ने हस्तलिखित प्रतियों की खोज और संग्रह के काम का बीगनेश कर दिया था। धीरे-धीरे उन के ग्रन्थालय में लगभग पैंसठ हजार हस्तप्रतियों का संग्रह हो गया। ग्रंथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, कश्मीरी, कन्नड़, तमिल, अरबी, फारसी, बंगला, अंग्रेजी, उड़िया आदि विविध भाषाओं के और विविध विषयों के हैं। अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ दुर्लभ भी हैं। अनेक ग्रंथ तो अन्यत्र अलभ्य ही हैं। इनके प्रतिरिक्त मध्यकालीन और उत्तरकालीन पुरालेखों (विविध प्रकार के दस्तावेज, पत्र, व्यापारिक पत्र, पट्टे-परवाने, बहिर्षा आदि कागजपत्रों) का बड़ा भारी संग्रह भी ग्रन्थालय में एकत्रित है।

४. अमय जैन ग्रन्थालय के अन्तर्गत मुद्रित पुस्तकों का संग्रह इसमें शोधकार्य के लिए आवश्यक सन्दर्भ-ग्रन्थों, और शोधोपयोगी प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व, कला, साहित्य आदि विविध विषयों की पुस्तकों का बृहत् संग्रह है। ग्रन्थों की संख्या ४५ हजार से ऊपर है।

उक्त दोनों ही लक्षादिक ग्रन्थों के संग्रहों से शोध-विद्वान् और शोध-छात्र भरपूर लाभ उठाते हैं।

५. पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी फाइलों का संग्रह

अमय जैन-ग्रन्थालय में विविध विषयों की पत्र-पत्रिकाओं की विशेषतः शोधपत्रिकाओं की, पुरानी फाइलें बड़े परिश्रम के साथ प्राप्त करके संगृहीत की गयी है। ये फाइलें शोध-विद्वानों के बड़े काम की हैं क्योंकि साधारणतया पत्रिकाओं के पुराने अंक सहज ही प्राप्त नहीं होते।

६. शंकरभवन नाहटा कलाभवन की स्थापना

नाहटा जी अद्वितीय संग्राहक हैं, उन्होंने अपने पिताजी की स्मृति में एक महत्त्वपूर्ण कलाभवन की स्थापना की।

इसमें प्राचीन चित्र, मूर्तियाँ, सिक्के आदि छोटी-बड़ी कला-कृतियों तथा ग्रन्थान्य संग्रहणीय वस्तुओं का प्रच्छा संग्रह किया गया है। व्यक्तिगत संग्राहलयों में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है।

७. विविध विषयों पर ४००० से ऊपर शोधपरक एवं ग्रन्थान्य निबंधों का लेखन और प्रकाशन—

इन निबंधों की क्षेत्र-सीमा बहुत विस्तृत है। उनमें विभिन्न भाषाओं के विभिन्न ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों, तथा पुरातत्त्व, कला, इतिहास साहित्य, लोक साहित्य, लोक-संस्कृति आदि विविध विषयों के विभिन्न पक्षों पर नयी-से-नयी जानकारी दी गयी है। इन निबंधों को मुख्यतया चार विभागों में बाँटा जा सकता है—

१. पुरातत्त्व, कला इतिहास।

२. साहित्य—संस्कृतसाहित्य, अपभ्रंश साहित्य, प्राचीन राजस्थानी, गुजराती एवं हिन्दी साहित्य, ग्रंथकार और उनके ग्रंथ।

इन निबंधों की सूची शीघ्र ही प्रकाशित की जायेगी।

३. लोकजीवन, लोक-संस्कृति, लोक-साहित्य।

४. धर्म, दर्शन, अध्यात्म, आचार-विचार, लोक व्यवहार।

ये निबंध देश के विभिन्न स्थानों से प्रकाशित होने वाली ४०० से ऊपर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इतने अधिक एवं विविध विषयक शोध-निबंध विश्व में शायद ही किसी दूसरे विद्वान् ने लिखे हों।

८. बीकानेर राज्यभर के जैन अभिलेखों (शिलालेखों, मूर्तिलेखों, धातुलेखों) का विशाल संग्रह और प्रकाशन।

९. अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का विस्तृत प्रस्तावनाओं के साथ संपादन।

१०. शोधार्थियों का तीर्थस्थान

नाहटा जी का स्थान शोधविद्वानों और शोधछात्रों के लिए मानो कल्पवृक्ष ही है। यही कारण है कि उनके यहाँ शोधार्थी लोग बराबर आते रहते हैं। शोधार्थियों को जो सहायक सामग्री, ग्रंथ आदि चाहिए वह अधिकतर उनके पुस्तकालय में उपलब्ध हो जाती है। यदि नहीं होती है तो ज्ञान के विश्वकोश-रूप नाहटाजी से सहज ही पता लग

१. इन निबंधों की सूची शीघ्र ही प्रकाशित की जायेगी।

जाता है कि कहीं-कहीं उपलब्ध हो सकती है। वे स्वयं भी अनेक बार अन्याय्य स्थानों से शोधार्थी के लिए व्यवस्था कर देते हैं। कोई मुद्रित पुस्तक प्राप्त नहीं होती है तो पुस्तक को अपने पुस्तकालय में मंगवाकर उसे सुलभ कर देते हैं। अनेक बार नाहटा जी अपनी निजी प्रतियाँ भी उपयोग के लिए शोधार्थियों को भेज देते हैं। शोधार्थी विद्वानों और छात्रों को उनके यहाँ शोध-सामग्री ही नहीं प्राप्त होती किन्तु निवास और भोजन की व्यवस्था भी व प्रायः स्वयं ही अपने यहाँ कर देते हैं।

शोध-छात्रों के साथ नाहटा का व्यवहार अतीव उदारतापूर्ण और सहानुभूति-पूर्ण होता है। वे उनकी सब प्रकार की सहायता करने को सदा तत्पर रहते हैं। नाहटा जी से उन्हें शोध-सामग्री और आवश्यक पुस्तकें ही प्राप्त नहीं होतीं किन्तु विषय-निर्वाचन से लेकर अन्त तक निर्देशन भी मिलता है। छात्रों के घर चले जाने के बाद भी अनेक बार पत्र द्वारा उनकी प्रगति का हाल पूछते हैं और यदि नयी जानकारी ज्ञात होती है तो उसकी सूचना भी तुरन्त देते हैं। शोधविद्वान और शोधछात्र नाहटा के पुस्तकालय को इच्छाफल-दाता तीर्थस्थान मानते हैं। ऋषि तुल्य डा० वासुदेवशरण अग्रवाल और श्री हजारोप्रसादजी द्विवेदी ने उन्हें औदरसानी बतलाया है।

११. अद्भुत स्मृति कौश

अद्भुत स्मरण शक्ति के धनी श्री नाहटाजी जिस ग्रथ का भी एक बार अवलोकन कर लें तो उनके वाक्यांशों तक का सदर्भ उनके मानस पलट पर स्थायी रूप से प्रकृत हो जाता है। फलस्वरूप श्री नाहटा जी ने जहाँ अलभ्य ग्रंथों का संग्रहालय स्थापित किया है। वहाँ वे स्वयं भी एक चलते-फिरते ज्ञान भंडार, ज्ञान कौश बने हुए हैं। यह प्रकृति की आपकी अनुपम देन है।

१२. महान् आत्मसाधक

साहित्य शोध के साथ-साथ श्री नाहटाजी आत्मानुभूति के क्षेत्र में भी सतवत् ऋषितुल्य महान् साधक हैं। प्रतिदिन प्रातः २-३ बजे से आपकी स्वाध्याय, ध्यान, मनन, चिन्तन का साधनापरक क्रम प्रारम्भ होता है जो दिनचर्या की अन्य गतिविधियों के साथ निर्बाध रूप से रात्रि शयन तक चालू रहता है। अनुभूतिकी यह स्थिति विरल साधकों को

ही प्राप्त होती है।

१३. जन-जन के प्रेरणा स्रोत

श्री नाहटाजी ने स्वयं तो अपनी कर्मठता और अध्यवसाय से अतुलनीय उपलब्धि की ही है पर साथ ही सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों को नानाविध प्रेरणा देकर चिन्तन, अध्ययन, लेखन, शोध आदि किसी न किस^२ विशिष्टकार्य की ओर प्रवृत्त किया है।

१४. सरस्वती एवं लक्ष्मी दोनों के लाडले सपुत्र

प्रायः यही देख पाया जाता है कि सरस्वती के आराधको पर लक्ष्मी की कृपा कम ही रहती है एवं लक्ष्मी के उपासको पर सरस्वती का वरद हस्त मूक ही रहता है पर नाहटा जी इसके विरल अम्बादी हैं, आप दोनों देवियों के समान रूप से लाडले सपुत्र हैं। साहित्य तपस्वी के साथ-साथ कुशल व्यापारी भी हैं।

१५. इधर साहित्य सेवियों में प्राध्यात्मिक साधक विरल होते हैं पर नाहटाजी दोनों क्षेत्रों में समान उच्च, गति एवं अधिकार रखते हैं। धर्म और दर्शन भी उनके जीवन-प्राण हैं। प्रातः २-३ बजे से सामायिक स्वाध्याय, भजन-पूजन, व्रत-नियम की आराधना-साधना का प्रवाह चालू होता है। साथ ही साहित्य सेवा भी चलती रहती है। नाहटा जी लेखक के साथ-साथ गंभीर चिन्तक एवं मनीषी हैं। निरन्तर स्वाध्यायशील, अन्वेषक एवं साधक हैं।

१६. नाहटा जी को विद्यावारिधि, सिद्धान्ताचार्य साहित्य वाचस्पति जैसी सर्वोच्च उपाधियाँ सस्थाओं की ओर से स्वयं प्रदान हैं। पर आप अपने नाम के साथ किसी भी उपाधि का उपयोग नहीं करते। यह बहुत ही उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इस प्रकार १६ कलाओं वाले पूर्णचन्द्र प्रकाशित हो रहे हैं।

ऐसा विरल एवं विलक्षणव्यक्तित्व, बहुमुखी प्रतिभा, अनेकानेक विशेषताओं का सुभग संयोग बहुत ही कम पाया जाता है।

ऐसे साहित्य तपस्वी, आत्मनदी साधक का अभिनन्दन एक गुणपुत्र विभूति का अभिनन्दन है।

पिता—सठ शंकर दास जी नाहटा। माता—चुन्नी देवी तन्म नि० सं० १९६७ वैशाख ४ बीकानेर (सन् १९११)

(शेष पृ० ६ पन्)

जागरण

□ श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली

अज्ञान ही हार है और ज्ञान ही विजय है। नींद में हाँख को कभी पता नहीं लगता कि घ्राण कब सोये। यह तो जागकर ही पता चलता है कि आप कब सोये और नींद का अनुभव जागने पर ही होता है। जो लोग सोये हुए हैं। मूर्छा में पड़े हुए हैं, उनको अवस्था का तब पता लगेगा जब वे जान जायेंगे कि वे सोये थे प्रथवा मूर्छित थे वास्तव में व्यक्ति कभी-कभी ही जागता है। वह कोई खाम क्षण होता है। मान लो अज्ञानक किसी की छाती पर छूरा रख दिया जाए तो उम क्षण वह जाग जाएगा, उस क्षण वह सोया नहीं रह सकता। छूरे का एक-एक क्षण नीचे सरकना उनकी जानकारी में हो रहा होगा परन्तु उस समय भी वह उसी क्रिया मात्र के लिए जाग रहा होगा। वह अपने आप में जाग नहीं है। अपने आप में जागना तब कहलाएगा जब उसको यह अनुभव हो जाए कि वह जानने वाला है और दुनिया के सार पदार्थ सारी चीजें जो हैं वे उसके समक्ष दृश्य हैं। ज्ञानी कहते हैं विवेक से चलो। उसका मतलब है कि जो क्रिया हो रही है, उसी में अंगी, प्रमाद न करो। ज्ञानी किसको कहा है जो किसी खास प्रकार की क्रिया करता है उसको ज्ञानी, नहीं कहते या जो नम्र साधु वेष धारण करता है उसको ज्ञानी नहीं कहते। ज्ञानी वह है जो सोया हुआ नहीं है। जो सोया हुआ है वह अज्ञानी है। कोई जागकर जी रहा है, कोई सो कर जी रहा है। अगर वह जागा हुआ है। कम-से-कम अपने आप में, तो उसके जीवन में ज्ञानीपना उत्तर आएगा। अगर वह अपने आप में सो रहा है तो उसकी जिन्दगी में असाधुता के सिवाय और कुछ भी नहीं हो सकता। अगर भीतर अपने आप में सोया हुआ है तो बाहर से साधु बना रह सकता है परन्तु वह बना हुआ साधु ही होगा। और जो बने हुए साधु है वे असाधु से भी बदतर अवस्था में होते हैं।

परमात्मा को जानने के लिए स्वयं को जानना जरूरी है और सत्य को जानने के लिए पहले स्वयं को पहचानना जरूरी है। वस्तु से जो परिचय है वह विज्ञान है और स्वयं से जो परिचय है वह ज्ञान है। जो स्वयं को नहीं जानता उसके लिए ईश्वर मृत है। चाहे वह कितनी ही पूजा करे और कितना ही दान करे। अगर उसने स्वयं को जानने का काम नहीं किया तो एक क्षण के लिए भी उसका परमात्मा से संबंध नहीं हो सकता। परन्तु स्वयं को जानने का पुरुषार्थ कर पाने के लिए भी अपने अज्ञान का बोध चाहिए। यह समझ में आना चाहिए कि मैं कुछ भी नहीं हूँ, मैं कुछ नहीं जानता हूँ। लेकिन उसका ग्रहण कहता है कि मैं बहुत कुछ जानता हूँ। घन छोड़ देना बहुत आसान है, परन्तु ज्ञान का ग्रहण छोड़ना बहुत कठिन है। इसलिए जो लोग घन छोड़कर भाग जाते हैं वे लोग भी ज्ञान का ग्रहण नहीं छोड़ पाते। आदमी सब घर-बार छोड़ देता है लेकिन अपनी जाति को नहीं छोड़ता। अगर वह जाति विशेष को नहीं छोड़ सकता तो स्पष्ट है कि अभी भी उसने कुछ पकड़ रखा है जो आत्मा की अपनी चीज नहीं है। घन बाहर की चीज है। उसे छोड़ा जाए तो जो उपलब्धि होगी वह भी केवल बाहर की होगी। ज्ञान का ग्रहण भीतर है अगर वह छोड़ दिया जाता है तो जो उपलब्धि होगी वह भीतर की होगी। सम्पूर्ण दुनिया में दा ही मुख्य चीज है—ज्ञान तथा घन। और दो ही तरह के लोग हैं—ज्ञान को इकट्ठा करने वाले प्रथवा घन को इकट्ठा करने वाले घन के संग्रह से तथा पद और सम्मान से यह भाव होता है कि मैं कुछ हूँ। ज्ञान का भी ग्रहण होता है कि मैं कुछ हूँ। क्या यह नहीं हो सकता कि मैं चला जाए? यह हो सकता है। यह जो मैं हूँ वह परमात्मा और मनुष्य के बीच रूकावट है। जब जीव अपने

आप को जानने लगेगा, अपने आप में जागृत हो जाएगा, तो यह दूसरा नकली 'मैं' एक दिन विलीन हो जाएगा। इसे छोड़ना नहीं पड़ेगा, वह अपने आप छूट जाएगा। ऐसा लगेगा 'मैं' तो था ही नहीं। तिस दिन यह दिखाई पड़ेगा कि वह 'मैं' नहीं है, उसी दिन दिखाई पड़ेगा कि वह जो है उसका नाम ही परमात्मा है।

जब जीव जागरण को प्राप्त होता है तो वह धर्म का भी प्राप्त होता है। जा जागरण का मार्ग है बही ज्ञान का मार्ग है। दमन का मार्ग ज्ञान का मार्ग नहीं। जागरण भोगों के दमन का, मिथ्या घाडम्बर का मार्ग नहीं, वास्तविक जीवन का, ज्ञान का, मार्ग है। उसके प्रवर्तन में सदाचरण के फूल खिलते हैं। अचेतन वासनाओं का अभाव होने से मुक्ति होता है। सदाचरण सम्बन्धी भय नहीं, वास्तविक जीवन पैदा होता है। जाग्रत व्यक्ति किसी आवरण की ओढ़ता नहीं है। उसमें अन्तर की शान्ति है। उसके बाहर-भीतर अपने आप परिवर्तन हो जाता है। जागरण से ज्ञान ही नहीं होता परिवर्तन भी होता है। असल में निरीक्षण ज्ञान लाता है और ज्ञान से परिवर्तन आता है। उसी निरीक्षण से, जागरण से वासना की मृत्यु हो जाती है। अतः जागरण ही क्रान्ति है। इसलिए जागरण ही शुभ है। मूर्छित अवस्था अशुभ है कष्ट या काम मूर्छा ये ही जीव को पकड़ते हैं। असल में तो मूर्छा ही पाप है। शुभ और अशुभ का निर्णय न करें, बस दृष्टा बन जायें, साक्षी बन जाएँ, देखने वाले बन जाएँ। जैसे मैं दूर खड़ा हूँ, जानने देखने के अतिरिक्त मेरा और कोई प्रयोजन नहीं है। जैसे ही प्रयोजन आ जाता है, वैसे ही निरीक्षण बन्द हो जाता है। जब कोई ऐसी जगह से गुजरता है जहाँ मरने का डर है, सकट का क्षण है तो उस भय के प्रति वह पूरा जाग्रत होता है। उसको अपने एक-एक कदम का ज्ञान बना रहता है। कोई व्यक्ति ऐसी सकरी सड़क से पार हो रहा हो जिसके दोनों तरफ खाई है। बर्फ जमी हुई है, पोह का महीना है, वह जानता है कि अगर एक भी कदम टेढ़ा रखा गया तो नाल में चला जाएगा और बर्फ से ठंडा हो जाएगा। वह जो भी कदम रखेगा वह बड़ी सावधानी से रखेगा, जागते हुए रखेगा और

एक-एक कदम को आवाज तक उसको सुनाई देगी। उससे पूछा जाए कि वह नाला जिसको तुमने पार किया कितना लम्बा था तो वह बता सकता है कि इतने कदम लम्बा था। जबकि शायद वह नहीं बता पाए कि उसके अपने मकान में कितनी सोड़ी है जिन पर वह सैकड़ों दफा चढ़-उतर चुका होगा। उस भाति का जागरण अपने आप में होना चाहिए, केवल किसी एक क्रिया विशेष के लिए नहीं।

सत्य की अनुभूति एक बात है और उसकी अभिव्यक्ति दूसरी बात। व्यक्ति यदि मात्र तप और संयम करता है तो उसमें कोई आन्तरिक फर्क नहीं पड़ता केवल बाहरी व्यवस्था बदल जाती है। सवाल संयम और तप का नहीं है। सवाल है चेतना के रूपान्तरण का, चेतना के बदल जाने का। चेतना के बदलने के लिए बाहरी कार्यक्रमों का कोई भी प्रयत्न नहीं है। चेतना को बदलने के लिए भीतर की मूर्छा का भागना आवश्यक है। प्रश्न उसी का है। चेतना के दो रूप हैं। एक मूर्छा और दूसरा अमूर्छा। वैसे ही क्रिया के दो रूप हैं : संयम और असंयम। एक बाहरी दृष्टि है एक अन्तरंग। ज्ञान की अवस्था अन्तरंग बात है और आचरण की अवस्था बाहरी। जीव हर एक कार्य में, प्रत्येक स्थिति में, चेतन हो, जागृत हो, मूर्छित नहीं, इसी को अप्रमाद कहा गया है और जागते हुए भी, सोते हुए भी भीतर जो एक मूर्छित अवस्था चल रही है, उसका प्रमाद कहा गया है।

इसकी फिक्र नहीं कि पाप का पुण्य में कैसे बदलें, हिंसा को अहिंसा में कैसे बदलें, असंयम को संयम में कैसे बदलें, कठोरता को कोमलता में कैसे बदलें। सवाल यह नहीं है कि हम क्रिया को कैसे बदलें। यदि कर्त्ता बदल जाता है तो क्रिया अपने आप बदल जाएगी क्योंकि कर्त्ता ही तो क्रिया को करता है। कर्त्ता ही क्रिया करने में समर्थ होता है। भीतर से कर्त्ता बदला, चेतना बदली। पाप वह है जो सजग व्यक्ति नहीं कर सकता। पुण्य वह है जो एक सजग व्यक्ति को करना पड़ता है। कर्म को बदलने पर विचार नहीं करना है बल्कि कोशिश करनी है। चेतना को बदलने की। चेतना बदल जाती है तो कर्म भी बदल जाता है। जब जीव चेतना में जाग्रत होता है तो संयम के, दया के, कृपा के फूल खिलने लगते हैं और वास्तविक,

स्वाभाविक परियर्तन आता है, छोड़ा हुआ आचरण नहीं।

अपने चेतन स्वभाव में जागरण किसी की अपेक्षा नहीं रखता। जैसे एक दिया जल रहा है और उससे रोशनी चारों तरफ फैल रही है। उसके पास से कोई भी गुजरता हो वह दिया अपनी रोशनी कम या ज्यादा नहीं करता। उसे इस बात की फिक्र नहीं कि उसके पास से कौन गुजर रहा है : सम्राट या गरीब भिखारी। कोई भी उसके पास से होकर जाए उसकी रोशनी निरन्तर बिखरती रहती है। सच तो यह है कि दिए का जलाना दूसरे पर निर्भर नहीं करता। दिए का जलना उसकी अन्तर्वस्तु है। वह स्वयं में जागृत है।

धर्म की साधना भी जागरण सहा आती है। धर्म साधा नहीं जाता, वह तो जागरण से क्रियाओं में रूपान्तर होता है।

मूर्छा टूटने का मतलब यह नहीं कि चीजें हट जायेंगी, मूर्छा टूटने का मतलब है कि चीजें तो रहेंगी लेकिन उनसे लगाव छूट जाएगा। चीजें हो या न हों, सवाल यह नहीं है जो परिग्रह या अपरिग्रह का सवाल है वह बाहरी चीजों का है वह भीतर नहीं है। जहाँ विवेक होगा वहाँ आचरण स्वयं उपस्थित हो जाएगा, करना नहीं पड़ेगा। अगर करना पड़ रहा है तो वह इस बात की खबर दे रहा है कि वहाँ अन्तर-विवेक नहीं है। अन्तर विवेक की अनुपस्थिति में आचरण अशुद्ध है, चाहे वह कितना ही नैतिक क्यों न हो। वह समाज के लिए ठीक हो सकता है परन्तु आत्म-कल्याण के लिए नहीं।

फिर इसकी करनी चाहिए कि जीव जा भी है उसमें जागे, इसकी नहीं कि उसे क्या करना है और क्या होना है। होने की चिन्ता छोड़ दें। वह जो जागना है वही बीतरागता में ले जाएगा और बीतरागता एक बिल्कुल भिन्न बात है।

व्यक्ति सोकर स्वप्न में सब कुछ ग्रहण कर लेता है। लेकिन सुबह हँसता है क्योंकि वह जाग गया है। स्वप्न में जिसको ग्रहण किया था वह जाग्रत होने पर नहीं रहा।

सोचना नहीं पड़ता कि मैं कुछ कलं परन्तु जहाँ मूर्छा गयी वहाँ अपनापना भी गया।

अगर कोई स्वयं में जाग जाता है तो उस द्वार पर पहुँच जाता है जहाँ से ज्ञान की शुरुआत होती है। स्वयं में जाग जाना पहना बिन्दु है। वहीं से यात्रा भीतर की और हो सकती है। व्यक्ति या तो राग में होता है या द्वेष में होता है और स्वयं के बाहर होता है। रागद्वेष होने का अर्थ है स्वयं के बाहर होना। चाहे मित्र पर हो चाहे शत्रु पर, लेकिन चेतना कहीं और होगी राग में भी द्वेष में भी। जो आदमी धन इकट्ठा करने में पागल है उसका ध्यान भी धन पर होगा और जो आदमी धन को अनिष्ट मान रहा है उसका ध्यान भी धन पर ही होगा। धन पर ही दृष्टि बिन्दु होगा उन दोनों का और अपने प्रति सोए होंगे। परन्तु जो स्वयं में जागृत हो जाता है उसकी सब बिन्दुओं में दृष्टि घूम कर अपने आप पर खड़ी हो जाती है। वह चुपचाप देखने लगता है। यह रहा त्याग, यह रहा क्रोध। न मैं भोग करता हूँ, न मैं त्याग करता हूँ। मैं अलग खड़ा देखता हूँ ऐसी स्थिति में स्वयं का द्वार खुल जाता है जहाँ से ज्ञान की प्रथम भूमिका में जाया जा सके। तब वासना की डार टूट जाती है। कर्मकृत खेल फिर भी चलता रहता है। परन्तु फिर उस खेल से क्या बिगड़ता है? साक्षी उसमें अलग खड़ा हो जाता है।

जागृति दो तरह से हो सकती है, बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी। बहिर्मुखी जागृति होगी तो अन्तर अन्धकार-पूर्ण हो जाएगा। ऐसा व्यक्ति मूर्छित हो जाएगा अगर जागृति अन्तर्मुखी है तो बाहर की तरफ मूर्छा हो जाएगी। अन्तर्मुखता का अगर विकास हुआ तो जो तीसरी स्थिति होगी वह भी जागृति की उपलब्धि होगी जहाँ अन्धकार मिट जाता है और सिर्फ प्रकाश रह जाता है। वह पूर्ण जागृत स्थिति है लेकिन बहिर्मुखता से कभी कोई एक तीसरी स्थिति में नहीं पहुँच सकता। तीसरी स्थिति में पहुँचने के लिए अन्तर्मुखता जरूरी है। बाहर से लौट आना है और फिर अपने से भी ऊपर चले जाना है। मूर्छा का अर्थ है कि बाहर है। बाहर का मतलब है कि स्वयं अपना ध्यान बाहर है। और जहाँ अपना ध्यान है वहाँ

शक्ति है और जहाँ अपना ध्यान नहीं है वहाँ मूर्छा है। ऐसी अन्तर्मुखता का नाम ही जागरण है। जो पूरी तरह जग गया वह साधु है जो सो रहा है वह असाधु है जागरण इतना गहन हो जाए कि न केवल बाहर की आवाज सुनाई पड़े, बल्कि अपना श्वास और हृदय की धड़कन भी सुनाई पड़ने लगे और अपनी आँख की पलक का हिलना भी पता चलने लगे। भीतर के विचार भी पता चलने लगे, जो भी हो रहा है वह सब चेतना में प्रतिफलित होने लगे।

□ □

(पृ० ५ का शेषांश)

नाहटाजी के प्रेरणा-स्रोत जीवनसूत्र

१. करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान ।
रसरी आषत-जात ते, सिल पर परत निसान ॥
२. काल करै सो आज कर, आज करै सो अब ।
पल में परल होयगो, बहुरि करैगो कब ॥
३. एक साथे सब सधे, सब साथे सब जाय ॥
४. रे मन । अण्णहु खंच करि, चिन्ता-जालि म पाडि ।
फल तिलउ हिज मामिसइ, जितउ लिहिउ लिलाडि ॥

(श्रीपाल चरित्र)

नरोत्तमदास स्वामी

डा० मनोहर शर्मा

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन वीरसेवामन्दिर के निमित्त

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-२

सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१,

दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

‘मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

स्थापित : १९२६

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर उत्तर भारत का अग्रणी जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं दर्शन शोध संस्थान है जो १९२६ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की सम्पूति में संलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

- जैन-जैनतर पुरातत्त्व सामग्री का संग्रह, संकलन और प्रकाशन ।
- प्राचीन जैन-जैनतर ग्रन्थों का उद्धार ।
- लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार ।
- ‘अनेकान्त’ पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का प्रयत्न ।
- जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनु-संधानादि कार्यों का प्रसाधन और उनके प्रोत्तेजनार्थ वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन ।

विविध उपयोगी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अंग्रेजी प्रकाशन ; जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक शोध-अनुसंधान ; सुविशाल और निरन्तर प्रवर्धमान ग्रन्थागार ; जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्त्व के समर्थ अग्रदूत ‘अनेकान्त’ के निरन्तर प्रकाशन एवं अन्य अनेकानेक विविध साहित्य और सांस्कृतिक गति-विधियों द्वारा वीर सेवा मन्दिर गत ४६ वर्ष स निरन्तर सेवारत रहा है एवं उत्तरोत्तर विकासमान है ।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापों में हर प्रकार से आपसे महत्त्वपूर्ण प्रोत्साहन एवं पूर्ण सहयोग पाने की अधिकारिणी है। अतः आप से सानुरोध निवेदन है कि :—

१. वीर सेवा मन्दिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक कार्यक्रमों में सक्रिय योगदान करें ।
२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनों को स्वयं अपने उपयोग के लिए तथा विविध मांगलिक अवसरों पर अपने प्रियजनों को भेंट में देने के लिए खरीदें ।
३. त्रैमासिक शोध पत्रिका ‘अनेकान्त’ के ग्राहक बनकर जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्त्व के शोध-अनुसंधान में योग दें ।
४. विविध धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वों एवं दानादि के अवसरों पर महत्त्व उद्देश्यों की पूर्ति में वीर सेवा मन्दिर की आर्थिक सहायता करें ।

—गोकुल प्रसाद जैन (महासचिव)

नाट्योत्पत्ति सम्बन्धी जैन परम्परा

□ श्री कपूरचन्द जैन, खतोली

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्य के दो भेद किये गये हैं। पहला श्रव्य काव्य जिसे पढ़ने अथवा सुनने से पाठकी तथा श्रोताओं के हृदय में आनन्दानुभूति होती है। दूसरा दृश्य काव्य जिसमें श्रवणातिरिक्त पात्रों का अभिनय, उनकी वेषभूषा, आकृति, भाव भंगिमा आदि के द्वारा सहृदय सामाजिकों के हृदय में आनन्द का संचार होता है। चूंकि दृश्य अभिनेय होता है। और उसमें प्राचीन या कारुणिक रामादि का नटादि पर आरोप किया जाता है अतः उसे रूपक कहा जाता है 'रूपा-रोपात्तुरूपकम्' रूपक का नाटक प्रकरण आदि प्रमुखतः दस भेद हैं।^१ किन्तु रूपक का प्रथम और प्रमुख भेद होने के कारण सम्प्रति रूपक का स्थान नाटक ने ले लिया है और सामान्यतः दृश्य काव्य नाटक-शब्द-वाच्य हो गया है। प्रस्तुत निबन्ध में भी रूपक के स्थान पर नाटक शब्द का प्रयोग किया गया है।

नाटक का उदभव कब हुआ इस सम्बन्ध में न केवल भारतीय अपितु पाश्चात्य विचारकों ने भी भरपूर गवेषणा की है। भारतीय परम्परानुसार विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान, विज्ञान, कला, कोशल के उत्पत्ति स्थान वेद है। नाटको की उत्पत्ति भी वेदों से हुई इसी कारण उसे 'चतुर्वेदाग-सम्भवम्' कहा जाता है। आद्य कव्याचार्य भरतमुनिप्रणीत नाट्यशास्त्रानुसार—देवताओं ने जगत पिता ब्रह्मा के पास जाकर उनसे ऐसी वस्तु के निर्माण की प्रार्थना की जो कानों तथा नेत्रों को समान रूप से आनन्द द सके। जो

केवल द्विजातियों की ईर्ष्या सम्पत्ति न हो अपितु शूद्र भी जिसके अजभागी हो सकें। ब्रह्मा ने देवताओं की प्रार्थना सुनकर ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद) सामदेव से गीत यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण कर पंचम वेद नाट्यवेद की रचना की।^२

रचनान्तर देव-चास्तुशिल्पी विश्वकर्मा को प्रेक्षगृह के निर्माण की तथा भरत को अपने शतपुत्रों के साथ उसमें अभिनय की आज्ञा दी। प्राशुतोष भगवान् शंकर ने रौद्र व्यञ्जक ताण्डव तथा पार्वती ने सुकुमार एवं शृंगारिक लास्य नृत्य द्वारा इस नाट्य में योगदान किया और सर्व-प्रथम ब्रह्मा द्वारा निर्मित 'अमृतमन्थन' समवकार एवं 'त्रिपुराहा' बामक डिम को प्रस्तुत किया।

नाट्य के भूल पर स्थानान्तरित होने के सम्बन्ध में दो कथाएँ भी नाट्यशास्त्र के अंतिम अध्याय में दी गई हैं तदनुसार भरतपुत्रों को अपने नाट्य प्रयोग पर अभिमान हो गया और एक बार उन्होंने मुनियों के आक्षेपपूर्ण व्यंग्य का अभिनय किया जिससे क्रुद्ध हो मुनियों ने शाप दिया कि ऐसा नाट्य समाप्त हो जाये और भरत पुत्र शूद्र हो जायें। देवों के प्रार्थना करने पर मुनियों ने शाप में संशोधन किया कि नाट्यविद्या नष्ट तो नहीं होगी किन्तु भरत पुत्रों को शूद्र अवश्य होना पड़ेगा। शास्त्र के चरितार्थ होने में दूसरी कथा दी गयी है। तदनुसार जब इन्द्र का पद सम्राट नहुष की भिला तो भरत पुत्रों का अभिनय देखकर नहुष न भूलोंक पर अपने घर में वहीं

१. २. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।

दृश्य तत्राभिनेय तदरूपारोपान्तरूपकम् ॥

विश्वनाथ साहित्यदर्पण ६/१

३. नाटकमध्यप्रकरणं भागव्यायोगसमवकारडिमाः।

ईहामृगाङ्गबोध्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥

साहित्यदर्पण ६/३

४. नाट्य शास्त्र १/१६

५. वही १/४-१७

प्रभिनय करने का अनुरोध किया। भरतपुत्र तैयार नहीं हुये, काफ़ी विचार-विमर्श के बाद भरत ने अपने पुत्रों को समझाया कि ऐसा करने से ऋषि का शाप भी छूट जायेगा तब भरत पुत्र पृथ्वी पर आये। और नहुष के अन्तःपुर में नाट्य-प्रयोग किया तथा गृहस्थ होकर कुछ समय पृथ्वी पर बिताया। और स्वर्गलोक लौट गये, किन्तु वे अपनी मन्तति को नाट्य प्रयोग की शिक्षा दे गये थे। जिससे पृथ्वी पर नाट्य आया।^६

पाश्चात्य विद्वानों जिनमें, श्री मैक्स मूलर, प्रो० मिल्वा लेवी, ओल्डेन वर्ग, डा० हर्टल आदि प्रमुख हैं— का मत है कि ऋग्वेद के सवादात्मक सूक्तों से नाट्योत्पत्ति हुई है ऋग्वेद में यम यमी सवाद, सरमापणि सवाद, इन्द्र मरुत सवाद, अगस्त्य लोपा मुद्रा सवाद, विश्वामित्र नदी सवाद आदि अनेकों ऐसे सवादसूक्त हैं जिनमें नाट्य का बीज विद्यमान है। मैक्समूलर का कथन है कि ऋत्विक्गण इन सूक्तों का अभिनयात्मक पाठ करते थे यही नाट्य का बीज है डा० दिडिश, ओल्डेन वर्ग तथा पिशेल का अनुमान है कि ये सूक्त पहले गद्यपद्यात्मक थे अधिक रोचक एवं कंठस्थ करने में सरल होने के कारण इनका पद्य भाग बच गया तथा गद्य भाग नष्ट हो गया। इसके अतिरिक्त ये आख्यात्मक भी थे तथा इन्हीं के अनुसरण पर गद्य पद्य के सवादात्मक तत्व का नाट्य में मिश्रण हुआ। तृतीय-ब्राह्मण का शुनःशेष आख्यान तथा शतपथब्राह्मण का पुरुरवा-उर्वशी आख्यान इस प्रकार के अंश के प्रमाणभूत अविष्ट रूप है। अतः इन्हीं से नाट्य का उद्भव हुआ है। भारतीय विद्वान् डा० दास गुप्ता भी इस मत से सहमत हैं कि वेद मन्त्रों में नाटकीय तत्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान है और तत्कालीन जीवन के धार्मिक अवसरों, मगीत समारोहों तथा नृत्योत्सवों से नाटकों का घनिष्ट सम्बन्ध था।^७

प्रो० रिजवे का मत है कि नाटकों का उद्भव मृतात्मा के प्रति श्रद्धा प्रकट करने की परम्परा से हुआ मृतात्माओं के प्रति श्रद्धा प्रकट करने की परम्परा सभी संस्कृतियों में है आज भी ऐसे विभिन्न अभिनयात्मक आयोजन (श्राद्ध) प्रचलित हैं।

डा० पिशेल का कथन है कि नाटकों की उत्पत्ति में पुत्तलिका नृत्य का महत्वपूर्ण योगदान है अतः उसे ही नाट्योत्पत्ति का मूल माना जाना चाहिये। उनका कहना है कि पुत्तलिका नृत्य सर्वप्रथम भारत में ही प्रारम्भ हुआ महाभारत तथा, कथा सरित्सागर में पुत्तलिकाओं का वर्णन है। इस नृत्य में एक सूत्रधार होता है जो पीछे से पुत्तलिकाओं को नचाता है उनका कथन है कि नाटक के उपस्थापक के लिये इसी कारण आज भी सूत्रधार शब्द का प्रयोग होता है।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यूरोप में होने वाले मेपोल पर्व को नाट्योत्पत्ति का मूल माना है। यह पर्व मई मास में होता है।

प्रो० हिनब्राण्ड का कथन है कि लोकप्रिय स्वांगों से नाट्य की उत्पत्ति हुई स्वांगों के साथ रामायण और महाभारत की कथाओं ने मिलकर नाटकों को जन्म दिया। इसी प्रकार प्रो० ल्यूडस का कथन है कि छाया नाटकों में जो छाया चित्रों का प्रदर्शन किया जाता है उससे नाटकों की उत्पत्ति हुई।^८ प्रो० वेबर भारतीय नाटकों का जन्म यूनानी प्रभाव से मानते हैं।

डा० कीय के अनुसार नाटक का उद्भव प्राकृतिक परिवर्तनों को प्रस्तुत करने की इच्छा की देन है। महाभाष्य में निर्दिष्ट वसवध नामक नाटक का अभिनय कीय के मतानुसार इस मत की पुष्टि करता है।^९

जैन परम्परानुसार नाटकों की उत्पत्ति दैविक है किन्तु बाद में चलकर तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के अभिनय से

६. दे०—हिन्दी नाट्यशास्त्र, व्शा० बाबूलाल शुक्ल शास्त्री चौखम्बा वागणमयी १९७२ भूमिका पृष्ठ ४६

७. वही पृष्ठ ४७

८. डा० एस० एन० दास गुप्ता ऐण्ड एस० के० डे० : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर वाल्यूम १ पृष्ठ ४४

९. दे०—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास:

डा० कलिलदेव द्विवेदी पृ० २६६

१०. वही

११. दे० सं० सा० की रूपरेखा : व्यास तथा पाण्डेय १९७० पृ० २४

उसका विकास हुआ। जिनसेन कृत आदिपुराण में उल्लिखित है कि भगवान् ऋषभदेव के जन्म कल्याण में इन्द्र अनेक देवताओं के साथ आया और भगवान् को पाण्डुक मिला पर स्नान कराने के बाद अयोध्या नगरी में लोटा तदनन्तर उसने नगरवासियों का आनन्द देखकर आनन्द नाम के नाटक में अपना मन लगाया।^{१३} पहले उसने नृत्य किया इन्द्र स्वयं प्रधान नृत्यकार था कुलाचलों सहित पृथ्वी रंगभूमि नाभिराज आदि उत्तम-उत्तम पुरुष दर्शक, ऋषभदेव आराध्य, धर्मार्थकाम तीन पुरुषार्थों की सिद्धि तथा परमानन्द मोक्ष की प्राप्ति होना ही उसका फल था।^{१४} पहले इन्द्र ने गर्भावतार सम्बन्धी, फिर जन्माभिषेक सम्बन्धी और फिर भगवान् के पूर्व के महाबल आदि दशावतारों को लेकर नाटक किये। इन्द्र ने पहले मंगलाचरण, फिर पूर्व रंग फिर ताण्डव नृत्य नाट्यी मंगल करने के बाद रंगभूमि में प्रवेश^{१५} किया इन्द्र के साथ अनेक देवियों ने भी नृत्य किया।^{१६} इन्द्र उसका सूत्रधार जैसा प्रतीत हो रहा था।^{१७}

पुरुदेवचम्पू में भी ऐसा ही वर्णन उपलब्ध होता है वहाँ इन्द्र ने आनन्द नाम का नाटक उत्पन्न किया और स्वयं उसका अभिनय देवताओं के साथ किया।^{१८}

ऐसा प्रतीत होता है कि तीर्थकरो के कल्याणकों पर जो इन्द्रादि देवता आते थे वे गाजे-बाजे के साथ भूनल पर कल्याणक मानकर और नृत्योत्सव करके चले जाते थे बाद में साधारण जन भी समय-समय पर मनोरंजनार्थ कल्याणकों को मानते थे और वैसे ही अभिनयादि किया करते थे धीरे-धीरे इसी परम्परा ने आधुनिक नाटक का रूप ले लिया। आज भी जैन परम्परा में 'पंचकल्याणक नाटक, (पंचकल्याणक नृत्य)' आदि नाटक स्थान-स्थान पर किये जाते हैं।

यहाँ वैदिक और जैन सिद्धान्त में अनेक समानताएँ दृष्टव्य हैं। वैदिक सिद्धान्तानुसार नाट्योत्पत्ति, ब्रह्मा (देव) ने की, उसका अभिनय भी भूतल पर सर्वप्रथम देवों द्वारा हुआ। शंकर ने ताण्डव नृत्य से और पार्वती ने लास्य से इसमें भारी योगदान दिया। जैन सिद्धान्त के अनुसार भी इन्द्र (देव) ने नाट्योत्पत्ति की प्रथम अभिनय देवों ने कल्याणकों पर किया इन्द्र ने ताण्डव और देवांगनाओं ने लास्य नृत्य से इसमें योगदान किया।^{१९}

एक समानता और, उनके अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने मेपोल एवं से नाट्योत्पत्ति मानी है। यह उत्सव मई के महीने में होता है जिसमें एक स्तम्भ (पोल) गाड़कर स्त्री पुरुष उसके चारों ओर नाचते हुये उत्सव मनाते हैं।

भारतीय विद्वान् प० रामावतार शर्मा ने भारतीय इन्द्रध्वज उत्सव की तथैव स्वीकार किया है।^{२०} यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाये तो जैन परम्परा में भी इन्द्रध्वज विधान है जो सम्भवतः प्राचीन काल में भारी उत्सव के साथ मनाया जाता था। इस विधान में भी एक विशाल मण्डप बनवाकर उसके प्रांगण में एक चबूतरे पर ऊँची विशाल ध्वजा का आरोहण किया जाता है।^{२१} हिन्दी इन्द्रध्वज विधान की रचना हाल में ही आर्थिकारत्न श्री जानमती जी ने की है। ग्रन्थ सम्पादक श्री रवीन्द्रकुमार जैन की सूचनानुसार यह ग्रन्थ मूलतः संस्कृत में है जिसके रचयिता भट्टारक विश्वभूषण जी हैं। इसकी प्रतियाँ झारखण्ड, इन्दौर, सरघना, दिल्ली, टीकमगढ़ आदि के भण्डारों में हैं।^{२२} हमारी दृष्टि में अभी यह ग्रन्थ नहीं आया है। हो सकता है इस ग्रन्थ से इस विषय पर कुछ विशेष प्रकाश पड़े। प्रवक्ता, संस्कृति विभाग

श्री के० के० जैन डिग्री कालेज,

खतोली (मुजफ्फर नगर)

१२. आदिपुराण : भारतीय ज्ञानपीठ १४।६५

१३. वही १४।१००-१०१

१४. वही १४।१०३-१०४

१५. वही १४।१३२-१५३

१६. वही १४।१५४

१७. पुरुदेवचम्पू: भारतीय ज्ञानपीठ, पंचम स्तवक गद्य संख्या ३४ से ४१ तक पृष्ठ २०७-२१८

१८. "एकललेखा: सहर्षमानन्दनाटकं संभूय संपाद्य स्वभावमभजन्त।" वही गद्य १०।६५ पृष्ठ ३७१

१९. आदि पुराण १४।१५५

२०. स० सा० की रूपरेखा : व्यास तथा पाण्डेय पृष्ठ ६४

२१. इन्द्रध्वजविधान, हस्तिनापुर १६७८, भूमिका पृ. २५

२२. वही सम्पादकीय पृष्ठ ७

आचार्य कुन्द-कुन्द की प्राकृत

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

प्रायः सभी मानते हैं कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने जैन शौरसेनी प्राकृत को माध्यम बनाकर ग्रन्थ निर्माण किए। कुछ समय से उनके ग्रन्थों में भाषा की दृष्टि से सशोधन कार्य प्रारम्भ हो गया है और कहा जा रहा है कि इसमें लिपिकारों की सदिग्धता या भ्रमावमानी रही है। ये कारण कदाचित्त हो सकते हैं और इनके फलस्वरूप अनेक हस्तलिखित या मुद्रित प्रतियों में एक-एक शब्द के विभिन्न रूप भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में जबकि आचार्य कुन्द-कुन्द की स्वयं की लिखित किसी ग्रन्थ की कोई मूल प्रति उपलब्ध न हो, यह कहना बड़ा कठिन है कि अमृक शब्द का अमृक रूप ही आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपनी रचना में लिखा था। तथा इसकी वास्तविकता में किसी प्राचीन प्रति को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता, यतः — 'पुराणमित्येव न माधुसवंम्।'

जहाँ तक जैनशौरसेनी प्राकृत भाषा के नियम का प्रश्न है और कुन्दकुन्द की रचनाओं का प्रश्न है — उनको प्राकृत में उन सभी प्राकृतों के रूप मिलते हैं जो जैन शौरसेनी की परिधि में आते हैं। उन्होंने संवधा न तो महाराष्ट्री को अपनाया और न सर्वथा शौरसेनी अथवा अर्धमागधी को ही अपनाया। अपितु उन्होंने उन तीनों प्राकृतों के मिले-जुले रूपों को अपनाया जो (प्राकृत) जैन शौरसेनी में सहयोगी है — जैनशौरसेनी प्राकृत का रूप निश्चय करने के लिए हम भाषा-विशेषज्ञों के अभिमत जान लें ताकि निर्णय में सुविधा हो —

‘मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेः यर्धमागधी।

बाल्होका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिताः॥’

यद्यपि प्राकृत व्याकरणों ने जैन शौरसेनी को प्राकृत के मूल भेदों में नहीं गिनाया, तथापि जैन साहित्य में उसका अस्तित्व प्रचुरता से पाया जाता है। दिगम्बर साहित्य इस भाषा से बँसे ही भोत-प्रोत है। जैसे आगम स्वेनाम्बरमाग्य अर्धमागधी से। सम्भवतः उत्तर से दक्षिण में जाने के कारण दिगम्बराचार्यों ने इस (जैन शौरसेनी) को जन्म दिया हो — प्रचार की दृष्टि में भी ऐसा किया जा सकता है। जो भी हो, पर यह दृष्टि बड़ी

विचारपूर्ण और पनी है — उससे सिद्धान्त के समझने में सभी को आसानी अनुभव हुई होगी और सिद्धान्त सहज ही प्रचार में आता रहा होगा। यतः इस भाषा में सभी प्राकृतों के शब्दों का समावेश रहता है — शब्द के किसी एक रूप को ही शुद्ध नहीं माना जाता अपितु सुविधानुसार सभी रूप प्रयोगों में लाए जाते हैं — जैसा कि आचार्य कुन्द-कुन्द ने भी किया है।

जैनशौरसेनी के सम्बन्ध में निम्न विचार दृष्टव्य है और ये अधिकारी विद्वानों के विचार हैं —

‘In his observation on the Digamber test Dr. Denecke discusses various points about some Digamber Prakrit works “He remarks that the language of there works is influenced by Ardhamagdhi, Jain Maharashtra weich Approaches it and Saurseni.”

— Dr. A N. Upadhye

(Introduction of Pravachansara)

‘The Prakrit of the sutras, the Gathas as well as of the commentary, is Saurseni influenced by the order Ardhamagdhi on the one hand and the Maharashtra on the other, and this in exactly the nature of the language called ‘Jain Saurseni.’

— Dr. Hiralal

(Introduction of पट्ट खंडागम P. IV)

‘जैन महाराष्ट्री का नाम चुनाव समुचित न होने पर भी काम चलाऊ है। वही बात जैन शौरसेनी के बारे में और जोर देकर कही जा सकती है। इस विषय में अभी तक जो थोड़ी-सी शोध हुई है, उससे यह बात विदित हुई है कि इस भाषा में ऐसे रूप और शब्द हैं जो शौरसेनी में बिल्कुल नहीं मिलते बल्कि इसके विपरीत वे रूप और शब्द कुछ महाराष्ट्री और कुछ अर्धमागधी में व्यवहृत होते हैं।’

— पिशल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पु० ३८ प्राचीन आगमों और आचार्य कुन्द-कुन्द की रचनाओं

में इसी आधार पर विविध शब्द रूपों के प्रयोग मिलते हैं—दिगम्बर आचार्य किसी एक प्राकृत नियम को लेकर नहीं चले अपितु उन्होंने अन्य प्राकृतों के शब्द रूपों को भी अपनाया। अतः उनकी रचनाओं में भाषा की दृष्टि से संशोधन की बात सर्वथा निराधार प्रतीत होती है। आचार्यों के द्वारा अपनाए गए विविध शब्दरूपों की भूलक पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत है—

हमें आशा है कि पाठक तथ्य तक पहुँचेंगे।

दि० जैन ग्रन्थों में एक ही आचार्य द्वारा प्रयुक्त विविध प्रयोग :—

षट्संज्ञागम [१, १, १,]

(महाराष्ट्री के नियमानुसार 'व' को हटाया) —

उपजङ्घ (दि) पृ० ११०, कुण्ड पृ० ११०, वर्णह पृ० ६८, परवेह पृ० ६८, उच्चह पृ० १७१, गच्छह पृ० १७१
दुक्कह १७१, भणह पृ० २६६, संभवह पृ० ७४

मिच्छाहट्टि पृ० २०, वारिसकालो कश्चो पृ० ७१—इत्यादि।

(शौरसेनी के अनुसार 'व' को रहने दिया) —

सुवपारगा पृ० ६५, वर्णदि पृ० ६६, उच्चदि पृ० ७६, परवेदि पृ० १०५, उपकमोगदो पृ० ८२, सबे (तं) पृ० १२२, निगदो पृ० १०७,

(‘व’ लोप के स्थान में ‘य’ सभी प्राकृतों के अनुसार)

सुयसायरपारया पृ० ६६, भणिया पृ० ६५, सुयदेवया पृ० ६, सुयदेवदा पृ० ६८, वरिसकालोकश्चो पृ० ७१, नवयमया (ता) पृ० १२२ कायत्रा पृ० १२५, निगया १२७, सुयगणाहज्व (तिलोयगणति) पृ० ३५ लोप में ‘य’ और श्लोप (दोनों)

कुन्व-कुन्व ‘अष्टपाहुड’ के विविध प्रयोग—

ग्रन्थ नाम शब्द और गाथा का क्रम-निर्देश—

दर्शनपाहुड	होदि	होइ	होई	हवड	हवदि	हवेइ
	२६	११, २७, ३१	१४	२०	—	—
सूत्रपाहुड	६, २०	११, १४, १७	—	१६	२२	—
	—	२०, २४	—	—	—	३६
चरित्रपाहुड	—	१६, ८५	—	३४, ३६	—	—
बोधपाहुड	—	१५, ३६	११, २६	—	—	—
भावपाहुड	—	—	८८, ६५, ७३	—	—	—
			१२७, १४०	११६	२०	—
			१४३, १५१	—	—	५१, २८, ७६
मोक्षपाहुड	७०, ८३	५२, ६०	हवई	१४, १८, ३८	५१, ८४	८७, १००
	१०१,	—	५०	४७	—	—
लिंगपाहुड	—	२, १३, १४	—	—	—	—
शीलपाहुड	—	६	२१	—	—	—
नियमसार	१८, २६, ५४	२, ४, ३१	१०, १७२	—	११३, १४१	५, २०
	५५, ५८, ६४	५६, ५७	१७३, १७६	—	१६१, १६२	१५०
	८२, ८३, ८४	१६६, १६८	—	—	—	—
	१०७, १४२	१६६, १७१	—	—	—	—
		१७४, १७५	—	—	—	—

१. ‘जैन महाराष्ट्री में लुप्त वर्ण के स्थान पर ‘य’ श्रुति का उपयोग हुआ है जैसा जैन शौरसेनी में भी होता है’—

षट्संज्ञागम भूमिका पृ० ८६

२. ‘द’ का लोप है ‘य’ नहीं किया।

इसी प्रकार अन्य बहुत से शब्द हैं जो विभिन्न रूपों में दि० जैन आगमों में प्रयुक्त किये गए हैं। जैसे—

‘गइ, गदि। होइ, होदि, हवदि। णाओ, णादो। भूयत्थो, भूदत्थो। सुयकेवलो, सुदकेवलो। णायब्बो, णादब्बो। पुग्गल, पोंगल। लोए, लोगे। आदि :

उक्त प्रयोगों में ‘द’ का लोप और अलोप तथा लोप के स्थान में ‘य’ भी दिखाई देता है। स्मरण रहे केवल शौरसेनी को ही ‘द’ का लोप मान्य है—दूसरी प्राकृतों में ‘क ग च ज त द य ब’ इन व्यन्जनों का विकल्प से लोप होने के कारण—दोनों ही रूप चलते हैं। जैन शौरसेनी में अवश्य ही महाराष्ट्री, अर्धमागधी और शौरसेनी के मिले-जुले रूपों का प्रयोग होता है।

पुग्गल और पोंगल—

प्रवचनसार आदि में उक्त दोनों रूप मिलते हैं। जैसे गाथा—२-७६, २-६३ और गाथा २-७८, २-६३

पिशल व्याकरण में उल्लेख है—“जैन शौरसेनी में पुग्गल रूप भी मिलता है”—पैरा १२४। इसी पैरा में पिशल ने लिखा है “संयुक्त व्यंजनों से पहले ‘उ’ को ‘ओ’ हो जाता है……। मारकण्डेय के पृष्ठ ६६ के अनुसार शौरसेनी में यह नियम केवल ‘मुक्ता’ और ‘पुष्कर’ में लागू होता है। इस तथ्य की पुष्टि सब प्रथ करते हैं।”—पैरा १२४,

दूसरी बात यह भी है कि ‘आत्-सयोगे वाला (उ को ओ करने का) नियम सभी जगह इष्ट होता तो ‘चुक्केज्ज’ (गाथा ५) पुव्वकालह्मि (गाथा २१) वुच्चदि, दुक्व (गाथा ४५ समयसार) आदि में भी उकार को ओकार होना चाहिए। पर, ऐसा न करके दोनों ही रूपों को स्वीकार किया गया है—‘क्वचित् प्रवृत्ति क्वचिदप्रवृत्तिः।’

लोए या लोगे—

षट्खंडागम मंगलाचरण-मूलमंत्र णमोकार में ‘लोए’ षसुण्णरूप में लिखा गया है जो आवाल-वृद्ध में बिना किसी भ्रांति के अद्वास्पद बना हुआ है। पिशल ने स्वयं लिखा है—प्राकृत में निम्न उदाहरण मिलते हैं—‘एति’ के स्थान में ‘एइ’ बोला जाता है, ‘लोके’ को ‘लोए कहते हैं।’—पैरा १७६।

पैरा १७६ ही—जैन शौरसेनी की प्राचीनतम हस्त-लिपियाँ य, आ से पहले और सभी स्वरों के बाध अर्थात् इनके बीच में ‘य’ लिखती हैं—

‘वोत्तु’ रूप जैन महाराष्ट्री का है और ‘वत्तु’ शौरसेनी का। पिशल ने लिखा है ‘शौरसेनी में ‘वच’ की सामान्य क्रिया का रूप कभी ‘वोत्तु’ नहीं बोला जाता। किन्तु सदा ‘वत्तु’ ही रहता है।’—पैरा ५७०

उक्त पूरी स्थिति के प्रकाश में ऐसा ही प्रतीत होता है कि ‘जैन शौरसेनी’ में अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौरसेनी इन तीनों प्राकृतों के प्रयोग होते रहे हैं, अतः आगमों में आए (उक्त नियम से सबधित) सभी रूप ठीक हैं। यदि हम किसी एक को ठीक और अन्य को गलत मानकर चलें तब हमें पूरे आगम और कुन्दाकुन्द के सभी पद्यों के शब्दों को (भाषादृष्टि से) बदलना पड़ेगा यानी हमारी दृष्टि में सभी गलत होंगे—जैसा कि हमें इष्ट नहीं और न जैन शौरसेनी प्राकृत को ही ऐसा इष्ट होगा। इसी मन्दर्भ में यदि सभी जगह शौरसेनी के नियमानुसार ‘द’ रखना इष्ट होगा तो—

‘पढम होइ’ या ‘पढम हवइ मंगल’ के स्थान पर भी ‘हवदि’ पठना होगा जैसा कि चलन जैन के किसी भी मन्त्रप्रदाय में नहीं है, आदि। पाठक विचारें।

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागज नई दिल्ली

क्या तिलोयपण्णत्ती में वर्णित विजयार्थ ही वर्तमान विन्ध्य प्रदेश है ?

□ डा० राजाराम जैन

यतिवृषभ कृत तिलोयपण्णत्ती शौरसेनी प्राकृत का अद्भुत काव्य ग्रन्थ है। उसका रचनाकाल विक्रम की ५वीं-६वीं सदी के आसपास माना गया है। उसमें तीनों लोकों सम्बन्धी भूगोल एवं खगोल-विद्या का सुन्दर वर्णन मिलता है। यद्यपि उसमें विन्ध्य का नाम स्पष्टरूपेण नहीं मिलता। वह विजयार्थ प्रदेश अथवा विजयार्थ पर्वत के रूप में उल्लिखित है। किन्तु यदि वर्तमान विन्ध्य प्रदेश का विविध परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उसका अध्ययन किया जाय तो तिलोयपण्णत्ती का विजयार्थ ही विन्ध्य प्रतीत होता है। इस दिशा में सम्भवतः कोई कार्य नहीं हुआ है। अतः शोध-प्रज्ञा का ध्यान आकर्षित करने के लिए यहाँ कुछ तथ्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं :—

तिलोयपण्णत्ती में बताया गया है कि भरतक्षत्र के बहुमध्यभाग में रजतमय श्री० नाना प्रकार के उत्तम रत्नों से रमणीक विजयार्थ नामक एक उन्नत पर्वत है, जो

१. भरहन्विबिबहुमज्जे विजयद्धोणम भूधरो तुंगो ।
रजदमग्गो चेद्देहि हु जाणावररयणरमणिज्जो ॥
पणुवीसजोयणुदग्गो वत्तो तदुगुणमूलविकल्मो ।
उदयतुग्गिसग्गाढो जलणिहि पुट्ठो तिसडिग्गो ॥
तिलाय० ४/१०७-१०८

२-४. दे० आदिपुराण में भारत - पृ० ११०

५-६. दे० प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल (वा० सी० ला द्वारा लिखित) (लखनऊ, १९७३) पृ० ५०२-३

७. दक्षिण श्रेणी के ५० नगर—किनामित, किन्नर-गीत, नरगीत, बहुकेतु, पुण्डरीक, सिंहध्वज, श्वेतकेतु, गरुडध्वज, श्रीप्रभ, श्रीधर, लोहागल, गरिजय वज्रागल, वज्रादय, विमोचिता, जयपुरा, शकटमुखी, चतर्मुख, बहुमुख, अरजस्का, विरजस्का, रथनूपुर, मेखलाग्र, क्षेमपुर, अपराजित, कामाण्डव, गगनचरी, विजयचरी, शुक्रपुरी, संजयस्त नगरी, जयस्त, विजय, वैजयस्त, क्षेमकर, चन्द्राभ, सूर्याभ,

२५ योजन ऊँचा, ५० योजन प्रमाण मूल में विस्तार युक्त तथा ६४ योजन की नीच सहित है। वह पूर्वोपर समुद्र को स्पर्श करने वाला तथा ३ श्रेणियों में विभक्त है।^१ आचार्य जिनसेन^२ एवं हेमचन्द्र^३ ने भी इसी से मिलता-जुलता वर्णन किया है। जिनसेन के अनुसार वह गंगा एवं सिन्धु नदियों के नीचे स्थित है।^४

वर्तमान विन्ध्यपर्वत की स्थिति भी विजयार्थ जैसी ही है। वह अपनी लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई के लिए प्रसिद्ध है। यह विशाल ३ श्रेणियों में विभक्त है। इन श्रेणियों के नाम हैं, मैकाल, मत्तपुडा एवं पारियात्र^५। पारियात्र विन्ध्यमाला का पश्चिमी छोर है, जो चम्बल के उद्गम स्थल से लेकर खम्भात की खाड़ी तक फैला गया है।^६

तिलोयपण्णत्ती में बताया गया है कि विजयार्थ के पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर दक्षिणी सीमा पर ५० एवं उत्तरी सीमा पर ६० नगर बसे हुए हैं।^७

पुरोत्तम, चित्रकूट, महाकूट, स्वर्णकूट, त्रिकूट, विचित्रकूट, मधकूट, वैश्वकूण्ट, सूर्यपुर, चन्द्र, नित्योद्योत, विमुखी, नित्यवाहिनी एवं सुमुखी। उत्तर श्रेणी के ६० नगर—अर्जुनी, अरुणी, कैलाश वारुणी, विद्युत्प्रभ, किलकिल, चूड़ामणि, शशिप्रभ, वशाल, पुण्यचूल, हंसगर्भ, धलाहक, शिवशंकर, श्रीमोघ, चमर शिवमन्दिर, वसुमत्का, वसुमती, सर्वार्थपुर (सिद्धार्थपुर), सर्वजय, केतुमाल, सुरपतिकान्त, गगननन्दन, अशोक, विशाक, वीतशोक, अलका, तिलक, अंबरतिलक, मन्दर, कुमद, कुन्द, गगनवल्लभ, दिव्यतिलक, भूमितिलक, गन्धर्वपुर, मुक्ताहर, नैमिष, अग्निज्वाल, महाज्वाल, श्रीनिकेत, जयावह, श्रीनिवास, मणिवज्र, भद्रवद्व, धनजय, माहेन्द्र, विजयनगर, सुगन्धिनी, वज्रादंतर, गोक्षीरकेत, अक्षोभ, गिरिशिखर, धरणी, वारिणी (धारिणी), दुर्ग दुर्धर, सुदर्शन, रत्नाकर एवं रत्नपुर।

काल के प्रभाव से यद्यपि वर्तमान विन्ध्य प्रदेश में अनेक प्रकार के भौगोलिक परिवर्तन हो गए हैं। नगरीय-विकास, संख्या परिवर्धन एवं नाम-परिवर्तन भी क्रमशः होता रहा। फिर भी कुछ नगरों में नाम-साम्य अभी भी दृष्टिगोचर होता है। यथा :—

ति० प० में उल्लिखित नगर वि० प्र० के वर्तमान नगर अपने जिलों के साथ

मेखलाग्र—मैकाल (शहडोल)

सूर्यपुर—सूरजपुर (टीकमगढ़)

अलका—अकला—(पन्ना)

लोहगंज—लोष या लोघरी (शहडोल)

चित्रकूट—चित्रकूट

अग्निज्वाल—ज्वालामुखी (उमरिया, शहडोल)

अक्षोभ—खोह (शहडोल)

दुर्ग—दुगावर (शहडोल)

सर्वार्थपुर—सिद्धार्थपुर (सीधी)

जयावह—जयावन (सीधी)

श्री सौध—सिरमौर (सीधी)

तिलोयपण्णती में विजयार्थ भूमि को उत्तम रत्नों एवं पद्मराग मणियों से समृद्ध बताया गया है। उसमें वज्रांगल, वज्रादय, चन्द्राभ, सूर्याभ, चूड़ामणि, मणिवज्र, वज्राद्वंतर, रत्नाकर, रत्नपुर जैसे मणिनामान्त या रत्न-मणि नाम वाले अनेक नगर उत्पन्न होते हैं। इससे उस भूमि को रत्नगर्भा होने के संकेत मिलते हैं।

वर्तमान विन्ध्य प्रदेश के पन्ना एवं विजावर प्रक्षेत्रों में निस्सन्देह रूप में विविध प्रकार के रत्न आजकल भी उपलब्ध हो रहे हैं। पन्ना, विजावर, हीरापुर एवं घास-पास की अनेक खदानें स्वयं बतला रही हैं कि यह प्रदेश पन्ना

हीरा एवं वज्रमणियों का प्रमुख भण्डार है।^{१०} प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से विजावर तो शुद्ध प्राकृत नाम ही है। उसका संस्कृत नामान्तर 'वज्रपुर' रहा होगा, जिसका तात्पर्य श्रेष्ठ मणि वज्रमणि अथवा श्रेष्ठ वज्रमणि उत्पन्न करने वाला नगर रहा होगा। शताब्दियों की वर्ष-परिवर्तन की यात्रा के बाद वह वज्रपुर—वज्जउर—विज्जाउर—विजाउर—विजावर बन गया।

तिलोयपण्णती में विजयार्थ के नगरों के विषय में बताया गया है कि वे दिव्यग्रामों से युक्त, महापट्टनों से रमणीक तथा कवट, द्रोणमुख संवाह एवं मङ्गलों से परिपूर्ण थे।^{११}

वर्तमान विन्ध्य प्रदेश की नगरीय स्थिति का अध्ययन करने से तिलोयपण्णती के उक्त कथन का प्रायः समर्थन होता है। उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के अनुसार ग्राम वह कहा जाता है, जहाँ कांटों की बाड़ी से घिरे हुए आवासों में लोग निवास करते हैं। यथा—कण्टकवाटकावृतो जतानां निवासो ग्रामः।^{१२} विन्ध्य प्रदेश में ऐसे नगरों की कमी नहीं, जो उक्त परिभाषा वाले ग्रामों से घिरे हुए न हों। आचार्य जिनसेन के अनुसार बड़ागाँव वह कहलाता था जिसमें ५०० परिवार रहते हों तथा छोटा गाँव वह कहलाता था, जिसमें १०० कुटुम्ब निवास करते हों।^{१३} ग्रामों का नामकरण वस्तुतः अपनी-अपनी विशेषताओं के आधार पर किया जाता था, जैसे निश्चित परिधि से कुछ बड़ा होने अथवा किसी दृष्टि से बड़े लोगों के निवास करने के कारण बड़ा गाँव, नया बसाए जाने के कारण नया गाँव, मणियों अथवा मनकों की भूमि वाला गाँव मनगवाँ और प्रचुर धन, धान्य बाला गाँव धनगवाँ या सतगवाँ आदि। विन्ध्य प्रदेश में इस प्रकार के अनेक ग्राम

८. द० Dawn of freedom. [V.P. Rewa, Ang. 1953] P.P. 66-68.

९. बहु दिव्यगामसहिदा दिव्यमहापट्टणेहि रमणिज्जा ।
कव्वडदोणमुहेहि संवाहमंडवएहि परिगुण्णा ॥
रमणाणयायरेहि विभूसिवा पउमरायपट्टदोणं ।
दिव्वणरेहिगुण्णा धणधणसमिद्धिरम्मेहि ॥

ति० प० ४/१३४०१३५

१०. Otto Stein—Jinist Studies. Page 4

११. आदिपुराण—२६।१६५

१२. यत्र सर्वदिग्भ्योजनाः पस्वागच्छन्तीति पत्तनमथवा
पत्तनं रानरवनिरति लक्षणं तदपि द्विविधं जलमध्य-
वति च Jinist Studica Page 9.

मिलते हैं।

पट्टन अथवा महापट्टन वह कहलाता है जहाँ सभी दिशाओं से लोग जल एवं स्थल मार्गों से आकर एकत्रित होते हैं तथा जहाँ के पार्श्ववर्ती प्रदेशों में रत्नादि खनिज पदार्थ प्राप्त होते हैं।^{१३} आचार्य मलयगिरि के अनुसार गाढ़ी, छोड़े आदि के द्वारा व्यापारिक सामग्रियों के आयात वाले स्थान को पत्तन तथा नौका आदि के द्वारा व्यापारिक सामग्रियों के आयात वाले स्थान को पट्टन माना जाता था।^{१४}

उक्त सन्दर्भ के अध्ययन करने से यद्यपि यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि तिलोयपण्णती काल में विन्ध्य प्रदेश में कौन-कौन से पट्टन अथवा पत्तन थे। फिर भी विन्ध्य प्रदेश में प्रवाहमान नदियों के किनारे पर बसे हुए विशेषतः वर्तमान पन्ना, विजावर एवं शहडोल के प्रक्षेत्रों की नदियों के किनारे पर बसे हुए कुछ नगर पट्टन अथवा पत्तन के रूप में अवश्य ही प्रसिद्ध रहे होंगे। वर्तमान में पट्टन नामधारी अमरपाटन (सतना) एवं पटनाकला (शहडोल) ही ऐसे नगर हैं, जो प्राचीनयुग की अपनी व्यापारिक समृद्धि की स्मृति दिखाते हैं।

कर्बट अथवा खर्वट वह स्थान कहलाता है जो चारों ओर पर्वतों से घिरा रहता है।^{१५} यह स्थान अधिक विस्तृत नहीं होता। चारों ओर पर्वतों से घिरे रहने के कारण वह दुर्ग का कार्य करता है। इसी लिए कौटिल्य^{१६} ने इस दुर्ग के समान सुरक्षित कहा है। अनेक ग्रामों के व्यापार केन्द्र के रूप में इसकी स्थापना की जाती थी।

नागरिक सभ्यता के विकास-क्रम में वर्तमान विन्ध्यप्रदेश में कर्बट या खर्वट नगरों में परिवर्तन होता गया, फिर भी अवस्थितियों के आधार पर प्रतीत होता है कि आधुनिक अमरकटक (शहडोल), करुरहटी (पन्ना), खडगडा (सीधी), सिरमौर (रीवां), चचाई, खैरद्वार (उमरिया) अजयगढ़ आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

द्रोण अथवा द्रोणमुख वह कहलाता है, जो स्थल समुद्री किनारों से घिरा होता है। यथा—द्रोणारण्यं

सिन्धुवेलावलयितम्।^{१७} यहाँ समुद्र का प्रथम वस्तुतः जल बाहुल्य प्रदेश लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जल बाहुल्य प्रदेश से घिरा हुआ स्थल द्रोण या द्रोणमुख कहलाता था। यह पार्श्ववर्ती ४०० ग्रामों के मध्य में रहता था।^{१८} और उनके जीवन की आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करता था। इस दृष्टि से वर्तमान विन्ध्य प्रदेश में द्रोणनामधारी द्रोणगिरि का नाम द्रोणमुख के रूप में विशेषरूप से लिया जा सकता है। अन्य द्रोणमुखों में रीवां, सतना, विजावर, केवटी, शहडोल के नाम लिए जा सकते हैं।

कल्पसूत्र के अनुसार सवाह वह कहलाता है जहाँ समतल भूमि में कृषि कार्य कर के कृषक लोग दुर्गभूमियों में रक्षा-हेतु धान्य को सुरक्षित रखते थे। यथा—समभूमौ कृषि कृत्वा येषु दुर्गभूमिषु धान्यानि कृषिवलाः संवहन्ति रक्षार्थम्।

वर्तमान विन्ध्य प्रदेश में सवाह नामान्त नगरों के नाम नहीं मिलते। फिर भी उसमें ऐसे नगर उक्त श्रेणी में मान जा सकते हैं, जो गढ़ गढ़ी या वाड़ी नामान्त मिलते हैं। यथा—निवाड़ी, दिगोड़ा, (दिगवाड़ा) अजयगढ़ आदि।

उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के अनुसार मडम्ब उसे कहते हैं, जिसकी सभी दिशाओं में ३३ योजन की दूरी तक कोई भी ग्राम न हो।^{१९} तात्पर्य यह है कि मडम्ब एक ऐसा ग्राम अथवा नगर था जिसके आस-पास ३३ योजन अर्थात् १७-१८ मील के आस-पास कोई भी ग्राम न हो। विन्ध्य प्रदेश में ऐसे मडम्बों की कमी नहीं है। वर्तमान विकासकालीन युग में यद्यपि यह स्थिति लगभग बदल चुकी है, फिर भी खोज करने पर पन्ना, सीधी एवं शहडोल के जिलों में ऐसे अनेक स्थान मिल सकते हैं।

तिलोयपण्णती के अनुसार विजयार्ध अथवा वैताद्वय पर्वत के भूमितल पर दोनों पार्श्वभागों में दो गव्यूति प्रमाण विस्तीर्ण द्रोण पर्वत के बराबर लम्बे लम्बे वनखण्ड हैं।^{२०}

उक्त तथ्य का समर्थन प्रयाग-प्रशस्ति के 'परिचायिकी (शेष पृ० २४ पर)

१३. दे० व्यवहार सूत्र ३।१२७.

१४. दे० बृहत्कथाकोष ६४।१७.

१५. दे० कौटिल्य अर्थशास्त्र २७।१।३.

१६. Jainist Studies P. 11

१७. आदिपुराण १६।१७५.

१८. दे० Jainist Studies P. 17.

१९. P. 8.

२०. तिलोयपण्णती ४।१७१.

पचराई और गूडर के महत्त्वपूर्ण जैन लेख

□ कु० उषा जैन एम० ए०, जबलपुर

प्रस्तुत लेख में पचराई और गूडर के दो महत्त्वपूर्ण लेखों का विवरण दिया जा रहा है। पचराई का लेख विक्रम संवत् ११२२ का है और गूडर का मूर्तिलेख विक्रम संवत् १२०६ का है। दोनों ही लेख उन स्थानों की शांतिनाथ प्रतिमाओं से संबंधित हैं। इन लेखों में लम्बकञ्चुक और परपाट अन्वयों का उल्लेख है। गूडर के मूर्तिलेख में किसी राजवंश का उल्लेख नहीं है किन्तु पचराई का लेख प्रतीहार वंश के हरिराज के पौत्र रणपाल के राज्यकाल में लिखा गया था।

पचराई का लेख

यह लेख पचराई के शांतिनाथ मंदिर में है। इसकी लम्बाई साठ सेंटीमीटर और चौड़ाई बीस सेंटीमीटर है। लेख की लिपि नागरी और भाषा संस्कृत है। इसकी आठ पक्तियों में सात श्लोक हैं। अंतिम पक्ति में (विक्रम) संवत् ११२२ का उल्लेख है। प्रथम श्लोक में सोनहरे तीर्थंकर भगवान् शांतिनाथ की स्तुति की गई है और उन्हें चक्रवर्ती तथा रति और मुक्ति दोनों का स्वामी (कामदेव और तीर्थंकर) कहा गया है। द्वितीय श्लोक में श्री कुदकुंद अन्वय के देशी गण में हुए शुभनन्दि आचार्य के शिष्य श्री लीलचन्द्रमूर्ति का उल्लेख है। तृतीय श्लोक में रणपाल के राज्य का उल्लेख है। उसके पिता भीम की तुलना पांडव भीम से की गई है और भीम के पिता हरिराजदेव को हरि (विष्णु) के समान बताया गया है। चतुर्थ श्लोक में परपाट अन्वय के साधु महेश्वर का उल्लेख है, जो महेश्वर (शिव) के समान विख्यात था। उसके पुत्र का नाम बोध था। पञ्चम श्लोक में बताया गया है कि बोध के पुत्र राजन की शुभ कीर्ति जिनेंद्र के समान तीनों भुवनो में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। छठवें श्लोक में उसी अन्वय के दो अन्य गोष्ठिकों का उल्लेख है, जिनमें

से प्रथम पंचमास में और द्वितीय दशमांश में स्थित था। स्पष्ट है कि यहाँ पचराई ग्राम के नाम को संस्कृत भाषा के शब्द में परिवर्तित कर पंचमास लिखा गया है। तत्कालीन कुछ अन्य लेखों में पचराई का तत्कालीन नाम पचलाई मिलता है। सातवें और अंतिम श्लोक में प्रथम गोष्ठिक का नाम जसहड़ था, जो समस्त यशों का निधि था एवं जिन शासन में विख्यात था। अंतिम पक्ति में मङ्गल महाश्री तथा भद्रमस्तु जिनशासनाय उत्कीर्ण है तथा अंत में संवत् ११२२ लिखा हुआ है।

राजा हरिराज बुन्देलखण्ड के प्रतीहार वंश के प्रथम शासक थे। इस वंश का सुप्रसिद्ध गुर्जर-प्रतीहार वंश से क्या संबंध है, यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है। हरिराज के समय का विक्रम संवत् १०५५ का एक शिलालेख चन्देरी के निकट यबोन में प्राप्त हुआ है और उनका विक्रम संवत् १०४० का ताम्रपत्र लेख भारत कला भवन काशी में जमा है। रणपालदेव के समय का विक्रम संवत् ११०० का एक शिलालेख बूढ़ी चन्देरी में मिला है। प्रस्तुत लेख उस नरेश का द्वितीय तिथियुक्त लेख है। पचराई के इस लेख का मूलपाठ निम्न प्रकार है:—

मूल पाठ

१. ॐ (श्री श्री मा (शा) तिनाथो रतिमुक्तिनाथः ।
यम्बकवर्ती भुवनाश्च घस्ते ॥ (१) सोभाग्यरासिध्वरि-
भाग्यरामि स्तान्ने वि
२. भूर्भुव नमा विभूर्भुव ॥ श्रीकूं (कु) दकूं (कु) व
मनान ॥ गणं देमि (शि) के सज्जके । सु (शु)
भनदिगुरा सि (शि) ष्य सूरिः श्रीला—
३. तच्चन्द्रकः ॥ हरी व भूत्या हरिराजदेवो वभूव भीमेश
दि तस्य भीमः । सुतस्तदीयो रणपालनाम ॥

१. ओम् को चिह्न द्वारा अंकित किया गया है।

२. अनावश्यक है।

३. अनावश्यक है।

४. अनावश्यक है।

एतद्विरा—

४. ज्ये कृतिराजनस्य ॥ परपाटान्वये सु (शु) दे साधु-
र्नाम्ना महेस् (६) वरः । महेस् (श) वरेव विख्यातस्त-
त्सुतो वो (वो) ध
५. संज्ञकः । (॥) तत्पुत्रोराजनोज्ञेयः कीर्तिस्तस्ये-
मद्भुता । जिनेदुवस्तुभात्यंतं ।^१ राजते भुवनत्र
६. ये ॥ तस्मिन्नेवाव्यये दित्ये गोष्ठिकावपरी सु (शु)
भी । पंचमांसे (शे) स्थितो ह्येको द्वितीयो द
७. म (श) मांसके ॥ आद्यो जसहृडो ज्ञेयः समस्त जससां
निधिः । भक्तो जिनवरस्त्वायो विख्यातो
८. जिनसा (जा) सने ॥ मङ्गलं महाश्रीः ॥ भद्रमस्तु
जिनशासनाय ॥ W ॥ संवत् ११२२

गूडर का मूर्ति लेख

गूडर, अनियाधाना से दक्षिण में लगभग आठ किलो-मीटर की दूरी पर स्थित छोटा-सा गांव है। यहां के आधुनिक जैन मन्दिर की विपरीत दिशा में एक खेत में तीन विशाल तीर्थंकर मूर्तियां स्थित हैं, जो शांतिनाथ, कुण्डुनाथ और अनयाथ की हैं। इनमें सबसे बड़ी प्रतिमा लगभग नौ फुट ऊंची है। इस प्रतिमा की चरण-चोकी पर विक्रम संवत् १२०६ का लेख उत्कीर्ण है। लेख की लंबाई बीतीस सेंटीमीटर एव चौड़ाई दसकोस सेंटीमीटर है। सात पंक्तियों का लेख नागरी लिपि एवं संस्कृत भाषा में है।

लेख के प्रारंभ में श्री शांतिनाथ की स्तुति की गई है। आगे बताया गया है कि (विक्रम) संवत् १२०६ में आषाढ बदि नवमी बुधवार को, लम्बकञ्चुक अन्वय के सामे श्रीर घर्मदेव के पिता रत्ने ने पञ्चमहाकल्याणक महोत्सव का आयोजन कर शांतिनाथ, कुण्डुनाथ और

अनयाथ (रत्नत्रय) की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई और वे प्रतिदिन उनकी भक्तिपूर्वक पूजा करते थे। इन मूर्तियों की प्रतिष्ठा कर्मों के क्षय हेतु कराई गई थी। रत्ने की पत्नी का नाम गल्हा था। रत्ने के पिता सूपट थे, वे मुनियों के सेवक थे, सम्यक्त्व प्राप्त थे, तथा चतुर्विधदान दिया करते थे। सूपट के पिता का नाम गुणचन्द्र था और वे लम्बकञ्चुक (आधुनिक लमेचु) अन्वय के थे। इस लेख का मूल पाठ निम्न प्रकार है:—

मूलपाठ

१. ——— ॥ जीयात्सी (श्री) सा (शा)तिः ———
पस्सघातघातकः । ——— द्रतिर ———
२. — पदद्वयः ॥ संवत् १२०६ ॥ आषाढ व (ब) दि
नवम्यां बु (बु) धे । श्रीमत्संव (ब) कञ्चुकाव्यय —
३. साधुगुणचद्र तत्सुतः साधुसूपट जिनमुनिपाद प्रणतो
(त्तो)तमागः । सम्यक्त्वर —
४. त्नाकरः चतुर्विधदानचितामणिस्तत्पुत्रसाधुरत्ने सति
(ती) त्व व्रतोपेत (ता) तस्य भा —
५. र्मा गल्हा तयो पुत्री मामेधर्मतेदेवो (वी) । तेन विसि
(शि) ष्टतर पुण्या (ण्या) वाप्तो (प्तये) निज —
६. कम्म (म्मं) क्षयार्थं च पंचमहाकल्याणोपेतं देवश्रीसां
(शां) तिकुयं अनयाथरत्न
७. त्रयं प्रतिष्ठापित तथाऽह्निंसं (शं) पादो प्रणमत्युत्त
माणेन भक्त्याः (त्या) । □ ॥

उपर्युक्त लेखों के अलावा अन्य कई लेख पत्थराई में उपलब्ध हैं, जिनमें देशीगण के पंडिताचार्य श्री श्रुतकीर्ति के शिष्य आचार्य शुभनन्दि और उनके शिष्य श्री लीलचन्दसूरि आदि के उल्लेख मिलते हैं।

२३५५/१, राइटटाउन, जबलपुर-२ (मध्य प्रदेश)

आगम सूत्रों की कथाएं इतिहास नहीं हैं ।

□ श्री श्रीचन्द्र गोलेछा

‘अनेकान्त’ वर्ष ३२ किरण ३-४ जुलाई-दिसम्बर, १९७६ के अंक में डा० देवसहाय त्रिवेद का ‘बुद्ध और महावीर’ लेख प्रकाशित हुआ है । उसमें जैन और बौद्ध साहित्य में आगत कथाओं में व्यक्तियों के नाम, गोत्र, राजधानी, युद्ध आदि के वर्णन कर मिलान किया है और उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया गया है कि इस वर्णन में विसंगति है अतः दोनों आचार्य बुद्ध और महावीर एक समय नहीं हुए ।

किन्तु उपयुक्त आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं क्योंकि जैन साहित्य में वर्णित कथाएं इतिहास नहीं हैं ये भाव कथाएं हैं, इन कथाओं में उल्लिखित नाम, गोत्र, राजधानी, माता-पिताओं के नाम भी जातिवाचक या व्यक्तिवाचक सजाएँ न होकर गुणवाचक-भाववाचक सजाएँ हैं । उदाहरण के रूप में गौशालक की कथा में प्रयुक्त सर्वानुभूति, सुदर्शन, सिंह अणगर, हालाहाला, का लिया जा सकता है । यह कथाएं कर्म सिद्धान्त से संबंधित नियमों व साधकों के जीवन से सम्बन्धित आन्तरिक स्थितियों का रूपकात्मक व प्रतीकात्मक वर्णन हैं । यदि इन कथाओं को रूपकेन समझा जावे तो समाज में बहु मान्यताप्राप्त भगवती सूत्र में आये हुए कथानक, घोड़ा खूं खूं क्यों करता है, दिशा क्या है, सूर्य क्या है, शालि वृक्ष किस गति में जायेगा आदि अनेक प्रश्नोंत्तर ऐसे हैं जिनका श्री महावीर व गौतम स्वामी के नाम के साथ जोड़ना अटपटा लगता है । ऐसे ही शिलाकण्टक संग्राम में हाथी और घोड़ों के नरक में जाने की बात किसी भी प्रकार बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकती ।

इसी तरह उपासक दशांग में देवों द्वारा साधकों को दिया गया उपसर्ग और अनुत्तरोपपातिक में वर्णित श्रेणिकके सभी पुत्रों की दीक्षा पर्याय और अनशन पर्याय २-३ समान-काल में वंशी होना ऐतिहासिक रूप में बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकती । यहीं यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि उपासक दशांग सूत्र का देव ‘देव है, पूर्वकर्मोदय का द्योतक है’ अनुत्तरोपातिक का श्रेणिक, श्रेणिक करण करने वाला साधक है न कि श्रेणिक नाम का कोई व्यक्ति ।

जम्बू द्वीप प्रज्जप्ति में भी कथित पर्वत, नदी, कुण्ड,

चैत्य, दो सूर्य, दो चन्द्र आदि का वर्णन आज भूगोल के साधारण विद्यार्थी के गले नहीं उतरता । वास्तव में यह भी सब साधक के जीवन से सम्बन्धित आध्यात्मिक स्थितियों के प्रतीक हैं ।

यही सब कारण है जो हमें ऐतिहासिक व भौगोलिक दृष्टि छोड़कर दूसरी दृष्टि से विचार करने को बाध्य करते हैं ।

अभी तक विद्वद्गण पूर्व से चली आ रही परम्परा व धारणा के बहाव में बहते हुए व पश्चिमी विद्वानों का अनुकरण करते हुए शास्त्रों में आगत कथाओं को ऐतिहासिक मानकर इनकी संगति बैठाने में लगे रहे । इस बात पर विचार ही नहीं किया कि ये आध्यात्मिक साधना परक तथ्यों व कर्म सिद्धान्त की प्रतीक भी हो सकती हैं । उन्होंने इस ओर भी ध्यान नहीं दिया कि नन्दी सूत्र में आगमों को शाश्वत कहा है तथा जिनभद्रगणि ने भी आगमों को शाश्वत सत्य कहा है । ऐतिहासिक घटनाएँ शाश्वत हो नहीं सकती हैं, प्राकृतिक नियम ही शाश्वत हो सकते हैं । इस ओर ध्यान न देने के कारण ही संगति नहीं बैठ पाई और अनेक भ्रान्तिर्या उत्पन्न हुई हैं ।

पूर्वाचार्यों ने टीकाओं में इन कथाओं का भावात्मक निरूपण नहीं किया । इसका कारण कुछ भी रहा हो किन्तु यह तो निश्चित ही है कि श्वेताम्बर मूल ग्रंथ सूत्रों की कथाओं में कर्म सिद्धान्त व साधना की प्रक्रिया के जीवन को प्रेरणा देने वाले सिद्धान्त—सम्मत व बुद्धिग्राह्य अर्थ प्रकट होते हैं । वास्तविकता तो यह है कि कर्मसिद्धान्त सीधे शब्दों में समझ सकना सरल न था अतः उन्हें दृश्यमान जगत के आश्रय से प्रतीकात्मक सांकेतिक भाषा द्वारा प्रस्तुत किया ताकि अन्य साधक भी उन्हें समझ सकें ।

इस शैली में जैन धर्म के और भी अनेक ग्रन्थ रचे हुए हैं ।

सिद्धिषि का उपमिति भव प्रपञ्च कथा ऐसा ही एक ग्रंथ है जिसमें उपन्यास के रूप में अनेक उपाख्यानों द्वारा जैन दर्शन का सुन्दर वर्णन किया गया है । समयसार नाटक भी इसी प्रकार का ग्रन्थ है ।

पौराणिक कथाएं भी इसी शैली में लिखी गई हैं ।

(शेष पृष्ठ २४ पर)

जैन दर्शन का अनेकान्तवाद

□ डा० रामनन्दन मिश्र

(१)

प्रत्येक दर्शन के प्रवर्तक की एक विशेष दृष्टि होती है जैसी भगवान् बुद्ध की मध्यम-मार्ग दृष्टि, शंकराचार्य की अद्वैतदृष्टि, रामानुजाचार्य की त्रिशिष्टाद्वैत दृष्टि, आदि। जैनदर्शन के प्रवर्तक महापुरुषों की भी उसके मूल में एक विशेष दृष्टि रही है। उसे ही अनेकान्तवाद कहते हैं। जैनदर्शन का समस्त आचार-विचार अनेकान्तवाद पर आधारित है। इसी से जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन कहलाता है और अनेकान्तवाद तथा जैन दर्शन शब्द परस्पर में पर्यायवाची जैसे हो गये हैं। वस्तु सत् ही है या असत् ही है या नित्य ही है, अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार की मान्यता की एकान्त कहते हैं और उसका निराकरण करके वस्तु को अपेक्षा-भेद से सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि मानना अनेकान्त है। अन्य दर्शनों ने किसी को नित्य और किसी को अनित्य माना है। किन्तु जैनदर्शन की मान्यता है कि द्रव्यद्रष्टि से प्रत्येक वस्तु नित्य है और पर्याय द्रष्टि से अनित्य है। मल्लिषेण ने लिखा है ---

‘आदीपमाव्योमसमस्वभावः स्याद्वादमुद्रानतिभेदिवस्तु ।
तन्निव्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषयताप्रलापाः ॥’

अर्थात् दीपक से लेकर आकाश तक सभी द्रव्य एक स्वभाव वाले हैं। यह बात नहीं है कि आकाश नित्य हो और दीपक अनित्य। प्रत्येक वस्तु नित्य तथा अनित्य दोनों है। वह द्रव्यद्रष्टि से नित्य है तथा पर्याय दृष्टि से अनित्य। कोई भी बात इस स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करती क्योंकि सब पर स्याद्वाद या अनेकान्त स्वभाव की छाप लगी हुई है। जिन-आज्ञा के द्वेषी ही ऐसा कहते हैं कि अमृक वस्तु केवल नित्य ही है और अमृक केवल अनित्य ही है।

(२)

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का एक मौलिक सिद्धान्त है। जैन दर्शन वस्तुवादी तथा सापेक्षवादी अनेकवाद है। इसे अनेकान्तवाद या यथार्थता की अनेकता का सिद्धान्त

कहते हैं। पुद्गल (जड़) तथा जीव (आत्मा) अलग-अलग और स्वतंत्र तथा निरपेक्ष तथ्य हैं। प्रत्येक परमाणु तथा प्रत्येक आत्मा के असंख्य पक्ष हैं। अनेकान्तवाद की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तघर्मक होती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करने पर मालूम होता है कि एक ही वस्तु के अनेक घर्म हैं। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हरिभद्र ने लिखा है —“अनन्त घर्मक वस्तु”।^१ वस्तु अनेकान्तात्मक है। अन्त कहते हैं अश या धर्म को। जैन दर्शन की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु अनेक घर्मोत्पन्न या अनेक घर्मवाली है। प्रत्येक वस्तु अनेक घर्मों का समूह है। प्रत्येक वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व है। इसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य वह है जिसमें गुण और पर्याय हैं। उमा स्वामि ने द्रव्य की परिभाषा इस प्रकार की है—“गुण पर्यायवद् द्रव्यम्”।^२ वस्तु न सर्वथा सत् ही है और न सर्वथा असत् ही है, न वह सर्वथा नित्य ही है और न वह सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षा से असत् है किसी अपेक्षा से नित्य है तो किसी अपेक्षा से अनित्य है। अतः सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि एकान्तों का त्याग करके वस्तु का कथञ्चित् सत् कथञ्चित् असत्, कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य आदि रूप होना अनेकान्त है—“सदसन्नित्यानित्यादि—सर्वथैकान्त प्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः”।^३ इस तरह अनेकान्तवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु परस्पर में विशद प्रतीत होने वाले सापेक्ष अनेक घर्मों का समूह है।

(३)

भगवान् महावीर एक परम अहिंसावादी महापुरुष थे। अहिंसा की सर्वांगीण प्रतिष्ठा—मनसा, वाचा तथा कर्माणा, वस्तु स्वरूप के यथार्थदर्शन के लिए सम्भव न थी। उन्होंने विश्व के तत्त्वों का साक्षात्कार किया और बताया कि विश्व का प्रत्येक चेतन और अजडतत्त्व अनन्त घर्मों का समूह है। उसके विराट् स्वरूप को साधारण मानव पूर्ण रूप में नहीं जान सकता। वह वस्तु के एक-

१. मल्लिषेणः स्याद्वादमंजरी, स्लोक ५।

२. हरिभद्रः षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ५५।

३. उमास्वामिः तत्त्वार्थसूत्र, ५/३८।

४. अष्टशती—अष्टसहस्री के अन्तर्गत, पृ० २८३।

एक अंश को जानता है। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मों का प्रखण्ड पिण्ड है। वह नित्य भी है और अनित्य भी। वह अपनी अनादि अनन्त सन्तान स्थिति की दृष्टि से नित्य है। किन्तु उसकी पर्यायें प्रतिक्षण में बदल रही हैं अनन्त, वह अनित्य भी है। भगवान् बुद्ध की तरह भगवान् महावीर ने आत्मा के नित्यत्व-अनित्यत्व आदि प्रश्नों की अव्याकृत कह कर बौद्धिक निराशा की सृष्टि नहीं की बल्कि उन्होंने सभी सत्त्वों का यथार्थ-स्वरूप बताकर शिष्यों को प्रकाशित किया। उन्होंने बताया कि वस्तु को हम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हैं, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें ऐसे अनन्त दृष्टि कोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। हमें जो दृष्टिकोण विरोधों मालूम पड़ता है उसका विषयभूत धर्म भी वस्तु में विद्यमान है। किन्तु वस्तु की सीमा और मर्यादा का उलघन नहीं होना चाहिए। यदि हम जड़ में चेतनत्व खोजें या चेतन में जड़त्व, तो वह नहीं मिल सकता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने निजी धर्म सुनिश्चित हैं। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है न कि सर्वधर्मात्मक। अनन्त धर्मों में चेतन के सम्भव अनन्त धर्म चेतन में मिलेंगे और अचेतनगत अनन्तधर्म अचेतन में। चेतन के धर्म अचेतन में नहीं पाये जा सकते और न अचेतन के धर्म चेतन में। कुछ ऐसे सादृश्यमूलक वस्तुत्व आदि सामान्य धर्म हैं जो चेतन और अचेतन में पाये जा सकते हैं किन्तु सबकी भत्ता भलग-भलग है।

इस तरह जैन दर्शन के अनुसार वस्तु इतनी विराट है कि अनन्त दृष्टि कोणों से देखी और जानी जा सकती है। एक विशिष्ट दृष्टि का आग्रह करके दूसरे की दृष्टि का तिरस्कार करना वस्तु-स्वरूप के अज्ञान का परिणाम है। मानसममता के लिए इस प्रकार का वस्तु स्थितिमूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान आवश्यक है। इस अनेकान्त दर्शन से विचारों या दृष्टि कोणों में वस्तु स्वरूप के आधार से यथार्थ तत्त्वज्ञानमूलक समन्वय दृष्टि प्राप्त होती है। वही समुचित दृष्टि है। समुचित विरोधयुक्त दृष्टि अनुचित दृष्टि है; यह स्वल्पज्ञान का सूचक है। व्यापक या समन्वय दृष्टि ही समुचित दृष्टि है। अनेकान्त दर्शन

पर आधारित समन्वय दृष्टि ही समुचित परिष्कृत दृष्टि है। यथार्थ ज्ञान का परिणाम है।

(४)

जैनाचार्य वस्तु की अनेक धर्मकता को सूचित करने के लिए 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता बतलाते हैं। शब्दों में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह वस्तु के पूर्ण रूप को युगपत् कह सके। वह एक समय में एक ही धर्म को कह सकता है। अतः उसी समय वस्तु में विद्यमान शेष धर्मों को सूचित करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस सिद्धान्त को 'स्याद्वाद' कहते हैं। 'स्याद्वाद' में 'स्यात्' शब्द अनेकान्त रूप अर्थ का वाचक अव्यय है। अनएव स्याद्वाद का अर्थ अनेकान्तवाद कहा जाता है। यह स्याद्वाद जैन दर्शन की विशेषता है। इसीसे समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—'रयाच्छब्दस्तावके न्याय नान्येषामात्मविद्विषाम्'। 'अथात् स्यात्' शब्द केवल जैन न्याय में है, अन्य एकान्तवादी दर्शनों में नहीं है। अनेकान्त दर्शन का ठीक-ठीक प्रतिपादन करने वाली भाषा शंली का स्याद्वाद कहते हैं। 'स्याद्वाद' भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जो वस्तुतत्त्व का सम्यक् प्रतिपादन करती है। 'स्यात्' शब्द प्रत्येक वाक्य के सापेक्ष होने की सूचना देता है।

अनेकान्तवाद के दो फलिनवाद हैं—स्याद्वाद तथा नयवाद। सर्वज्ञ या केवली केवल-ज्ञान द्वारा वस्तुओं के अनन्त धर्मों का अररोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। किन्तु साधारण मनुष्य किसी वस्तु को किसी समय एक ही दृष्टि से देख सकता है। इसलिए उस समय वह वस्तु का एक ही धर्म जान सकता है। वस्तुओं के इस प्राथमिक ज्ञान को जैन दर्शन में 'नय' कहा गया है। सिद्धसेन ने लिखा है—'एक देश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः।' इस प्राथमिक ज्ञान के आधार पर जा परामर्श होता है। उसे भी 'नय' कहते हैं। किसी भी विषय के सम्बन्ध में जो हमारा परामर्श होता है वह सभी दृष्टियों से सत्य नहीं होता। उसकी सत्यता उसके 'नय' पर निर्भर करती है। अर्थात् जिस दृष्टि से किसी विषय का परामर्श होता है, उसकी सत्यता उसी दृष्टि पर निर्भर करती है। जैन दर्शन के इस सिद्धान्त को नयवाद कहते हैं। अथ मनुष्यों तथा हाथों की प्रसिद्ध

क्या इस बात का संकेत करती है कि हम दृष्टि-भेद भूल कर अपने विचारों को सर्वथा सत्य मानने लगते हैं। एक अघा हाथी का पैर, दूसरा कान, तीसरा पूँछ और चौथा सँड पकड़ता है। उनमें हाथी के आकार के सम्बन्ध में पूरा मत भेद हो जाता है। प्रत्येक अघा सोचता है कि उसी का ज्ञान ठीक है और दूसरे का गलत। किन्तु जैसे-ही उन्हें यह बताया जाता है कि प्रत्येक ने हाथी का एक-एक अंग ही स्पर्श किया है, उनका मत भेद दूर हो जाता है। दार्शनिकों के बीच भी मतभेद इसीलिए होता है। कि वे किसी विषय का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से आँकते हैं। इसी कारण भिन्न-भिन्न दर्शनों में ससार के भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। जिस तरह प्रत्येक अघे का हाथी-सम्बन्धी ज्ञान उसके अपने ढंग से बिल्कुल ठीक है उसी तरह भिन्न-भिन्न दार्शनिक मत अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हो सकते हैं। दृष्टिसाम्य होने पर मत भेद की सम्भावना नहीं रह जाती है।

अतः जैन दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्येक नम के प्रारम्भ में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। स्यात् शब्द से संकेत मिलता है कि उसके साथ के प्रमुख वाक्य की सत्यता प्रसंग-विशेष पर ही निर्भर करती है। अन्य प्रसंगों में वह मिथ्या भी हो सकता है। किसी घड़े को देख कर यदि हम कहे—'घड़ा है'—तो इससे अनेक प्रकार का भ्रान्त ज्ञान हो सकता है। लेकिन यदि हम कहें—'स्यात् घड़ा है'—तो इससे यह ज्ञात होगा कि घड़े का अस्तित्व काल-विशेष, स्थान-विशेष तथा गुण-विशेष के अनुसार है। स्यात् शब्द से यह भ्रम नहीं होगा कि घड़ा नित्य है, तथा सर्वव्यापी है। साथ-साथ हमें यह भी संकेत मिलेगा कि किसी विशेष रंग तथा रूप का घड़ा किसी विशेष काल और स्थान में है। जैन दर्शन का यह सिद्धान्त स्याद्वाद कहलाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनेकान्तवाद समुचित दृष्टि का परिष्कृत स्वरूप है। □□□

(पृष्ठ २१ का शेषांश)

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान श्री वासुदेव शरण का कथन इस प्रकार है— 'विश्व रचना के मूलभूत नियम ही वेदों की प्रतीकात्मक भाषा में कहे गये हैं। इन्द्र और वृक्ष किसी इतिहास विशेष के प्राणी नहीं हैं वे तो विश्व की प्राणमयी और भूतमयी रचना के दृष्टान्त ही हैं'।

विद्वानों से निवेदन है कि शब्दों की व्युत्पत्ति और निर्युक्तियों पर ध्यान रखते हुए इस विचारधारा से भी

आगमों की कथाओं पर विचार करें और वास्तविक व बुद्धिग्राह्य अर्थ प्रकट करने का प्रयत्न करें जिससे नई पीढ़ी के लोगों को सन्तोष हो और उनका आगम पर विश्वास हो। यदि ऐसा नहीं किया गया तो वैज्ञानिक युग में आगम सूत्र प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण के विरोधी कपोलकल्पित ग्रन्थ मात्र रह जायेंगे और लोग उनमें वर्णित अपूर्व सत्य ज्ञान से वंचित रह जायेंगे। □□□

(पृष्ठ १८ का शेषांश)

कृत सर्वाटविकराण्यस्य' उल्लेख से होता है, जिसके आधार पर डा० फ्लीट ने मध्य भारत को (जिसमें विन्ध्य प्रदेश भी सम्मिलित है), घाटविक राज्य माना है। आर्यावर्त एवं दक्षिण विजय के बाद दोनों के बीच आवागमन की सुविधा के लिए समुद्रगुप्त (विक्रम की पूर्वी सदी का प्रारम्भ) ने घाटविक राज्यों को जीता था।^{१०}

वर्तमान विन्ध्य प्रदेश का अपर नाम डाहल^{११} या डमाल^{१२} भी मिलता है। परित्राजक हस्ती के ताम्रपत्र में डमाल राज्य को १८ घाटविक राज्यों में सम्मिलित माना गया है।^{१३}

तिलोपपण्णत्ती के अनुसार विजयाद्वंद्व प्रदेश की विशेष पैदावार यवनाल (जुवार) बल्ल, तुवर (अरहर), तिल जौ, गेहूँ और उड़द है।

यथा—जमणाल बल्ल तुवरी तिल जव घूममास पडुदीहि।

सव्वेहि सुधण्णिहि पुराड सोहति भूमोहि ॥ ४।१३३
वर्तमान विन्ध्य प्रदेश की भी मुख्य पैदावार उक्त अनाजों की ही है।^{१४}

उक्त भौगोलिक तथ्यों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि वर्तमान विन्ध्य प्रदेश तिलोपपण्णत्ती काल में विजयाद्वंद्व के नाम से भी प्रसिद्ध था।

महाजन टोली नं० २, आरा (बिहार)

२१. अभिलेखमाला—[समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भलेख]
पृ० ६६.

२२. Political History of Northern India (G.C.

Chandhury) P. 252.

२३. अभिलेखमाला पृ० ८५.

२४. वही.

हुं बड जैन जाति की उत्पत्ति एवं प्राचीन जन गणना

□ श्री अग्रचन्द नाहटा, बीकानेर

जैनधर्म मूलतः जातिवाद को नहीं मानता। भ० महावीर के समय सभी वर्ण और जाति वाले धर्मानुयायी थे, यह प्राचीन जैन धर्मग्रंथों से भलीभांति विदित है। पर मार्ग चलकर एक घर में परिवार के लोग कई धर्मों के मानने वाले होने से खान-पान, व्यवहार में बड़ी अड़चनें पड़ने लगीं। घर का कोई व्यक्ति मांसाहारी है तो शाकाहारी के साथ निभाव नहीं हो सकता। एक वैदिक धर्म को मानता है, दूसरा बौद्ध और तीसरा जैन धर्म को। तो उनके देवगुरु और धर्म तांतो की मान्यताओं में अन्तर होने से परस्पर में विवाद-वैमनस्य हुए बिना नहीं रहेगा। अतः जैनधर्मीयों ने युग की माग व दिव्य दीर्घ दृष्टि से जैन धर्म को मानने वाले सब जैनी हैं, स्वधर्मी भाई हैं, उनके खान-पान और रीति-रिवाज के व्यवहार में कोई भेदभाव या अलगव्यवस्था नहीं रहना चाहिए। चाहे वे किसी वर्ण या जाति के हों। इस तरह का जाति और धार्मिक संगठन बनाया। इससे बहुत बड़ा लाभ हुआ। आचार-विचार में एक मूर्तता आई, भाई चारे का भाव और व्यवहार पुष्ट हुआ। परिवार में सभी एक धर्म के मानने वाले होने से बहुत सी अड़चनें मिट गयीं।

बहुत से जातियों के नाम स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हुए मुख्य आजीविका खेती और व्यापारी हो जाने से वैश्य वर्ण वाले बन। चाहे पहले वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र कोई भी रहे हों। एक स्थान वाले जब व्यापार आदि के लिए दूसरे स्थानों में गये, तो उन्हें उनके मूल निवास-स्थान के निवासी के रूप में उन स्थानों के नाम से बतलाने व पहचानने लगे। जैसे ओसियाँ से जो व्यक्ति अन्यत्र गये, वे ओसवाल के नाम से प्रसिद्ध हो गये। खण्डेल के मूल निवासी खण्डेलवाल, पाली के पल्लीवाल, अग्रोवा से अग्रवाल, इस तरह ८४ जातियाँ प्रसिद्धि में आयीं।

जैनधर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं, श्वे० और दिगम्बर जिस सम्प्रदाय के आचार्यों और विद्वानों ने जहाँ के क्षेत्रियों आदि को प्रतिबोध देकर जैनी बनाया, वे उस सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। संयोगवश दूसरे सम्प्रदाय वाले के संग या प्रभाव से कई जातियों वाले जो मूल

श्वे० थे, वे दिगम्बर बन गये और दिगम्बर से श्वेताम्बर बन गये। इस तरह पल्लीवाल आदि कई जातियों के योग दोनों सम्प्रदायों के अनुयायी अब भी पाए जाते हैं।

जैन जातियों में हुं बड जाति भी एक है। जो दोनों सम्प्रदायों के अनुयायी है। इस जाति की उत्पत्ति कब, कहाँ, किसके द्वारा हुई। इस सम्बन्ध में कोई प्राचीन प्रमाण नहीं मिला। पर मुक्त स० २००३ में खतरगच्छ के जिनरत्नसूरि जी के प्रतापगढ में लिखा हुआ एक पत्र मिला। जो उन्होंने हुं बड पुराण नामक किसी ग्रन्थ का आवश्यक अंश नकल कर लिया भेजा था। हुं बड पुराण कब किमन लिखा पता नहीं। अतः उनकी खोज करके उसमें और क्या-क्या बातें लिखी हुई हैं? उन्हें भी प्रकाश में लाना चाहिए। प्राप्त पत्र के अनुसार इस जाति की उत्पत्ति स० ८२० में धनेश्वर सूरि के प्रतिबोध से हुई और स० ११२१ में जिनवल्लभगणि ने पुनः प्रतिबोध दिया है। लिखित पत्र की नकल दम प्रकार है :—

“हुं बड वर्णिक जाति उत्पत्ति संक्षेपे लिख्यते”

“पूर्व कोई ग्रामे जैत्यावागी संघे धनेश्वरने सूरिपद गुरु पास थे। अणव्यो, ते स्वतंत्र रहै, गुरुविमुखोया। आखर गुरु ए निज सघ कबजे करी धनेश्वर अणाबार कयों, भवच्छदपणे विचरणा लागा। इम समे ८२० भिन्नमानवासी क्षेत्री दो भाई परस्पर वैमनस्य थो लड़वा लागा। प्रतापसिंह १ भाणसिंह नाम रखायतनो ने भोटो हतो, कब्जा ने घड़ी मूतपतिसिंह हायों, निज लस्कर लई पाटण पोतो, भाणसिंहनी, आराचेल मारीए मपतसिंह नो लस्कर पोड़ित करयो। ए समय वि० ८२० धनेश्वर सूरि पारण मा भूपतसिंह पास उपाश्रय माग्यु। भूपतसिंह निज कामे आपि, लस्कर मारी नो उपाश्रय दूर करवा धनेश्वर ते जाताया स्वार्थेहा भणी, क्षेत्रजा उपर ना सूरज-कुण्ड नो जल तथा रायण ना पता थो मागी निवारी २७ हजार जाप करी ते मभवानी आवक कर्या। क्षेत्री ब्राह्मण मनी १८ हजार जैन धर्म मा दाखिल करया। भूपतसिंह और ये हमारी जानि स्यापी, ह्यारे धनेश्वरे निज मान रहो हुं बडो, हुं बड जाति स्यापि। गुरु ने खबरि पड़ो न सघ

मां लिखा। चैत्य वास खुली थयी। पाछल थी घनेश्वर
संभात मांज स्थीर वास रह्या।

हुंबड जाति आजीवीकार्ये भिन्न भिन्न जगहाए गया।
मेवाड़, बागड़, गुजरात आदि अनेक राज्यों मा पूर्व
दीवीयो ने भोम देता, तेनभेत्यो देवी कोपी, घणा नष्ट
थया, शेष हीना चारी थया। नाथरा प्रमुख थी भ्रष्ट
थया।

ए समए ११२१ जिनवल्लभ गणि ना सद्धं शिष्य
पाछा प्रतिबोधि जैन धर्म स्थिरकरिया तथा घनेश्वर सूरि
ना पाछला चायों ए संभाल लीधी। ५ हजार स्व श्रावक
कर्या। से मांघी पण बाकी दिगम्बरो ए स्व धर्म दाखिल
कर्या, जै थी थोड़ा श्वे० छे।

दशा बीसा थया वस्नुपाल तेजपाल न संगे। इति
लेखन प्रकाशित वी २००३ प्रतापगढ़े लि० हुंबड पुराण
थी जैन रत्न सूरिणा।

“पत्र एक अभय जैन ग्रंथालय प्रति नम्बर ७७७०”

घनेश्वर सूरि नाम के तो कई आचार्य हो गये हैं।
अतः सं० ८२० वाले किम गच्छ के किमके शिष्य थ ?
नहीं कहा जा सकता पर ११२१ वाले जिनवल्लभ गणि
तो नवाग वृत्तिकार “अभयदेव सूरि” के पट्टघर थे और
खरतरगच्छ परम्परा के प्रसिद्ध विद्वान हुए हैं। हुंबड
जाति सम्बन्धी और किसी को जो भी विवरण ज्ञात हो,
प्रकाश मे लायें।

हुंबड जाति वाले दिग० भाई गुजरात आदि मे काफी
बसते हैं। डूंगरपुर आदि मे कुछ हुंबड के घर श्वे० आदि
के भी हैं। हुंबड जाति के कुछ ग्रंथकार भी हुए हैं।
जिनमे से भक्तामर वृत्ति की प्रशस्ति रत्नचन्द्र या राय-
मल की नीचे एक दी जा रही है :—

‘सकलन्दोगुरो भानुः, जस्यै तिवणिनः मनः।

पादस्नेहन सिद्धेय, वृत्तिसारसमुच्चया ॥३॥

चक्र वृत्तिमिमां सन्वस्य नितरा नत्वाऽयं वादीन्दुकम् ॥५॥

सप्तपृष्पयन्ति ते वर्षे, षोडशास्थे हि सवते।

आषाढे श्वेतपक्षस्य पञ्चमया बुधवारके ॥६॥

ग्रीवापुरे मन्नासिहो—सत्पू (१) भागं समाश्रिते।

प्रोतुङ्गा दुर्गं सयुक्ते, श्री चन्द्रप्रभसधनि ॥७॥

वणिनः कर्मसीनाम्नो, वचनाम्य काऽरचि।

भक्तामरस्य सद्बुद्धी, रत्नचन्द्रेण सूरिणा ॥८॥

कथा रूपीकृतं चेदं, भक्तामर प्ररूपणम्।

श्लोका सहस्रमिदं, रत्नचन्द्रेण जल्पितम् ॥९॥

भक्तामर की यही टीका ब्र० रायमलकृत भी मानी
जाती है। इस टीका का सार ‘भक्तामरकथा’ के नाम की
श्री उदयलाल जैन ने हिन्दी साहित्य कार्यालय बम्बई से
सन् १९१४ मे प्रकाशित करवाया था। उसमे इस टीका
की प्रशस्ति का हिन्दी में सार इस प्रकार दिया है :—

‘जैसे कि प्रेमवश हो, मैंने यह श्रेष्ठ और संक्षिप्त
भक्तामर की कथा लिखी है।

श्री हुंबड वंशतिलक मह्यनाम के एक अच्छे धनी हुए
हैं। उनकी विदुषी भार्या का नाम चम्पा बाई था। वे
बड़ी धर्मात्मा और श्रावकव्रत की धारक थीं। उनके पुत्र
जिनचरणकमल के भ्रमरपूर्ण जिनभक्त, मुक्त रायमल्ल ने
वादिचन्द्र मुनि को नमस्कार कर उनकी कृपा से, यह भक्ता-
मर की छोटी सी पर मरल और सुबोध कथा लिखी है।

ग्रीवापुर मे एक मही नाम की नदी है। उसके किनारे
पर चन्द्रप्रभ भगवान् वा बहुत विशाल मन्दिर हैं। उसमें
एक ब्रह्मचारी रहते हैं। उनका नाम है कर्मसी। उन्होंने
मुझे भक्तामर की कथा लिख देने को कहा, उनके अनुरोध
से मैंने यह कथा लिखी है।

यह कथा के पूर्ण करने का सं० १६६७ और दिन
आसाढ़ सुदी ५ बुधवार था।

हुंबड जाति के सबसे बड़े कवि ब्र० जिनदास हैं और
उनके भ्राता सकलकीर्ति भट्टारक भी अच्छे विद्वान थे।

जनगणना—सन् १९१४ में प्रकाशित भारतवर्षीय
दिग० जैन डायरेक्टरी के पृष्ठ १४२० के अनुसार दशा
हुंबड मध्यप्रदेश मे ४५, राजपूताना मालवा में १०६४५,
बंगाल बिहार में ३, गुजरात महाराष्ट्र में ७३६२ कुल
जनगणना १८०७६ और बीसा हुंबड राजस्थान मालवा
८४६, गुजरात महाराष्ट्र में १७०६ कुल २५५५ जन
संख्या थी। अर्थात् कुल २०६३४ जनसंख्या थी। इस
जाति के विशिष्ट व्यक्तियों और महत्त्व का इतिहास
प्रकाश में आना चाहिए।

जैन जातियों में एक-एकजाति के हजारों-लाखों व्यक्ति
(शेष पृ० ३२ पर)

सीता-जन्म के विविध-कथानक

□ श्री गणेशनप्रसाद जैन, वाराणसी

भारतीय वाङ्मय में 'सीता' का प्रमुख-स्थान है, किन्तु उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रतिप्राचीन काल से बहुत अधिक विवाद है।

वैदिक-साहित्य में हमें दो भिन्न 'सीताओं' का विवरण प्राप्त होता है, जिनका उल्लेख ऋग्वेद से लेकर सम्पूर्ण वैदिक साहित्य-में बिखरा हुआ है। 'लागल-पद्धति' की चर्चा तो अनेक स्थानों पर है ही; किन्तु उनमें सीता का मनुष्य रूप में चित्रण नहीं किया गया है। 'ऋग्वेद' से लेकर 'गृह्यसूत्रों' तक 'सीता' सम्बन्धी सामग्री का अध्ययन कर हम निःसंकोच कह सकते हैं कि 'सीता' का व्यक्तित्व शताब्दियों तक कृषि करनेवाले ग्राम्यों की धार्मिक चेतना में जीता रहा।

'ऋग्वेद' का सूक्त प्रायः एक ही देवता से सम्बन्ध रखता है, किन्तु जिस सूक्त में 'सीता' का उल्लेख है, उसमें कृषि सम्बन्धी अनेक देवताओं से प्रार्थना की जाती है। बहुत सम्भव है कि प्रार्थनायें अनेक स्वतन्त्र-मन्त्रों का अवशेष हों जो किसी एक सूत्र में सकलित हो जाने के पश्चात् चोथे मण्डल के अन्तर्गत रख गयी हो। उक्त छठे मण्डल के सातवें छन्द में देवी सीता की प्रार्थना की गयी है :—

॥ हे सीमागवती (कृपादृष्टि में) हमारी और उन्मूढ हो। हे सीते। तेरी हम वन्दना करने है, जिसमें तू हमारे लिये सुन्दर फल और धन देनेवाली होवे ॥ (६) ॥

'इन्द्र' सीता को ग्रहण करे, पूषा (सूर्य) उसका संचालन करे। वह पानी से भरी (सीता) प्रत्येक वर्ष हमें (धान्य) प्रदान करती रहे ॥ (७) ॥

ऋग्वेदीय (तीनों) सूक्तों में भी 'कृषि कर्मारिप' परिच्छेद के अन्तर्गत उक्त सूक्तों का उल्लेख हुआ है। 'सीता' के नाम को दूसरी प्रार्थना वैदिक साहित्य में मिलती है वह 'सीता पुजति' मन्त्र का अंश है। यह मन्त्र यजुर्वेदीय-संहिताओं में भी है और अथर्ववेद में भी।

वैदिक साहित्य में जिन देवताओं का उल्लेख है, वे अधिकतर प्रकृति देवता हैं अर्थात् प्रभावशाली प्राकृतिक-शक्तियों में देवताओं के स्वरूप की कल्पना कर ली गयी

है। इनके कार्य-क्षेत्रों के अनुसार ये तीन वर्गों में विभाजित हैं १. ध्रुलोक के, २. अन्तरिक्ष के और ३ पृथ्वी के, इनके प्रतिरिक्त अन्य प्रकार के देवताओं की कल्पना भी की गयी है, जिनका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित माना गया है। इनमें क्षेत्रपति, वास्तोष्पति (घर का देवता), सीता, और उर्वरा (उपजाऊ भूमि) प्रधान है। ऋग्वेद के सबसे प्राचीन अंश (२-७ मण्डल) में केवल एक ही सूक्त में कृषि सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग है और वह सूक्त दसवें मण्डल के समय का माना जाता है (४-५७) यही "ऋग्वेद" का एक मात्र स्थल है जहाँ सीता में व्यक्तित्व और देवत्व का आरोप किया गया है।

दूसरी 'सीता' का परिचय हमें केवल तैत्तिरीय-ब्राह्मण से प्राप्त होता है, जहाँ सीता सावित्री, 'सूर्य-पुत्री' और 'सोम' राजा का आरुह्य विस्तार पूर्वक दिया गया है। 'कृष्णयजुर्वेद' में भी यह कथा—प्राप्त होती है।

'कृषि' की अधिष्ठात्री देवी 'सीता' और सावित्री का अन्तर यह है कि एक तो उसमें देवत्व का आरोप है और दूसरा उसका उल्लेख आगे चलकर बराबर होता रहा है।

कोपकारों ने 'सीता' शब्द का अर्थ किया है :—(क) वह रेखा जो जमीन जोतते समय हल की फाल से पड़ती जाती है (कूंड)। (ख) हल के नीचे जो लाहे का फल लगा रहता है, उसे 'सीता' कहा जाता है। (ग) मिथिला का राजा 'सीरध्वज' जनक की कन्या, जो रामचन्द्र की पत्नी थी। (घ) वेदही, जानकी।

वैदिक-ग्रन्थों के अनुसार "सीता" वस्तुतः 'जनक'-पुत्री नहीं थी उन्हें वह चाहे जिस रूप में भी प्राप्त हुई हो संयोग वगैरह प्राप्त हुई थी। जैन-कथाकार उन्हें 'जनक' की औरम-पुत्री मानते हैं। बौद्ध जातक में वह दशरथ-पुत्री और 'राम' की सगी बहिन और पत्नी मानी गयी है।

'डा० रेवरेंड फादर कामिल ब्लेके' ने अपने शोध ग्रन्थ 'राम-कथा' में 'सीता' की जन्मकथाओं को चार भागों में विभक्त किया है—१. जनकात्मजा २ भूमिजा, ३. रावणात्मजा और ४. दशरथात्मजा। ये सभी विभाजन

सीता के जन्म परम्परा सम्बन्धी प्रारम्भिक तथ्यों के अभाव के कारण नाना प्रकार की कथाओं की सर्जना के आधार पर ही किये हैं, जनक, रावण और दशरथ, तीनों को कथाकारों ने सीता का पिता मान लिया है। डा० साहब ने 'सीता जन्म' के कथा-ग्रन्थों का विभाजन निम्न प्रकार से किया है :—

१. जनकात्मजा—महाभारत, हरिवंश, पउमचरिय, आदिरामायण।
२. भूमिजा—(क) वाल्मीकि-रामायण, तथा अधिकांश राम-कथयें।
(ख) दशरथ व मेनका की मानसी-पुत्री (वाल्मीकि-रामायण के उत्तरीय-पाठ)
(ग) 'वेदवती' तथा लक्ष्मी का अवतार।
३. रावणात्मजा—(क) गुणभद्राचार्य कृत-उत्तर-पुराण (१६वीं ई० शती) महाभागवत पुराण।
(ख) कश्मीरी-रामायण।
(ग) तिब्बती-रामायण।
(घ) मेरतकाण्ड, सेरी समकापातानी पाठ।
(ङ) राम कियेन (रे ग्रामकेर ?)

सीता व लका सम्बन्धित—पद्मजा, रक्तजा अग्निजा।

- (क) 'पद्मजा'—दशावतार चरित, (११ वी० ई० शती) गोविन्दराज का वाल्मीकि-रामायण-पाठ।
- (ख) 'रक्तजा'—अद्भुतरामायण (१५ वी० ई० शती)। सिंहलद्वीप की रामकथा, तथा अन्य विवि भारतीय वृत्तान्त।
- (ग) 'अग्निजा'—आनन्द-रामायण (१५ वी० ई० शती) पाश्चात्य वृत्तान्त।

४. दशरथात्मजा—दशरथ जातक। जावा के राम कलिग। मलय के सेरी राम तथा हिकायतराम महाराज रावण।

“जनकात्मजा” की चार राम-कथाएँ पायी जाती हैं।

किन्तु 'अयोनिजा-सीता' के अलौकिक जन्म की धार कहीं भी निर्देश नहीं किया गया है, सर्वत्र ही वह विद्युद्ध जनकात्मजा ही है। 'रामोपाख्यान' के प्रारम्भ में लिखा है कि “बिदेहराजो जनकः सीता तस्यात्मजा विभो ॥ 'हरिवंश' की राम-कथा में भी सीता की अलौकिक

उत्पत्ति का कोई भी उल्लेख नहीं है। 'पउमचरिय' में तो स्पष्ट ही जनक की औरस पुत्री मानी गयी है। प्राचीन-गाथाओं तथा आदि रामायण में भी जनक की पुत्री ही औरस पुत्री मानी गयी है। “जनकस्य कुले जाता देवमायेव निमिता, सर्वलक्षणमप्यन्ना नारीणामुत्तमा वधू।

“(बालकाण्ड)

'विष्णु-पुराण' (४-५-३०) तथा वायु पुराण में यज्ञ का क्षेत्र ठीक करते समय जनक को तीन नव जात शिशु दो पुत्र एक पुत्री प्राप्त होने का उल्लेख है।

'पउमचरिय' में 'सीता' की जन्म-कथा इस प्रकार है :—यह ग्रन्थ वि स० ६० का आचार्य विमल सूरि रचित प्राकृत-भाषा का है। इस ग्रन्थ के अनुसार—महाराज 'जनक' की 'सीता' औरस पुत्री है। महाराज जनक की भार्या 'पृथ्वी देवी' रानी के गर्भ से युगल-सन्तान एक पुत्री व एक पुत्र—उत्पन्न होती है। पुत्र को पूर्व जन्म का बैरी सौरगृह से हरण कर ले जाता है। कन्या का लालन-पालन पृथ्वी देवी करती है। कन्या के युवती होने पर उसका विवाह दशरथ-पुत्र 'राम' के साथ होता है।

भूमिजा:—प्रचलित वाल्मीकि-रामायण में भूमिजा सीता के जन्म का वर्णन दो बार में कुछ विस्तार से मिलता है। एक दिन राजा 'जनक' जब यज्ञ-भूमि तैयार करने के लिये 'हल' चला रहे थे तो एक छोटी कन्या मिट्टी से निकली, उसे उन्होंने उठा लिया और पुत्री रूप में उसका लालन-पालन हुआ तथा 'सीता' का नाम रखा।

'विष्णु-पुराण' के अनुसार 'जनक' पुत्रार्थ—यज्ञ-भूमि तैयार कर रहे थे। 'पद्म-पुराण' के उत्तर खण्ड के बंगीय-पाठ में भी 'जनक' द्वारा पुत्र कामेष्टि यज्ञ की भूमि तैयार करने का लेख है। इस पाठ में यह भी है कि उस भूमि से उन्हें एक स्वर्ण-धनुष भी मिला था, जिसे खोलने पर 'जनक' को एक शिशु-कन्या मिली जिसका नाम 'सीता' रखा गया।

गौड़ीय और पश्चिमी-पाठों में भूमिजा सीता की जन्मकथा इस प्रकार है कि—“राजा जनक को कोई सन्तान न थी। एक दिन जब वह यज्ञ-भूमि के लिये 'हल' चला रहे थे तो उन्होंने—आकाश में लावण्यमयी अप्सर 'मेनका' को देखा और मन में सन्तानार्थ उसके साहचर्य की

प्रमिलाषा की तब इस प्रकार आकाशवाणी हुई कि 'मेनका के द्वारा उन्हें एक पुत्री प्राप्त होगी, जो सौम्य में अपनी माता मेनका सरीखी होगी। आगे बढ़ने पर भूमि से निकली कन्या को 'जनक' ने देखा। पुनः आकाश-वाणी हुई "मेनकायाः समुत्पन्ना कन्येयं मानसी तव।" अर्थात् मेनका से उत्पन्न यह 'कन्या तुम्हारी मानस-पुत्री है।

वाल्मीकि-उत्तर-काण्ड में 'सीता' के पूर्व जन्म से सम्बन्ध जोड़ती एक कथा इस प्रकार से है:—ऋषि 'कुशध्वज' की पुत्री 'वेदवती' नारायण को 'पति'रूप में प्राप्त करने के लिये हिमालय पर तप कर रही थी। उसके पिता की भी यही प्रमिलाषा थी कि 'नारायण को वह 'वर' रूप में प्राप्त करे। किसी राजा ने ऋषि से पत्नी रूप में कन्या की माँग की। ऋषि के इन्कार करने पर क्रोधित हो राजा ने ऋषि की हत्या कर दी। एक दिन 'रावण' तप करती 'वेदवती' को देख कर उस पर मोहित हो गया और उसे अपने साथ ले जाने के लिये उसका भोटा (केश) पकड़ा। वेदवती का हाथ कृपाण बन गया और वह उस कृपाण से अपना भोटा काट बेती है। और अपने को रावण से मुक्त कर लेती है। वह 'रावण' को शाप देती है कि मैं तुम्हारे नाश के लिये अयोनिजा के रूप में पुनः जन्म लूंगी। इतना कह वह अग्नि में प्रवेशकर मृत्यु प्राप्त करती है। यही वेदवती जनक की यज्ञ-भूमि की जमीन से उत्पन्न होती है।

उपर्युक्त कथानक कुछ ही परिवर्तन के साथ श्रीमद्देवी भागवत पुराण (६-१६) तथा ब्रह्मवैवर्त-पुराण के प्रकृत-खण्ड (अ० १४) में भी है। यह कथा इस प्रकार है कि—कुशध्वज और उनकी पत्नी मालवती लक्ष्मी की उपासना कर उन्हें पुत्री-रूप में प्राप्त करने का वर प्राप्त कर लेते हैं। जन्म लेते ही नवजात कन्या (लक्ष्मी) वैदिक-मन्त्रों का गान करती है, इसीलिये शिशु-कन्या का नाम वेदवती रक्खा जाता है। युवती होने पर नारायण के रूप को 'वर' (पति) रूप में प्राप्त करने के लिये वेदवती तपस्या करती है, रावण द्वारा अपमानित होने पर वह उसे 'शाप' देती है और भूमि से उत्पन्न हो 'सीता' के रूप में वह शाप पूर्ण करती है।

'रावणात्मजा':—'सीता' जन्म की कथाओं में सर्वाधिक—प्राचीन कथा में सीता को रावण की पुत्री माना गया है।

भारत, तिब्बत, खोतान (पूर्वी तुर्किस्तान) हिन्दएशिया और इरान में हमें यह कथा मिलती है। भारतवर्ष में हमें इस कथा का प्राचीनतमरूप गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराण में प्राप्त होता है। कथा इस प्रकार है:—

"अलकापुरी के राजा 'अमितवेग की पुत्री मणिमती' विजयार्ध पवन (विष्णु) पर तपस्या कर रही थी। 'रावण' उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। सिद्धि में विघ्न होने से मणिमती क्रुद्ध हो निदान-सहित (मरण समय की इच्छा) करती है कि मैं रावण की पुत्री उत्पन्न होकर उसका नाश करूँ। मन्दोदरी के गर्भ से उसका जन्म होता है। लका में भूकम्प आदि अनेक उपद्रव होते हैं। ज्योतिषियों के अनुसार-नवजात कन्या भविष्य में रावण की मृत्यु का कारण बनेगी।" सुन रावण 'मारीच' मंत्री को उसे दूर देश में पृथ्वी में गाड़ आने का आदेश देता है। मन्दोदरी परिचयात्मक एक पत्र व कुछ धन तथा कन्या को एक मञ्जूषा में रख 'मारीच' को सौंप देती है। मारीच वह मञ्जूषा मिथिला की भूमि में गाड़ जाता है। कृषकों को मञ्जूषा उसी दिन मिलती है और वह उसे राजा जनक के पास ले जाते हैं। पृथ्वी से प्राप्त वस्तु सदा से नियमतः राजा की होती आयी है। मञ्जूषा से जनक को कन्या प्राप्त होती है जिसे जनक की रानी वसुधा अपनी कन्या जान उसका लालन-पालन करती है। (उत्तर-पुराण-पर्व ६८)

महाभागवत-देवीपुराण (१०वीं-११वीं श० ई०) में भी इस कथा का उल्लेख इस प्रकार से है:—सीता मन्दोदरीगर्भ से सभूता चारुरूपिणी, क्षेत्रज्ञा तनयाप्यस्य रावणस्य रघूत्तम। (अ० ४२।६२।)

सोमसेन कृत जैन—रामपुराण में सीता को रावण की औरस-पुत्री माना गया है। मिथिला में गाड़ी गयी। जनक की रानी के नव-प्रसूत बालक को एक देव जिस दिन हरण करता है उसी दिन कृषकों द्वारा वह मञ्जूषा (जिसमें नवजात रावण-पुत्री थी) जनक को प्राप्त होती है।

'सीता' की कुछ जन्म-कथाएँ ऐसी भी प्राप्त होती हैं जिनके अनुसार मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न होने के बाद ही वह नदी में फेंकी जाती है। कश्मीरी रामायणानुसार रावण की अनुपस्थिति में मन्दोदरी को एक पुत्री उत्पन्न होती है। जन्म-पन्थानुसार वह विवाहित होने पर बनबाई

होकर पिता के कुल का नाश करेगी, ऐसा सुनने पर मन्दोदरी नवजात शिशु बालिका को गले में पथर बांध नदी में फिकवा देती है।

दूसरी एक कथानुसार 'रावण' स्वयं ही कन्या को मञ्जूषा में बन्द करवा कर समुद्र में फिकवा देता है। जनक उसे समुद्र-तट पर पाते हैं।

जावा के 'सरेतकण्ड' की कथा इस प्रकार से है :— मन्दोदरी के गर्भ से श्री (देवी) का अवतार कन्या रूप में होता है। मन्दोदरी को ज्योतिषियों ने पूर्व में ही आगाह कर दिया था कि इस गर्भ से जिस कन्या का जन्म होगा उस पर रावण भविष्य में आसक्त होगा। मन्दोदरी नवजात को समुद्र में बहा देती है। मल्लि निवासी 'कल' नामक ऋषि को वह मिलती है और वह उसका लालन-पालन करते हैं।

'पद्मा'-'श्याम' देश की 'राम जियेन' कथा इस प्रकार है—वशरथ के यज्ञ के 'पायस' का अष्टमांश भाग मन्दोदरी खाकर एक कन्या को जन्म देती है। यह कन्या यथार्थतः लक्ष्मी का अवतार थी। (आनन्द-रामायण अनुसार एक गिद्ध (गीध) कैकेयी के हाथ का पायस छीनकर उड़ गया था और वह उस पायस को अजनी पर्वत पर फेंक देता है।) ज्योतिषियों की भविष्य वाणी सुन रावण भयभीत हो नवजात कन्या को घड़े में रख विभीषण से नदी में फिकवा देता है। नदी में कमल उत्पन्न हो घड़े का आधार बनाता है। लक्ष्मी अपनी दिव्य शक्ति के योग से उस घड़े को जनक के पास, जो उस समय नदी-तट तपस्या-रत रहते हैं, पहुंचा देती है। जनक घड़े को वन में ले जाकर एक पेड़ के नीचे रखकर प्रार्थना करते हैं कि यदि यह कन्या नारायण के अवतार की पत्नी बनने वाली हो तो इस भूमि में एक कमल उत्पन्न हो प्रमाण है। उसी क्षण वहाँ एक कमल उत्पन्न हो जाता है। जनक कमल पर घड़ा रख मिट्टी से ढँककर पुनः तपस्या करने चले आते हैं। तपस्या से सन्तोष न प्राप्त होने पर १६ वर्षों के पश्चात् वह उसी वृक्ष के नीचे जाकर घड़ा खोजते हैं। घड़ा न मिलने पर सेना बुला घड़े की खोज कराते हैं, फिर भी घड़ा नहीं मिलता अतः वह निराश हो लौट आते हैं। प्र. एक दिन हल खलाते समय जनक को अपने पाप घड़ा

प्राप्त हो जाता है। घड़े के कमल पर एक रूपवती युवती प्राप्त होती है। हल की नोक से प्राप्त होने के कारण उस युवती का नाम सीता रखा गया।

रक्तजा—अद्भुत रामायण की कथा इस प्रकार है— दण्डकारण्य में गुत्समद नाम के ऋषि थे, उनकी पत्नी का अप्रग्रह था कि उसके कुक्ष से स्वयं लक्ष्मी अवतरित हों, अतएव ऋषि पत्नी की अभिलाषा पूर्ण करने के लिए प्रति दिन थोड़े से दूध को अभिमन्त्रित कर उसे एक घड़े में इकट्ठा करने लगे। एक दिन रावण राजस्व उगाहने ऋषि के आश्रम में आता है। राजस्व के रूप में वह ऋषि के शरीर में बाण की नोक चुभो-चुभोकर रक्त की बूंद उसी घड़े में भर कर ले जाता है। घड़ा मन्दोदरी को सौंप बतला देता है कि घड़े का रस विष से भी तीव्र है। वह सावधानी बरते। रावण से किसी कारण असन्तुष्ट होकर मन्दोदरी उस घड़े का दूध मिश्रित रक्त पान कर प्राण देना चाहती है। वह मरती नहीं; बल्कि गर्भवती हो जाती है। पति की अनुपस्थिति में गर्भ धारण हो जाने से भयभीत हो वह उस गर्भ को कुरुक्षेत्र जाकर पृथ्वी में गाड़ आती है, जोकि हल जोतते समय जनक को शिशु कन्या रूप में प्राप्त होती है। जनक महिषी कन्या को पालता है और सीता नाम रखा जाता है। (सर्ग ८) इस कथा का भाव भी सिंहलद्वीप राम-कथा के समान ही है।

एक भारतीय कथानुसार—मन्दोदरी केवल जिज्ञासा वश ही घड़े का रक्त पान कर लेती है। प्रतिफल एक कन्या को जन्म देती है। रावण के क्रोध के भय से वह नवजात कन्या को उसी घड़े में रख समुद्र में डलवा देती है। घड़ा जनक के राज्य में पहुंचकर कृषकों द्वारा जनक की प्राप्त होता है।

अग्निजाः—'आनन्द' रामायणानुसार राजा 'पद्माक्ष' लक्ष्मी की उपासना कर उन्हें पुत्री रूप में प्राप्त करता है। कन्या का नाम 'पद्मजा' पड़ता है। कन्या के स्वयंवर में पिता युद्ध में मारा जाता है। वह अग्नि में प्रवेश कर जाती है। एक दिन वह अग्नि से बाहर निकलती है, उसी समय 'रावण' आ जाता है। रावण से साक्षात् होते ही 'पद्मजा' अविलम्ब अग्नि में प्रवेश कर जाती है। रावण तुरन्त अग्नि को बुझा देता है। अग्नि की राख में युवती

तो मिलती नहीं, किन्तु पाँच रत्न उसे धब मिलते हैं। उन रत्नों को एक पेटिका में रख रावण लंका में ले आता है। पेटिका बहुत ही भारी है, लंका के वीरों से वह नहीं उठ पाती। पेटिका खोलने पर मन्दोदरी एक नारी को देख तुरन्त ढँक देती है और उस पेटिका को वह मिथिला की भूमि में गड़वा देती है। वह पेटिका एक शूद्र को ब्राह्मण की जमीन जोतते समय प्राप्त होती है। ब्राह्मण पृथ्वी-धन को राजघन समझ उसे जनक को सौंप आता है। पेटिका से जनक को एक युवती कन्या प्राप्त होती है और पुत्रोत्त उसका पालन-पोषण करते हैं।

दक्षिण भारत की एक कथानुसार—लक्ष्मी एक फल से उत्पन्न होती है। वेदमुनि (एक ऋषि) उस बालिका को पाते हैं, और सीता नाम रखते हैं। कन्या समुद्र-तट पर तपस्धारत रहती है। रावण उसके सौंदर्य की प्रशंसा सुन वहाँ आता है। कन्या उसे देख अग्नि में प्रवेश कर जाती है। (भस्म हो जाती है) वेदमुनि राख बटोर कर एक स्वर्ण-यष्टि में रखते हैं। यह यष्टि रावण के पास पहुँच जाती है और वह (यष्टि) कोषागार में रख दी जाती है। एक दिन यष्टि के अन्दर से आती आवाज सुनकर उसे खोला जाता है, जिससे एक मुन्दर कन्या प्राप्त होती है। ज्योतिषियों की भी वाणी सुन कि 'कन्या' लंका के नाश का कारण होगी, रावण भयभीत हो उस कन्या को स्वर्ण-मञ्जूषा में रखवा कर समुद्र में बहवा देता है। मञ्जूषा कृषकों को मिलती है और अपने राजा को उसे सौंप देते हैं। सम्भवतः जिस 'फल' से सीता का जन्म होता है वह सीताफल रहा होगा और उसी कारण कन्या का नाम ऋषि ने 'सीता' रक्खा था।

दक्षिण भारत के एक कथानुसार—“ईश्वर योगी का रूप धारण कर लंका में बास कर अन्य प्रकार का उपद्रव करते हैं। पश्चात् वे नगर के एक फाटक पर पहरा देने लगते हैं। बहा वे झुभी हुई राख इकट्ठी करते हैं जिसमें से एक बहुत बड़ा पेड़ उत्पन्न होता है। योगी चला जाता है। रावण पेड़ के चार टुकड़े कर समुद्र में प्रवाहित करा देता है। पेड़ का एक टुकड़ा जनक के राज्य में पहुँचता है। मंत्री उसे यज्ञ की अग्नि में जलवा देते हैं। अग्नि से 'सीता' एक धनुष के साथ प्रगट होती है। धनुष पर लिखा

रहता है, कि जो कोई इस धनुष को तोड़ेगा उसी से इस कन्या-रत्न का विवाह होगा।”

‘दशरथात्मजा:—‘जातक’ बौद्धधर्म का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। तीन जातको में राम-कथा मिलती है। दशरथजातक, अनामक जातक और दशरथ कथानकम्। इसमें राम कथा के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण ‘दशरथजातक’ ही है। उसके अनुसार—महाराज दशरथ वाराणसी के राजा थे इनकी ज्येष्ठ-महिषी की तीन सन्तानें थीं। दो पुत्र और एक पुत्री। राम पंडित और लक्ष्मण नाम के पुत्र तथा सीता नाम की पुत्री थी। ज्येष्ठ महिषी की मृत्यु के पश्चात् द्वितीय रानी से बालक गर्भ रहा, उससे भरतकुमार पुत्र हुआ। भरत के जन्मोत्सव पर राजा दशरथ भरत की माता को दो वरदान देता है। जो राजा के पास धरोहर रूप में रहता है। भरतकुमार जब ७ वर्ष के होते हैं, तो भरत की माता भरत को युवराज पद पर अभिषिक्त करने को राजा से आग्रह करती है। राजा मीन रहते हैं। रानी का आग्रह उग्रतर होने लगता है। राजा को षड्यन्त्र की सम्भावना का अनुमान होता है। राजा ने रामपंडित व लक्ष्मण को निकट बुला सम्पूर्ण वृत्तान्त बतलाया और साथ ही यह भी कहा कि तुम लोगो का जीवन निरापद नहीं लगता। उचित होगा कि तुम लोग यहाँ से किसी सुरक्षित स्थान में चले जाओ। मेरी मृत्यु के पश्चात् आकर राज्य पर अधिकार कर लेना।

ज्योतिषियों की भविष्य-वाणी के अनुसार राजा का जीवन अभी १२ वर्षों का था, अतएव दोनों भाई बहिन सीता देवी वाराणसी छोड़ हिमालय की तलहटी में आश्रम बना कर रहने लगते हैं नौवें वर्ष में राजा की मृत्यु-पश्चात् भी भरतकुमार राजदण्ड ग्रहण नहीं करते। आश्रम-पण्डित भी रानी के विचार का विरोध करता है। भरतकुमार सेना सहित राम को लौटाने के लिये वन में जाते हैं। भरतकुमार जब राम के आश्रम पर पहुँचते हैं, उस समय राम पंडित वहाँ घड़ेले ही होते हैं। भरतकुमार राम को पिता की मृत्यु का दुःख समाचार सुनाते हैं। सायकाल लक्ष्मण और सीता देवी आश्रम में लौटने पर पिता की मृत्यु सुन अधीर हो उठते हैं। तब रामपंडित उन्हें संसार की अनिश्चयता का उपदेश सुनाते हैं। परिवार

परिवार को मोह विषटित होता है।

भरतकुमार रामपंडित से वाराणसी लौट आने और राज्यवण्ड सम्हालने का आग्रह करते हैं। तब रामपंडित भरतकुमार को बतलाते हैं कि पिता ने १२ वर्षों तक वाराणसी में उन्हें प्रवेश के लिये निषेध किया था। अभी तीन वर्ष अवधि में बाकी है। तीन वर्षों के बाद ही मैं आऊंगा। भरतकुमार रामपंडित की तृण-पादुका लेकर लक्ष्मण और सीता देवी सहित वाराणसी वापस लौट आते हैं।

सिंहासन पर पादुका प्रतिष्ठित कर के मंत्री के रूप में भरतकुमार शासन की बागडोर सम्हाल कर शासन की व्यवस्था करते हैं। अनुचित कार्य या न्याय पर पटुकाये प्राप्त मे घात-प्रतिघात करने लगती। तीन वर्षों के पश्चात् अवधि पूर्ण होने पर रामपंडित वाराणसी लौट आते हैं, और शासन सम्हालते हैं। सीतादेवी (बहिन) से उनका विवाह होता है, और १६००० सोलह हजार वर्षों तक शासन कर अन्त में स्वर्ग को प्रस्थान करते हैं।

समाधान :—महाराज शुद्धोधन का जीव (उस समय) राजा दशरथ बुद्ध की माता माया देवी का जीव रामपंडित की माता, यशोधरा का जीव (बुद्ध-पत्नी) 'सीता देवी' और आनन्द का जीव भरतकुमार और स्वयं बुद्ध का जीव रामपंडित था।

तथागत 'बुद्ध यह राम-कथा (जातक) जोतवन में किसी गृहस्थ को "जब उसका पिता मर गया था और शोक के वशीभूत हो उसने सम्पूर्ण कार्य करना बन्द कर दिया था तो उसे उपदेश देने के लिये ही उपरोक्त जातक कहा कि प्राचीनकाल में जब पिता के मरण पर किञ्चित्-मात्र भी शोक नहीं करने थे। वाराणसी के राजा दशरथ के मरण पर राम ने धैर्य-धारण किया था। उपरोक्त प्रकार से बहुलता से मीता जन्म के विविध कथानक प्राप्त होते हैं। यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

ठठरी बाजार (वसन्ती कटरा)

वाराणसी-१

(पृष्ठ २६ का शेषांश)

हैं, उनमें कई तो काफी सम्पन्न भी हैं, उन्हें जातीय इतिहास तैयार कराने में प्रयत्नशील होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जातीय-गौरव को सुरक्षित रखने एवं प्रकाश में लाने में सचेत होना चाहिये। डूंगरपुर के हुंवड जैनमन्दिर व वहाँ के हुंवडों सम्बन्धी मेरे लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

यद्यपि प्रमाणिक इतिहास की सामग्री कम ही मिलती है फिर भी खोज करने पर बहुत-सी ज्ञातव्य बातें प्रकाश में आयेंगी ही। उपेक्षा करने पर जो कुछ सामग्री अभी प्राप्त है, वह भी नष्ट हो जायगी। प्रत्येक जाति वालों के वही बंधे कुलगुरु भी रहे हैं उनके पास भी ऐतिहासिक सामग्री मिल सकती है। "जिन खोजा तिन पाइयाँ।"

□ □

(भावरण पृष्ठ ३ का शेषांश)

University of Lucknow

२६ Sushma Mishra

Evaluation of the Concept of No-violence in India up to 2nd Century B.C.

भोपाल विश्ववि. भोपाल University of Lucknow

३० भार० सी० जैन

जैनदर्शन के निश्चय और व्यवहार

३१ Rajni Rani

A Comparative study of Goddeses with Similar Characteristics in Hindu Buddhist and Jain panth-Snoe

Jabalpur university Deptt. of Philosophy Dr. P. C. Jain

३२ Prup Dr. C. D. Sharma

Jain sristividya evam Pauranik sristividya Ka vikasa veda Ke sandarbhen Tulnatmak adhyayana १९७१ में उपाधि प्राप्त

□ □ □

यूनिवर्सिटी आफ पूना डिपार्टमेंट आफ हिंदी पूना	डा० न. वि. जोगलेकर	११	डा० एस० के० शाह	जैन परम्परा का राम कथा साहित्य एक अनु-शीलन	१९७१ में उपाधि प्राप्त
हिंदी विभाग पुणे विद्यापीठ	डा० भानन्दप्रसाद दीक्षित	१२	श्री ड० भा० कोठारी	जैन तीर्थंकर नेमिनाथ विषयक हिन्दी काव्य	१९७४ में उपाधि प्राप्त
"	डा० न० चि० जोग-लेकर	१३	श्री एम० बी० कडारकर	मध्य काचोपरास्त हिन्दी जैन साहित्य का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन (सं० १९०१-२०३०)	
यूनिवर्सिटी आफ राज-स्थान डिपार्टमेंट आफ संस्कृत जयपुर	प्रो० पी० सी० जैन	१४	श्री ह्यामशंकर दीक्षित	१३वीं १४वीं शताब्दी का जैन संस्कृत महाकाव्य	१९३३ में निवृत्त
"	डा० एस० के० गुप्ता	१५	श्री सत्यव्रत	जैन संस्कृत महाकाव्य	१९७२ "
"	"	१६	श्री सीताराम शर्मा	जैन परंपरा में राम कथा	
"	डा० पी० सी० जैन	१७	श्री एम० एम० घर्म-राज जैन	Jaina Mahapurana ka Bk. Adhyayan is the cotext of Kannada Jain Sahitya.	
"	डा० एस० के० गुप्ता	१८	श्री पी० सी० जैन	जैन हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन	
"	श्री पी० सी० जैन	१९	श्रीमती कोकिला जैन	तीर्थंकर आदिनाथ और उनका मानवीय सस्कृति के उन्नयन में योग	
"	डा० पी. सी. जैन	२०	श्री धनश्याम गुप्ता	राजस्थान के मध्यकालीन दिग० जैन मठारकों का संस्कृत साहित्य को योगदान	
मराठाबाडा यूनिवर्सिटी डिपार्टमेंट आफ हिस्ट्री एंड ऐनसियेन्ट इंडियन कल्चर बड़ोदा विश्वविद्यालय, बड़ोदा	Dr. T. V. Pathy	२१	V. I. Dharurkar	Yha Art and Icono-graphy of the Jain Caves in Ellora.	१०-१-७९ को उपाधि प्राप्त
"		२२	Shri Vishnu Kar, Bhatta Keshaulal	Religious & Philoso-phical foundation of Indian Art	
"		२३	Jadhav Rajave Bapu Shele	The Art of medievael Gujarat	
लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ		२४	Rekha Nagar	Dance and music in Ancient Indian Art & Literature (from ear-liest times to c. 600 AD)	
"		२५	संघ मित्रा शंकर	राज्य संग्रहालय लखनऊ में बुद्ध तथा जैनमूर्ति का प्रतिमाशास्त्र अध्ययन	
"		२६	लखनू प्रसाद	पंचपुराण कालीन समाज	
University of Kurukshetra		२७	सुरेन्द्र शर्मा	A Critical and comparative study of jain Kumarsambhava	
University of Allahabad		२८	Nilima Chaudhary	A Critical study of Chaturmasysa'	

(केव पृष्ठ ३२ पर)

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

- पुरातन जैनवाक्य-सूची :** प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों के उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाथ, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। २२-००
- स्वयम्भू स्तोत्र :** समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ३-००
- ज्योतिषिणा :** स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०
- वृत्तचक्रानुशासन :** तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०
- सजीवीन वर्णशास्त्र :** स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ :** संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और ५० परमानन्द शास्त्री वी. इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयकारक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ६-००
- समाहितग्रन्थ और इष्टोपदेश :** अष्टात्मकृति, ५० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०
- बाणवनेश्वर और दक्षिण के ग्रन्थ जैन तीर्थ :** श्री राजकुण्ड जैन ... २-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ :** अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। उपपन्न ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १६-००
- न्याय-बोपिका :** भा० अभिनव वर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। १०-००
- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश :** पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००
- कलाचक्रपाण्डुसूत :** मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री बलिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २५-००
- Reality :** डा० पूज्यपाव की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००
- जैन निबन्ध-रत्नावली :** श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००
- ज्वाणसूत्र (ज्वाणस्तव सहित) :** संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००
- वाक्य वर्ण-संहिता :** श्री दरबारीलाल सोधिया ५-००
- जैन सङ्ग्राहली (तीन भागों में) :** सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४-००
- Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)**

इकादशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३३ : किरण ३

जुलाई-सितम्बर १९६०

सम्पादन-मण्डल

डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री पद्म चन्द्र शास्त्री
श्री गोकुलप्रसाद जैन

□

सम्पादक

श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल. बी.,
साहित्यरत्न

□

वार्षिक मूल्य ६- रुपये
इस अंक का मूल्य :

१ रुपया ५० पैसे

विषयानुक्रमशिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	जिनवाणी	१
२.	वैदिक बौद्ध तथा जैन वाङ्मय में सत्य का स्वरूप — श्री राजीव प्रबोदिया, अलीगढ़	२
३.	अपदेससत्तमज्झ — श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	६
४.	ज्ञानानन्द श्रमिकाचार : एक परिचय — प० बशीर शास्त्री, जयपुर	८
५.	जैन तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय कुल में ही क्यों ? — श्री गणेश प्रसाद जैन, वाराणसी	१३
६.	रामगुप्त और जैनधर्म कीर्णक लेख पर कुछ विचार — श्री वेदप्रकाश गर्ग	१६
७.	महार्मा आनन्दघन : काष्ठ समीक्षा — डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत	१७
८.	महाकवि हर्षिचन्द्र का समय और आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत — श्री अशोक पाराशर, जयपुर	२०
९.	जैन संस्कृति का प्राचीन-केन्द्र काम्पिल्य — बिद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ	२२
१०.	पाटण के ह्वेताम्बर ज्ञान भण्डारों में दिगम्बर ग्रन्थों की प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रतिष्ठा — श्री अमरचन्द नाहटा, बीकानेर	२६
११.	वैदिक और जैनधर्म : एक तुलनात्मक अध्ययन — प० के० भुजबली शास्त्री	२९
१२.	महान् विद्वान् हर्षकीर्ति की परम्परा — श्री अमरचन्द नाहटा, बीकानेर	३१

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

जैन विज्ञान

□ डा० हरिसत्य भट्टाचार्य

चिन्ता

साधारतः चिन्ता को तर्क या ऊह कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञान से प्राप्त दोनों विषयों में अश्लेष सम्बन्ध की खोज करना तर्क का काम है। पाश्चात्य मनोविज्ञान इसे (Induction) कहता है। यूरोपीय पण्डित कहते हैं कि Induction observation या भूयोदर्शन का फल है। जैन नैयायिक उपलब्ध और अनुपलब्ध द्वारा तर्क की प्रतिष्ठा मानते हैं। दोनों के कथन का तात्पर्य एक ही है। पाश्चात्य तार्किक Inductive truth को एक Invariable अवस्था Unconditional relationship कहते हैं। जैनाचार्यों ने कितनी ही शताब्दों पूर्व यही बात कह दी थी। उनके मतानुसार तर्कलब्ध सम्बन्ध का नाम अविनाभाव अवस्था अन्वयानुपपत्ति है।

अभिनिबोध

तर्कलब्ध विषय की सहायता से होने वाले अन्य विषय के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं साधारणतः अभिनिबोध को अनुमान माना जाता है। इसी को पाश्चात्य ग्रन्थों में अनुमान Deduction, Retiociation अथवा Syllogism नाम दिया गया है। धुर्भा देखकर यह कहना कि 'पर्वतो वह्निमान्' (पर्वत में अग्नि है) — इस प्रकार के बोध का नाम अनुमान है। इसमें पर्वत 'धर्मी', किवा 'पक्ष'; वह्नि 'साध्य' और घूम 'हेतु', 'लिंग', अथवा 'व्यपदेश' है। पाश्चात्य न्यायग्रन्थों में Syllogism के अन्तर्गत इन्हीं तीन विषयों की विद्यमानता दिखती है। इनके नाम Minor term, Major term और Middle term हैं। अनुमान व्याप्तिज्ञान पर — अर्थात् अग्नि और घूम में जैसा अविनाभाव सम्बन्ध है उस पर — प्रतिष्ठित है। यह व्याप्ति तत्त्व पाश्चात्य न्याय के Distribution of the middle term के अन्तर्गत है। जैन दृष्टि से अनुमान के दो भेद हैं — (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। जिस अनुमान द्वारा अनुमापक स्वयं किसी

तथ्य की खोज करता है उसे स्वार्थानुमान और जिस वचन-विश्वास द्वारा उक्त अनुमापक अन्य को वह तथ्य समझता है उसे परार्थानुमान कहते हैं। ग्रीक दार्शनिक Aristotle अनुमान के तीन अवयव बतलाता है — (१) जो-जो घूमवान हैं वह वह्निमान् है, (२) यह पर्वत घूमवान् है, (३) यह पर्वत घूमवान् है (३) अतएव यह पर्वत वह्निमान् है। बौद्ध अनुमान के तीन अवयव इस प्रकार बतलाते हैं — (१) जो घूमवान् है वह वह्निमान् है, (२) यथा महानस, (३) यह पर्वत घूमवान् है। मीमांसक भी अनुमान के तीन अवयव मानते हैं। इनके मतानुसार अनुमान के ये दो रूप हो सकते हैं। प्रथम रूप — (१) यह पर्वत वह्निमान् है, (२) क्योंकि यह घूमवान् है, (३) जो घूमवान् होता है वह वह्निमान् होता है यथा महानस। द्वितीय रूप — (१) जो घूमवान् है वह वह्निमान् है, (२) यथा महानस, (३) यह पर्वत वह्निमान् है। नैयायिक अनुमान को पञ्चावयव मानते हैं। उनके मतानुसार अनुमान का आकार यह होगा — (१) यह पर्वत वह्निमान् है, (२) क्योंकि यह घूमवान् है, (३) जो घूमवान् है, (३) जो घूमवान् होता है वह वह्निमान् होता है यथा महानस, (४) यह पर्वत घूमवान् है, (५) इसलिए यह वह्निमान् है। अनुमान के ये पाँच अवयव क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन और निगमन के नाम से प्रसिद्ध हैं। जैन दर्शन के नैयायिक कहते हैं कि उदाहरण, उपनयन और निगमन निरर्थक है। जैन अनुमान के दो अवयव मानते हैं — (१) यह पर्वत वह्निमान् है, (२) क्योंकि यह घूमवान् है। जैन कहते हैं कि कोई भी बुद्धिमान प्राणी इन दो अवयवों से ही अनुमान के विषय को समझ सकता है। अतएव अनुमान के अन्य अवयव बेकार हैं। परन्तु यदि श्रोता अल्पबुद्धि हो तो उसके लिए जैन लोग नैयायिकों के पाँच अवयवों का स्वीकार करते ही हैं, इतना ही नहीं इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञाशुद्धि, हेतुशुद्धि जैसे और भी पाँच अवयव बनाते हैं।

यह आवश्यक नहीं कि सम्भाव्य अंशल लेखकों के सभी विचारों से सहमत हो।
—सम्पादक

श्रीम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयबिलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३३
किरण ३

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५०६, वि० सं० २०३७

{ जुलाई-सितम्बर
१९८०

जिनवाणी

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्तिनित्यमेव प्रकाशताम् ॥

अर्थ—अनन्तधर्मा परम-आत्मा अर्थात् चैतन्य के परम-अर्थ को, पृथक्-रूप में—परद्रव्यो से भिन्न,
दशानि वाली—अनेकान्तमयीमूर्ति—जिनवाणी, त्रिकाल—प्रतिसमय तत्त्व को प्रकाशित करे ।

अध्या० तरं०—(अनेकान्तमयी मूर्ति) अनेकान्त अर्थात् स्याद्वादमयी मूर्ति—जिनवाणी । यहां जिनवाणी
शब्द प्रयोग न किए जाने पर भी अनेकान्तात्मक होने से -सामर्थ्य से जिनवाणी अर्थ
फलित होता है । (नित्य) सदा-त्रिकाल । (प्रकाशताम्) प्रकाशित अर्थात् उद्योतित
करे । कैसा है जिनवाणी ? (प्रत्यगात्मन) परम-आत्मा अर्थात् चैतन्य रूप के (प्रत्यक्-
तत्त्वं पश्यन्ती) भिन्नतत्त्व अर्थात् स्व-स्वरूप को प्रकाशित करती है । कैसा है आत्म-
तत्त्व ? (अनन्तधर्मण) दो बार अनन्त अर्थात् अनन्तानन्त धर्मप्रमाण, अस्तित्व, नास्ति-
त्व, नित्यत्व, अनेकत्व आदि धर्मवाला है । यद्यपि धर्म शब्द पुण्य, समन्याय, स्वभाव,
आचार आदि अनेक अर्थों वाला है, तथापि यहां धर्म शब्द स्वभाव वाचक है ॥

□ □ □

वैदिक, बौद्ध तथा जैन वाङ्मय में सत्य का स्वरूप

□ श्री राजीव प्रचंडिया, अलीगढ़

वैदिक, बौद्ध तथा जैन वाङ्मय मिलकर भारतीय वाङ्मय का रूप स्थिर करते हैं। वैदिक वाङ्मय में वेद-वाणी, बौद्ध साहित्य में भ० गौतम बुद्ध के सिद्धान्त, उप-देश, तथा शिक्षात्मक निर्देश और जैन आगम में तीर्थ-ङ्कुरों की दिव्यवाणी के अभिदर्शन होते हैं। वेद, उपनिषद् रामायण, महाभारत, गीता आदि वैदिक ग्रन्थ, त्रिपिटक अर्थात् सुत्तपिटक, विनयपिटक तथा अभिषम्भपिटक बौद्ध साहित्य तथा जैन आगम में तिलोपपण्णति, तत्त्वार्थसूत्र, सूत्रकृतान्त, स्थानाङ्गसूत्र, दशबैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र मूलाचार, अमितगतिश्रावकाचार, अष्टपाहुड, भगवतो धाराधना, धनगार तथा सागरधर्माभूत आदि ग्रन्थ मान्य हैं जिनके द्वारा भारतीय जीवन-दर्शन, आचार-विचार, धर्म साधना-धाराधना तथा ज्ञान-विज्ञान आदि उपयोगी और कल्याणकारी बातों का सम्यक् परिचय मिलता है।

वैदिक, बौद्ध तथा जैन वाङ्मय में व्यवहृत सत्य के स्वरूपका विवेचन करना हमारा यहाँ मूलाभिप्रेत है।

वैदिक वाङ्मय में सत्य के स्वरूप को स्थिर करते हुए कहा गया है कि मन, वाणी और कर्म की प्रमायिकता एवं प्रकुटिलता का नाम ही सत्य है।^१ ज्ञानप्रकाश में मायादि सशक्त शत्रुओं को कटना-छंटना होता है। इनके

हटते ही सत्य उद्घाटित हुआ करता है। अज्ञान और माया का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। अज्ञान में सत्य प्रच्छन्न रहा करता है। जो ज्ञान से आप्लावित है वह निश्चय ही सत्य से प्रभावित होता है। वास्तव में ज्ञानी सदा सत्य-वादी होता है।^२ ज्ञान-शक्ति सत्य को प्रेरित एवं उद्घाटित किया करती है और बुद्धिशील प्राणियों को यथावसर योग्य कर्मों की चेतना भी देती है।^३ ज्ञान-प्रभाव में सत्य की अपेक्षा मायह की प्रधानता रहती है। मायही अर्थात् अज्ञानी सत्य को समझने-पहिचानने में प्रायः असमर्थ होते हैं।^४ उनकी दृष्टि अज्ञान के प्रभाव में स्थूल रहती है। अज्ञान शक्ति के माध्यम से ही सत्य को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया जाता है। वस्तुतः सत्य तो एक ही है।^५ वह एक मात्र ब्रह्म है।^६ इन्द्र है।^७ सत्य में ही धर्म निवास करता है। सत्य ही सब अन्धकारों की जड़ है तथा सत्य से बढ़कर संसार में और कुछ नहीं है।^८ सत्य से प्राणी सबके ऊपर तपता है तथा ज्ञान से मनुष्य नीचे देखता है तथा नम्र होकर चलता है।^९ सत्य की प्रतिष्ठा पर सत्यवादी का वचन क्रिया फलाश्रयत्व गुण से युक्त हो जाता है अर्थात् सत्य प्रतिष्ठित व्यक्ति के वचन प्रमोष होते हैं।^{१०}

१. 'सत्यमिति प्रमायिता, प्रकुटिल्यं वाङ्मनः कायानाम्

—केन उपनिषद्, शांकरभाष्य, ४ द

२. 'नाऽविज्ञानं सत्यं वदति, विज्ञानेव सत्यं वदति।'

—छान्दोग्य उपनिषद्, प्रपाठक ७, खण्ड १७, कण्डिका १

३. 'बोधमिती सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।'

—ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त ३ मन्त्र ११.

४. 'नावगतो उपरुध्यते, मापद्युर्ध्वं उ वगच्छति।'

—ताण्ड्य महा ब्राह्मण, अध्याय २, खण्ड १, कण्डिका ४.

५. 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

—ऋग्वेद, मण्डल १, सूक्त १६४, मन्त्र ४६.

६. 'सत्यमेव ब्रह्म।' —शतपथ ब्राह्मण, काण्ड २,

अध्याय १, ब्राह्मण ४, कण्डिका ४.

७. 'सत्यं हि इन्द्रः।' —शाङ्ख्यायन धारण्यक,

अध्याय ५, कण्डिका १.

८. 'सत्यमेवेश्वरो लोके, सत्येधर्मः सदाश्रितः।

सत्यमूलानि सर्वाणि, सत्यान्नास्ति परं पदम्॥'

—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ११०, श्लोक १३.

९. 'सत्येनोर्ध्वंस्तपति, ब्रह्मणाऽवाङ् विपश्यति।'

—अथर्ववेद, काण्ड १०, सूक्त ८, मन्त्र १६.

१०. 'सत्यं प्रतिष्ठाया क्रियाफलाश्रयत्वम्।'

—योगदर्शन २।३६.

सत्य की महिमा का वर्णन करते हुए वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट उल्लेख है कि सत्य स्वर्ग का सोपान है। सत्य का आचरण करने वाला प्राणी स्वर्ग-लोक से च्युत नहीं होता है। वास्तव में देवत्व की ओर जाने वाला मार्ग ही सत्य से बना है। सत्य के आधार पर ही आकाश टिका है, समग्र संसार और प्राणीगण सत्य के ही आश्रित हैं। सत्य से ही दिन प्रकाशित होते हैं, सूर्य उदय होता है तथा जल भी निरन्तर प्रवाहित रहता है। लोक में सत्य के द्वारा ही साक्षी को पवित्र किया जाता है। सत्य से ही धर्म की अभिवृद्धि भी दुष्प्रा करती है। अतः सत्य सर्व प्रकार से कल्याणकारी है जिस प्रकार वृक्ष मूल (जड़) के उखड़ जाने से सूख जाता है और अन्ततः नष्ट हो जाता है उसी प्रकार असत्य बोलने वाला व्यक्ति भी अपने आप को उखाड़ देता है, जन समाज में प्रतिष्ठाहीन हो जाता है। निन्दित होने से सूख जाता है—श्रीहीन हो जाता है और अन्ततः नरकादि दुर्गति पाकर नष्ट हो जाता है।

बौद्धधारा के प्रवर्तक भ० गौतम बुद्ध ने भी सत्य के

सम्बन्ध में 'अंगुत्तर निकाय' में स्पष्ट कहा कि 'हे पुरुष तेरी आत्मा तो जानती है कि क्या सत्य है और क्या असत्य है। अतः पाप करने वाले के लिए एकान्तगुप्त (छिपाव) जैसी कोई स्थिति नहीं है।' रागादि पाप कर्म दृष्टे ही प्राणी सत्य तक पहुँच जाता है। रागासक्त प्राणी प्रबोध में रहता है। सोचने समझने की शक्ति उसमें प्रायः समाप्त हो जाती है। ऐसे प्राणी सत्य का केवल एक ही पहलू देख पाते हैं। उनका दृष्टिकोण सर्वांगीण नहीं होता। वे अपने विचारों के प्रतिरिक्त दूसरों के विचारों को असत्य मानते हैं। जबकि बुद्ध-मान्यता है कि न सत्य धनेक है और न एक दूसरे से पृथक् है। सत्य तो वस्तुतः एक ही है। उसका रस सब रसों से श्रेष्ठ है। सत्य द्वारा प्राणी सहज में ही जन-जन में समाहित हो जाता है। सत्यवादी की यशस्वीति दिग-दिगन्त फैलती जाती है। जबकि असत्यवादी नरकोन्मुखी होता है। इतना ही नहीं 'जो करके—नहीं किया—ऐसा कहने वाला भी नरक में जाता है।' यह शाश्वत धर्म है कि सत्य वचन ही अमृत वचन है।

१. 'सत्यं स्वर्गस्य सोपानम् ।'

—महाभारत, आदिपर्व, सर्ग ७४, श्लोक १०५

२. 'सत्यं परं, परं सत्यं, सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन ।'

—तैत्तिरीय आरण्यक, नरागणोपनिषद् १०।६२

३. 'सत्येन पन्था विततो देवयानः ।'

—मृद्रक उपनिषद्, मृण्डक ३, खण्ड १, श्लोक ६

४. 'सामासत्योक्तः परिपातु विश्वतो, आवाचयनतश्च न हानि च ।

विश्वमग्न्यग्निविशतेयदेजति, विश्वाहाथो विशाहो देति सूर्यः ॥'

—ऋग्वेद, मण्डल १०, सूक्त ३७, मन्त्र २.

५. 'सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते ।'

—मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक ८३.

६. 'पथाध्वः आविर्मूलः शुष्यति स उदवर्तते, एवमेवानृत वदन्मामूलमात्मानं करोति, सपुष्यति, स उवर्तते, उस्मादन्तं न वदेत् ।'

—ऐतरेय आरण्यक, आरण्यक २, अध्याय ३, खण्ड ६.

७. 'नतिथलोके रहोनाम, पापकम्मं पकुब्बतो ।

अन्ता ते पुरिस जानाति सच्च वा यदि वामुसा ॥'

—अंगुत्तर निकाय ३।४।१०

८. 'रागस्ता न दक्खति, तमोखधेन आबुटा ।'

—दीर्घनिकाय, २।१।६

९. 'एकज्जदस्सी दुम्मेधो, सतदस्सी च पण्डितो ।'

—धेरगाथा, १।१०६.

१०. 'न हेव सच्चानि बहूनि नाना ।'

—महानिदेयपालि, १।२।१२।१२१

११. 'एकं हि सच्चं न दुत्तिममतिथि ।'

—सुत्तनिपात, ४।५।०।७

१२. 'सच्चं हवे सादुतर रसानं ।' —सुत्तनिपात १।१०।२.

१३. 'सच्चेन किति पप्पोति ।' —सुत्तनिपात १।१०।७.

१४. 'अभूतवादी निरय उपेति, योवापिकत्वा न करो-
मीति चाह ।'

—सुत्तनिपात, ३।३।५.

१५. 'सच्चं वे अमतावाचा, एस धम्मो सनत्तनो ।'

—सुत्तनिपात, ३।२।५.

जैन आगम में सत्य विषय पर विषद चर्चा की गई है। आर्यग्रन्थ 'मूलाचार' में स्पष्ट उल्लेख है कि राग, द्वेष, मोह के कारण असत्यवचन तथा दूसरों को सनाप करने वाले ऐसे सत्यवचन को छोड़ना और द्वादशांग के अर्थ कहने में अपेक्षा रहित वचन को छोड़ना सत्य कहलाता है। अर्थात् हास्य, भय, क्रोध तथा लोभ से मन-वचन-कायकर किसी समय में भी विश्वास-घातक, दूसरे को पीड़ाकारक वचन न बोलना ही सत्य है।^१ सत्य का सीधा सम्बन्ध चारित्र्य की शुचिता से हुआ करता है। जो कुछ कहा जाय चाहे वह सत्य हो या असत्य—चारित्र्य की उससे यदि शुद्धि होती है तो निश्चय ही वह सत्य है तथा जिस कथन से चारित्र्य की शुद्धि नहीं होती—चाहे वह सत्य ही क्यों न हो, असत्य ही होता है।^२ जैनार्थों ने तो सत्य के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसे दस भागों में विभाजित किया है। यथा-जनपद, सम्मति, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीति, सम्भावना, व्यवहार, भाव तथा उपमा सत्य।^३ जिस देश के लिए जो शब्द जिस अर्थ में रूढ़ होता है, उस देश में उस अर्थ के लिए उमी शब्द का प्रयोग करना 'देशसत्य' या 'जनपद सत्य' कहलाता है। उदाहरणार्थ-विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में चावल या भात के नाम पृथक-पृथक बोले जाते हैं। जैसे—चोरू, कुलु आदि। बहुजन की सम्मति से जो शब्द जिम का वाचक मान लिया जाता है, उसे सम्मति सत्य कहा जाता है। उदाहरणार्थ-लोक में राजा की स्त्री को देवी कहना किसी मूर्ति आदि में किसी व्यक्ति विशेष की कल्पना कर लेना 'स्थापना' सत्य है। उदाहरणार्थ-अर्हन्त की पाषाण में कल्पना करना। गुणकी अपेक्षा न रखकर किसी

व्यक्ति या पदार्थ का कोई नाम रख लेना 'नाम सत्य' है। उदाहरणार्थ कुल की वृद्धि न होने पर भी कुलवर्द्धन नाम रखा। पुद्गल के रूप आदि अनेक गुणों में रूप की मान्यता से जो वचन कहा जाय, उसे 'रूप सत्य' कहा जाता है। उदाहरणार्थ केवल रूप आधार से कहना कि बगुला की पंक्ति सफेद होती है। अन्य की अपेक्षा से जो कहा जाय सो वह 'प्रतीत्य सत्य' है। उदाहरणार्थ 'यह दीर्घ है' यहाँ ह्रस्व की अपेक्षा से प्रतीत्य सत्य है। व्यवहार में प्रचलित अर्थ की अपेक्षा से जो वचन बोला जाय, वह व्यवहार सत्य है। उदाहरणार्थ-लोक में 'भात पकता' है। ऐसा वचन व्यवहार सत्य है। इच्छानुसार कार्य कर सकना 'सम्भावना सत्य' है। उदाहरणार्थ-इन्द्र इच्छा करें तो जम्बूद्वीप को उलट सकते हैं। हिसादि दोष रहित अयोग्य वचन का प्रयोग 'भावसत्य' की कोटि में आता है। उदाहरणार्थ-किसी ने पूछा कि चोर देखा, उसने कहा कि नहीं देखा, यह भाव सत्य है। उपमाय वचन 'उपमा सत्य' कहलाता है। उदाहरणार्थ-पल्योपम सागरोपम आदि। पल्योपम काल में पल्य शब्द गड़डे का वाचक है। काल की गड़डे की उपमा देकर बताया गया कि एक योजन लम्बे-चौड़े योगिलिकों के बालों से ठसाठस भरे हुए गड़डे के समान काल पल्योपम काल है।^४ इन सब में अनबद्ध सत्य (हिसा रहित सत्य वचन) श्रेष्ठ होता है।^५ किन्तु जैनागम में यह भी स्पष्ट है कि यदि कदाचित् सत्य वचन बोलने में बाधा प्रतीत होती है तो मौन धारण भी किया जा सकता है।^६ मूलरूप में सत्यवचन वह है जो प्रशस्त, कल्याण कारक, सुनने वाले को आह्लाद उत्पन्न करने वाला तथा उपकारी हो। किन्तु जो वचन अप्रिय और

१. मूलाचार, गाथा सं० ६, २६०, अनन्तकीर्तिग्रन्थमाला वि० सं० १६७६.

२. जभास भास तस्य सच्च मोसं वा चस्तिं विमुज्झड, सव्वा विसा सच्चाभवति।

ज पुण भासमाणस्स चरिन्त न मुज्झति सा मोसा भवति ॥'

—दश बैकालिकचूणि, अध्याय ७.

३. 'जणवद संमदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे।

सभावणववहारे भावेणोपम्म सच्चेण ॥'

—भगवती आराधना, मूलगाथा सं० ११६३, सखागमदोशी, शोलापुर, सं० ई० १६३५.

४. मूलाचार, गाथा सं० ३०६-३१३, अनन्तकीर्ति ग्रन्थ माला, वि० सं० १६७६.

५. 'सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति।'—सूत्रकृतांग १।६।२३.

६. वक्तव्यं वचन मयप्रविधेयं धीघनं मौनम्।

—पद्मनन्दि पंचविंशतिका, १।६।१.

ग्रहितकर होता है, वह सत्य नहीं हुआ करता।^१ क्योंकि सत्य के लिए यह आवश्यक है कि काया की सरलता भावों की सरलता तथा मन, वचन और काय रूप योग की एकरूपता हो।

सत्य की विशिष्टता का वर्णन करते हुए 'जैनाचार्य' ने बताया कि सत्य की साधना करनेवाला मेधावी साधक दुःखों से घिरा रह कर भी घबराता नहीं है।^२ वह मृत्यु के प्रवाह को भी निर्वाचरूप से सहज में ही तैर जाता है।^३ वास्तव में सत्य को अग्नि जलाती नहीं, पानी उसको डुबोने में असमर्थ होता है। सत्य के प्रभाव से पिशाच तक भाग जाने है तथा देवगण उसका रक्षण करते हैं, बदन करते हैं।^४ निश्चय ही सत्य ही समार मे सारभूत है। वह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है।^५ वह चन्द्रमण्डल से अधिक सौम्य है तथा सूर्यमण्डल से भी अधिक तेजस्वी है।^६ अस्तु विश्व के सभी सत्पुरुषों ने मूषावाद अर्थात् असत्यवचन की निन्दा की है।^७ असत्य का प्ररूपण करने वाला प्राणी ससार-सागर को पार करने में सदा असमर्थ रहता है।^८ अतः यह कहा जा सकता है कि सत्य सदा उपयोगी तथा कल्याणकारी होता है। ऐसे हितकारी सत्यवचन का बोलना श्रेयस्कृत है।^९

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्य की आधार शिला ज्ञान पुंज है। ज्ञान के अभाव में सत्य अप्रकट रहता है। ऐसी स्थिति में तथ्य की अपेक्षा आग्रह की प्रधानता रहती है। आग्रही-माहीन में आत्मगवेषणा असंदिग्ध ही कही जाएगी। युवाचार्य

महाप्रज्ञ (श्री मुनि नथमलजी) का यह कथन निश्चय ही सार्थक प्रतीक होता है कि "जिसने अपनी धारणा की खिड़की को सत्य से देखा, वह सत्य से दूर भागा है। जिसने तथ्यों की खिड़की से सत्य को देखने का प्रयत्न किया वह सत्य के निकट पहुँचा है। यदि संसार में अपनेपन का आग्रह न होता तो सत्य का मुँह आवरणों से ढका नहीं होता।"

—पीली कोठी, आगरा रोड,
अलीगढ़ (उ० प्र०)

'अनेकान्त' के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन वीरसेवामन्दिर के निमित्त

प्रकाशन अवधि - त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज दिल्ली-२

सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन

राष्ट्रिकता भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१,
दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

'मैं ओम प्रकाश जैन, एतद्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन प्रकाशक

१. 'सत्यप्रियं हितं चाहुः स्मृतं व्रताः।

तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत ॥'

—अनंगारधर्मभृत, अधिकार स० ४, श्लोक सं० ४२, पं० खूबचन्द, शोलापुर सं० ई० १६२७.

२. "सहिभो दुक्खमत्ताएणुट्ठो नो भंभाए।"

—आचारंग सूत्र १।३।३

३. "सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मोहावीमारंतरइ।"

—आचारंग सूत्र १।३।३

४. "अगवती आराधना, मूलगाथा स० ८३५-८५२

सखारामदोशी, शोलापुर, सं० ई० १६३५.

५. "सच्च...लोगम्मिसारभूयं, गंभीरतरं महासमुदाधो।

—प्रश्न व्याकरणसूत्र २।२

६. "सच्च सोमतरं चन्द मंडलाओ, हिततरं सुर मंडलाओ।"

—प्रश्न व्याकरणसूत्र २।२

७. "मुमावाओ उ लोगम्मि, सच्च साहूहि गरहिओ।"

—दशवैकालिक ६।१३

८. "जिने उ बाइणो एवं, नते संसार पारगा।"

—सूत्रकृतांग, १।१।१।२१.

९. "आमियव्व हियं सच्चं।"

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्याय १६, गाथा २७.

अपदेससत्तामज्झं

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

श्री 'समयसार' की १५वीं गाथा के तृतीय चरण के दो रूप मिलते हैं—(१) 'अपदेससुत्तमज्झं' और (२) 'अपदेससंतमज्झं'। और इस पर संस्कृत टीकाएँ भी दो आचार्यों की मिलती हैं—श्री जयसेनाचार्य और श्री भृमृतचन्द्राचार्य की।

आचार्य जयसेन की टीका के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके समक्ष 'अपदेससुत्तमज्झं' पद रहा और उन्होंने इसी पद को आश्रय कर टीका लिखी। टीका में पूरे पद को जिन शासन का विशेषण माना गया है और 'सुत्त' शब्द को दृष्टि में रख कर तदनुसार ही 'अपदेस' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ विठाया गया है। उक्त अर्थ 'सुत्त' शब्द के सम्बन्ध में पूरा-पूरा सही और विधिपूर्ण बैठ रहा है। कदाचित् यदि 'संत' शब्द किन्हीं प्रतियों में न होता तो पूरे पद के अर्थ में संभवतः अवश्य ही विवाद न उठता। आचार्य जयसेन अपनी टीका में लिखते हैं—

'अपदेससुत्तमज्झं' अपदेससूत्रमध्य अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतम् इति यावत् सूत्र परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमयइति तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञान समयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भाष्यत इति ।'

जिससे पदार्थ बताया-दर्शाया जाता है वह 'अपदेस' होता है अर्थात् शब्द। यानी द्रव्यश्रुत। 'सुत्त' का भाव है ज्ञान-समय अर्थात् भावश्रुत। ये भाव उक्त टीका से स्पष्ट फलित होता है। इन आचार्यों ने 'संत' शब्द का अपनी टीका में कहीं कोई भी उल्लेख नहीं किया।

जहाँ तक श्री भृमृतचन्द्राचार्य की टीका का संबंध है, उन्होंने १५वीं गाथा को पूर्व प्रसंग में भाई १४वीं गाथा के प्रकाश में देखा है। उनके समक्ष 'सुत्त' शब्द रहा प्रतीत नहीं होता अन्यथा कोई कारण नहीं कि वे टीका में उसे न छूते। उनकी दोनों गाथाओं की (दोनों की टीकाओं में)

समता तो है ही साथ ही आत्मा और जिनशासन में अभेदमूलक भाव (गाथाओं के अनुरूप) भी है पर उन्होंने गाथा के तृतीय चरण को श्री जयसेनाचार्य की भाँति, जिनवाणी का विशेषण नहीं बनाया और तृतीय चरण की टीका आत्मा का विशेषण बना कर ही लिखी। ऐसा प्रतीत होता है कि अवश्य ही उनके समक्ष 'सुत्त' के स्थान पर कोई ऐसा अन्य शब्द रहा होगा जो १४वीं गाथा में गृहीत आत्मा के सभी (पाँचों) विशेषणों की संख्या पूर्ति करता हो। वह शब्द क्या हो सकता है? क्या 'संत' 'सत्' या 'मत्' जैसा कोई अन्य शब्द भी हो सकता है? यह विचारणीय है।

हमारे समक्ष १४वीं व १५वीं दोनों गाथाएँ और दोनों पर श्री भृमृतचन्द्राचार्य की टीकाएँ उपस्थित हैं—

गाथा १४—'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्टं भणणयणियद ।

अविसेसमसंजुत्तं॥१४॥ समयसार

टीका—'या खलु अबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्यावि-

शेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः सात्वतानुभूतिरात्मैव ।'

गाथा १५—'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्टं भणणमविसेसं ।

अपदेससंतमज्झं॥१५॥ समयसार

टीका—'येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्या-

संयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः जिन-

शासनस्यानुभूतिः ।'

उक्त दोनों गाथाएँ और उनकी टीकाएँ आत्मानुभूति व जिनशासन अनुभूति (दोनों) में अभेदपन दर्शाती हैं अर्थात् जो आत्मानुभूति है और जो जिनशासन की अनुभूति है वही आत्मानुभूति है।

प्रथम गाथा नम्बर १४ में आत्मा के पाँच विशेषण हैं—(१) अबद्धस्पृष्ट (२) अनन्य (३) नियत (४)

(शेष पृष्ठ ८ पर)

ज्ञानानंद श्रावकाचार : एक परिचय

□ पं० बंशीधर शास्त्री, जयपुर

राजस्थान के कुछ मंदिरों में ढूँढारी में गद्य में लिखित समाधिमरण की प्रतियाँ मिलती हैं जिन पर लेखक का नाम या परिचय नहीं मिलता है। चौमूँ में इस समाधि-मरण का वाचन दशलक्षण के दिनों में किया जाता था। मुझे इसकी भाषा, शैली व भाव बहुत ही रुचिकर लगे। मैंने इसका हिन्दी अनुवाद भी किया था। कुछ वर्षों पूर्व

(पृष्ठ ७ का शेषांश)

भवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायवा ॥२६६॥'
—समयसार (कुन्दकुन्दाचार्य)

उक्त सदर्भ से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि आचार्य ने आत्मानुभूति और जिनशासनानुभूति में अभेद दर्शाने के लिए १४वीं गाथा को थोड़े फेर बदल के साथ १५वीं गाथा में भी आत्मा के वे सभी विशेषण बूझाए हैं जो कि गाथा १४वीं में है।

इसे 'संत' शब्द मानकर, उसका शान्त अर्थ करना उचित नहीं जंचता। यतः जिस आत्मस्वरूप की यहाँ चर्चा है वह शान्त और प्रशान्त दोनों ही अवस्थाओं से रहित—परमपारणामिक भाव रूप है।

इसी प्रकार अपदेश शब्द का अप्रदेशी अर्थ भी आगम विरुद्ध है यतः आत्मा निश्चय से असंख्यातप्रदेशी व्यवहार से शरीर प्रमाणरूप असंख्यात प्रदेशी है। शरीरज्माणरूप असंख्यातः।

उक्त सभी विचारों में मेरा आग्रह नहीं पाठक विचारें। जो युक्ति-युक्त हो उसे ही ग्रहण करें।

'मज्झ' का अर्थ मध्य होता हो ऐसा ही नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इस शब्द का प्रयोग 'मेरा' अर्थ में भी किया है। प्रसंग में 'मेरा' अर्थ से भी पूर्ण संगति बैठ जाती है। 'मेरा' अर्थ में आचार्य के प्रयोग—

'होहिदि पुणो वि मज्झ'—२१

'ज भणसि मज्झमिण'—२४

'मज्झमिणं पोगलं दव्वं'—२५

—समयसार

□

ज्ञात हुआ कि यह समाधिमरण 'ज्ञानानंद श्रावकाचार' का अंश है। तत्पश्चात् मैंने इस श्रावकाचार को पढ़ा। आज से ५१ वर्ष पूर्व श्री ईश्वरलाल किसनदास कापड़िया सूरत ने इसे मुद्रित किया था इसका दूसरा संस्करण देखने में नहीं आया।

इसके लेखक पं० रायमल्ल जी हैं जो पंडित प्रवर टोडरमलजी के समकालीन ही नहीं अपितु उनके प्रेरक भी थे जैसा कि स्वयं पंडित टोडरमल जी ने लिखा है—

रायमल साधर्मी एक, धर्म सर्वैया सहित विवेक। सो नानाविध प्रेरक भयो, तब यह उत्तम कारज थयो।

पंडित दीनतराम जी ने पद्मपुराण की प्रशस्ति में इनके लिए इस प्रकार लिखा है :

रायमल्ल साधर्मी एक, जाके घट में स्वपर विवेक दयावंत गुणवान सुजान, पर उपगारी परम निघान। दीनतराम सुताकी मित्र, तासो भाष्यों वचन पवित्र, पद्मपुराण महाशुभ ग्रंथ, तामे लोक शिखर को पन्थ। भाषारूप होय जो यह बहुजन वार्च करुण प्रति नेह, ताके वचन हिए में धार, भाषा कीनी मति अनुमार।

पंडित दीनतराम जी ने हरिवंश पुराण में भी रचना के लिए प्रेरक के रूप में श्री रायमल्ल जी के लिए लिखा है।

पं० रायमल्ल जी यावज्जीवन ब्रह्मचारी रहे और सदा धर्म प्रचार शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्व चर्चा, चिंतन-मनन में लीन रहने वाले थे। वे अन्य विद्वानों को शास्त्र रचना की प्रेरणा देते रहते थे। उनकी प्रेरणा से गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार त्रिलोकसार, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण आदि महान ग्रंथों की हिन्दी टीकाएँ लिखी गईं। उन्होंने स्वयं भी दो ग्रंथ लिखे, ज्ञानानंद श्रावकाचार एवं चर्चा सारांश। प्रथम ग्रंथ एक बार प्रकाशित हो चुका है जबकि दूसरा अभी भी अप्रकाशित ही है।

इस प्रथम ग्रंथ की रूपाति पहले पं० टोडरमलजी द्वारा रचित के रूप में भी रही है। कई हस्तलिखित प्रतियों में लेखक के रूप में पंडित टोडरमल जी का नाम रहा है इसलिए ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक है; किन्तु इसकी भाषा एवं शैली पंडित टोडरमल जी जैसी नहीं है। अतः पं० मिलापचंदजी कटारिया ने जैन सन्देश के शोषांक ८-७-६० में सिद्ध किया है कि पंडित टोडरमलजी कृत कोई श्रावकाचार नहीं है, फिर भी यह जरूर है कि, ज्ञानानंद श्रावकाचार शब्दशः टोडरमलजी कृत न होने पर भी अर्थशः उनका माना जा सकता है क्योंकि पं० गायमल्ल जी दोनों धार्मिक और साहित्यिक कार्यों में परस्पर एक-दूसरे के साथी थे।

२६२ पृष्ठ के प्रकाशित ग्रंथ में इसका नाम 'ज्ञानानंद श्रावकाचार' दिया गया है जबकि लेखक ने इसके मंगलाचरण के बाद इसका पूरा नाम इस प्रकार लिखा है—'ज्ञानानंद पूरित निरभर निजरस श्रावकाचार।' लोक में इस बड़े नाम के बजाय ज्ञानानंद श्रावकाचार नाम ही अधिक प्रचलित है। पद्य श्लोक में अनेक श्रावकाचार मिलते हैं किन्तु गद्य में यह पहला श्रावकाचार देखने में आया है। लेखक अपने बाल्यकाल से ही विद्वानों के साथ चर्चा-वार्ता एवं स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानार्जन करते रहे हैं। उन्होंने उसी ज्ञान और अनुभव का इस ग्रंथ की रचना में उपयोग किया है, वे इस रचना में भी अपने अनुभव ही का वर्णन करते हैं। इसीलिए उन्होंने ६ दोहों में मंगलाचरण कर प्रथम वाक्य इस प्रकार लिखा है, "इस प्रकार मंगलाचरण पूर्वक अर्पण इष्टदेव को नमस्कार कर ज्ञानानंद पूरित निजरस नाम शास्त्र ताका अनुभव करूँगा।"

इन्होंने पंडित टोडरमलजी की तरह विभिन्न प्रश्न स्वयं उठाकर पाठकों के लिए उनका समाधान भी किया है। उन्होंने प्राचीन मान्य श्रावकाचारों एवं आगम ग्रंथों का रहस्य साधारण पाठकों के लिए प्रस्तुत कर वीतराग धर्म प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

इस ग्रंथ में श्रावकाचारों की मान्य परम्परा के अनुसार अष्ट मूलगुण, ग्यारह प्रतिमाओं, बारह व्रतों, सप्त व्यसन त्याग का पूर्ण विवरण सरल भाषा में प्रस्तुत

किया गया है। इसमें मंगलाचरण के रूप में पंच परमेष्ठी का स्वरूप भी प्रकाशित ग्रंथ के २६ पृष्ठों में दिया गया है। वस्तुतः पंच परमेष्ठी के सच्चे स्वरूप की श्रद्धा व समझ करने वाला ही अपना कल्याण कर सकता है। ऐसा व्यक्ति कुदेव, कुगुरु की श्रद्धा रूप गृहीत मिथ्यात्व में नहीं फंसेगा यह तो निश्चित है उन्होंने भगवान के उपदेश का इस प्रकार वर्णन किया है :—

‘रे भव्य जीवो ! कुदेवों को पूजने से अनंत संसार में भ्रमण करोगे और नरकादिक के दुःख भोगोगे और हमको (सुदेव को) पूजोगे तो स्वर्गादिक के सब क्लेश सहोगे निज स्वरूप की आराधना करोगे तो नियम कर मोक्ष सुख को पावोगे।’

पाठक देखेंगे कि लेखक ने स्वर्गादिक के सुख को सुख न बताकर मंद क्लेश ही बताया है और मोक्ष सुख को ही सुख कहा है जो लोग सामाजिक सुखों के आकर्षण में पड़कर कुदेवादि की भक्ति में या अन्य देवों की भक्ति में ही लीन रह कर सन्तोष करते हैं वे वास्तविक सुख नहीं पाते। लेखक ने भक्ति व्रतादि में भी निज स्वरूप एवं वीतरागता की महिमा को ही मुख्यता दी है। वस्तुतः प्रत्येक सम्यग्दृष्टि अपने गुणस्थानानुसार सच्चेदेव, शास्त्र गुरु की भक्ति एवं व्रतादि का पालन करता है किन्तु उसका मूल लक्ष्य निज स्वरूप की प्राप्ति ही है। इसमें श्रावकाचारों के पारंपरिक वर्णनों-अष्टमूलगुण, सप्तव्यसन त्याग, बारह व्रत एवं ग्यारह प्रतिमा आदि के सिवा अन्य उपयोगी, विवेकपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है जो अन्य श्रावकाचारों में सुलभ नहीं हैं किन्तु उसका ज्ञान श्रावक के आचरणों में सुधार के लिए आवश्यक है।

इसमें जहाँ रात्रि भोजन का स्वरूप व दोष बताया गया है वहाँ रात में चूल्हा भी जलाने के दोष बताये गये हैं। इसमें अनछने पानी को प्रयोग में लेने के दोष भी बताए गए हैं। सप्त व्यसनो में प्रमुख व्यसन जुग्रा क विशेष दोषों का वर्णन किया गया है। रसाई करने की सावधानीपूर्ण विधि भी बताई गई है ताकि कम-स कम हिंसा हो; इसमें निम्न व्यवसायो एवं क्रियाओं में असावधानी या सहज होने वाले दोषों का विवेचन किया गया है ताकि श्रावक इन दोषों से बचें :—

खेती, काड़े घोने व रगने में दोष, हलवाई का भोजन करने में दोष, कांजी, आचार, जलेबी, शहद खाने व अन्य व्यक्तियों के साथ गागिल जीमने में दोष, रजस्वला स्त्री के साहचर्य आदि में दोष ।

इसमें दूध, घी, छाछ व घृत को किस प्रकार मर्यादित रूप में रखना चाहिए इसका भी वर्णन है । इन्होंने दूध की मर्यादा दो घड़ी बताई है, दूध निकालने के दो घड़ी भीतर पी लेना चाहिए या गरम कर लेना चाहिए, नहीं तो उसमें त्रसकाय के जीवों की उत्पत्ति होना लिखी है । इसी प्रकार दही का उपयोग आठ प्रहरमें कर लेना चाहिए । आहार के विभिन्न पदार्थों के उपयोग की अवधि के संबंध में उल्लेख अठारहवीं शताब्दि के अन्य दो क्रियाकौषों में भी मिलते हैं, इनका प्राचीन आधार क्या रहा है यह देखने में नहीं आया फिर भी इन मर्यादाओं को सत्यता आज वैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध की जा सकती है । अतछने पानी, रात्रि में भोजन या मर्यादा काल के बाद के भोजनों के वैज्ञानिक परीक्षण कर सिद्ध करना आवश्यक है कि इनमें क्या-क्या दोष हैं । आज मेलों, मंदिरों के नाम पर ऐसे स्थान पर भी लाखों रुपए खर्च किए जाते हैं जहाँ इनकी कतई आवश्यकता नहीं है । यदि यही रूपया इन वैज्ञानिक परीक्षणों में लगाया जाय तो जैन धर्म की सच्ची प्रभावना होगी एवं इससे समस्त विश्व को जैन आहार चर्या की वैज्ञानिकता ज्ञात होगी । हमारी अखिल भारतीय संस्थाओं को इस ओर ध्यान देना चाहिए । भारतीय एवं विदेशी वैज्ञानिकों का ध्यान भी इस सम्बन्ध में आकर्षित करना चाहिए । साहित्य के शोध के साथ-साथ जैन आहार चर्या की वैज्ञानिकता सिद्ध किए जाने की आवश्यकता हम भुला नहीं सकते ।

जैन मंदिरों में प्रज्ञान व कषाय के कारण होने वाले ८४ प्रसातना के दोषों का विस्तृत उल्लेख किया गया है । इससे लगता है कि लोग उनके काल में मंदिरों का दुरुपयोग करने लगे थे और उनकी वैयक्तिक निवास के रूप में मानने लगे थे । इसलिए वहाँ रहने, सोने व अन्य कार्यों के करने का पूर्ण निषेध किया गया । इसमें कुलिंगो, श्वेतावर, भट्टारको आदि के मत व चर्चा बता कर उनकी शास्त्र विरुद्धता सिद्ध की गई है ।

पंडित प्रवर टोडरमलजी द्वारा जैन शास्त्रों के सिद्धांतों के प्रचार से भट्टारक परम्परा को स्वतः जबरदस्त धक्का लगा किन्तु यह भट्टारक परम्परा क्या थी और क्यों बुरी थी इसका विस्तृत वर्णन पं० टोडरमलजी के ग्रंथों में भी नहीं मिलता । पं० टोडरमलजी के ही प्रेरक पं० रायमलजी ने अपने इस ग्रंथ में भट्टारको की शास्त्र विरुद्ध चर्चाओं का यथावसर विस्तृत वर्णन किया है इसमें हमें उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी मिलती है ।

भट्टारकों एवं उनके आश्रित 'पाण्डे' लोगों की रचनाओं में भट्टारक का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है । उन्हें आचार्यों उपाध्यायों, मृत्तियों का प्रमुख आध्यात्मिक मण्डलाचार्य, पूर्ण सयमी साधु, महाव्रती आदि आदि बताया गया है । संभवतः उस समय उनसे प्रभावित व आश्रित लोग उन्हें उसी रूप में मानते भी हों, किन्तु जैनागम के शास्त्रीय आधार पर वे साधु तो दूर क्षुल्लक ऐलक भी नहीं ठहरते । उनका आचरणों के आधार पर तो उन्हें सच्चा श्रावक कहने में भी संकोच होगा । आज के इतिहासकार को इन अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों का उल्लेख करने के साथ इनकी शास्त्रीय स्थिति का उल्लेख अवश्य करना चाहिए ताकि पाठक को सही जानकारी मिले अन्यथा इनके मात्र अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों एवं विशेषणों के उल्लेख में दिग्गजर साधु चर्या के सम्बन्ध में लोगों की गलत धारणा होगी । इस प्रसंग में 'बीर शासन के प्रभावक आचार्य' शीर्षक पुस्तक उल्लेखनीय है जिसके वर्णनों के अनुसार भट्टारक को पूर्णतः सयमी (पृष्ठ ११७) महाव्रतियों के नायक (पृष्ठ ११८) साधु (पृ० १२०) बताया गया है । कुंदकुद उमास्वामी, समंतभद्र, भकलकादि महान आचार्यों की कोटि में ही रखकर इनका वर्णन किया गया है । भट्टारक के परिग्रह आदि का कोई उल्लेख नहीं किया गया है । इससे भविष्य में भट्टारक दिग्गजर साधु ही समझे जायेंगे ।

इस ग्रंथ के भट्टारको सम्बन्धी कुछ उद्धरण प्राधुनिक हिन्दी में परिवर्तित कर पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं :—

सत्पुरुष जिनधर्म की आराधना द्वारा एक मोक्ष को ही चाहते हैं । वे स्वर्गादि भी नहीं चाहते तब उससे

प्राजीविका की क्या बात ? सो हाय ! हाय ! हुंडाव-सर्पणी काज के दोष से पंचम काल में कौसी विपरीतता फली है ? काल या दुष्काल में कोई गरीब लड़का भूखे मरने की स्थिति आने पर चार रुपये में नौकर रखा जाता है; फिर भी वह दास की तरह निर्माल्य खाकर बड़ा हुआ । उसने जिन मंदिर में ही रहने का घर किया और उसके छुट्टे देव गुरु धर्म के विनय का अभाव हुआ और वह कुगुरादि सेवन का अधिकारी हुआ, उसने ऐसा धोरो को उपदेश भी दिया । (जयपुर के एक मंदिर में ऐसे पत्र मिले हैं जिनमें किसी पाण्डे द्वारा किसी के लड़के को खरीदने का विवरण है) अर्धे जीव उसी का आश्रय लेकर धर्म साधना चाहते हैं । वह अपने को पुजाकर महत मानने लगा और वह स्वयं अपने मुख से कहता है कि हम भट्टारक दिगम्बर गुरु हैं, हमें पूजा नहीं पूजोगे तो दण्ड देंगे और हम तुम्हारे सिर पर भूखे रहेंगे । ...वह स्त्री को साथ लिए फिरते हैं । वस्तुतः भट्टारक नाम तो तीर्थंकर केवली का है । जितना-जितना परिग्रह कम हो उतना-उतना संयम बढ़ता जाय । जबकि वह हजारों रूपए की सम्पदा, चढ़ने के लिए हाथी, घोडा, रथ पालकी, नौकर-चाकर रखता है, मोती कड़ा पहनता है मानो वह नरक लक्ष्मी के पाणिग्रहण की तैयारी करता है । वह चेला आदि की फौज रखता है वह ऐसी विभूति रखता हुआ राजा के सदृश्य बन कर रहता है, फिर भी अपने आपको दिगम्बर (नग्न) मानता है । सो हे दिगम्बर, हम कैसे उमे दिगम्बर जानें ? वह एक दिगम्बर नहीं है, वह तो मानो हुंडासर्पणी की पंचम काल के विधाता द्वारा घड़ी हुई मूर्ति है या मानो सात व्यसनो की मूर्ति हो है या मानों पाप का पहाड़ ही है या मानो जगत को डुबाने के लिए पत्थर की नाव है । कलिकाल के ये गुरु प्रतिदिन आहार ग्रहण करने को नग्नता अपनाते हैं और स्त्री के लक्षण देखने के बहाने उनका स्पर्श करते हैं । वे स्त्री के मुख कमल की अमर की तरह देखकर मग्न होते हैं एवं अपने आपको कृत्य-कृत्य हुआ मानते हैं, सो यह बात न्याय ही है - नित्य इन्हे नाना प्रकार का गरिष्ठ भोजन मिले और नित्य नई स्त्री मिले उनके सुख का क्या कहना ? ऐसा सुख राजा को भी दुर्लभ होता है सो ऐसा सुख पाकर

कोन पुरुष मग्न नहीं हो । पृ० (६४-६७) भट्टारकों की ऐसी स्थिति होते हुए भी उनकी प्रशंसा के गीत कहीं-कहीं सुनने को मिलते थे उसके सम्बन्ध में इस ग्रंथ में निम्न पंक्तियां मिलती हैं :

उनकी (भट्टारको की) आवाक प्रशंसा करते हैं कि आप हमारे सतगुरु हैं और भट्टारक उन्हें 'पुण्यात्मा आवाक' बताते हैं । इस कथन पर 'ऊँट का व्याह और गधे गीत गाने वाला' दृष्टांत लागू होता है । गधे गीत गाते हैं कि वर का स्वरूप कामदेव जैसा है और ऊँट कहता है कि गधे किन्नर जाति के देवों के मधुर कंठ के जैसा राग गाते हैं इस प्रकार इन आवाक और उनके गुरुओं की शोभा जाननी (पृष्ठ १८) इसमें ज्ञात होता है कि भट्टारकों के प्रतिशयोक्तिपूर्ण विशेषणों की सत्यता स्वीकार करने में किननी सावधानी की आवश्यकता है ।

ग्रंथ में अन्यत्र भट्टारको को कुलिगी बताने हुए लिखा गया है — "कुलिगी मंदिर को अपने घर की तरह बनाकर गादी तकिये लगाकर ऊँची चौकी पर बैठकर बड़े महत पुरुषों की तरह अपने आपको पुजाते हैं, इसका फल उन्हें कैसे मिलेगा यह हम नहीं जानते । वे गृहस्थों को जबरदस्ती बुलाकर आहार लेते हैं । (पृ० ६६) वे उनसे आहार और भेंट स्वरूप भँवर-नगदी लेते थे ।

भट्टारकों की इन व अन्य शास्त्र विरुद्ध चर्चाओं को देखकर धर्मात्माओं की प्रतिक्रिया का उल्लेख ग्रंथ में इस प्रकार किया गया है:— "अब क्या करना ? केवली श्रुतकेवली का तो अभाव हो गया और गृहस्थाचार्य पहले ही अष्ट हो गए थे अब राजा और मुनि भी (भट्टारक उस समय अपने आपको मुनि रूप में ही पुजते थे) अष्ट हो गए सो अब धर्म किमकें आश्रय रहे ? अब चूँकि अपने को धर्म रखना है सो अब आजी की स्वयं ही पूजा करा और स्वयं ही शास्त्र पढ़ा और कुवधियों का जिन मंदिर में बाहर निकाल दो । वे भगवान का बहुत अविनय करते हैं, अपने आपको पुजाने हैं और मंदिर का घर सदृश बना लिया । पृ० १११ (उम समय जिन पूजा, शास्त्र पढ़ने का अधिकार भी भट्टारको के आदिमियों तक था जिसका वे रूपए पैसे लेते थे) ।

अब रक्षक और धर्मोपदेखक, धर्मगुरु ही अष्ट हो

जाय तो आत्म कल्याण का मार्ग यही है कि स्वयं शास्त्र पढ़ो और उसके अनुसार चलो। इसमें तेरापंथी की भी यह परिभाषा दी है— हे भगवान् ही थाका वचना के अनुसार चला तातै तेरापंथी हों, तो सिवाय और कुदेवादिक को हम नाहीं सेवे है।

भट्टारकों का यह ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक वर्णन हमें सावधान करने के लिए पर्याप्त है। परिग्रहधारी साधु रूप में पूजा जावे यह दिगम्बर जैन परम्परा में मान्य नहीं हो सकता फिर भी लोगों के अज्ञानवश ऐसे व्यक्ति साधु माने जाते हैं। किन्तु प्राश्चर्य और दुःख साथ ही करुणा तब होती है जब शास्त्रों के जानकार भी परिग्रही सबस्त्र भट्टारकों का समर्थन करते हैं। ऐसी स्थिति में लेखक का यह मत ही कल्याणकारी है कि स्वयं शास्त्र पढ़ो, स्वयं पूजा करो। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि यह वर्णन भट्टारकों के विरोधियों द्वारा लिखा गया है इसलिए प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, किन्तु यह वर्णन अन्य प्रामाणिक व प्रत्यक्ष साधनों से भी मही मिद्ध होता है। भट्टारक पंच महाव्रत लेकर परिग्रह रखते हैं, वस्त्रादि रखते हैं, नग्न भी कभी-कभी होते हैं, ग्राहार के साथ भेंट आदि लेते हैं, मंत्र-तन्त्र के द्वारा लोगों को आकर्षित करते हैं।

इस ग्रन्थ में आत्मको के तत्त्व चिन्तन के लिए सोलह वारण भावना, दश लक्षण, रत्नत्रय, सप्त तत्त्व, नव पदार्थ बारह अनुप्रेक्षा, बारह तप, बारह संयम, सामयिक आदि का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। आत्मको के अन्तिम कर्म—समाधिमरण का इतना भावात्मक विवेचन किया गया है कि उसका स्वाध्याय प्रेमियों में स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया जाता रहा जैसा कि मैंने प्रारम्भ में उल्लेख किया है।

श्री जिनदर्शन-स्तुति का फल स्वर्ग बताते हुए स्वर्ग का वर्णन किया गया है। और समाधिमरण का वर्णन कर माक्ष सुख का वर्णन किया गया है। आत्मको कुगुरु-कुदेव से बन्ने इसलिए उसका स्वरूप भी बताया गया है।

ग्रन्थ का 'समाधिमरण' में प्रयुक्त समाधिमरण करने वाले की विचारधारा लेखक का 'शास्त्रीय चिन्तन' की महर्त्ता सिद्ध करती है, वह विचारधारा एवं परिवार वालों

को उद्बोधन आज भी प्रत्येक पाठक को प्रेरणा देता हुआ वैराग्य की ओर धमसर करता है। पाठकों से मेरा अनुरोध है कि वे इस 'आत्मकाचार' को पूरा न पढ़ सकें तो इसके समाधिमरण 'ग्रंथ' को अवश्य पढ़ें। इसके कुछ भावपूर्ण उद्धरण यहाँ देना आवश्यक समझता हूँ ताकि पाठकों को लेखक के ज्ञान एवं वैराग्य तथा आत्मानुभव का सही बोध हो—

“तीन लोक में जितने पदार्थ हैं वे सब अपने स्वभाव-रूप परिणमन करते हैं। कोई किसी का कर्त्ता नहीं कोई किसी का भोक्ता नहीं। स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही नष्ट होता है, स्वयं ही मिलता है, स्वयं ही विच्छिन्न होता है, स्वयं ही गलता है तो मैं इस शरीर का कर्त्ता और भोक्ता कैसे ?”

मैं ज्ञायक स्वभाव ही का कर्त्ता और भोक्ता हूँ और उसी का वेदन एवं अनुभव करता हूँ। इस शरीर के जाने से मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं और इसके रहने से कुछ सुधार नहीं। यह तो प्रत्यक्ष ही काष्ठ या पाषाण की तरह अचेतन द्रव्य है।”

“काल (मृत्यु) भी दौड़-दौड़ कर शरीर ही को पकड़ता है और मेरे से दूर भागता है।”

“अब मेरा मोह कर्म नष्ट हो गया इसलिए जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसा ही मुझे दृष्टिगोचर होता है। उसमें जन्म-मरण, सुख-दुःख दिखाई नहीं देते। अब मैं किम बात का सोच-विचार करूँ ?”

“मैं तो चैतन्य शक्ति वाला शाश्वत बना रहने वाला हूँ उसका अवलोकन करते हुए दुःख का अनुभव कैसे हो ?”

“अब मेरे यथार्थ ज्ञान का भाव हुआ है, मुझे स्व-पर का विवेक हो गया है। अब मुझे ठगने में कौन समर्थ है ?”

“मैं सिद्ध समान आत्मा द्रव्य में पर्याय में” नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ भी अपनी मोक्ष लक्ष्मी को नहीं भूलता हूँ तब मैं लोक में किसका भय करूँ ?”

“शरीर जड़ और आत्मा चैतन्य—ऊट-बैल का सा इन दोनों का संयोग कैसे बने ?”

“समाधिमरण करने वाला कुटुम्बियों से कहता है— आप हमसे किसी बात का राग न करे। आपके और (शेष पृष्ठ १५ पर)

जैन तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय कुल में ही क्यों ?

□ श्री गणेशप्रसाद जैन

यह आज का नहीं, एक प्राचीन प्रश्न है कि जैन-तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय-कुलों में ही क्यों होता है ? जब इस कल्पना के समर्थन में इवेताम्बर आगम ग्रन्थों में भगवान् महावीर के गर्भ परिवर्तन की कथा प्रस्तुत की जाती है, तब यह और भी विस्मयपूर्ण-जिज्ञासा तर्क रूप ग्रहण कर लेती है। परन्तु दिगम्बर परम्परा इस मान्यता को पूर्णरूपेण अस्वीकार करती है, इससे यह और भी विचारणीय विषय बन गया है।

कहा जाता है कि भगवान् महावीर के गर्भ-परिवर्तन की कथा श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध (अ० २ श्लोक १-१३, तथा अ० २ श्लोक ४६-५०) के श्रीकृष्ण की कथा से पूर्ण प्रभावित है। भवितकाल में अपने श्राद्धों की चमत्कारपूर्ण कथाओं का प्रचार कर उन पर जन-श्रद्धा प्रोत्साहित करने का युग था। इसके लिए विविध ढंग अपनाए गये।

संक्षेप में कथासार इस प्रकार से है—जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में वैशाली गणतन्त्र के उपनगर ब्राह्मण-कुण्ड के वृषभदत्त नाम के ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा के गर्भ में नन्दन मुनि का जीव (महावीर का जीव) दसवें देवलोक से च्युत होकर आया। इसी रात्रि को पिछले प्रहर में ब्राह्मणी देवानन्दा ने भावी तीर्थंकर की माता के सूचक चोदह (१४) स्वप्न देखे। यह गर्भ ८३ (तेरासी) दिनों तक ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में वृद्धि पाता रहा।

जब इन्द्र का सिंहासन कम्पित हुआ, तब उसने विचारा कि मेरे सिंहासन के कम्पित होने का कारण क्या होना चाहिए ? उसे ज्ञात हुआ कि भावी तीर्थंकर महावीर का जीव जिसे क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेना चाहिए था, वह वैशाली के उपनगर ब्राह्मणकुण्ड के ब्राह्मण वृषभदत्त की पत्नी देवदण्डा के गर्भ में स्थित हो पोषण पा रहा है।

ब उसने महावीर के उस भ्रूण को क्षत्रियकुण्ड के शासक

सिद्धार्थ की पत्नी क्षत्राणी त्रिशला देवी के गर्भ में परिवर्तित कराने का निर्णय किया।

तीर्थंकर का जन्म क्षत्रिय-कुल के प्रतिरिक्त ग्रन्थ और कही तो हो नहीं सकता, इसी नियम की पूर्ति के लिए इन्द्र ने अपने सेनापति नैगमेष देव को महावीर के भ्रूण को परिवर्तित करने का भार सौंपा। नैगमेष ने क्षत्रिय-कुण्ड में त्रिशला देवी की कन्या के भ्रूण को ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में और देवानन्दा के गर्भ में स्थित भावी तीर्थंकर महावीर के भ्रूण को त्रिशला रानी के गर्भ में परिवर्तित कर दिया। गर्भ-परिवर्तन-काल में दोनों माताओं को नैगमेष ने मोह-निद्रा में सुला दिया था। इस कारण दोनों में से किसी को भी आभास तक नहीं हुआ।

इवेताम्बर-आम्नाय के प्रमुख ग्रन्थ कल्पसूत्र की सुबोधिनी-टीका में उल्लिखित है कि 'महावीर का जीव' जब प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभनाथ का पौत्र और चक्रवर्ती भरत का पुत्र मारीच था, तब उसने कुल का गर्व करके नीच गोत्र का बन्ध कर लिया था, अतः उसके प्रतिफल स्वरूप उसे ब्राह्मणी के गर्भ में ८३ दिन भ्रूण रूप में निवास करना पड़ा।

स्वामी कर्मानन्द ने लिखा है कि 'इतिहास के पर्यावलोकन से ज्ञात होता है कि पूर्व काल में आत्मविद्या केवल मात्र क्षत्रियों के पास ही थी। ब्राह्मण जन इससे नितास्त अनभिज्ञ रहे। ब्राह्मणों ने क्षत्रियों का शिष्यत्व स्वीकार कर इस विद्या को प्राप्त किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (११-१३) में वर्णित है कि 'महाराजा जनक का प्रताप इस विद्या के कारण इतना फैला कि काशीराज अजातशत्रु ने निराश होकर कहा था कि सचमुच ही सब लोग यह कह कर भाग जाते हैं कि हमारा रक्षक महाराजा जनक ही है। काशीराज अजातशत्रु स्वयं भी अध्यात्म विद्या के महान् प्राचार्य थे। वह आत्मतत्त्वेत्ता थे।

शतपथब्राह्मण में लिखित है कि महाराजा जनक की भेंट तीन उद्भट विद्वान् ब्राह्मणों से हुई। महाराजा जनक ने उनसे 'अग्निहोत्र' विषय के प्रश्न किये जिसका उत्तर वे न दे सके। महाराजा जनक ने जब उनके उत्तरों की भूल उन्हें समझाई, तब वे क्रोधित होकर कहने लगे कि जनक ने हम सबको अपमानित किया है। महाराजा जनक सभा से बले गये उनमें से एक याज्ञवल्क्य नाम का विद्वान् (ब्राह्मण) महाराजा जनक के गुणों (विद्वत्ता) को पहिचान गया, और वह उनके पीछे पीछेगया। मार्ग में महाराज जनक से अनुनय-विनय कर उनमें अपनी शंकाओं का समाधान किया।

'याज्ञवल्क्य' ने महाराजा जनक को यह कह कर कि जो ब्रह्म को जाने वह ब्राह्मण से महाराजा जनक ब्राह्मण है इसका प्रचार और प्रसार किया विश्वामित्र जैसे क्षत्रिय ऋषि मान्य हो गए थे, उसी प्रकार महाराजा जनक भी ब्रह्म-विद्याविशारद ब्राह्मण के विरुद्ध प्रख्यात हो गये। यही याज्ञवल्क्य यजुर्वेद के सकलनकर्ता है।

छन्दोगोपनिषद् (५.३) में वर्णित है कि श्वेतकेतु 'भारुणि' (भारुणेय) पांचालों की एक सभा में गया, वहाँ क्षत्रिय प्रवाहन जयवली ने उससेकुछ प्रश्न पूछे। उन प्रश्नों में से एक का भी उत्तर वह न दे पाया। वह उदास मन अपने पिता के पास लौटा, और ऋषि पिता से उन किये प्रश्नों का उत्तर माँगा। पिता गौतम भी प्रश्न के उत्तर से अनभिज्ञ थे, अतएव वह पुत्र सहित जयवली के समक्ष गये और उसका शिष्यत्व स्वीकार कर उस आत्मविद्या को प्राप्त कर लिया।

उस समय जयवली ने ब्राह्मण गौतम और श्वेतकेतु भारुणेय को इतना संकेत अवश्य दिया था कि आज यह क्षत्रियों की इस निधि अध्यत्म (आत्म) विद्या को आप ब्राह्मण जन हमसे प्राप्त कर रहे हैं !

छन्दोगोपनिषद् (५.२) और शतपथ ब्राह्मण (१०.६-१) में लिखा है कि पाँच देवज ब्राह्मणों ने इस जिज्ञासा के साथ कि 'आत्मा क्या है ?' उद्दालक भारुणी के चरणों में पाणिपात किया। परन्तु भारुणि स्वयं ही आत्मा के विषय में संशययुक्त थे, अतः उन्होंने उन पाँचों देवजों के हाथ में समिधा थमाकर उन्हें साथ लेकर कैकेय-

राय (अश्वपति) के पास ले गये। कैकेयराज ने उन्हें शिष्यवत् देख कर आत्मज्ञान प्राप्त करने की विधियाँ बतला दी और उपदेश देकर उनकी शकाओं का निवारण कर दिया।

कौषितकी उपनिषद् की कथानुसार चित्रगगायिनी-राजा के पास दो ब्राह्मण समितपाणि गये और उन्होंने उनसे आत्मज्ञान प्राप्त किया। उसी उपनिषद् में कथित है कि भारतवर्ष के माने हुए विद्वान् गायबालामी और काशीराज राजातशत्रु को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा था। किन्तु पराजित बालामी ने काशीराज का शिष्यत्व स्वीकार किया और काशीराज ने उसे उसी प्रकार से आत्म-विद्या का रहस्य बतला दिया।

इसी राजा राजातशत्रु (काशीराज) के पुत्र थे भद्रसेन। हो सकता है कि यही भद्रसेन २३वें जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के पिता हो। जैन शास्त्रों में इनका नाम भद्रसेन मिलता है। शतपथ (५.५.५) के अनुसार इन्हीं राजा भद्रसेन परभारुणी ऋषि ने अभिचार कर्म किया था।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त ब्राह्मण बहुल-ग्रन्थों से ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं कि 'आत्मविद्या' के पारंगत क्षत्रिय जन ही थे, ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मणों का धर्म क्रिया-काण्ड वाला यज्ञ ज्ञान का था। उपनिषद् शास्त्र अवश्य ही अध्यत्म विद्या से सम्बन्धित है। उनमें स्थान-स्थान पर यज्ञादि क्रिया-काण्ड का विरोध किया गया है। लिखा है—'प्लवा एते भद्रुष्टा यज्ञरूपा' (मुण्डकोपनिषद्)। अर्थात् यज्ञ रूपी क्रियाकाण्ड उस जीर्ण नौका के समान है जिस पर चढ़ कर पार उतरने की इच्छा रखने वाला जीव प्रवश्य डूब जाता है।

इतिहासकार धार० सी० दत्त की पुस्तक 'सम्प्रदाय का इतिहास' में लिखा है कि प्रवश्यमेव क्षत्रियों ने ही इस आत्मविद्या के उत्तम विचारों को प्रसारित किया। जहाँ अध्यत्म विद्या के विषय में क्षत्रियों का महत्त्व था वहाँ पूर्व देश की ही यह गौरव प्राप्त था। पूर्व देश के क्षत्रिय राजा बिदेह (जनक) एव काशीराज के अतिरिक्त मगध, पांचाल, कैकेय आदि के राजा भी आत्म-विद्या विशारद थे।

कैकेय पंजाब में नहीं, नेपाल की तलहटी में श्रावस्ती से उत्तर-पूरब (पूर्व) में स्थित था, इसकी राजधानी श्वेताम्बिका थी। ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व (अनुमानित) श्वेताम्बिका का शासक 'प्रदेशी श्रमणोपासक' (जिन धर्मों) था। सम्भवतः वर्तमान सीतामढ़ी ही श्वेताम्बिका है।

ऋग्वेद में 'कुर्वन्ति कीकटेषु गाँव' लिखकर मगध की निन्दा की गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में मगध देश में वैदिक क्रिया काण्डों का भारी विरोध होता था। जैन-तीर्थंकरों का जन्म तथा अन्य कल्याणक विशेष-कर मोक्ष कल्याणक (२४ मे से २२ १) इसी प्रदेश बिहार के हजारीबाग जिले के सम्पेक्षित-पर्वत (वर्तमान नाम पार्श्वनाथ पर्वत) पर हुआ है। कोटाकोटि मुनियो न इस भूमि पर मोक्ष प्राप्त किया है। इस प्रकार से पर्वत का कण-कण पवित्र और तीर्थ क्षेत्र है। जैनधर्मो श्रमणजन वैदिक यज्ञादि का कट्टर विरोध सदा करते रहे।

उपर्युक्त घटपात्रों और तथ्यों से सिद्ध है कि भारत-देश निवासी क्षत्रिय जन ही आत्म धर्म विचारक थे और विशेषकर मगध के। इसलिए ब्राह्मणों ने मगध का सत्ता तिरस्कार किया और धाज भी कर रहे हैं। कहते हैं 'मगध मरे सो गदहा होय' और इसी भ्रम से कड़िवावी जन मरने से पूर्ण वृद्धावस्था में ही काशीवास के लिए मगध प्रदेश का त्याग कर देते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों से सिद्ध है कि मगध प्रदेश 'आत्मधर्म' का प्रमुख स्थल था, वहाँ ब्राह्मणों के यज्ञयाग को सदा हेय माना गया, उसे अश्रद्धा से देखा गया। बारम्बार उनके प्रयत्न निष्फल रहे। अतएव उन्होंने प्रदेश की बुराई की।

तीर्थंकर आध्यात्मविद्यानुरागी होते हैं। क्षत्रियों के यहाँ शिशुकाल में उन्हें यह आत्मविद्या चुटी में मिलती रही, इसीलिए वे क्षत्रियकुल में ही उत्पन्न होते रहे।

□ □

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

हमारे चार दिन का संयोग था, कोई तल्लीनता तो थी नहीं। जैसे सराय में अलग-अलग स्थानों के राही दो रात ठहरें और फिर बिछुड़ते समय वे दुःखी हों इसमें कौन सयानापन है, इसी प्रकार हमें बिछुड़ते समय दुःख नहीं है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त श्रावकाचार पंडित जी की महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक रचना है इसके अधिकाधिक प्रचार की आवश्यकता है। इसके नवीन संस्करण के प्रकाशन की आवश्यकता है। पंडित जी के अन्य ग्रन्थ चर्चा-संग्रह ग्रन्थ का भी प्रकाशन होना चाहिए ताकि उसमें विभिन्न सैद्धांतिक प्रश्नों का उचित समाधान पाठकों को मिल सके। यह बात ठीक है कि इस युग में

लोगों ने समयसार के साथ मोक्षमार्ग प्रकाश से भी दिशाबोध पाया है, यही कारण है कि अनेक प्रबुद्धों ने इन दोनों ग्रन्थों को घर-घर पहुंचाने में नैमित्तिक योगदान दिया है। इन दिनों अनेक प्रमुख संस्थाएँ अध्यात्म प्रचार एवं शिक्षण का प्रमुख केन्द्र बन गई हैं। इन संस्थाओं की ओर से पं० टोडरमल जी एवं उनके प्रेरक पं० राजमल जी, पं० जयचन्द्र जी जैसे विद्वानों के आध्यात्मिक एवं वैराग्य-पूर्ण साहित्य को प्रकाश में लाने का भी प्रयास होना चाहिए।

११५२, जाणक्य मार्ग,
जयपुर (राजस्थान)

□

रामगुप्त और जैनधर्म शीर्षक लेख पर कुछ विचार

□ वेदप्रकाश गर्ग

‘अनेकान्त’ के ‘साहू शान्तिप्रसाद जैन स्मृति-ग्रन्थ’ में जोधपुर विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के प्राध्यापक डा० सोहनकुमार पुरोहित का ‘रामगुप्त और जैन धर्म’ शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने रामगुप्त के कार्य को उचित ठहराते हुए उसे जैन धर्मानुकूल सिद्ध करने की चेष्टा की है, किन्तु लेखक का यह प्रयास अनोचितपूर्ण है। प्रतीत होता है कि उन्होंने जैन धर्म के सिद्धान्तों को ठीक प्रकार से नहीं समझा है।

इतिहास-साक्ष्यों से ज्ञात है कि शक नरेश द्वारा घेर लिए जाने पर रामगुप्त ने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को देना स्वीकार कर लिया था। अपने इस क्रूरकृत्य के कारण ही उसकी गुप्त राजवंशावली में एक कुलकलंकतुल्य की स्थिति स्वीकृत है और विशाखदत्त ने अपने नाटक ‘देवीचन्द्रगुप्तम्’ में इसीलिए उसे एक कायर के रूप में चित्रित किया है। डा० पुरोहित ने उक्त ऐतिहासिक निष्कर्षों से असहमति व्यक्त करते हुए यह बतलाने की चेष्टा की है कि रामगुप्त कायर नहीं था, अपितु एक कट्टर जैन धर्मावलम्बी नरेश था। इसीलिए उसने हिंसा से बचने हेतु अर्थात् जैन धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा-हेतु अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को देना स्वीकार किया था। लेखक का यह विचार जैनधर्म की भावना के विपरीत तथा हास्यास्पद है। उनकी ऐतिहासिक तथ्यों की यह व्याख्या गलत है।

यह सही है कि जैन धर्म में अहिंसा को परमधर्म माना गया है, किन्तु अहिंसा का जो रूप लेखक ने ग्रहण किया है, उसके लिए जैनधर्म में कोई स्थान नहीं है। अतः वह अग्राह्य है। यदि ऐसी ही बात थी तो रामगुप्त को पहले ही सैन्य जाकर शत्रु का अवरोध करते हुए युद्ध नहीं करना चाहिए था, क्या इसमें हिंसा नहीं थी? जब हिंसा की इस स्थिति को ग्रहण किया जा सकता था तो क्या उस दशा में हिंसा का वर्णन नहीं किया जा सकता था जबकि पूरे साम्राज्य का सम्मान दाँव पर लगा हुआ था। यदि उस समय वह शत्रु से युद्ध करते हुए आत्म-बलिदान के लिए तत्पर होता तो निश्चय ही इस कार्य से वह वीरता का पात्र होता और उसकी कीर्ति में चार चाँद लगते। इसके से अवरोध के बाद चिर जाने पर रामगुप्त

के सामने दो ही विकल्प थे। या तो वह शत्रु की अपमानपूर्ण शर्त को स्वीकार कर अपनी प्राण रक्षा कर ले या फिर युद्ध कर आत्मोत्सर्ग कर दे। रामगुप्त ने प्राणरक्षा-हित शत्रु की शर्त के अनुसार अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकाधिपति को देना स्वीकार किया। इस प्रकार उसने प्रथम विकल्प को चुनकर कायरता का ही परिचय दिया।

कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति केवल हिंसा से बचने हेतु किसी अन्य को अपनी पत्नी देकर अपनी रक्षा नहीं करना चाहेगा। प्रतीत होता है कि लेखक महोदय ने जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझा ही नहीं है। इसीलिए तो उन्होंने रामगुप्त की कायरता की जैन धर्म के सिद्धान्तों की भाँड़ में गलत वकालत की है। जैनधर्म के किसी भी सिद्धान्त से रामगुप्त के कार्य का अनुमोदन नहीं होता।

अहिंसा एक विशिष्ट आचरण है। अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं है। कायरता तथा उचित हिंसा में विकल होने पर व्यक्ति को उचित हिंसा का अनुसरण करना चाहिए। अन्याय के विरुद्ध उचित हिंसा कायरता से उत्तम है। यह एक प्रकार से हिंसा का ही रूप है। जैन धर्मानुसार तो अहिंसा वीरों का आभूषण है। इसमें कायरता को स्थान नहीं है। यह वीर-कृत्य है। इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जहाँ किसी जैन धर्मावलम्बी राजा ने अपने धर्म के सिद्धान्तों की रक्षार्थ इस प्रकार का कदाचरण किया हो। ऐसे सभी राजाओं ने जैन धर्मानुयायी होकर अहिंसा का समुचित रीति से पालन करते हुए भी अपने देव, धर्म एवं स्वाभिमान आदि की रक्षा की।

जैसा प्राप्त जैन प्रतिमा लेखों से प्रकट है कि रामगुप्त का भुकाव जैनधर्म की ओर रहा सम्भव प्रतीत होता है किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि जैन धर्मावलम्बी होने मात्र से उसकी कायरता पर पर्दा पड़ जायेगा और उसका कदाचरण उचित मान लिया जायेगा। ऐसा विचारना तो जैन धर्म के सिद्धान्तों का मखोल बनाना है।

मेरे विचारानुसार डा० पुरोहित का ऐसा सोचना अनुचित है। रामगुप्त का निकृष्ट आचरण निश्चय ही कायरतापूर्ण एवं निन्दनीय है। उसको उचित सिद्ध करना इतिहास के तथ्यों की सत्यात्मकता पर हस्ताक्षर फेरना है।

१४ खटोकान, मुजफ्फर नगर, उ० प्र०

महात्मा आनन्दधन : काव्य-समीक्षा

□ डा० प्रेमसागर जैन, बड़ौत

महात्मा आनन्दधन ने कबीर आदि संत कवियों की भाँति ज्योति में विश्वास किया, दीपों में नहीं, दीपों की बनावट में नहीं, दीपों की भिन्नता में नहीं। भाँति-भाँति के दीप एक ही स्मृति के नाना रूप हैं। ठीक ऐसे ही एक ही आत्मा में नाना कल्पनाओं का आरोपण किया जाता है। यह जीव जब निज पर मे रमे तब राम, दूसरो पर रहम करे तब रहीम, करमो करसे तब कृष्ण और जब निर्वाण प्राप्त करे तब महादेव की सज्ञा को प्राप्त होता है। अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को स्पर्श करने से पारस और ब्रह्माण्ड की रचना करने से इसे ब्रह्म कहते हैं। इस भाँति यह आत्मा स्वयं चेतनमय और निष्कर्म है आनन्दधन ने ऐसा माना है। आनन्दधन की भाँति ही कबीर ने भी एक ही मन को गोरख, गोविन्द और ओषड़ आदि नामों से अभिहित किया है। संत सुन्दरदास का कथन तो महात्मा आनन्दधन से बिल्कुल मिलता-जुलता है। उनके अनुसार एक ही अलण्ड ब्रह्म की भेद-बुद्धि से नाना संज्ञाएँ होती हैं, जैसे एक ही जल वापी, तड़ाग और कूप के नाम से, तथा एक ही पावक-दीप, चिराग और मसाल आदि नामों से पुकारा जाता है। संत दादूदयाल ने एक ही मूलतत्त्व को अलह और राम संज्ञाएँ दी हैं। उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि जो इनके मूल में भेद की कल्पना करता है, वह झूठा है।

भगवद्विषयक प्रेम के क्षेत्र में 'प्रेम के प्याले' और 'अचूक तीरो' की बात जानी पहचानी है। वह केवल जायसी और कबीर में ही नहीं, अपितु जैन कवियों में भी देखने को मिलती है। कवि भूषरदास ने सच्चा भ्रमली उसी को माना है, जिसने प्रेम का प्याला पिया है,

गांजाक भाग अफीम है, दाक शराब पोसना ।

प्याला न पीया प्रेम का, भ्रमली हुआ तो क्या हुआ ॥

महात्मा आनन्दधन ने लिखा है कि प्रेम के प्याले को

पीकर मतवाला हुआ चेतन ही परमात्मा की सुगन्धि को पाता है, और फिर ऐसा खेल खेनता है कि सारा ससार तमाशा देखता है। यह प्याला ब्रह्मरूपी अग्नि पर तैयार किया जाता है, जो तन की भट्टी में प्रज्ज्वलित हुई है और जिसमें से अनुभव की कालिमा सदैव फूटती रहती है —

मनसा प्याला प्रेम ममाना, ब्रह्म अग्नि परजाली ।

तन माटी भवटाई पिये कस, भाग्य अनुभव लाली ॥

अगम प्याला पीयो मतवाला, चित्ती अध्यातमवासा ।

आनन्दधन चेतन हूँ खेल, देख लोक तमासा ॥

प्रेम के प्याले की यह बेहोशी मूर्च्छा नहीं है, अपितु ऐसी मस्ती है, जिसमें प्रेमास्पद अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। यह प्रेमी का जागरण है, जागृत अवस्था है। जायसी के प्याले में तो ऐसी बेहोशी थी कि रत्नसेन पद्मावती को पहचानना तो दूर, देख भी न सका, फिर भी वह इतना जागृत था कि शून्य दृष्टि के मार्ग से ही प्राणों को समर्पित कर दिया। उसकी अधिक बेहोशी ही अधिक जागरण था। जायसी का कथन है —

जोगी दृष्टि सों लीना,

नैन रोपि नैनाहि जिउ दीन्हा ।

जाहि मद चढ़ा परातेहि पाले

सुधि न रही मोहि एक प्याले ॥

प्रेम का तीर तो ऐसा पैना है कि वह जिसके लगा चाहे वह जैन हो या अन्य संत, जहाँ का तहाँ रह गया। महात्मा आनन्दधन की दृष्टि में, "कहा दिखावूँ और कूँ, कहा समझाऊँ और । तीर अचूक है प्रेम का लागी सो रहे ठोर ॥" कबीर ने सबद को ही तीर मान कर लिखा है, "सारा बहुत पुकारिया पीड़ पुकारे और । लगी चोट सबद की, रह्या कबीरा ठोर ॥" जायसी ने प्रेम बाण के घाव को अत्यधिक दुखदायी माना है। जिसके लगता है, वह न तो मर रही पाता है और न जीवित ही रहता है। बड़ी

बेचैनी सहता है।

परमात्मा के विरह में खिलवाड़ नहीं आ सकती किन्तु फिर भी निर्गुनिए सनों की अपेक्षा जैन कवियों में संवेदनात्मक अनुभूति अधिक है। कबीर के 'विरह भुवगम पैंसि कर किया कलेजे घाव, साधु अंग न मोड़ ही, ज्यों भावें त्यों खाय।' से आनन्दधन का 'पीदा बीन सुत्रबुध खूदी हो विरह भुअंग निशासमे, मेरी सेजड़ी खूदी हो।' अधिक हृदय के समीप है। इसी भाँति कबीर के "जैसे जल बिन मीन तलफँ ऐसे हरि बिनु मेरा जिया कलपै।" से बनारसीदास के 'मैं विरहिन पिय के आधीन, यों तलफौ ज्यों जल बिन मीन।' में अधिक सबलता है।

आनन्दधन की विरहिणी की आँखें पिय का मार्ग निहारते-निहारते स्थिर हो गई हैं, जैसे कि योगी समाधि में और मुनि ध्यान में होता है। वियोगी और योगी दोनों की चेतना बाहर से सिमट कर अपने प्रिय पर केन्द्रित हो जाती है, और इस दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। प्रिय पर टिकी चेतना भी समाधिष्ठ है और योगी का मन भी ध्यानस्थ है। एक का माध्यम प्रेम है और दूसरे का ज्ञान। आगे चल कर, रत्नाकर ने 'उद्धवशतक' में वियोगिनी योगी के भोग को योगी के योग से कम नहीं माना। दोनों ही केन्द्रस्थ हैं। जिस वियोगिनी में यह तन्मयता है, वही श्रेष्ठ है। आनन्दधन की वियोगिनी इसी स्थिर दशा में है, वह अपने वियोग की बात किसी से कह नहीं पाती। उसके मन का चोला प्रिय का मुख देखने पर ही हिल सकता है, अन्यथा डगमगाने का या किसी प्रकार की अपलता का प्रश्न ही नहीं है—

"पंथ निहारत लोलजें, दृग लागी झडोला।

जोगी सुरत समाधि मे, मुनिध्यान झकोला ॥

कोन सुनें किनकुं कहू, किम भाड़ु में खोला ॥

हरे मुख दीठे हने, मेरे मन का चोला ॥"

पंथ निहारने की बात कबीर ने भी कही है। उन्होंने लिखा है कि विरहिणी मार्ग के दोनों सिरों पर दौड़-दौड़ कर जाती है और रास्तागीरो से अपने पति के आने की बात पूछती है। उसमें बेचैनी है। आध्यत्मिक विरह में बेचैनी साक्ष्यकता का चिह्न तो है, किन्तु जब तक उसमें तन्मयता नहीं आती, अपलता नहीं छूटेगी। इसी कारण

कबीर की विरहिणी में वह स्थिरता नहीं है, जो योगी की समाधि में होती है। यहाँ आनन्दधन और कबीर की विरहिणी में अन्तर है। कबीर की विरहिणी है—

विरहिन ऊभी पथ सिर पथी बूझै घाय।

एक सबद कहि पीव का कबर मिलेगे आय ॥

बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।

जब तरसै तुझ मिलन कू, मन नाही विश्राम ॥

विरहिणियाँ सर्वदूरस्थ पतिव्यों के पास जाने की चाहना करती रही हैं। आनन्दधन की विरहिणी भी जाना चाहती है। रात अचोरी है, घटाएँ छाई हुई है, हाथ को हाथ नहीं सूझता और पति तक जाने का मार्ग दुर्गम है। विरहिणी की प्रार्थना है कि यदि करुणा करके सुधाकर निकल आवे तो मार्ग प्रशस्त हो जावे, और यदि चन्द्र प्रियतम का मुख हो, तब तो वह घर बैठे ही कृतकृत्य हो जायेगी—

"तिसि अघियागी घन घटारे, पाउ न वाट के फन्द।

करुणा करहु तो निरवहु प्यारे, देखु तुम मुख चन्द ॥

जायसी के पद्मावत की नागमती भी, दिल्ली में बन्सी रत्नसैन के पास तक जाने को तैयार है, किन्तु वह केवल सुधाकर के निकलने से ही मार्ग के पेत्रों को नहीं सुलझा पायेगी, उसे एक मार्ग-दर्शक चाहिए। आनन्दधन की विरहिणी को ऐसे किसी आलम्बन की आकांक्षा नहीं है। वह सुधाकर के उर मात्र से तृप्त है। वह सुधाकर में प्रिय मुख-दर्शन की आकांक्षा करती है। ऐसा वह कर भी लेगी—प्रिय की तन्मयता से। यदि तन्मयता हो तो प्रिया कहीं भी प्रिय को देख सकती है, अपितु वह स्वयं प्रिय रूप हो सकती है, ऐसा कुछ इशारा आनन्दधन का है। नागमती को गुरु की आवश्यकता है; किन्तु आनन्दधन की विरहिणी में स्वयं सामर्थ्य है, वहाँ तक पहुँचने की। नागमती सखी से कहती है—

"को गुरु अगुवा होइ सखि, मोहि लावै पथ माह।

तन मन-धन बलि-बलि करौ, जो रे मिलावे नाह ॥

विरह में खान-पान छूट जाता है, इसे सभी कवियों ने दिखाया है—चाहे वह जैन हो या अजैन। अजैन आनन्दधन की विरहिणी में भी भोजन और पान की रञ्जमात्र भी रुचि नहीं है। उसने प्रिय की याद में सब कुछ त्याग

दिया है। घरबार में मन नहीं लगता और जीवन से राग छूटता जा रहा है। विरह की वेदना अथाह है, कोई याह नहीं ले सकता ऐसा कौन हवीब तबीब है, जो उस वेदना को मिटा सके। कलेजे में गहरा घाव है, जो तभी पुरेगा, जब प्रिय मिलन हो—

“भोयन पान क्या मिटी, किसकुं कहूं सूची हो।
आज काल घर आन की, जीव आस विलुद्धि हो॥
वेदन विरह अथाह है, पाणी नव नेजा हो।
कौन हवीब तबीब है, टारे कर घाव करेजा हो॥”

कबीर की विरहिणी को भी दिन में चैन नहीं, तो रात को नींद नहीं। तड़फ-तड़फ कर ही सबेरा हो जाता है। तन-मन रहंट की भांति घूमता है। सूनी सेज है, जीवन में कोई आस नहीं। नैन थक गये हैं, रास्ता दिखाई नहीं देता। साँई बेदरदी है, उसने कोई सुध नहीं ली। दुख बढ़ रहा है कैसे कम हो—

तलफ बिन बालम मोर त्रिया,
दिन नहि चैन रात नहि निदिया,
तलफ-तलफ के मोर किया।
तन-मन मोर रहट-जम डोलै,
सून मेज पर जनम छिया।
नैन थकिन भये पथ न सूझै,
साँई वेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
हरो पीर दुख जोर किया॥

पानी बरसता है तो हरियाली फैलना स्वाभाविक है, किन्तु विरहिणी और अधिक सूख जाती है, ऐसा सभी न लिखा है। जायसी ने लिखा तो आनन्दघन ने भी। दोनों में समानता है। आनन्दघन का कथन है कि श्रावण-भादो

वर्षा का जल और सर, सरिता तथा सुरसिन्धु का जल किसी की उष्णता मिटाता हो, विरहिणी का विरह-ताप कम करने में असमर्थ है। ताप का कम होना दूर, इसके उलटे वह और अधिक सूख जाती है। जब कुनिया हरी-भरी होती है, उसका घट-सर सूख जाता है—

गाल लगाय के, सुर-सिन्धु समेली हो।
असुग्रन नंर बहाय के, सिन्धु कर बेली हो॥
श्रावण भादुं धन घटा, बिच बीच झबूला हो।
सरिता सरवर सब भरे, मेरा बट सर सूका हो॥

जायसी का कथन है—“जब मघा नक्षत्र झकोर-झकोर कर बरस रहा था, सब कुछ हरा-भरा हो गया था, तब विरहिणी भरे भादो में सूख रही थी। ‘पुरवा’ नक्षत्र के लगने से पृथ्वी जल से भर गई, किन्तु वह धनि धाक और जबास की भांति झुलस रही थी—

‘बरसा मघा झकोरि-झकोरी।
मोर दुइ नैन चुबै जस घोरी॥
धनि सूखे भरे भावो माहीं।
अबहुं न आएहि न सीबिन्हि नाहीं॥
पुरवा लागि भूमि जल पूरी।
धाक-जबास भई तस झूरी॥”

महात्मा आनन्दघन मध्ययुगीन हिन्दी के उत्तम कोटि के कवि थे ‘अष्टात्मपद संग्रह’ में संकलित उनकी रचनाएँ अष्टात्ममूला भक्ति की निदशन हैं। वह केवल चमत्कृत नहीं है उसमें साहित्य रस है। भाषा प्रौढ़ है, तो काव्य-प्रतिभा जन्मजात। हिन्दी साहित्य में उनका अपना एक स्थान है, इस स्वीकार करना ही होगा—आज या कल।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
दिगम्बर जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)

महाकवि हरिचन्द्र का समय और आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत

□ श्री अशोक पाराशर, जयपुर

“धर्मशर्माभ्युदय” और “जीवधरचम्पू”^१ के रचयिता महाकवि हरिचन्द्र की गणना कालिदास भारवि और माघ जैसे महान् एवं उच्चकोटि के कवियों की श्रेणी में की जाती है। लेकिन खेद का विषय है कि हरिचन्द्र के जीवन विषयज्ञान के लिये ऐसा कोई ठोस प्रमाण हमारे पास नहीं है जो कि उनके समस्त जीवन-चरित्र का विवरण उपलब्ध करा सकें। इनके माता-पिता एवं भाई आदि की सूचना तो हमें ‘धर्मशर्माभ्युदय’ महाकाव्य की प्रशस्ति से प्राप्त होती है लेकिन जन्मस्थान एवं समयादि की कोई जानकारी इनके ग्रन्थों से नहीं मिलती है। यही कारण है कि भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान् इनके समय का निर्धारण विभिन्न तरीकों एवं प्रमाणों के आधार पर ६वीं शती से लेकर १२वीं शती के उत्तरार्ध तक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इनके समय-विषयक प्रश्न पर जिन विद्वानों ने अपने मतों की स्थापना के लिये अत्यधिक प्रयत्न किया है उनमें भारतीय विद्वान् आचार्य बलदेव उपाध्याय भी उनमें से एक हैं।

आचार्य बलदेव उपाध्याय महाकवि हरिचन्द्र का समय लगभग १०७५ ई० से स्वीकार करते हैं।^३ आपने कवि का समय निर्धारण करते समय दो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं और उन प्रमाणों के आधार पर आपने अपने मत की स्थापना की है। उपाध्याय जी द्वारा दिये गये प्रमाण—

१. उपाध्याय जी अपने मत के समर्थन में एक स्थान पर लिखते हैं कि “जीवधर चम्पू की कथावस्तु का आधार वादीभसिंह के “गद्यवितामणि” तथा “क्षत्रचूडामणि” को बनाया है। इतना ही नहीं ‘क्षत्रचूडामणि’ के अनेक पद्य बहुत ही कम परिवर्तनों के साथ जीवधरचम्पू में स्वीकृत

कर लिये गये हैं। फलतः इन्हें वादीभसिंह से अर्वाक्-कालीन होना चाहिए। श्रीहर्ष के “नैषध के अनेक पद्यों का प्रभाव ‘धर्मशर्माभ्युदय’ की रचना पर स्पष्टतः लक्षित होता है। अतएव हरिचन्द्र का समय वादीभसिंह (११ शती) तथा श्रीहर्ष (१२ शती का उत्तरार्ध) के अनन्तर होना चाहिये।”^२

२. आप कवि के समय के विषय में एक अन्य स्थान पर लिखते हैं कि “कविवर हरिचन्द्र के ऊपर नैषधचरित के प्रणेता श्रीहर्ष का प्रचुर प्रभाव लक्षित होता है। हरिचन्द्र की अनेक सरस सूक्तियों का उद्गम स्थल नैषध काव्य है। जीवधर चम्पू (३/५१) का यह पद्य नैषध की एक प्रख्यात सूक्ति (२/३८) से निःसन्देह प्रभावित है—

सरोजयुग्मं बहुधा तपः स्थितं

भभूव तस्यश्चरणद्वय ध्रुवम्।

न चेत् कथं तत्र च हंसकाविमो

समेत्य हृद्यं तनुतां कलस्वनम्

हरिचन्द्र का समय निःसन्देह श्रीहर्ष से पीछे तथा १२३० ई० से पूर्व है जब इनके महाकाव्य ‘धर्मशर्माभ्युदय’ का पाटन में उपलब्ध हस्तलेख लिखा गया है। अतः इनका समय एकादश शती का अन्तिम चरण तथा द्वादश शती का पूर्वार्ध है (लगभग १०७५ ई०—११५० ई०)।^४

उपर्युक्त दोनों प्रमाणों के आधार पर संस्कृत साहित्य के दो प्रसिद्ध काव्यकार हैं जिनके वादीभसिंह काव्यकार है तथा श्री हर्ष हिन्दु धर्मावलम्बी है। प्रथम प्रमाण में उपाध्याय जी ने वादीभसिंह तथा श्री हर्ष तथा द्वितीय प्रमाण में उन्होंने कवि को श्रीहर्ष से उत्तरवर्ती कहा है। वादीभसिंह का समय “१०वीं शती” तथा “११वीं शती”

१. ग्रन्थ, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी से सन् १९१७ में प्रकाशित हो चुका है।

२. ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी से सन् १९७१ में प्रकाशित हो चुका है।

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २४६

४. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २४८

५. वही पृ० २४६

६. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २५६

७. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २४८ तथा ४०६

माना जाता है। और श्री हर्ष का समय ११५६ ई० से ११८३ ई० तक माना जाता है।^८

उपाध्याय जी के मत की समीक्षा —

उपाध्याय जी ने हरिचन्द्र को वादीभसिंह तथा श्रीहर्ष का उत्तरवर्ती कवि ठहराया है। मैं उपाध्याय जी के इस मत से तो सहमत हूँ कि हरिचन्द्र वादीभसिंह के उत्तरवर्ती कवि है लेकिन श्रीहर्ष से उत्तरवर्ती होने के विषय में मैं उनके मत से असहमत हूँ। जिसका कारण उपाध्यायजी का कथन (विचार) ही है। क्योंकि श्रीहर्ष का समय इन्होंने ११५६-११८३ ई० माना है और हरिचन्द्र का १०७५-११०५ ई०। इसलिये हरिचन्द्र श्रीहर्ष से पूर्ववर्ती कवि होने चाहिये लेकिन बलदेव उपाध्याय जी ने हरिचन्द्र को श्रीहर्ष का उत्तरवर्ती कवि ठहराया है जो कि एक अम हो कहा जा सकता है। क्योंकि समय के अनुसार जो कवि उत्तरवर्ती है उसका अपने पूर्ववर्ती किसी भी कवि पर प्रभाव होना कठिन ही नहीं असंभव भी है। इसलिये हरिचन्द्र के काव्य पर श्री हर्ष का प्रभाव बतलाकर हरिचन्द्र को श्रीहर्ष का उत्तरवर्ती कहना उपाध्याय जी का विरोधाभासपूर्ण मत है।

हाँ, मैं एक निवेदन और करना चाहूँगा कि इस विषय में उपाध्याय जी तथा उनके मत से सहमति रखने वाले अनुसंधाता एवं इतिहासकार यह कह सकते हैं कि श्रीहर्ष ने अपने काव्य नैषध की रचना जयचन्द्र एवं विजयचन्द्र, जो कि काव्यकुब्जाधिपति थे और जिन्होंने ११५६ ई० से ११८३ ई० तक राज्य किया था,^९ के राजाश्रय प्राप्त होने से पूर्व की थी। इस प्रकार की थी। इस प्रकार की अवधारणा उन विद्वानों की मात्र कल्पना ही कही जा सकती है क्योंकि स्वयं कवि श्रीहर्ष ने नैषध में काव्यकुब्जाधिपति के आश्रय प्राप्ति की बात कही है।^{१०} जो कि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि नैषध ११५६ ई० से बाद की रचना है। नैषध की रचना के विषय में श्री सत्यनारायण जी शास्त्री लिखते हैं कि "किंवदन्ती से ही यह पता चलता

है कि श्रीहर्ष की प्रतिभा देख कर जयचन्द्र ने अपना राज्य-कवि बना लिया था और नैषध की रचना भी राज्य की प्रेरणा से हुई।"^{११} इससे सिद्ध होता है कि नैषध की रचना ११५६ ई० से पूर्व किसी भी स्थिति में नहीं हुई थी।

निष्कर्ष — उपर्युक्त अवतरणों में मैंने प्राचार्य बलदेव उपाध्याय जी द्वारा मान्य कवि हरिचन्द्र के समय और उनके द्वारा अपने मत की पुष्टि में दिये गये प्रमाणों की समीक्षा की। उन्हीं के दिये गये प्रमाणों के फलस्वरूप मैं निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ —

१: यदि प्राचार्य बलदेव उपाध्याय द्वारा स्वीकृत महाकवि हरिचन्द्र का समय १०७५ ई० से ११५० ई० स्वीकार करें तो नैषध काल की रचना ११५० ई० से पूर्व होनी चाहिये लेकिन विद्वानों का मत (प्राचार्य बलदेव उपाध्याय का भी यही मत) है कि श्रीहर्ष ११५६ ई० से ११८३ के बीच कभी हुए थे जो कि काव्यकुब्ज राजाओं के आश्रय प्राप्त थे अतः नैषध का प्रभाव धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य पर मान कर हरिचन्द्र को श्रीहर्ष का उत्तरवर्ती कवि कहना ठीक नहीं है।

२. यदि उपाध्याय जी के मतानुसार नैषध काल का प्रभाव धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवधरचम्पू पर स्वीकार कर लें तब ऐसी स्थिति में उनके द्वारा स्वीकृत कवि हरिचन्द्र का समय (१०७५—११५० ई०) ठीक नहीं बैठता है। कारण यह है कि श्रीहर्ष का समय हरिचन्द्र से बाद (११५६ - ११८३ ई०) है। अतः उपाध्याय जी के मत का खण्डन उन्हीं के तर्क से हो जाता है।

३. यदि महाकवि हरिचन्द्र का उपाध्याय जी द्वारा स्वीकृत समय ही माना जाये तो सिद्ध होता है कि धर्मशर्माभ्युदय काव्य का प्रभाव नैषधचरित्र पर निःसन्देह रूप से पड़ा है।

४. हरिचन्द्र के वादीभसिंह के उत्तरवर्ती कवि होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं होना चाहिये।

एम० ए०, एम० फिल० एवं शोध छात्र (संस्कृत)
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-४

८. संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्राचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २२८

९. संस्कृत साहित्य का इतिहास, प्राचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० २२८

१०. ताम्बलद्वयमासन च लभते यः काव्यकुब्जेस्वरात् — नैषध चरित, २२।१५५

११. संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, श्री सत्यनारायण शास्त्री, पृ० १७०

जैन संस्कृति का प्राचीन केन्द्र काम्पिल्य

□ विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

प्राचीन भारत की महानगरी काम्पिल्य^१ की पहिचान उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले की कायमगंज तहसील में, कायमगंज रेलवे स्टेशन से लगभग ८ कि० मी० की दूरी पर, पक्की सड़क के किनारे वर्तमान कपिल नामक ग्राम से की जाती है। किसी समय गंगा की एक धारा इस स्थान के पास से बहती थी।

काम्पिल्य चिरकाल से पाञ्चाल देश (जनपद, विषय या राज्य) की राजधानी रही, और जब पाञ्चाल उत्तर एवं दक्षिण, दो भागों में विभक्त हो गया, तो काम्पिल्य दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी रही, जबकि उत्तर पाञ्चाल की राजधानी ग्रहिल्य बनी। भारतीय धर्म एवं संस्कृति की अनेक पुराणगाथाओं तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं के तथ्यों से काम्पिल्य का नाम जुड़ा है। यही कारण है कि जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण, तीनों ही परम्पराओं के साहित्य में नगर या प्रदेश के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। क्या यजुर्वेद (अ० २३, म० १८) की उवट एवं महीषर-कृत टीकार्, महाभारत, पाणिनीय की काशिकावृत्ति (४-२-१२१), चरक संहिता (अ० ३ सू० ३), अमर शुंगारणतक की भाव चिन्तामणि टीका आदि ब्राह्मणीय ग्रन्थों में, बौद्धमहाउत्तमगजातक (२-३२६) में, और तिलीयपण्णति, भगवती धाराधना, उवाचगदसाओ, आदि-पुराण, उत्तर पुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पुष्पदन्तकृत अष्टाध्याय महापुराण, त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र हेमाचार्यकृत

त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित, विमलनाथ पुराण, पांडव-पुराण, हरिषेणोय बृहत्कथाकोष, प्रभावन्द्रीय धाराधना-सत्कथा प्रबन्ध, ब्रह्मनेमिदत्त कृत धाराधना कथा कोष, विविधतीर्थ कल्प, धनेश्वरसूरि कृत शत्रुजय महात्म्य, मध्यकालीन तीर्थ मालाए, आदि जैन ग्रन्थों में।

वस्तुतः कपिलाजी (काम्पिल्य) जैन धर्मावलम्बियों का एक परम पावन तीर्थक्षेत्र अत्यन्त प्राचीन काल से रहता आया है।^२ इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि उत्तर प्रदेश के हस्तिनापुर, कोशाम्बी, काकन्दी, गौरीपुर, ग्रहिल्य आदि कई प्राचीन स्थानों की भाँति काम्पिल्य की स्मृति एवं अस्तित्व को अनेक ग्रन्थों में तीर्थ भक्त जैनों ने ही सुरक्षित रखा है—व इस तीर्थ की वन्दना के लिए मध्यकाल की विषम परिस्थितियों में भी बराबर आते रहे और स्थान के अपने धर्मयितनों का संरक्षण, जीर्णोद्धार आदि भी करते रहे। आज भी यही तीन जिनमंदिर व दो धर्मशालाए हैं। इनमें से एक मंदिर तो अति प्राचीन है, जो मूलतः वि० स० ५४६ में निर्मित हुआ बताया जाता है।^३ इस मन्दिर में मूलनायक के स्थान पर प्रतिष्ठित श्यामल-मूंगिया पाषाण की अति मनोज्ञ एवं चमत्कारिक प्रतिमा काम्पिल्यनगर में जन्मे तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ की है, जो गुप्तकालीन एवं मूल जिनालय जितनी प्राचीन अनुमान की जाती है।^४ यह प्रतिमा गंगा की रेती से निकली थी। इसके अतिरिक्त इन मंदिरों में अन्य अनेक

१. साहित्य में काम्पिल्य के नामरूप काम्पिल्यनगर, काम्पिल्यपुर कपिल या कपिलपुरी, कपिल्य, कपिला आदि प्राप्त होते हैं, और इसके अपर नाम माकन्दी पांचालपुरी या पांचाल्यपुरी मिलते हैं। महाभारत आदि १२३ (७३) तथा जैन हरिवंशपुराण (३५/१२६) में माकन्दी नाम से काम्पिल्य का उल्लेख हुआ है।

२. ज्योतिप्रसाद जैन, 'उत्तरप्रदेश और जैन धर्म' लखनऊ १९७६ पृ० ४१

३. कामताप्रसाद जैन कृत—'काम्पिल्यकीर्ति', अलीगंज १२५२ पृ० ४६, बलभद्र जैन—'भारत के दि० जैन तीर्थ', भारतीय ज्ञानपीठ १९७४ भाग—१, पृ० १०६

४. वही पृ० १०८

जिन प्रतिमाएं स्थापित हैं जो ११वीं से १६वीं शती ई० पर्यन्त विभिन्न समयों की प्रतिष्ठित हैं।^५ किन्हो दिगम्बर भट्टारकों द्वारा स्थापित दो चरण-चिह्न पट्ट भी प्राचीन मंदिर में हैं।^६ आस-पास के क्षेत्र व गंगा नदी के खाली से अनेक खंडित अखंडित जिनमूर्तियाँ एवं जैन कलाकृतियाँ भी प्राप्त होती रही हैं।^७ चैत्र और अश्विन में प्रतिवर्ष यहाँ दो जैन मेले, मस्तकामिक्षेक, रथयात्रा, जलयात्रा आदि होते हैं। सन् १८३० ई० का चैत्री रथोत्सव विशेष महत्वपूर्ण था क्योंकि आधुनिक युग में इस तीर्थ की सार सम्हाल की ओर समाज की विशेष रुचि तभी स हुई लगती है।^८ भोगाव निवासी कवि सदानन्द ने वि० सं० १८८७ के इस मेले का आखो देखा वर्णन कविता बद्ध किया था।^९

जैन परम्परा के अनुसार कर्मभूमि का समययुग के आरम्भ में प्रथम तीर्थंकर आदिपुरुष भगवान् ऋषभदेव ने विभिन्न राज्यों एवं जनपदों की स्थापना की थी तो पाञ्चाल देश भी उनमें से एक था और उसका शासनभार उन्होंने अपने एक सो पुत्रों में से एक को सौंपा था।^{१०} केवलज्ञान प्राप्ति के उपरान्त तीर्थंकर वृषभदेव का विहार भी इस जनपद में हुआ था।^{११} और उनका समवसरण कांम्पिल्य में आया था। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय के प्रसंग में भी पाञ्चाल का उल्लेख हुआ है।^{१२} जब भरतचक्रवर्ती की पराधीनता अस्वीकार करके

भरत के अनुज महाबाहु भुजबलि ने मुनि दीक्षा ले ली तो उन्हीं के अन्य भाई पाञ्चाल नरेश ने भी राज्य का परित्याग करके जिन दीक्षा ले ली थी।^{१३}

इस कांम्पिल्य नगरी में पुरुदेव भगवान् ऋषभ की सन्तति में उत्पन्न इक्ष्वाकुवंशी महाराज कृतवर्मा की महादेवी जयश्यामा ने माघ शुक्ल चतुर्दशी के शुभ दिन १३वें तीर्थंकर बराह लाछन भगवान् बिमलनाथ अपरनाथ बिमलवाहन को जन्म दिया था।^{१४} भगवान् के जन्मोपलक्ष्य में देवराज शक्र के आदेश से यक्षाधिप एवं घनाधिप कुबेर ने इस नगरी को इतना शोभायमान बना दिया था कि, महाकवि पृष्पदत्त के शब्दों में वह ऐसी लगती थी मानों स्वर्ग ही पृथ्वी पर उतर आया है। अन्य आचार्यों ने भी प्राचीन कांम्पिल्य के मोहदय एवं वैभव का ऐसा ही वर्णन किया है।^{१५} जिनप्रभसूरि ने तो यह भी लिखा है कि क्योंकि इस नगर में भगवान् के जन्म, राज्याभिषेक, दीक्षा और केवल ज्ञान ऐसे पात्र कल्याणक हुए थे, इसका नाम पंचकल्याणकनगर अर्थात् पञ्चालपुरी रूढ़ हो हो गया, और क्योंकि भगवान् शूकरलाञ्छन थे लोक में यह स्थान शूकरक्षेत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ।^{१६} वर्तमान में सोरों जो कपिला से नानिदूर पश्चिम में है, सूकर क्षेत्र कहलाता है।^{१७} संभव है, जिनप्रभ के समय (१४वीं शती में) कपिला के आसपास का क्षेत्र ही शूकर क्षेत्र कहलाता है और मूलतः ती० बिमल के लाञ्छन के कारण ही। स्व०

५. कांम्पिल्य वही पृ० ५०-५१

६. वही पृष्ठ ५०

७. कामताप्रसाद जैन, 'जैन विवरण पत्रिका' जि० फर्माबाद, अलीगंज १९४६ पृ० १३

८. 'कम्पिलाकीर्ति' पृ० ८२

९. यथा—बिमलनाथ जिनको धारिभाव पानी चहुँदिस लिखीवित में छाठों चाव ।—कम्पिला रथयात्रावर्णन पृ० १५, कामताप्रसाद वही पृ० ५२

१०. आदिपुराण, भा० जा० पीठ संस्करण १८/१५१-१५६

११. वही २५।२६७, हरिवंशपुराण भा० जा० पी० ३।३७

१२. आदिपुराण २६।४०

१३. हरिवंशपुराण ११।६४

१४. कपिलपुरे विमलो ज० दे० कदम्ब तपस्तामा हि० माघसिद्धि चोददसि—पुष्पाभोदपदे ११ तिलोय-पण्णत्ति ४।५३८ उत्तरपुराण भा० ज्ञानपीठ पृ० ६८-६९, पुष्पदतीयमहापु० ५५।३-४ भा० २ पृ० २०४ अशाधरीय त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र १३।३-४

१५. तदैवकंपिलानाम्ना विषसे परमापुरी ।

दोषैमुक्ता गुणैयुक्ता घनाढ्या स्वर्णसंग्रहा ॥

बिमलनाथपुराण ॥

'कापिल्यनगराभिधं पुर सुरपुरोपमम् ।'

हरिषेणोय ब० क० कोष ॥

१६. विविध तीर्थकल्प पृ० ५०, कम्पिलापुरी कल्प०

१७. कामताप्रसाद जैन वही पृ० ५५

कामता प्रसाद जी ने कम्पित्य क्षेत्र के संकिशा, भगहत (भघत), कपिस्थक (केथिया), पिप्लग्राम (पिपरगांव), पिटीग्ररि (पटियाली), कान्यकुब्ज (कन्नौज आदि कई अन्य अनुभूतिगम्य स्थलों की भी वर्तमान स्थानों से पहिचान की है।^{१८}

आचार्य हेमचन्द्र ने तीर्थंकर विमलनाथ के चरित्र के प्रसंग में उनकी गमिणी जननी द्वारा एक भद्रभुत न्याय की रोचक कथा बी है, जिसका हेतु गर्भस्थ शिशु की विमलवृद्धि बताया है और उसी कारण उनका नाम 'विमल' हुआ बताया है।^{१९} पुराणकारों ने भगवान के जन्मोत्सव, बाललीला, विवाह एवं राज्याभिषेक का वर्णन करने के उपरान्त बताया है कि चिरकाल पर्यन्त गृहस्थ सुख एवं राज्य वैभव का उपभोग करके माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन भगवान ने महाभिनिष्क्रमण किया और निकटवर्ती सहेतुक वन में जिन बीक्षा ली तथा तपस्वरण में लीन हो गये।^{२०} उसी वन में उन्होंने पौष शुक्ला दशमी के दिन चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और अर्हत तीर्थंकर हो गए।^{२१} भगवान की इस तपोभूमि एवं केवलज्ञान प्राप्ति स्थल की पहचान संकिमाले भघत (भघहत) या भघतिया टीले से की जाती है।^{२२} इस टीले से १६२७ में भगवान विमल के समवसरण की प्रतीक एक प्राचीन सर्वतोभद्र प्रतिमा तथा कतिपय अन्य कलाकृतियाँ प्राप्त हुयी थी, जो राजकीय संग्रहालय लखनऊ में सुरक्षित हैं।^{२३} चिरकाल पर्यन्त लोकहितार्थ धर्माभूत की वर्षा करके भ० विमलनाथ ने

अन्ततः सम्मेदाचल से निर्वाण प्राप्त किया। वाराहलक्ष्मि तीर्थंकर विमलावाहन के जन्म, लौकिक शासन एवं दिव्य-ध्वनि की गुजार से कम्पित्यनगर धन्य हुआ। अन्य तीर्थंकरों विशेषकर भगवान पार्श्वनाथ एवं महावीर के समवसरण भी कम्पित्य में आए, और पाञ्चाल देश में उनका विहार हुआ।

२०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में इसी कम्पित्य नगर में महाराज सिंहध्वज की धर्मप्राणा महिलारत्न वप्रा की कुक्षि से मातृभक्त हरिषेण चक्रवर्ती का जन्म हुआ, जिसने दिग्विजय करके नगर को अनेक जिनालयों से अलंकृत किया।^{२४} महाभारत काल में कम्पित्य में पाञ्चालेश्वर महाराज द्रुपद का राज्य था और यही उनकी दुहिता महावती द्रोपदी का जन्म एवं प्रसिद्ध स्वयंवर हुआ था।^{२५} एक अनुश्रुति के अनुसार अन्तिम चक्रवती ब्रह्मदत्त की राजधानी भी कम्पित्य ही थी।^{२६} ग्यारह कोटि स्वर्ण मद्राप्रो एवं विशाल गोकुल का स्वामी कम्पित्य का धर्मात्मा श्रेष्ठि कुन्दकोलिय भगवान महावीर के दश प्रमुख एवं आदर्श गृहस्थ उपासकों में से एक था।^{२७}

जैन कथाओं में अन्य अनेक विशिष्ट व्यक्तियों के उल्लेख मिलते हैं, जिनका कम्पित्य नगरी से सम्बन्ध था। कम्पित्य नगर में पिण्ठाकगन्ध नाम का एक सेठ था जो बत्तीस कोटि द्रव्य का स्वामी था किन्तु अत्यन्त लोभी एवं परिग्रहासक्त था और फलस्वरूप दुर्गति को प्राप्त हुआ। उस समय राजा रत्नप्रभ का यहाँ शासन था और राज्य-श्रेष्ठि जिनदत्त नाम का उदार एवं धर्मात्मा श्रावक था।

१८. देखिये—कामताप्रसाद जैन की पूर्वोक्त दोनों पुस्तकें।

१९. त्रिशष्टिशलाकापुरुष चरित्र के अन्तर्गत विमलनाथ चरित्र।

२०. तिलोपपण्णत्ति, ४।६५६, उत्तरपुराण, महापुराण आदि

२१. " ४।६६०, " " "

२२. ज्योतिप्रसाद जैन, उत्तर प्रदेश और जैनधर्म पृ० ४७ (संहिता) कामताप्रसाद जैन, कम्पित्य कीर्ति पृ० २६-३०

२३. वही पृ० ३० फुटनोट

२४ पद्मपुराण २०।१८६-१८७, बृहत्कथाकोष कथाक ३३ उत्तरपुराण पृ० २४८, महापुराण भाग २ पृ० ३६५, हरिवंशपुराण ३।३-७, पाराशना सत्कथा प्रबध, पाराशना कथा कोष आदि।

२५. उत्तरपुराण ७२।१६८ पृ० ४२०, त्रिशष्टिस्मृति-शास्त्र २२।७०, हरिवंशपुराण ४५।१२०-१२१ पृ० ५४६-५४७ तुलनीय महाभारत (१।१२८।७३)

२६. पाराशनाकथाप्रबं २०, ६० (२८) पृ० ३८, १३५, पुष्पदन्तमहापुराण भाग ३ पृ० १८४

२७. उवासयदसाधो (उपासकदशांग) ६

उसने निकटवर्ती पिप्पलग्राम (वर्तमान पिपरगांव) में राजा रत्नप्रभ द्वारा निर्मापित सरोवर के तट पर एक सुन्दर जिनालय बनवाया था। पिण्याकगन्ध का पुत्र विष्णु-दत्त कला-विज्ञान-पराग था जिसने एक ऐसे दर्पण का आविष्कार किया था। जिसमें देखने वाले को दो मुख दीखते थे।^{१८} इसी नगर में राजा नरसिंह के शासनकाल में राज्यश्रेष्ठ कुबेरदत्त था जो महाधनवान था और जिसका व्यापार जलमार्ग द्वारा द्वीपान्तरो में भी फैला हुआ था। वह धर्मकार्यों में भी अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करता था। उसकी सेठानी प्रिय सुन्दरी अतिशय भवद्रूप-लावण्य-यौवन-युक्त थी जिसपर मन्त्रीपुत्र नरस्त्री लम्पट कडारिपिड आसक्त हो गया।^{१९} उसका पिता सुमति मन्त्री भी उसके षड्यन्त्र में सम्मिलित हो गया, किन्तु ये त्राग विफल मनोरथ हुए और राजा द्वारा दंडित हुए। कांम्पल्य का भीम नामक एक राजकुमार मनुष्य-मास भक्षी हो गया था जिसके कारण उसे राज्यभ्रष्ट, स्वदेश से निर्वाचित और दुर्गति का पात्र होना पड़ा।^{२०} आचार्य जिनप्रभसूरि ने १४वीं शती ई० के प्रथम पाद में कंपिल की यात्रा की थी और उन्होंने इस स्थान का तात्कालिक वर्णन करने के अतिरिक्त तत्सम्बन्धी कतिपय प्राचीन अनुश्रुतियों का भी उल्लेख किया है, यथा कम्पल्य नरेश संजय का नगर के केसर उद्यान में गर्दभिल्ल भ्रमण से उपदेश ग्रहण करना, कांम्पल्य के राजकुमार मागली का गोतम गणघर द्वारा

जन धर्म में दीक्षित किया जाना और मुनि बन कर आत्म-कल्याण करना, कम्पल्य के जिनधर्मी विद्वान राजा धर्मरुचि का काशि नरेश को शास्त्रार्थ में पराजित करना आदि।^{२१} घनेश्वरसूरि के अनुसार कांम्पल्य नगर में महाराज विक्रमादित्य के समय में भावड़ नाम के लोभ्याधिपति जैन श्रेष्ठ रहते थे जो बड़े पुरुषार्थी थे। जल और थल दोनों मार्गों से विदेशों में उनका व्यापार होता था। वह एक बार सर्वथा निर्धन हो गए और पुनः धनकुबेर तथा राज्य मान्य बन गए भावड़ ने अनेक जिनर्षदिर बनवाए तथा शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार किया बताया जाता है।^{२२}

१५८६ ई० में यति जयविजयने कपिल की यात्रा की और लिखा "पिटाग्रारिपुरि कपिल, विमल जन्म वन्देष्ट, चूलणी चरित्र सभालियो ब्रह्मदत्त परदेष्ट। केसर घनराथ सजनीगर्दभिलगुरुपासि, गगातटव्रत उबरई, द्रुपदी पीहर वासि।" आदि।^{२३}

१८०७ ई० में विजयसागर जी ने कंपिल की यात्रा की और लिखा—

कंपिलपुर वर मडणोपूजई विमल विहार रे।

विमल पादुका बदीयइ लोजई विमल भवतार रे।^{२४}

कवि सदानंद जी कपिल-रथयात्रावर्णन^{२५} (१८३० ई०) का पहले ही उल्लेख कर आए हैं। इस प्रकार पवित्र क्षेत्र कंपिला (कम्पल्य) के जैन साहित्य में प्रचुर उल्लेख प्राप्त हैं।

—चारबाग, लखनऊ

२८. भगवती आराधना ११४०, बृहत्कथाकोष पृ० २५५-२५६, आराधना सत्कथाप्रबंध, न० ३१ पृ० ५२, बृहत्कथाकोष न० ८२ पृ० २०३
३०. भगवती आराधना १३५७, आराधनाकथाप्रबंध न० ५५ पृ० ७६ बृहत्कथा कोष न० ११५ पृ० २८७

३१. विविधतीर्थकल्प मिथी ग्र० भा०) पृ० ५०
३२. देखिए—घनेश्वरसूरिकृत शत्रुंजय माहात्म्य
३३. कांम्पल्यकीर्ति, पृ० ३१
३४. वही
३५. वही पृष्ठ ५२

पाटण के श्वेताम्बर ज्ञान भण्डारों में दिगम्बर ग्रन्थों की प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रतियां

□ श्री अग्ररचन्द नाहटा, बीकानेर

यद्यपि भारत के कोने-कोने में जैन निवास करते हैं और साधु-साध्वी भी धर्म प्रचार आदि के निमित्त से अनेक स्थानों में पहुंचते हैं। पर उनका ध्यान जैन मन्दिरों की ओर जितना जाता है, हस्तलिखित ग्रन्थभण्डारों की ओर प्रायः नहीं जाता, जबकि दोनों का समान महत्व है। मूर्तियां जितनी उपयोगी हैं जिन वाणी के संग्रह या भण्डार रूप हस्तलिखित प्रतियां भी उतनी ही उपयोगी हैं।

बहुत-से ज्ञान-भण्डारों की अभी सूची भी नहीं बन पायी तथा कई तो सर्वथा अज्ञात अवस्था में पड़े हैं। मुसलमानी शासन और सरक्षण के प्रति हमारी उपेक्षा के कारण अनेकों महत्वपूर्ण ग्रन्थ नष्ट व लुप्त हो चुके हैं। जिनका उल्लेख ग्रन्थ ग्रन्थों में पाया जाता है। जिन ग्रन्थों की अक्षिक प्रतिलिपियां नहीं हुयी उनकी प्रतियां अज्ञात और बिना सूची वाले ग्रन्थ भण्डारों में मिलनी संभव है। दक्षिण के अनेक स्थानों में ताडपत्रीय प्रतियां मन्दिरों में व व्यक्तिगत संग्रह में हैं। उनमें भी बहुत से अज्ञात एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ मिलने सम्भव है। अतः कोई भी संस्था ऐसी स्थापित हो जिसके भेजे हुए व्यक्ति जैन हस्तलिखित प्रतियों की खोज करें और जिन-शास्त्र भण्डारों की सूची नहीं बनी है, उनकी बना कर प्रकाश में लावें।

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन ने अपने वक्तव्य में कहा था कि इसके लिए पैसे की कमी नहीं रहेगी। काम जोरो से होना चाहिये। तो उन्हीं की संस्था भारतीय ज्ञानपीठ भी सर्वाधिक साधन सम्पन्न है, उसे इस कार्य की ओर शीघ्र ध्यान देना चाहिये।

दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों के अलग-अलग ग्रन्थभण्डार, अलग अलग स्थानों में हैं पर एक-दूसरे को उनकी समुचित जानकारी नहीं है। कई भण्डारों के सूचीपत्र भी प्रकाशित

हो चुके हैं। जिनसे स्पष्ट है कि दिगम्बर शास्त्र भण्डारों में कई ऐसे श्वेताम्बर ग्रन्थ हैं, जिनकी प्रति श्वेताम्बर शास्त्र-भण्डारों में नहीं मिलती। इसी तरह श्वेताम्बर-भण्डारों में भी कई ऐसे दिगम्बर ग्रन्थ एवं उनकी प्राचीन प्रतियां हैं जिनकी जानकारी दिगम्बर विद्वानों को भी नहीं है। कुछ वर्ष पहले पूज्य पुष्पविजयजी को सुप्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य अमृतचन्द्र के एक अज्ञात एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ की एकमात्र प्रति ग्रहमदाबाद के श्वेताम्बर भण्डार में मिली थी, जिसे अब प्रकाशित भी किया जा चुका है। इससे पहले भी और कई दिगम्बर ग्रन्थ श्वेताम्बर भण्डारों में ही मिले। लिनमें कई ग्रन्थ तो अलभ्य व लुप्त मान लिए गये थे, वे भी मिल गये।

अभी-अभी मैं पाटण के श्वेताम्बर ताडपत्रीय ग्रन्थ-भण्डार की सूची जो कि बड़ीदा से सन ३६ में प्रकाशित है, उस सूची को देख रहा था तो उसमें चार दिगम्बर ग्रन्थों की प्राचीनतम ताडपत्रीय प्रतियां पाटण के श्वेताम्बर भण्डार में हैं। उन ग्रन्थों के पुनर्सम्पादन में वे बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। साथ ही 'आध्यात्मतरंगिनी' नामक दिगम्बर ग्रन्थ की टीका जो मेरी जानकारी के अनुसार दिगम्बर भण्डारों में कहीं भी नहीं मिली है, उसकी ताडपत्रीय प्रति पाटण के सबबीगंडे के श्वेताम्बर ज्ञानभण्डार में प्राप्त है ११७ पत्रों की इस प्रति का कुछ प्रश्न खण्डित लगता है। यह प्रारम्भ के उद्धृत श्लोकों से विदित होता है तथा अत के श्लोक से भी। अभी तक यह टीका अग्र्यन कहीं भी ज्ञात नहीं है, इसलिए इसकी जानकारी दिगम्बर समाज व विद्वानों को इस लेख द्वारा दी जा रही है।

मूल आध्यात्मिक तरंगिनी ग्रन्थ भाषिक-वन्द्यग्रन्थमाला के ग्रन्था० न० ६३ में सवत् १९७५ में प्रकाशित हो चुका

है, ऐसा 'श्री जिन रत्नकोश' के पृष्ठ ५ में उल्लेख है। पाटण में जो इसकी टीका की प्रति मिली है उसका उल्लेख बृहद् टिप्पणिका नामक प्राचीन ग्रन्थ सूची में होने से यह टीका और प्रति काफी प्राचीन सिद्ध होती है। अब इस टीका के भादि और अन्त का कुछ आवश्यक अंश यहाँ दिया जा रहा है।

भादि :—ॐ नमो वीतरागाय ।

गुरुं प्रणम्य लोकेशशिशूनामल ।

..... ॥१॥

... .. कोरिण्योथिजनासवं

पुरुषार्थसिद्धिनिमित्तं प्रमाणमनुसरंत...

.....

अन्तः :—की सोमदेव मुनिनोदितयोगमार्गो,

व्याख्यात एवहिमयाऽऽत्ममतेर्बलेन ।

संशोध्य शुद्धविषयोर्हृदये निप्रेयो,

योषीश्वरस्वमचिरायसमाप्तुकामैः ॥१॥

श्री सोमसेन प्रतिबोधनार्थं

धर्मत्रिषानोरुपशः स्थिरात्मा ।

गूढार्थसंदेहहरा प्रशस्ता,

टीका कृताध्यात्मतरंगिणीय ॥२॥

जिनेश सिद्धाः शिवभावभावाः,

सुसूरयो देशक-साधुनाथाः ।

अनाथनाथा मथितोद्दोषा,

भवन्तु ते शाश्वतशर्मदानः ॥३॥

चंचच्चंद्रमरीचिवीचिरुचिरे यच्चारोरुचिश्चये

मग्रांगैः सुरनायकैः सुररुचेर्देवाधिमध्यैरिव ।

शुक्लध्यानसितासिंहातितमहोत्कर्माधिकक्षुयो

देयाभोत्रवसंभवां शुभतमा चंद्रपुत्रः संपदा ॥१॥

त्रिदशवसतितुटयो गूर्जरान्नाभिषानो,

धन कनकसमृद्धो देवनाथोस्ति देशः ।

प्रसुर-सुर-सुरामाशोभिभामाभिरामोऽ,

परदिगवनिनारीवक्त्रभाले ललाम ॥२॥

शश्वच्छ्रीशुभतुंगदेववसतिः संपूर्णपण्यापणा

शौडोर्योद्भटोरधोरवितता श्रीमाध्यक्षेदोपमा ।

चंचत्कांचनकुम्भकर्णविसरं, जनालयं भोजिता

सकैवास्ति विशालसालनिलया, मंदोदरीशोभिता ॥३॥

वरवटवटपल्ली तत्रविख्यातनामा,

वरविनुगमुधामा देववासोरुधामा ।

शुभसुरभितरंभारामशोभाभिरामा,

सुभसतिरिचोच्यैरप्सरासम्पभामा ॥४॥

सूरस्थोद्यगणेभवद् यतिपतिर्वाच्यमः संयमी

जज्ञेजन्मवतां सुपोतममलं योजन्मया बोधितः ।

जन्मे यो विजयी मनोजनूपतेजिष्णोर्जगज्जन्मिनां

श्रीमत्सागरं नदिनाम विदितः सिद्धांतवार्धिविधुः ॥५॥

..... तपोयतिः ललायो

भव्यानिशम्य—परिवर्धननोरधो ।

माक्ष्यसल्ल... कः विकर्तनसत्कुठार

स्तस्माद्विलोभवनतोजनि स्वर्णनंदिः ॥६॥

आध्यात्मतरंगिनी के कर्ता सोमदेव मुनि हैं। जो योगमार्ग के अच्छे ज्ञाता थे। प्रस्तुत टीका गुजरात के वटपल्ली नगर या ग्राम में सागर तन्दी के शिष्य स्वर्णनन्दी ने बनायी लगती है। पछाक तीन में माध्यक्षेद और शुभतुंगदेववसति का भी उल्लेख है।

पाटण भण्डार सूची के पृष्ठ ३१ में सोमदेवसूरिरचित 'नीतिवाक्यामृत' की ६५ पत्रों की प्रति संवत् १२६० लि० का विवरण छपा है। लेखन प्रशस्ति इस प्रकार है— 'संवत् १२६० वर्षे प्रथम श्रावणवदि १० शनावद्येह श्रीमद्देवपत्तने गृहश्रीत्रिनेत्रप्रभृतिपंचकुलप्रतिपत्तो मह सोह्यकेन नीतिवाक्यामृत सत्कृपास्तका लिखापिता । मगल महाश्रीः शुभ भवतु लेखक-पाठकयोः । अग्रपृष्ठि कटि etc. यादृशं etc.

पाटणके भण्डार में ये महाकवि हरिचन्द्र के धर्मशर्माभ्युदय काव्य की २ ताडपत्रीय प्रतियाँ हैं। जिनमें से पहली प्रति १६५ पत्रों की संवत् १२७ की लिखी हुई है। लेखन प्रशस्ति इस प्रकार है—संवत् १२८७ वर्षे हरिचंदकवि विरचित धर्मशर्माभ्युदय काव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकरसूरि (रे) आदेशेन कीर्त्तितवर्गणिना लिखितमिति भद्र ।

इसी धर्मशर्माभ्युदय की दूसरी प्रति १४८ पत्रों की है।

अतः वह भी यहाँ दी जा रही है।

अथास्ति गूर्जरौ देशो, विख्यातो भुवनत्रये

धर्मचक्रभृता तीर्थधनार्थ्येर्मानवैरपि ॥१॥

विद्यापूरं पुरं तत्र, विद्याविभवसंभवं ।

पद्मः शर्करया ख्यातः, कुले 'हुंबड' संज्ञके ॥२॥

तस्मिन्वंशे दाहनामा प्रसिद्धो,

आता जातो निर्मलाख्यस्तदीयः ।

सर्वज्ञेभ्यो यो इदो सुप्रतिष्ठां,

तं दातारं को भवेत् स्तोतुमीश ? ॥३॥

बाबस्य पत्नी भूमिमोक्षलाख्या,

शीलाम्बुराशेः शुचिचंदरेखा ।

तंभदनञ्चाहृणिदेविभर्ता,

हेपालनामा महिमैकधाम ॥४॥

ताभ्यां प्रसूतो नयनाभिरामो,

मंडाकनामा तनयोविनीतः ।

श्रीजैनधर्मेण पवित्रदेहो,

दानेन लक्ष्मीं सफलं करोति ॥५॥

हानू-जासलसंज्ञकेस्य सुभगे भार्ये भवेतां द्वये

मिथ्यास्वद्रुमदाहपावकशिखे, सद्धर्ममार्गे रते ।

सागारव्रतरक्षणकनिपुणे, रत्नत्रयोद्भासके
रुद्रस्येवमभोनदी-गिरिसुते लावण्यलोलायुते ॥६॥

श्रीकुंडकुंडस्य बभूव वशे,

श्रीरामचन्द्रः (द्रः) प्रथितप्रभावः ॥७॥

प्रद्योतते संप्रति तस्य पट्टं,

विद्याप्रभावेन विशालकीर्तिः ।

शिष्यैरनेकैरुपसेव्यमान,

एकांतवादाद्रिविनाशवञ्जं ॥८॥

जयति विजयमिहः श्रीविशालस्य शिष्यो

त्रिनगुणमणिमाला, यस्य कंठे सदैव ।

अमितमहिमशोधर्मनाथस्य काव्यं

निजमुकृतनिमित्तं तेन तस्मै वितोर्णम् ॥९॥

पाटणभण्डार की ताडपत्रीयप्रति नं० ३६४ में 'प्रमेय-

कमलमार्तण्ड' प्रथम खण्ड की (२७८ पत्रों की प्रति) है ।

उसके अन्त में इतना सा ही लिखा हुआ है—प्रमेयकमल-
मार्तण्डः खडः हीवाभार्याश्र० पौंचू सकः ।

पाटण के खरतरवमहि में शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' की

२०७ पत्रों की ताडपत्रीय प्रति है जिमकी लेखन प्रशस्ति

विस्तृत होने से यहा नहीं दी जा रही है । केवल अंतिम

दो पंक्तियाँ ही दी जा रही हैं, जिसमें लेखन संवत् दिया

हुआ है—संवत् १२८४ वर्षे वैशाख शुदि १० शुक्ले गोमडले

दिगम्बर राजकुल सहस्रकीर्तिस्यार्थे प० केशरि सुनधीसलेन
लिखितमिति ।

जहाँ तक मेरी जानकारी है इन दिगम्बर ग्रन्थों की

इतनी प्राचीन प्रतियाँ दिगम्बर शास्त्र भण्डारों में भी नहीं

हैं । प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन में प्राचीन व शुद्ध प्रतियों

की अत्यन्त आवश्यकता होती है । बीच-बीच में मुझे कई

प्राचीन ग्रन्थ सम्पादकों - दिगम्बर विद्वानों ने पूछा भी था

कि अमुक ग्रन्थ की कोई प्राचीन व शुद्ध प्रति ध्यान में हो

तो सूचित करें बहुत बार प्रति के लेखकों की असावधानी

से गलत या अशुद्ध पाठ लिख दिया जाता है, कही पाठ

छूट जाता है । कही किसी के द्वारा जोड़ दिया जाता है ।

इसलिए ग्रन्थ सम्पादन के समय कई प्रतियों को सामने रख

कर शुद्ध पाठ का निर्णय किया जाता है । पाटण भण्डार

सूची की प्रकाशित हुए ४३ वर्ष हो गये पर अभी तक

उपरोक्त दि० ग्रन्थों की प्राचीनतम प्रतियों का किसी ने

उपयोग नहीं किया ।

नाहटो की गवाड़, बोकानेर

अनेकान्त

का

गोम्मटेश्वर बाहुबली विशेषांक

'अनेकान्त' का आगामी अंक 'गोम्मटेश्वर बाहुबली विशेषांक' होगा । दो खण्डों में विभक्त इस विशेषांक के प्रथम खण्ड में, भगवान बाहुबली के अलौकिक दिव्य व्यक्तित्वके विविध पक्षों पर लेखादि तथा द्वितीय खण्ड में जैन-साहित्य, सस्कृति एवं इतिहास पर मौलिक गवेषणापूर्ण सामग्री सम्मिलित होगी ।

'अनेकान्त' को सदा आपके महत्वपूर्ण सहयोग का गौरव प्राप्त रहा है । अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि इस विशेषांक के लिए कृपया शीघ्रातिशीघ्र अपने शोधपूर्ण लेख, चित्र आदि भेज कर अनुगृहीत करें ।

—सम्पादक

वैदिक और जैन-धर्म : एक तुलनात्मक विश्लेषण

पं० के० भुजबली, शास्त्री

वैदिक-धर्म और जैन-धर्म को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर प्राचीन जैन-साहित्य में प्राप्त जैन-धर्म का स्वरूप वेदों में प्राप्त वैदिक-धर्म से अत्यधिक सुसंस्कृत मालूम पड़ता है। वेदों में प्रतिपादित इन्द्रादि देवताओं का स्वरूप और जैनो के आराध्य-देव जिनेश्वर का स्वरूप—इन दोनों को विचार कर देखने पर वैदिक देवता सामान्य मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली मालूम पड़ने पर भी वृत्ति की दृष्टि से हीन ही प्रतीत होते हैं।

मानवों में आसानी से दृष्टिगोचर होनेवाले काम, क्रोध, राग और द्वेष आदि दोष वैदिक देवताओं में प्रचुर परिणाम में प्राप्त होते हैं, परन्तु जैनो के आराध्य देवों में ये सब दोष बिल्कुल नहीं हैं। वैदिक-देवताओं का पूज्यत्व किसी भी प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति से न होकर, नाना प्रकार के अनुग्रह-निग्रहों के कारण से ही प्राप्त है। जैनो के आराध्य जिनेश्वर इस प्रकार की किसी भी शक्ति के द्वारा पूज्य न होकर, बीतराग गुण में ही निहित आदर-भाव ही आराध्य को अपने आराध्य की पूजा के लिए प्रेरित करता है। वैदिक-धर्म में ऐसा नहीं है। उसमें वैदिक देवताओं का भय ही आराध्य को उनकी आराधना में प्रेरित करता है। वैदिक लोगो ने यद्यपि भू-देवता अर्थात् ब्राह्मणों की कल्पना तो की है अवश्य, परन्तु काल-क्रम से वे स्वार्थी हो गये। यह दोष जैन-धर्म में भी दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि बाद में ब्राह्मणों को अपने परोहित्य की रक्षा ही मुख्य रही।

वैदिक-धर्म में धार्मिक कर्म-काण्ड-रूपी यज्ञ ही प्रधान रहा। यह यज्ञ प्रायः पशु-हिंसा के बिना पूर्ण नहीं होता था। जैन-धर्म में अनशन आदि बाह्य और आन्तरिक तप ही प्रधान कर्म-काण्ड है। इसमें अर्थात् जैन-धर्म के हिंसा का नाम ही नहीं है। वैदिक यज्ञ देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए ही किया जाता था। जैन-धर्म में धार्मिक अनुष्ठान केवल आत्मोत्कर्ष के लिए ही किया जाता है। जैन लोग किसी भी देवता को सन्तुष्ट करने के लिए कुछ नहीं करते हैं, क्योंकि उनके आराध्य देव बीतरागी हैं। वह केवल

अनुकरणीयरूप में ही आराध्य हैं। जैनो में इस समय प्रचलित कुछ कर्म-काण्ड बहुतांश में वैदिक-धर्म के अनुकरण मात्र हैं। ये सब जैन-धर्म के मूल सिद्धान्त के प्रति-कूल हैं।

वैदिक लोगों ने नाना प्रकार के इन्द्रादि देवताओं की कल्पना की थी, जो तीन लोकों में ही विद्यमान हैं। देवता मनुष्य-वर्ग से भिन्न होकर मनुष्य-वर्ग के लिए आराध्य बने हुए थे। परन्तु जैन लोग देव वर्ग को मनुष्य-वर्ग से भिन्न मानने पर भी उन्हें आराध्य नहीं मानते हैं। हाँ, जैनो में भी कतिपय व्यक्ति कुछ देवताओं को अवश्य पूजते हैं, किन्तु वह केवल भौतिक उन्नति की ही दृष्टि से हैं, आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से नहीं।

जैन-धर्म में स्वीकृत बीतरागी मनुष्य की कल्पना देवताओं को भी मान्य और आराध्य हैं। देवता भी उस मनुष्य की सेवा करते हैं। सारांश यह है कि जैन-धर्म देवताओं की अपेक्षा मानव की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए आगे आया है।

वैदिक-धर्म में इस विश्व का निर्माण प्रथम नियन्त्रण ईश्वर के द्वारा माना गया है। इसके प्रतिकूल जैन-सिद्धान्त विश्व का निर्माण और नियन्त्रण का कर्म के सिद्धांत किसी व्यक्ति को नहीं मानता है। इस सिद्धांत को भगवद् गीता आदि कतिपय वैदिक ग्रन्थ भी मानते हैं। ईश्वर को सृष्टि-कर्ता मानने पर अनेक जटिल प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका यद्यपि उत्तर नहीं मिलता है। यह विषय 'आदि-पुराण' आदि पुराणग्रन्थों में तथा षष्ठ्यसहस्री, प्रमेयकमल-मार्तंड, श्लोकवार्तिक आदि न्याय-ग्रन्थों में विवक्षित में विवक्षित हैं।

वेदों के उपरान्त ब्राह्मण-काल में देवताओं के लिए यज्ञ प्रधान कर्म बन गया। उस काल में पुरोहित ने यज्ञ क्रिया के महत्त्व को बहुत बढ़ा दिया। इससे इच्छा न होने पर भी देवलोग अनिवार्य रूप में विधि युक्त यज्ञों में परबल हो गये। एक प्रकार से यह देवताओं पर मनुष्यों की विजय थी। किन्तु इसमें एक दोष अवश्य था। वह यह कि

ब्राह्मण-धर्म यज्ञ-विधि को अपने एकाधिपत्य में रखना चाहता था। उस समय वैदिक मन्त्राठ और विधि-विधान ब्राह्मण-धर्म की अनिवार्यता को स्पष्ट सूचित करता है।

जैन-धर्म इस मान्यता के विरुद्ध है। जैन-धर्म के अनुसार त्याग, तप आदि द्वारा ही उन्नत स्थान को प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः यह मनुष्य का वास्तविक मार्ग-दर्शन करता है। वैदिक धर्म में शूद्र को वेद पाठ करने के लिए मनाही है परन्तु जैन शास्त्र को सुनने-पढ़ने के लिए मनाही नहीं है। जैन-धर्म में धर्म-कार्य के आचरण में पुरुषों की ही तरह स्त्रियों को भी पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

वेदाध्ययन में शब्दों को महत्व प्राप्त होने से वेद-मन्त्र रक्षित होकर संस्कृत-भाषा को महत्व प्राप्त हुआ। पर जैनों में शब्दों की अपेक्षा पदार्थों को महत्व दिया गया। इसलिए जैनों में धर्म के मौलिक सिद्धान्त रक्षित होने पर भी शब्द रक्षित नहीं हुए। इसके अलावा जैन लोग संस्कृत भाषा को अधिक महत्व देते रहे। प्राकृत भाषा अपनी प्रकृति के अनुसार सदा एक ही रूप में नहीं रह सकती है अर्थात् यह बदलती रहती है।

वैदिक-संस्कृत उसी रूप में आज भी वेदों में उपलब्ध है उपनिषदों के पूर्व वैदिक-धर्म में ब्राह्मणों का प्रभुत्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जैन-धर्म में प्रारम्भ से ही क्षत्रिय लोग प्रमुख स्थान प्राप्त किए हुए दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु उपनिषद्कालीन वैदिक-धर्म में ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों को प्रमुख स्थान प्राप्त दृष्टि-गोचर होता है। उपनिषदों में आत्म-विद्या को प्रमुख स्थान प्राप्त था। यहाँ पर वस्तुतः ब्राह्मणों पर क्षत्रियों का प्रभुत्व स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक-धर्म और जैन-धर्म में दृष्टिगोचर होने वाले इस विरोध को देखकर प्रारम्भ में कतिपय आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने बौद्ध-धर्म की तरह जैन-धर्म को वैदिक-धर्म का विरोधी एक क्रांतिकारी नूतन धर्म लिखा है। इतना ही नहीं, जैन-धर्म को बौद्ध-धर्म की शाखा के रूप में भी कहा। परन्तु जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म के मौलिक साहित्य का अध्ययन करने के उपरान्त उन पाश्चात्य विद्वानों ने ही इस भ्रांति को दूर कर दिया है। आज अध्ययनशील दूरदर्शी पाश्चात्य और भारतीय विद्वान जैन-धर्म को वैदिक-धर्म से सर्वथा भिन्न एक स्वतन्त्र धर्म

मानने लगे हैं। हाँ, आज भी कतिपय विद्वान कभी-कभी उस पूर्वोक्त राय को अलापते हैं।

हम प्राचीनता के पक्षपाती नहीं हैं। क्योंकि वस्तु प्राचीन होने से ही निर्दोष नहीं होती है। उसका निरूपण यथार्थरूप में होने पर ही वह निर्दोष होती है। बाहर से भारत में आगत धर्म लोगों को जिस धर्म के साथ लड़ना पड़ा, उस धर्म का विकसित रूप ही जैन-धर्म है। यदि वेदों से ही जैन-धर्म विकसित हुआ होता अथवा वैदिक-धर्म के विरोध में जैन-धर्म का जन्म हुआ होता, तो वेद को प्रमाण मानकर वेद-विरोधी बातों का प्रचार करने का कार्य अन्य वैदिक धर्मों की तरह जैन-धर्म भी करता रहता। परन्तु जैन धर्म ने ऐसा नहीं किया है। यह वेद-निन्दक कहलाकर नास्तिक-धर्म कहलाया। जैन-धर्म ने कभी भी वेद को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया। ऐसी परिस्थिति में जैन-धर्म को वैदिक-धर्म की शाखा मानना बिल्कुल भूल है। सत्य परिस्थिति इस प्रकार है—वैदिक धर्म पूर्व की ओर बढ़ते हुए भौतिकत्व को त्यागकर आध्यात्म की ओर जाने लगे। इसके कारण को खोजने पर हमें यह बात विदित होती है कि धर्म लोग संस्कारी प्रज्ञाओं के प्रभाव से प्रभावित होकर अपने पूर्व की रीति को त्यागने लगे। यह विषय हमें उपनिषदों की रचना में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदों में वेद के विरुद्ध मान्यताएँ दृष्टिगोचर होने पर भी वे वेदों के अंग होकर वेदांत के नाम से प्रसिद्ध हुए।

उपनिषदों की रचना के बाद दार्शनिक वेदों को एक ओर रखकर उपनिषदों के द्वारा वेद की प्रतिष्ठा को बढ़ाते गये। उस समय वेदों में शक्ति रहने पर भी निष्ठा मात्र उपनिषदों में ही रही। एक जमाने में वेद का अर्थ गीण होकर उसकी छानि ही रह गई। पूर्व भारत के प्रज्ञाओं का संस्कार ही वेदों के ह्रास का कारण हुआ, यह कहना गलत नहीं होगा।

जैन-धर्म के सभी प्रवर्तकों ने प्रायः पूर्व भारत में ही जन्म लिया है। पूर्व भारत ही जैन-धर्म का उद्गम स्थान रहा है। जैन-धर्म ने ही वैदिक धर्म को नवीन रूप प्रारण करने के लिए विवश किया होगा तथा हिंसक और भौतिक-धर्म के स्थान पर अहिंसा और आध्यात्मिक का पाठ पढ़ाया होगा। (शेष आचरण पृ० ३२ पर)

महान् विद्वान् हर्षकीर्ति को परम्परा

□ श्री अग्रचन्द्र नाहटा, बीकानेर

१७वीं शती के महान् एवं नागपुरीय तपागच्छ के विद्वान् हर्षकीर्तिसूरि सम्बन्धी मेरा लेख पहले अनेकास्त में छपा था, उसे काफी वर्ष हो गये। इधर 'श्रमण' के अक्टूबर ७६ के अंक में हर्षकीर्तिसूरि रचित धातु तरंगिणी नामक मेरा लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें जो हर्षकीर्ति सूरि से पूर्ववर्ती आचार्यों में जयशेखर सूरि से परम्परा प्रारम्भ की है, इस सम्बन्ध में खोज करके उनके पहले-पेछे की आचार्य परम्परा पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूँ। वैसे श्री नागपुरीय 'बहुत-त। गच्छीय पट्टावली' नामक गुजराती ग्रन्थ सन् १९३८ में महमदाबाद से प्रकाशित हुआ है, उसे देखा पर उसमें ठीक से विवरण मिला नहीं। हेम हंससूरि के बाद तथा पट्टावली इसमें परम्परा ही बदल जाती है। इसका सम्बन्ध वास्तव में पार्श्वचन्द्रसूरि व उनके बाद के आचार्यों से है। हर्षकीर्ति सूरि ने भी 'धातुतरंगिणी' की प्रशस्ति में जो अपनी परंपरा के नाम दिये हैं, वे भी क्रमिक एवं पूरे नहीं हैं। बीच-बीच में प्रसिद्ध उपाध्याय व आचार्यों का विवरण देना ही उन्हें अधिक उचित प्रतीत हुआ लगता है। इसलिए मैंने अपने ग्रन्थालय की एक ग्रन्थ पट्टावली देखी तो उसमें हर्षकीर्ति सूरि आचार्य परम्परा के ५७ श्लोक हैं, और इसके बाद ग्रन्थ में आरम्भ की परम्परा के आचार्यों के नाम एवं उनका संक्षिप्त विवरण गद्य रूप में लिखे दिये मिले। इस पट्टावली के नामों से सुप्रसिद्ध बादिदेव सूरिका क्रमांक ४४ है। 'नागपुरीयतपाशाखा' उनके बाद से ही प्रसिद्ध हुई। क्योंकि सन् १२७४ में जगतचन्द्र सूरि को तथा विरुद मिला जब से उनकी परम्परा तपागच्छ के नाम से प्रसिद्ध होने लगी। अतः देवसूरि और उनकी परम्परा का मुख्य निवास नागौर में होने से ही उनकी नागपुरीय गच्छीय का 'तपा-गच्छीय' पसलचन्द्रसूरि से प्रसिद्ध हो गया। बादिदेव-सूरि से इसकी और आचार्य नामावली प्राप्त हुई है, उसे ही वहीं बिना आ रहा है परम्परा—

४४. श्री बादिदेवसूरि ११७४ वर्ष ८४ बाद जेता ३/ हजार आवक प्रतिबोधक
४५. श्री पद्मप्रभ सूरि भुवन दीपक ग्रन्थकर्ता
४६. श्री प्रसन्नचन्द्र इत= नागपुरी तपागच्छ शाखा
४७. श्री गुण समुद्रसूरि
४८. श्री जयशेखरसूरि स० १३०१ वर्ष १२ गोत्र प्रतिबोधक लोढ़ागोत्रे कर्मग्रन्थकर्ता
४९. श्री ब्रजसेनसूरि स० १३४२ वर्ष आचार्य १० हजार प्रतिबोधक, सारग भूपेन देशनाज्जो गुज्जर देशः।
५०. श्री रत्नशेखरसूरि १३८२ वर्ष
५१. श्री हेममिलकसूरि स० १३९९ सिद्धचक्र-पेरी जगद्देन परिधापति दिल्यालोढ़ा गोत्रे।
५२. श्री हेमचन्द्राचार्य
५३. श्रीपूर्णचन्द्र सूरि स० १४२४ वर्ष हीमणगोत्रे
५४. श्री हेमहंससूरि स० १४५३ खण्डेलवाल जाती-यतशिष्य गणि लोढ़ा गोत्रे स० जिणदेव संस्थापित
५५. श्री रत्नसागराचार्य दुगड गोत्रे
५६. श्री हेम समुद्र सूरि १४९९ चित्रकूटे संस्थापित
५७. श्री हेमरत्नसूरि १५२६ वर्ष स्तोनी गोत्रीय
५८. भगवान् श्री सोमरत्नसूरि स० १५४२ वर्ष सेठिया सोनी गोत्रे
५९. भगवान् श्री राजरत्नसूरि स० १५७४ वर्ष जेतवाल जातीय गोत्र सार एवन
६०. भगवान् श्री चन्द्रकीर्तिसूरि स० १५८६ तिमो-रेवा बहुतगोत्रि
६१. भगवान् श्री मानकीर्ति सूरि स० १६२४ वर्ष पोरवाड़ पद्यावली गोत्रे
६२. भगवान् श्री हर्ष-कीर्ति सूरि बंड-निया, चउधरी स० १६४३ वर्ष
६३. भगवान् श्री अमरकीर्तिसूरि १६४३ वर्ष आचार्य पट्ट

इनमें से ५४वें पट्टपर हेमहंससूरि के बाद पार्वचन्द्र सूरि वाली शाखा भलग हो जाती है। उसका भी १७वीं शताब्दी तक का जो विवरण है। पट्टावली में दिया है, उसे नीचे दे रहा हूँ। क्योंकि पायचन्द्र गच्छ की पट्टावली में लक्ष्मी निवास पुष्परत्न और साधुरत्न इन तीनों के भागे 'सूरि' शब्द लगा दिया गया है, वास्तव में मुझे प्राप्त पट्टावली के अनुसार ये तीनों ही आचार्य नहीं थे। इस पट्टावली में से पञ्चबद्ध पट्टावली में तो हर्षकीतिसूरि तक के नाम हैं। उसके बाद के नाम नहीं हैं। और पार्वचन्द्र सूरि की परम्परा में भी विमलचन्द्र सूरि के सं० १६६८ में आचार्य पद मिलने तक का ही उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि यह पट्टावली सं० १६७४ से पहले की लिखी हुई है। नहीं तो इसमें १६७४ विमलचन्द्रसूरि का स्वर्गवास हुआ, उसका भी उल्लेख अवश्य रहता। अतः इस पुरानी पट्टावली में लक्ष्मीनिवास पुण्य रत्न और साधुरत्न के नामों के भागे 'सूरि' पद नहीं दिया है, और उन्हें 'प०' ही लिखा है। अतः वह ही प्रामाणिक है। पट्टावली में इसका विवरण इस प्रकार है—

५५. श्री लक्ष्मीनिवास पंडित शिष्य

५६. श्री पुष्परत्न 'सर्व' विद्या विशारद

५७. श्री साधुरत्न पण्डितोत्तमः

५८. श्री पार्वचन्द्र सूरि—पोरबाड़ जातीय सं० १५३७ जनक हमीर पुरे सं० १५४६ महात्मा पोसालमहि दीक्षा सं० १५६५ किया अघरी सं० १६१२ मार्गसिर सुवि ३ स्वर्ग जोषपुरे श्री पासचन्द्र नक्ष आचार्य पद में १५७७ में संलक्षणपुरे मुठ जातीया मंत्री विकई पद प्रतिष्ठा की थी

५९. श्री समरचन्द्रसूरि श्री श्री माली जातीय पिता दोसी भीमा माता बरलादे सं० १५६० जन्म पाटनि पीराणि मार्गसिर सुदि इग्यारस दिने सं० १५७५ दीक्षा सं० २५९९ उाठाार पद संलक्षणपुरे मालबे खाचरोद आचार्य पद सं० मोर्न महुछव की चौस १६२६ जेठ वदी १ तीर्थ स्वर्गः।

६०. श्री रामचन्द्र सूरि—सं० १६०६ भादवा वदी १ जन्म भाबू नथरे रिता दोसी जाबड़ माता कमला दे सं० १६२६ दीक्षा स्तम्भ तीर्थ अथ आचार्य पद सं० १६६९ ज्येष्ठ सुदि ६ स्तम्भ तीर्थ निर्वाण ॥

६१. श्री विमलचन्द्र सूरि—सं० १६४६ जन्म असाठ सुदि ६ सं० १६५६ वर्षे ज्येष्ठ मासे दीक्षा वैसाख सुदि ३ सं० १६६९ आचार्य पद स्तम्भ तीर्थ सा० इन्द्रचन्द्र जी पद प्रतिष्ठा श्री हर्षकीतिसूरि वंसे तो सारस्वत दीपिका के कर्ता चन्द्रकीतिसूरि के शिष्य थे। पर चन्द्रकीतिसूरि के पट्ट पर आनकीतिसूरि स्थापित हुये। उनके बाद सं० १६४३ में हर्षकीतिसूरि और इसी सं० में उनके पट्ट पर अमरकीतिसूरि आचार्य पद स्थापित हुये। यह उपरोक्त पट्टावली से मालूम होता है। हर्षकीतिसूरि, चंडालिया या चौधरी वंश के थे। यह भी इस पट्टावली से ही जानकारी मिली है। इनके पट्टपर अमरकीतिसूरि ने कालिदास के ऋतु-सहार काव्य की टीका बनाई है।

हर्षकीति सूरि के सम्बन्ध में मैंने एक खोजपूर्ण लेख (अनेकान्त) के मई जून सन् १९५० के अंक में प्रकाशित करवाया था। इसमें मैंने इनका जन्म सवत्, जैनदीक्षा उपाध्याय व सूरि पद के समय के सम्बन्ध में लिखा था कि हर्षकीति के लिखी हुई सं० १६१३ की सप्तपदार्थी की प्रतिउपलब्ध है। अतः इनका जन्म सं० १५९० से १५९५ के बीच होना चाहिये और दीक्षा छोटी उम्र में ही हुई लगती है अतः सं० १६०५ से १० के बीच हुई होगी। सं० १६२९ की प्रति में इनके नाम के साथ 'उपाध्याय' पद विशेषण पाया जाता है। अतः इससे पहले वे अच्छे विद्वान बन चुके थे। अतः उन्हें उपाध्याय पद दे दिया गया था। सं० १६४३ में इनको आचार्य पद मिला। यह उसके बाद की मिली पट्टावली से सिद्ध है। पर एक समस्या रह जाती है कि आप आचार्य बने उसी समय अमरकीतिसूरि को अपने पद पर उन्हें पट्टपर के रूप में कैसे प्रतिष्ठित कर दिया। क्योंकि आपके लिखवाई हुई प्रति सं० १६६० की उपलब्ध है। और आपकी अन्तिम रचना 'सेड अनिट्कारिका वृत्ति' हमारे संग्रह में है। जिसकी प्रशस्ति के अनुसार इसकी रचना सं० १६६३ के ज्येष्ठ सुदि में हुई है। यथा—

राम ऋतु-रस भूषण ज्येष्ठ अवस पक्ष ती।

सेडनिट्कारिका कारि. हर्षकीति मुनीश्वरः ॥२१॥

इससे हर्षकीतिसूरि सं० १६६३ तक विद्यमान थे, सिद्ध होता है। तब इससे २० वर्ष पहले, अमरकीति को

मूरिका पद देने का जो पट्टावली में उल्लेख है, वह विचारणीय हो जाता है। पर ऋतु संहार की टीका प्रशस्ति से ऐसा लगता है कि वे वास्तव में मानकीतिसूरि के पट्टधर होंगे। अतः हर्षकीर्ति और अमरकीर्ति दोनों को एक साथ या आस-पास में ही आचार्य पद मानकीतिसूरि ने दिया होगा। हर्षकीर्तिसूरि तो अपने को चन्द्रकीर्तिसूरि के शिष्य ही लिखते रहे हैं। अतः चन्द्रकीर्तिसूरि के वृद्धावस्था या स्वर्गवास होने के बाद दीक्षा पद में बड़े होने के कारण मानकीतिसूरि को चन्द्रकीर्ति मूरि का पट्टधर बनाया होगा और हर्षकीर्तिसूरि उस समय उपाध्याय पद पर होंगे, जब मानकीतिसूरि का स्वर्गवास हो गया तब एक और चन्द्रकीर्तिसूरि के प्रधान और विद्वान् शिष्य हर्षकीर्तिसूरि को दूसरी और मानकीतिसूरि के शिष्य अमरकीर्ति को भी आचार्य पद दे दिया गया होगा। प्रमाणाभाव से वास्तविक स्थिति निश्चयरूप से तो बताई नहीं जा सकती पर सम्भावना और मेरा अनुमान यही है।

अमरकीर्तिसूरि ऋतुसंहार की टीका में अपने को मानकीतिसूरि को पट्टधर ही बतलाते हैं। यथा—

श्री मानकीर्तिवरसूरि गुण कवणा
पट्टेण वै अमरकीर्ति विनिमिता
श्रीमद्विशेष महान काव्यकृती,

(पृ० ३० का शेषांश)

सिन्धु सस्कृति को प्रकाश में लाने के पूर्व पाश्चात्य विद्वान् भारतीय-सस्कृति के मूल को वेदों में मानते रहे। परन्तु वे ही मोहनजोदड़ों और हड़प्पा के उत्खनन के बाद अपने अभिप्राय को बरनकर वैदिककाल के पूर्व में वेदों में भी अत्यधिक उज्ज्वल एक भारतीय-सस्कृति रही है, ऐसा स्वीकार करने लगे। उधर उपर्युक्त सिन्धु सस्कृति के अवशेष हमें प्रायः उत्तर पश्चिम भारत में दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी परिस्थिति में पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् भारतीय धर्मों के इतिहास को नवीन दृष्टि से देखने को तैयार हुए हैं। अब अनेक विद्वान् जैन-धर्म को वैदिक-धर्म से भिन्न एक स्वतन्त्र धर्म मानकर जैन-धर्म को वैदिक धर्म की शाखा अथवा विरोधी धर्म मानने से स्पष्ट इन्कार करते हैं।

वेदों के कथनानुसार इन्द्र ने दास एवं दस्युओं की तरह यति-मुनियों की भी हत्या की थी (अथर्व २.५३.)। यति और मुनि शब्द को भारत के मूल निवासियों की सस्कृति का सूचक मानना गलत नहीं होगा। इन शब्दों का विशेष प्रयोग और प्रतिष्ठा हम जैन-सस्कृति में प्रारम्भ से ही स्पष्ट देखते आ रहे हैं। इसलिए जैन-धर्म का प्राचीन नाम यति-धर्म अथवा मुनि-धर्म करने पर विरोध नहीं होगा। यति और मुनिधर्म दीर्घकाल से ही प्रभावित होता हुआ

सर्गोज्जनि प्रथम एवम्पाभिरभ्यः या ॥

इति श्री अमरकीर्तिसूरि कृतायां टीकायां

श्री श्रीमन्ऋतु वर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥

नामपुरीयतपामच्छ की २ शाखायें होगई जिनमें से पार्श्वचन्द्रसूरि शाखा में अब कोई नहीं है। और इस शाखा के विशेष विवरण वाली पट्टावली भी नहीं मिलती। हमें जो एस्माञ्च पट्टावली मिली है उसमें भी हर्षकीर्ति मूरि और अमरकीर्तिसूरि के नाम के बाद के नाम नहीं हैं। इसके बाद भी उनकी परम्परा कुछ चलती तो रही है। क्योंकि पार्श्वचन्द्र मूरि शाखा की पट्टावली में बीच में अन्य उसी परम्परा के आचार्य व मुनियों के नाम आये हैं। पर उससे हर्षकीर्ति परम्परा में क्रमशः पट्टधर कौन से हुये? एवं कब तक इनकी परंपरा चली? यह ज्ञात नहीं होता। हर्षकीर्तिसूरि के बाद इस शाखा में कोई ऐसा विद्वान् नहीं हुआ लगता, जिनके रचित ग्रन्थों की प्रशस्तियों से पीछे की परम्परा की जानकारी मिल सके। अमरकीर्तिसूरि की भी ऋतुसंहार टीका के छलावा और कोई रचना ज्ञात नहीं है। हर्षकीर्तिसूरि की स्वयं की लिखी हुई बहुत-सी प्रतियाँ प्राप्त हैं। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर एव ज्ञानभण्डारों में वे मेरे देखने में आई हैं, संभवतः कुछ प्रतियाँ हफारे संग्रहालय या ग्रन्थालय में भी हैं।

—नाहटों की गबाड़, बीकानेर

आया है और अनेक शाखा-प्रणालियों में विभक्त हुआ है। वेदों में भी हमें यही बात दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन जैन और बौद्ध शास्त्रों में धर्मों के विविध प्रवाहों को सूत्रबद्ध करके श्रमण और ब्राह्मण इन दो भागों में विभक्त किए जाने की बात दृष्टिगोचर होती है। इनमें ब्राह्मण वैदिक-सस्कृति में और शैव श्रमण सस्कृति में अधिक किए गए हैं। ऋग्वेद १०.१३६.२ में वातरक्षना मुनियों का उल्लेख है। इसका अर्थ नग्नमुनि होना है। आरण्यक में तो श्रमण और वातरक्षना इन दोनों को एक ही अर्थ में लिया गया है। उपनिषदों में तापस और श्रमण ये दोनों एक ही पंक्ति में लिये गये हैं। इन बातों पर सूक्ष्मता से विचार करने पर विदित होता है कि श्रमणों की तप और योग अधिक प्रिय थे। ऋग्वेद में कथित यति और वातरक्षना मुनि भी ये ही मालूम होते हैं। इस दृष्टि से भी जैन धर्म का सम्बन्ध श्रमण-परम्परा से मिष्ट होता है।

श्रमण-परम्परा और ब्राह्मण-परम्परा—इन दोनों में प्रारम्भ से ही विरोध चला आ रहा था। इन्द्र के द्वारा यति और मुनियों की हत्या किया जाना और पातञ्जलि के द्वारा अपने महाभाष्य (५. ४. ६) में श्रमण और ब्राह्मणों के शास्त्रों विरोध का उल्लेख किया जाना—ये दोनों बातें इसके सुदृढ़ प्रमाण हैं। □ □ □

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

- पुरातन जैनवाक्य-सूची :** प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। २२-००
- स्वयम्भू-स्तोत्र :** समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ३-००
- स्मृतिचिह्न :** स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २-५०
- पुण्यनुशासन :** तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-५०
- सभीचीन धर्मशास्त्र :** स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ :** संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और ५० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ६-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ :** अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। उपरान्त ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००
- समाहित-ग्रन्थ और इष्टोपदेश :** अध्यात्मकृति, ५० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५-५०
- आवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ :** श्री राजकृष्ण जैन ... ३-००
- न्याय-दीपिका :** भा० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००
- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश :** पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००
- कलायपाहुडसुत :** मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री पतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २५-००
- जैन निबन्ध-रत्नावली :** श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७-००
- ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) :** संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००
- आवक धर्म संहिता :** श्री दरयावसिंह सोबिया ५-००
- जैन लक्षणावली (तीन भागों में) :** सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००
- Reality :** भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००
- Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)**

प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के लिए रूपवाणी प्रिंटिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली-२ से मुद्रित।

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त



गोम्मटेश्वर

बाहुबली

विशेषांक

वर्ष ३३ : किरण ४

अक्टूबर-दिसम्बर १९८०



सम्पादन-मण्डल

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

डा० प्रेमसागर जैन

श्री पद्मचन्द्र शास्त्री

श्री गोकुलप्रसाद जैन



सम्पादक

श्री गोकुलप्रसाद जैन

एन ए., एल-एल.बी.,

साहित्यरत्न



वार्षिक मूल्य ६) रुपये

इस विशेषांक का मूल्य

१० रुपये



भगवान् गोम्मटेश

बाहुबली, अवराधेलगोल



वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

विषयानुक्रमिका

क्र० विषय पृ०

प्रथम खण्ड

श्रवणबेलगोल : बाहुबली

१. गोम्मटेश-चुदि—श्री नेमिचन्द्र सिद्धास्त-चक्रवर्ती १
२. गोम्मटेश्वर बाहुबली का सहस्रान्दि-
महामस्तकाभिषेक—श्री गणेशप्रसाद जैन २
३. प्रतिमा की पृष्ठभूमि—श्री लक्ष्मीचन्द 'सरोज' ५
४. बाहुबली बोले—श्री लक्ष्मीचन्द 'सरोज' ८
५. जे कस्मे सूर्रा ते धम्मे सूर्रा
—श्री डा० आदित्य प्रचडिया ६
६. श्रवणबेलगोल के शिलालेख
—श्री सतीश कुमार जैन ११
७. श्रवणबेलगोल-स्तवन
—श्री कल्याण कुमार 'शशि' १७
८. कल्याणमूर्ति बाहुबली—उपाध्याय श्रीधर मुनि १८
९. बाहुबली और महामस्तकाभिषेक
—डा० महेन्द्र सागर प्रचडिया १९
१०. उत्तर भारत में गोम्मटेश्वर बाहुबली
—डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी २२
११. दिव्यचरित्र बाहुबली—श्री रतनलाल कटारिया २५
१२. म० बाहुबली के शल्य नहीं थी
—माता श्री ज्ञानमती जी २७
१३. बाहुबली स्तवन—श्री 'भगवत्' जैन ३०
१४. जैनकाशी : मूढविद्वां—श्री गोकुलप्रसाद जैन ३५
१५. बाहुबलि की प्रतिमा गोम्मटेश्वर क्यों कही
जाती है ?—डा० प्रेमचन्द जैन ३६
१६. मैं रहूँ आप में आप लीन—श्री पद्मचंद शास्त्री ४१
१७. श्री गोम्मटेश संस्तव—श्री नाथूराम डोगरीय ४४
१८. भगवान् गोम्मटेश्वर की प्रतिमा का माप
—श्री कुन्दनलाल जैन ४५
१९. बाहुबली स्वतंत्र चेतना का हस्ताक्षर
—आचार्य महाप्रज्ञ ४८
२०. बाहुबली और दक्षिण की जैन परंपरा
—टी० एन० रामचन्द्रन् ५०
२१. जय चागद जय गुलिकायजिन्—श्री कुन्दनलाल जैन ५४
२२. बाहुबली मूर्तियों की परंपरा—श्री लक्ष्मीचन्द जैन ५७
२३. इन्द्रगिरि के गोम्मटेश्वर—श्री राजकृष्ण जैन ६०

क्र० विषय पृ०

२४. बाहुबलि चरित्र विकास एवं तद्विषयक बाङ्गमय
—डा० राजाराम जैन ६८
२५. महाकवि पुष्पदन्त का बाहुबली आख्यान
—डा० देवेन्द्र कुमार जैन १०५
२६. गोम्मटेश्वर बाहुबली स्वामी और उनसे
संबधित साहित्य—श्री वेदप्रकाश गर्ग १०४
२७. बाहुबली : पुष्पदन्त सृजन के आइने में
—डा० देवेन्द्र कुमार जैन १०
२८. बाहुबली की कहानी : उनकी ही जुबानी
—डा० शिवकुमार नामदेव १११
२९. गोम्मटमूर्ति की कुण्डली—श्री गोविन्द पद ११८
३०. अंतिम धृतकेवली महान् प्रभावक आचार्य
भद्रबाहु—श्री सतीशकुमार जैन १४८
३१. हिन्दी कवि उदयशंकर भट्ट की काव्य-सृष्टि में
बाहुबलि—श्री राजमल जैन १२४
३२. श्री पुण्यकुशल गणि और उनका 'भरत
'बाहुबलि-महाकाव्यम्'—महामहोपाध्याय
ड० हरीन्द्र भूषण जैन १८८

द्वितीय खण्ड

जैन शोध और समीक्षा

३३. जैन परंपरा में संत और उनकी साधना-पद्धति
—डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री ६५
३४. षट्त्रय में कालद्रव्य
—मृनि श्री विजयमृनि शास्त्री ७५
३५. विष्णुसहस्रनाम और त्रिनसहस्रनाम
—श्री लक्ष्मीचन्द 'सरोज' ८१
३६. तीर्थंकर महावीर की निर्वाण भूमि 'पावा'
—श्री गणेश प्रसाद जैन ८५
३७. नागछत्र परंपरा और पार्श्वनाथ
—डा० भगवतीलाल पुरोहित ८३
३८. अनागत चौबीसी : दो दुर्लभ कलाकृतियाँ
—श्री कुन्दनलाल जैन ८०
३९. कुन्दकुन्द की कृतियों का संरचनात्मक अध्ययन
— डा० बी० भट्ट ८४
४०. साहित्य-समीक्षा १२०

सम्पादकीय

सतत् वन्दनीय भगवान् बाहुबली

प्रथम तीर्थङ्कर आदिपुरुष पुरुदेव भगवान् ऋषभ के सुपुत्र, माता सुनन्दा के लाडले, भरतक्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरतेश्वर के अनुज, महातनीह्व बाह्मी और सुन्दरी के प्रिय आता, वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम कामदेव और प्रथम मोक्षगामी महापुरुष, महाबली बाहुबलि अपरनाम भूजबलि एवं दौबलि को अपने अप्रतिम रूप, बल, स्वाधीनता प्रेम, स्वाभिमान उच्चचेतत्व, उदारता, वैराग्य और दुर्द्वर तपश्चरण तथा सतत् प्रेरक व्यक्तित्व के लिए जैन पुराण वृक्षों में अद्वितीय एवं अविस्मरणीय स्थान प्राप्त है। जेनेश्वरी दीक्षा लेने के पूर्व मानवोत्तम महाराज ऋषभ ने अपना विशाल राज्य अपने सौ पुत्रों में विभाजित कर दिया था। ज्येष्ठपुत्र भरत को प्रधान राजधानी एवं ऋषभ तथा ऋषभपुत्रों की जन्मभूमि महानगरी अयोध्या का राज्य मिला। बाहुबलि को पोत्तनपुर का, मतान्तर से तल्लशिला का राज्य मिला। एकमत से श्रावकधर्मप्रवर्तक राजकुमार श्रेयांस और उनके अग्रज गजपुर (हस्तिनापुर) के असीश्वर सोमयश बाहुबलि के ही पुत्र थे।

महाराजा भरत की आबुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ तो वह अपना चक्रवर्तित्व सिद्ध करने के लिए दिग्विजय के लिए निकले। तत्कालीन प्रायः सभी नरेशों ने धर्मः धर्मः उनकी अधीनता स्वीकार कर ली। उनके स्वयं के भाइयों ने भी विरोध तो नहीं किया किन्तु अपने-अपन राज्य का परित्याग करके मूनि दीक्षा ले ली। स्वतन्त्रचेता एवं स्वाभिमान-मूर्ति महाबाहु बाहुबली ने चक्रवर्ती की चुनौती स्वीकार करली और युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये। दोनों की सेनाएँ रणक्षेत्र में आमने-सामने आ डटीं, किन्तु दोनों ही आदिदेव के सुपुत्र थे, चरम शरीरी और अहिंसा की संस्कृति से जोड़प्रोत मनस्थी थे ही। उन्होंने प्रस्ताव किया कि विवाद उन दोनों के बीच है, सैनिकों को उसके हेतु हताहत कराना अन्धाय है। अतएव दोनों के बलाबल का निर्णय दोनों के पारस्परिक द्वन्द्वयुद्ध से किया जाय। परिणामस्वरूप, इन दोनों महावीरों का दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध (या मल्लयुद्ध) एवं जलयुद्ध दोनों छिनाशों के बीच खुले मैदान में हुआ। देव-दानवों में ईर्ष्या उत्पन्न करने वाले युग के इस प्रथम भीषण राजनीतिक युद्ध को दोनों ओर के कोटि-कोटि सैनिकों एवं अपार जनसमूह ने आश्चर्याभिभूत होकर देखा। वह राजनीति में अहिंसा के प्रयोग का सर्वप्रथम उदाहरण है और प्राचीन भारत में कालान्तर में होने वाले युद्धों के लिए आदर्श बना। रामायण और महाभारत का भी ध्यान से अध्ययन किया जाय तो यही प्रकट होता है कि अजिंक्यतः उक्त युद्धों में दोनों ओर प्रमुख नेताओं के बीच लड़े गये द्वन्द्वयुद्ध ही विजय-पराजय के निर्णायक होते थे।

भरत-बाहुबलि द्वन्द्व में बाहुबली विजयी रहे, और पराजित भरत ने विवेक भूल कर उन पर चक्ररत्न चला दिया। किन्तु यह देवी सुदर्शनचक्र भी सगोचराव नहीं करता, अतः बाहुबलि को कोई भी क्षति पहुँचाये बिना उनकी प्रदक्षिणा करके वापस भरत के हस्तगत हुआ। इसर तो भरत अपने अविवेकपूर्ण कृत्य की ग्लानि से मूर्छित प्राय हो रहे थे, और उधर बाहुबलि राग्यवैभव जाति के लिए मानव की असीम लिप्सा तथा ससार-देह-भोगों की निस्सारता की अनुभूति करके संसार से विरक्त हो गये।

अमृतप्लव भरत की मनुहार पर भी ध्यान नहीं दिया और तत्काल बेसलीच करके उन्होंने मुनिदीक्षा लेली तथा एक वर्ष का कायोत्सर्ग योग धारण करके उसी स्थान में अङ्गि-अचल तपःलीन हो गये। युद्ध पोत्तनपुर नगर के बाहर सीमास्त प्रदेश में हुआ था—वही योगिराज बाहुबलि घातापन योग धारण करके स्थित हो गये।

भगवान् बाहुबलि के इस अमृतपूर्व दुर्द्धर तपश्चरण के रोमाञ्चक वर्णन प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य में प्रभूत मिलते हैं। इतना ही नहीं, उसकी स्मृति में भ० बाहुबलि की जो मूर्तियाँ निमित्त हुई उनमें उन्हें ध्यानस्थ मुद्रा में अविचल खड्गासीन प्रदर्शित किया गया है। उनके हृदयगदं दीमकों ने ऊँची बाँधियाँ बनाली, माघवी आदि लताएँ उनके पैरों, हाथों, कटि आदि के चहुँधोर लिपटती बढ़ती गईं। शरीर पर सर्प, बिच्छु, छिपकली आदि अनेक जन्तु रेंगने लगे। अनुश्रुति है कि महाराज भरत ने ही उनकी इस रूप की सेवा-पाँच सौ उत्तंग उस प्रतिमा उस तपःस्थान पर ही निर्मापित कराकर प्रतिष्ठित की थी। कलान्तर में उक्त मूर्ति को कुक्कुट सर्पों ने ऐसा आच्छादित कर दिया कि वह लोक के लिए अदृश्य हो गई। भट्टारक बाहुबलि की मूर्तियाँ प्रायः इसी रूप एवं मुद्रा में निमित्त हुई और उन्हीं से वे पहिचानी जाती हैं। ध्यानस्थमुद्रा और खड्गासीन तन पर लिपटी माघवी आदि लताएँ तो सर्वत्र प्रदर्शित हैं, कुछ में बाँधियाँ भी प्रदर्शित हैं, कुछ में शरीर पर रेंगते सर्प, बिच्छु आदि जन्तु भी अंकित हैं। एक मूर्ति के साथ यक्ष-यक्षि अंकित किए गये प्रतीत होते हैं, यद्यपि बाहुबलि तीर्थंकर नहीं थे और यक्ष-यक्षि अंकन तीर्थंकर प्रतिमाओं के परिकर में किये जाने का विधान एव परम्परा है। कर्णाटक की चार प्राचीन मूर्तियों में अश्वमेधगोल वाली उत्तराभिमुखी है, काकल की पश्चिमाभिमुखी, बेणूर की पूर्वाभिमुखी और अश्वमेधगिरि की दक्षिणाभिमुखी है। कुछ बाहुबलि मूर्तियों में उपासक-उपासिकाएँ भी अंकित हैं, किन्तु चार मूर्तियाँ—अश्वमेधगिरि, घुसई, देवगढ़ और महोबा की ऐसी हैं जिनमें बाहुबलि के दोनों ओर एक-एक स्त्री खड़ी है जो उनके मुख की ओर देखती, कुछ सम्बोधन-सा करती हुई, तथा उनके शरीर पर लिपटी लता आदि हटाती हुई-सी लगती है। एक किंबदन्ती है कि जब एक वर्ष के घातापन योग से भी बाहुबलि के कैवल्य की प्राप्ति नहीं हुई तो समयसरण में भगवान् ऋषभदेव की दिव्यध्वनि से उसका कारण जानकर महासती ब्राह्मी तथा सुन्दरी ने धाकर भाई को सम्बोधा या और कहाया कि 'हे भ्रातृ ! मानकपी गज से नीचे उतरों और स्वकल्याण करो।' सम्भव है कि इसी घटना का वह मूर्तांकन हो। कहा जाता है कि योगिराज बाहुबलि के मन में यह विकल्प रहा कि मैं भरत की भूमि पर ही खड़ा हूँ। जिनसेनाचार्य के अनुसार उनके मन में यह विकल्प रहा कि मेरे कारण भरत को कष्ट पहुँचा है। भरत को जब यह तथ्य ज्ञात हुआ तो उन्होंने धाकर बाहुबलि की पूजा की और उनका समाधान किया। इस विषय में प्रायः सभी लेखक एकमत हैं कि बाहुबलि के मन में कोई मानकषायजन्य ऐसा शत्रु या विकल्प बना रहा जो उनकी सिद्धि में बाधक बना। भरत प्रथवा ब्राह्मी एवं सुन्दरी के सम्बोधन से वह उस विकल्प से मुक्त हुए और तत्क्षण क्षपकश्रेणी पर प्राकट्य हो उन्होंने कैवल्य-ज्ञान प्राप्त किया।

भ० बाहुबली की तपःस्थली तक्षशिला का बहिर्भाग या या पोत्तनपुर का, इस विषय में मतभेद है। पोत्तनपुर की स्थिति का भी कोई पता नहीं है। बीरमाल्लण्ड चामुण्डराय ने अपनी जननी कलालदेवी की दर्शनेच्छा की पूर्ति के लिए स्वयं अजितसेनाचार्य एवं नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के निर्देशन में शिल्पीबेठ अरिष्टनेमि द्वारा अश्वमेधगोल की बिम्बगिरि के शिखर पर जब वह विश्वविभूत ५७ फीट उत्तुंग विशाल बाहुबलि प्रतिमा निर्मापित कराकर अश्वमेध पंचमी रविवार महावीर निर्वाण सं० १५०८

(सन् ६८१ ई०) में प्रतिष्ठापित कराई तो उस समय यही कहा गया था कि क्योंकि पोन्नपुर का मूल विग्रह (उत्तर कुक्कुटेश्वर जिन) अक्षय एवं अप्राप्य हो चुका है, अतः उसके स्थानापन्न रूप से इस दक्षिण-कुक्कुटेश्वर-जिन की स्थापना की गई है। यतः महाराज चामुण्डराय का अपर नाम गोम्मट या गोम्मटराय था, यह मूर्ति कालान्तर में गोम्मटेश या गोम्मटेश्वर बाहुबलि के नाम से विख्यात हुई। फिर तो शनैः-शनैः गोम्मट भी बाहुबलि का पर्यायवाची बन गया।

चिरकाल तक यह समझा जाता रहा कि बाहुबली मूर्तियों में श्रवणबेलगोलस्थ गोम्मटेश्वर ही सर्वप्राचीन हैं और अथ्य समस्त उपलब्ध बाहुबलि प्रतिमाएँ उसके पश्चात् तथा उसी के अनुकरण पर निर्मित हुई। किन्तु यह धारणा मिथ्या सिद्ध हुई। उसके पूर्व की भी अनेक बाहुबलि मूर्तियाँ उपलब्ध हैं—चम्बल क्षेत्र में मण्डसौर जिले के घुसई स्थान से प्राप्त बाहुबलि मूर्ति ४वीं-५वीं शती ई० की अनुमान की गई है, बादाम की ६ठी-७वीं शती की, एलोरा की ८वीं-९वीं शती की, हुमण्य की गुहुरबसदि में तोलपुरुष विक्रम सान्तर द्वारा प्रतिष्ठापित बाहुबलि मूर्ति ८६८ ई० की है। महोबा, देवगढ़, श्रवणपगिरि आदि की कई मूर्तियाँ लगभग १०वीं शती की हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विविष्ट शैली में बाहुबली मूर्तियों के निर्माण की परम्परा श्रवणबेलगोल की मूर्ति के निर्माणकाल से पाँच-छः शताब्दियों पूर्व तक पहुँच जाती है।

उपलब्ध प्राचीन साहित्य में भगवान बाहुबली का सर्वप्रथम उल्लेख भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य के भावपाह्व की गाथा ४ में प्राप्त होता है—

वेहाविचससंगो माणकसायेण कलुसिओ बीर।

असावणेण जाओ बाहुबली कलियकालं ॥

जिससे स्पष्ट है कि वेहादि समस्त परिग्रह से मुक्त हो जाने और दीर्घकाल तक आतापन योग से एक ही स्थान में अचल खड़े रहने पर भी मानकषाय से मन के रजित होने के कारण बाहुबली को सिद्धि नहीं हो पा रही थी।

प्रथम शती ई० में विमलसूरि द्वारा रचित प्राकृत पञ्चचरित के उद्देशक-४, गाथा ३६-५५ में बाहुबलीवृत्त दिया है—उसमें उन्हें तक्षशिला का स्वामी बताया है। पराजित भरत ने बाहुबली को वैराग्य से विरत करने के लिए समस्त राज्य उन्हें सौंप देने का प्रस्ताव भी किया बताया है। वह एक वर्ष का कायोत्सर्ग योग धारण करके स्थिर हुए थे, यह भी लिखा है, किन्तु उनके मन के किसी शल्य या विकल्प का उल्लेख नहीं किया।

रविशेणाचार्य ने पद्मपुराण (६७६ ई०) के पर्व ४, पद्य ६७-७७ में बाहुबलि को पोन्नपुर का नरेश सूचित किया है। उनके ग्रहम्भाव का भी संकेत किया है और उभय सैन्य को घलग रख कर परस्पर विविध द्वन्द्वयुद्ध (दृष्टि-जल-बाहु) का तथा अन्त में बाहुबलि के विरक्त होकर एक वर्ष तक मेरु पर्वत के समान निष्कम्प खड़े रह कर प्रतिमायोग धारण करने का उल्लेख किया है। यह भी लिखा है कि उनके पास अनेक बामियाँ लग गईं जिनके बिलों से निकले बड़े-बड़े मर्षों और श्यामा आदि की लताओं ने उन्हें वेष्टित कर लिया था—इस दशा में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ तथा यह कि इस अवसर्पिणी में उन्होंने ही सर्वप्रथम मोक्षमार्ग बिशुद्ध किया।

जिनसेन पुस्ताट के हरिवंशपुराण (७८३ ई०) के सर्ग ११ (पृ० २०२-२०५) में भी बाहुबली को पोन्नपुर का स्वामी बताया है, बाहुबली द्वारा भरत के प्रतिकूलता प्रकट करने पर दोनों का युद्ध के लिए

सम्नद्ध होना, मन्त्रियों के प्रस्ताव पर धर्मयुद्ध (त्रिविध द्वन्द्व युद्ध) करना, भरत का पराजित होकर चक्र चलाना, बाहुबलि का वैराग्य, कैलाश पर्वत पर जाकर एक वर्ष का प्रतिमायोग लेकर निश्चल खड़े रहना, माधवी लत एवं बामियों से निकले मणि सपों द्वारा शरीर का आवेष्टित होना, भरत द्वारा नमस्कार किये जाने पर कषायों से मुक्त होकर केवल-जिन के रूप में भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में सभासद बनना वर्णित हुआ है। इस पुराण में एक विचित्र संकेत है (श्लो० १०१) कि दो लेखरिखाँ (विद्याधरियाँ) उनके शरीर पर लिपटी लता आदि को हटाती रहती थी—यही वह रहस्य है जो कतिपय बाहुबलि मूर्तियों के साथ अंकित युगल स्त्री मूर्तियों द्वारा अभिव्यक्त हुआ है।

जिनसेन स्वामि (ल० ८१७ ई०) ने अपने आदिपुराण (पर्व ३५-३६, पृ० १७२-२२०) में बाहुबली वृत्तान्त विस्तार से दिया है। स्थूलतः हरिवंश पुराण से अन्तर नहीं है सिवाय अधिक विस्तार के इसमें भी बाहुबली का पोदनपुर नरेण व स्वाभिमाना होना, भरत के दूत को तिरस्कृत लौटाना, त्रिविध द्वन्द्व रूपी धर्मयुद्ध, बाहुबलि का वैराग्य, बन में जाकर एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण करना, लता एवं बामों से निकलते सपों द्वारा शरीर का वेष्टित होना, भरत को मेरे निमित्त से दुःख पहुँचा है, इस विकल्प का बना रहना, भरत द्वारा नमस्कार एवं स्तुति करने से विकल्पमुक्त होकर कैवल्य प्राप्त करने आदि का सुन्दर वर्णन है। इस पुराण में बाहुबली के पुत्र एवं उत्तराधिकारी का नाम महाबली दिया है।

इन्हीं जिनसेन के शिष्य, उत्तरपुराणकार गुणभद्राचार्य ने अपने आत्मानुशासन (श्लो० २१७) में बाहुबली की मुक्ति में बाधक उनके मानरूपी शल्य का संकेत किया है—

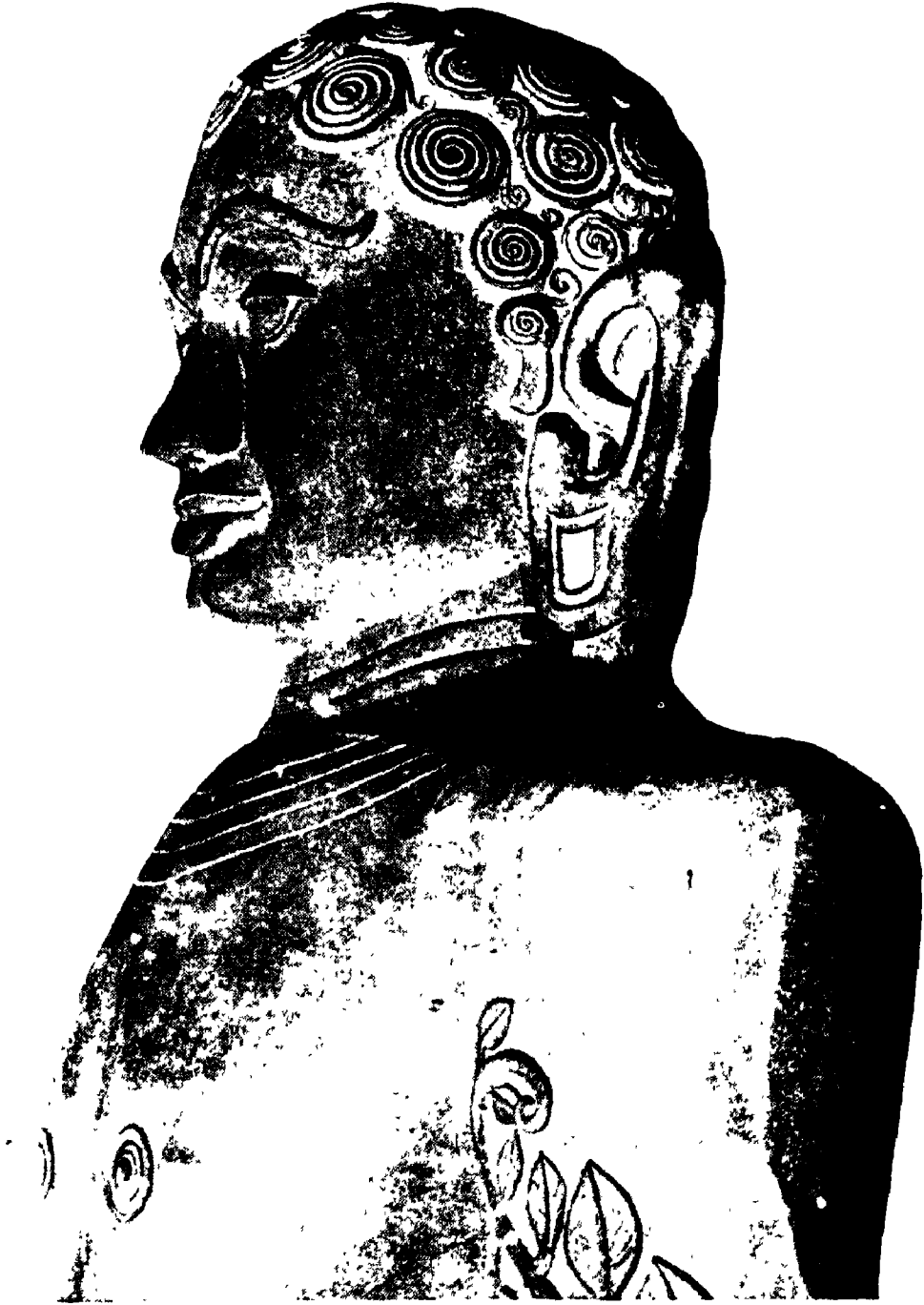
अर्धं विहाय निजवलिणबाहु संस्थं मत्प्राज्ञन्तु न बंध स तेन मुञ्चेत् ।

बलेशं तमाप किल बाहुबली चिराय, मनो मनागपि क्षतिमहती करोति ॥

महाकवि पुष्पदन्त ने अपने अष्टाशमहापुराण (६६५ ई०) की सन्धि १६-१८ में भी विस्तार के साथ बाहुबली का इतिवृत्त दिया है। इसी प्रकार चामुण्डराय के कन्नड महापुराण, मल्लिकार्जुन के महापुराण, दामनंदि के पुराणमार, हेमचन्द्राचार्य के त्रिविष्टशलाकापुरुषचरित आदि सभी जैन महापुराणों में बाहुबली का इतिवृत्त प्राप्त होता है। उत्तर काल में, विशेषकर कन्नड भाषा में कई स्वतन्त्र बाहुबलिचरित भी लिखे गये।

बाह्य एवं आन्तरिक, लौकिक एवं आत्मीय स्वातन्त्र्य की साकार सजीव मूर्ति भगवान् बाहुबली का पुण्य चरित्र और उनके अग्रतिम विग्रह के दर्शन लोक को सदैव धन्य करते रहेंगे।

तुभ्यं नमोऽस्तु निखिल—लोक विलोचनाय,
तुभ्यं नमोऽस्तु गुण अनन्त सुबोधकाय ।
तुभ्यं नमोऽस्तु परमायं गुणाकराय,
तुभ्यं नमोऽस्तु विभक्तो जिनगोप्मदाय !



योगवक्त्रेश्वर भगवान् बाहुबली
फिरोजाबाद (जिला प्रागर), उत्तर प्रदेश



श्री गौमटेश्वर की ५७ फुट ऊँची सुबिनाल प्रतिमा
 अबलबेलगोल (जिला हासन), कर्नाटक

श्रीम् मह्यम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यः षसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां बिरोधमघनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३३
किरण ४

}

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवत् २५०७, वि० सं० २०३७

{ अक्टूबर-दिसम्बर
१९८०

गोम्मटेस-थुदि

(गोम्मटेश-स्तुति)

(आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती विरचित)

विसदृ-कंदोट्ट-दलाणु पारं ।

सुलोयणं चंद-समाण-तुण्डं ॥

घोणाजियं चम्पय-पुष्पसोहं ।

तं गोम्मटेसं पणमामि शिञ्चं ॥१॥

अच्छाय-सच्छं-जलकंत-गंडं ।

आबाहु-दीलंत सुकण-पासं ॥

गड्द -सुण्डुज्जल -बाहुदण्डं ।

तं गोम्मटेसं पणमामि शिञ्चं ॥२॥

सुकण्ठ-सोहा जिय-दिक्क संखं ।

हिमालयुद्धाम - विसाल-कंधं ॥

सुपौख-णिज्जायल-सुद्धमज्जं ।

तं गोम्मटेसं पणमामि शिञ्चं ॥३॥

विज्झायलगे पविभासमाणं ।

सिहामणि सव्व-सुवेदियाणं ॥

तिलोय-संतोसय-पुण्णचंदं ।

तं गोम्मटेसं पणमामि शिञ्चं ॥४॥

लयासमक्कंत - महासरीरं ।

भग्गावलीलद्ध-सुकप्परुक्खं ॥

वेविदविदच्चिय पायपेम्मं ।

तं गोम्मटेसं पणमामि शिञ्चं ॥५॥

वियंबरो यो ए च भीइ जुत्तुत्तो ।

ए चांबरे सत्तमणो विमुद्धो ॥

सप्पादि जंतुप्फुसदो ए कपो ।

तं गोम्मटेसं पणमामि शिञ्चं ॥६॥

आसां ए ये पेक्खदि सच्छदिट्ठि ॥

सेक्खे ए वंछा हयवोसमूलं ॥

विरायभावं भरहे विसत्तलं ।

तं गोम्मटेसं पणमामि शिञ्चं ॥७॥

उपाहिमुत्तं धण-धाम-वज्जियं ।

सुसम्मजुत्तं मयमोहहारयं ॥

वस्सेय पज्जंतमुववास जुत्तं ।

तं गोम्मटेसं पणमामि शिञ्चं ॥८॥

गोम्मटेश्वर बाहुबली का सहस्राब्दी महामस्तकाभिषेक

□ श्री गणेश प्रसाद जैन

भगवान गोम्मटेश्वर-बाहुबली की श्रमणबेलगोला की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर स्थित उत्तम प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक २२ फरवरी १९८१ को होने जा रहा है। वर्षों पूर्व से इस महामस्तकाभिषेक की तैयारी श्री १०५ भट्टारक चारुकीर्ति जी के निर्देशन में चल रही है। सम्पूर्ण धार्मिक-अनुष्ठान एलाचार्य मुनि श्री १०८ विद्यानन्द जी महाराज के तत्वाधान में विधिपूर्वक सम्पन्न होगा। अनुमान है कि इस महोत्सव के अवसर पर कम-से-कम दस लाख भक्तजन जुड़ेंगे। उनके निवास के लिये अनेक उपनगर निर्माण कराये जा रहे हैं।

उक्तमस्तकाभिषेक के निमित्त देश के अनेक भागों में 'जनमंगलमहाकलश' का विहार होगा। इस 'जनमंगलमहाकलश' के विहार का शुभारंभ प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरागांधी के हाथों २६ सितम्बर १९८० के दिन दिल्ली में हुआ है। यह जनमंगलमहाकलश दश की परिक्रमा करते हुए २१ फरवरी १९८१ तक 'श्रमणबेलगोला' पहुँचेगा।

'गोम्मटेश्वर और श्रमणबेलगोला' दोनों ही शब्द कन्नड़-भाषा के हैं। गोम्मटेश्वर का अर्थ है 'कामदेव' (अतिसुन्दर) और श्रमणबेलगोला का अर्थ है—'जैन-मुनियों का घवल-सरोवर'। इस भूमि पर असंख्य साधकों ने तपस्या कर लक्ष्य प्राप्त किया है।

चिन्मयगिरि के दक्षिण विस्तार में इन्द्रगिरि (दोड्डवेट) और चन्द्रगिरि (चिक्कवेट) नाम की पहाड़ियों की तलहटी में स्थित वसन्ती (वसन्ती) का नाम श्रमणबेलगोला है। कोई-कोई इसे 'श्रमणबेलगुल' भी कहते हैं। इसका शान्त वातावरण समशीतोष्ण ऋतुओं साधकों के लिये अति अनुकूल है। इसे दक्षिणकाशी, जैनबद्री, देवलपुर और मोहम्मदपुर भी कहा जाता है।

उत्तरभारत में जब महादुष्काल के १२ वर्षों की

सम्भावना श्रुतकेवली भद्रबाहु को लगी तो १२००० बारह हजार मुनियों के साथ सहित वह दक्षिण भारत चले गये। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली, और मुनि साथ के साथ वह दक्षिण चला गया।

भद्रबाहु ने विशाल मुनि की मुनि सघ का आचार्य पद देकर मुनि-सघ को चोलपाण्ड्य आदि राज्यों की यात्रा के निमित्त भेज दिया, और स्वयं नव प्रव्रजित मुनि चन्द्रगुप्त के साथ कटवप्र पर्वत पर रुक गये। वहाँ उन्होंने तपस्याये तपी, और आयु के अन्त में समाधिमरण पूर्वक प्राण-विसर्जन किया। गुरु के पश्चात् भी चन्द्रमुनि उसी पहाड़ी पर १२ वर्षों तक कठिन तपस्याओं की साधना करते रहे। उन्होंने भी समाधि मरण द्वारा मुक्ति लाभ ली। जिस पहाड़ी पर श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रमुनि ने तपस्या की उसका नाम आज चन्द्रगिरि और जिस गुफा में वे निवास करते थे। उसका नाम चन्द्रगुफा प्रख्यात है।

आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव (आदिनाथ) युवराज थे, तब उनका विवाह कच्छ और महाकच्छ राजा की राजकुमारियों यशस्वी और सुनन्दा से हुआ था। यशस्वी से भरतादि एक सौ पुत्र और ब्राह्मी नाम की कन्या, एवं सुनन्दा से एक पुत्र बाहुबली और सुन्दरी नाम की एक कन्या थी। महाराज ऋषभदेव ने वैराग्य होने पर युवराज भरत को उत्तराखण्ड (उत्तर-भारत) का, और राजकुमार बाहुबली को दक्षिणपथ का शासन सौंप दिया। और स्वयं मुनि दीक्षा लेकर तपस्या करने वन-खण्ड को चले गए।

महाराज भरत की आयुष्यशाला में चक्ररत्न प्रगट हुआ। उन्होंने चतुरंगिणी सेना के साथ छः खण्ड पृथ्वी पर दिग्विजय किया। लौटने पर राजधानी ग्रयोध्या के प्रवेश द्वार पर चक्ररत्न अटक गया। एक भी शत्रु शेष रहने पर चक्र-रत्न राजधानी में प्रवेश नहीं करता। विचार-विमर्श पश्चात् ज्ञात हुआ कि महाराज भरत के

अनुज पोदनपुर के महाराज बाहुबली ने अभी तक महाराजा भरत की आधीनता स्वीकार नहीं की है। जिससे उनका चक्रोत्थ पूर्ण न होने से 'चक्रार्त्त' राजधानी में प्रवेश नहीं कर पा रहा है।

भरत ने अनुज बाहुबली को कहलाया—बाहुबली आकर मेरे चक्रोत्थ-यज्ञ का स्वयं समापन करें। महाराजा बाहुबली को महाराजा भरत के इस सन्देश में चुनौती का आभास मिला। उन्होंने दूत से उत्तर में कहला दिया। पोदनपुर का शासन स्वतन्त्र है और रहेगा। उसे आधीनता स्वीकार नहीं है। वह अपनी महत्ता युद्धभूमि में स्वीकार करायें।

दोनों ओर की चतुरंगिणी सेनायें रण-भूमि में घा जुटी। मंत्रीपरिषद्, सेनाध्यक्ष और सेनापतियों का मण्डल वहाँ एकत्रित हो गया युद्ध प्रारम्भ होने वाला ही था, तभी सेनापतियों ने कहा—सगे भाइयों के युद्ध में हम सैनिक सम्मिलित नहीं होंगे। द्वन्द्व युद्ध से वे लोग जय-विजय स्वयं निर्णय करें। मंत्रीपरिषद् सेनापतियों के बात से समर्थित हो भाइयों ने द्वन्द्व-युद्ध की घोषणा कर दी। तीन प्रकार के द्वन्द्वयुद्ध निश्चित हुए। जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध। तीनों युद्धों में बाहुबली विजयी रहे। पराजित भरत ने बाहुबली पर चक्र से घात कर दिया। चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा देकर भरत की ओर लौट रहा था। चक्र परिवार का घात नहीं करता।

उपस्थित जन समूह अनोति-अनोति कह कह चिल्ला उठा था। परन्तु जब चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा कर रहा था, तभी सबने बाहुबली की जयजयकार से आकाश को गुञ्जरित कर दिया। भरत ग्लानि से क्षुब्ध मलीन मुख पृथ्वी की देखते खड़े थे। वह चाह रहे थे कि पृथ्वी फट जाय और वह उसमें समा जाय।

दूसरी ओर बाहुबली के मण्डप में द्वन्द्व मचा था। ज्येष्ठ-भ्राता ने सत्ता के लोभ में विवेक को भुला दिया है। यही महत्त्वकांक्षा विनाश की मूल है। बनें भरत चक्रवर्ती, मेरा मार्ग तो पिता वाला है। मुनि दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करने का। हमने भी इसी राज्य-सम्पदा के लोभ में आकर अग्रज भरत का अपमान कर अपकीर्ति हाँ तो कमाया। अपने अहं, बाहुबल के अहंकार से वशीभूत

हो द्वन्द्व युद्ध किया। सामाजिक व्यवहार में भी अनुज अग्रज का सेवक है। मुझे उनके चक्रोत्थ यज्ञ में सहायक होना चाहिये था, किन्तु मैंने बिचन डाला। मेरे पिता ने जिस राज्य सम्पदा को तृणवत् त्यागा था उसी का मैं लोभी बना। धिक्कार है मुझे मैं अब इस मायावी का त्याग कर मुनि दीक्षा लूंगा। कठिन तपस्याओं की आराधना साध मोक्ष सम्पदा को वरण करूँगा।

बाहुबली अग्रज भरत के चरणों से लिपटे निवेदन कर रहे थे, अग्रज! आप मुझे क्षमा प्रदान करें। मेरे 'अहं' ने मुझसे ये सारे अक्रूर्य कराये। आपको शारीरिक और मानसिक क्लेश मैंने दिया। हमारे १६ भाइयों और दोनों बहनों ने पिता के महान विचारों की समझा और उनका पथ अनुसरण किया। उस आदर्श को मेरे अहंकार ने मुझे भुलवा दिया था। आज दृष्टि खुल गई है। मैं बन को जारहा हूँ। मुनिव्रत धारण कर मोक्ष प्राप्त करूँगा।

स्वयं चक्रवर्ती भरत, उपस्थित मन्त्रिपरिषद्, सेना-नायक, सैनिक उपस्थित प्रजा-गण सभी द्वारा बाहुबली के जयकार से गगन गुञ्जित हो उठा। पड़ोसी की बोली सुनना दुश्वार था। चारों ओर बाहुबली के त्याग की चर्चाएँ चल रही थी। तीनों द्वन्द्व-युद्धों में विजय प्राप्त करने के पश्चात् भी सर्व का त्याग कर मुनिव्रत की प्राकाशा? आश्चर्य महान आश्चर्य।

तभी वह कामदेव की माक्षात् प्रतिभूति, आज्ञानबाहु सारे राजसी ठाठ-वाटो को वहीं छोड़ एकाकी निष्प्रेष मन से उतावलीपूर्वक कदम बढाना बन-खण्ड को प्रस्थान कर गया। गहन वन के मध्य पहुँच कर महाराजा बाहुबली ने अपने राजसी वस्त्राभूषणों को उतार फेंका। दिगम्बर बन कर एक बड़े शिलाखण्ड पर पालथी मार कर बैठ गये। हाथों की मृदुियों से कुन्तल केश राशि उखाड़ फेंकी। और वहीं भूमि पर खड्गासन में खड़े हो गये।

तीन बार ॐ नमः सिद्धेय कह कर ध्यानस्थ हो गये। दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह, पक्ष पर पक्ष, मास पर मास बीतते रहे। श्रुतुओं जाड़ा, गर्मी, वर्षा के ऋतु बात आये चले गये। परन्तु वह तपस्वी अचल-अटल बना उसी भूमिखण्ड तपस्या में लीन बना रहा कटीली बन सतायें

जाघों से होती बाहुध्रों में लिपटती कानो तक पहुंच रही थीं। पावों के पजों के निकट बिच्छुध्रों सपों और चीटियाँ बिल बना बसेरा ले रही थीं। परन्तु वह प्रडिग तपस्वी उग्र साधना में दत्तचित्त लगा था।

तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के समवसरण में जाकर चक्रवर्ती भरत ने अग्रहन् भगवान से जिज्ञासा प्रगट की— भगवन् तपस्वी बाहुबली को इतनी कठोर तपस्या के बाद भी मोक्ष क्यों नहीं हो रहा है? तीर्थंकर की वाणी खिरी। वरस। तपस्वी बाहुबली के मन में एक भारी शल्य चुभ रही है, कि जितनी भूमि खण्ड पर खड़ा होकर मैं तपस्या कर रहा हूँ, वह भी चक्रवर्ती भरत की है। जिस समय उन्हें इस शल्य का ममाधान मिल जायेगा, उसी समय उन्हें मोक्ष हो जायेगा।

चक्रवर्ती भरत ने समवसरण से सीधे बाहुबली के तपस्या भूमि पर पहुंच कर तपस्वी बाहुबली के चरणों में साष्टांग नमस्कार करते हुए कहा। भगवन् आप कहा भूले हुए हैं। यह आपके मन में कंसी शल्य लगी हुई है? मैं तो आपके चरणों का सेवक हूँ। पृथ्वी न कभी किसी की रही है, न कभी रहेगी। महामुने! शल्य का त्याग करें। इतना सुनते ही तपस्वी बाहुबली को मोक्ष प्राप्त हो गया। इन्द्र ने देवपरिषद के साथ आकर भगवान बाहुबली का मोक्ष कल्याणक महोत्सव उस भूमि पर मनाया।

चक्रवर्ती भरत ने उस महातपस्वी बाहुबली की उस तपस्या भूमि पर रहने से उनके कद की प्रतिमा निर्माण करा कर उस भूमि पर उसकी स्थापना कर उस स्थल को तीर्थधाम बना दिया। दूर प्रतिदूर से भक्त जन वहाँ की यात्रा के लिए आने लगे। क्रम-क्रम काल ने इस तीर्थ धाम पर अपनी काली छाया बिखेरना आरम्भ कर दिया, और वह तीर्थ दुर्गम बन गया। वन-वृक्षों, कटीली लताओं के मण्डपों से घिरा, कंकड़ोंले भ्रम मागं पर जनों का जाना असम्भव हो गया। उस तीर्थ की यात्रा बन्द हो गई और तभी एक दिन...

जो आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने शिष्य बीरवर चामुण्डराय को माता को उस तीर्थ की महानता का वर्णन सुना दिया। माता प्रतिज्ञा ले बैठी कि मैं जय तक उस तीर्थ की यात्रा कर उस बाहुबली भगवान की

प्रतिमा का दर्शन न कर लूंगी तब तक दूध और दूध से निर्मित वस्तुओं का उपभोग न करूंगी। चामुण्डराय को माता की प्रतिज्ञा ज्ञात हुई, उन्होंने नगर और निकटवर्ती स्थलों में घोषणा करवा दी कि जो भगवान बाहुबली की तीर्थ यात्रा को चलना चाहे निःसर्कोच भाव से चल सकता है।

गगावंशीय नरेश राचमल के प्रधान सेनापति और मंत्री बीरवर चामुण्डराय सध सहित नित्य आगे बढ़ते मंजिल पार कर रहे थे। एक दिन ऐसा आया, कि उस दुर्गम पथ पर अनेक प्रयासों के बाद भी आगे बढ़ना असम्भव हो गया, तब वह इन्द्रगिरि पहाड़ी के तलहटी में पड़ाव डाल कर आगे बढ़ने के कार्यक्रम पर विचार-विमर्श के लिये रुक गये। दिन भर के विचार-विनिमय के पश्चात् भी कोई समाधान न निकला।

तभी रात्रि में जब सब लोग निद्रा में अलमस्त थे, शासन देवी ने आचार्य नेमिचन्द्र, चामुण्डराय और उनकी माता जी को एक साथ स्वप्न देकर कहा कि कल प्रातः काल उषाबेला से पूर्व अपने सब नित्य कर्मों से निवृत्त होकर इन्द्रगिरि की सबसे ऊँची चोटी पर चढ़ कर चामुण्डराय सामने वाली बड़ी पहाड़ी की सबसे ऊँची चोटी की बड़ी शिला का छेदन स्वर्ण वाण से कर दें। भगवान बाहुबली की प्रतिमा का सध को दर्शन होगा।

शासनदेवी के आदेशानुसार पुलकित मन में चामुण्डराय ने स्वर्ण वाण से सामने वाली पहाड़ी की सबसे ऊँची और बड़ी चट्टान को बोध दिया। दशों दिशाएँ प्रतिध्वनित हो उठी। बोधी शिला की परतें झरने का क्रम कुछ देर तक चला, और उस शिला में कामदेव सरीखा प्रति सुन्दर एक मुख बाहुबली भगवान का प्रगट हो पड़ा। सध ने भगवान बाहुबली की प्रतिमा के मुख का दर्शन कर अपने का सराहा। भगवान गोम्मटेश्वर के अयकार से दोनों पहाड़ियाँ गुजरित हो उठी। जय गोम्मटेश्वर, जय बाहुबली।

शिन्पकारों की छेनी उस बड़ी चट्टान को काट कर मानव आकृति के विधान में जुटी परिनिष्ठा पूर्ण योग दे रही है। चामुण्डराय शिल्पियों के निर्देशन और अग्न्य व्यवस्थाओं में दत्तचित्त हो कार्य सम्पन्न कर रहे है।

(शेष पृ० १० पर)

प्रतिमा की पृष्ठभूमि

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र सरोज, एम० ए०

प्रतिमा की सहस्राब्दी :

जिस पावन प्रतिमा ने एक सहस्र बसन्त, एक सहस्र हेमन्त, एक सहस्र ग्रीष्म, एक सहस्र शरद और एक सहस्र शिशिर काल देखे तथा मध्ययुग में सहस्र जीवन-मंघर्ष उत्थान पतन, सुख-दुख मूलक परिसर-परिवेश देखे, उस पुनीत प्रतिमा की आचार्य नेमोचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सान्निध्य में सेनापति और प्रमात्य चामुण्डराय ने सन् ६८१ में स्थापित किया था और इस पावन प्रतिमा का सहस्राब्दी महोत्सव २२ फरवरी ८१ को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जा रहा है।

संघर्ष-आक्रमण-विग्रह, संस्कृति-जन्म-जीवन-मरण देखते और लेखते हुए महामानव भगवान् बाहुबली की जीवन्त प्रतिमा अदम्य उत्साहपूर्वक आज भी गौरव से मस्तक उन्नत किए खड़ी है, अपनी ऐतिहासिकता और पावनता तप और त्याग, वीतरागता और विराटता की प्रतीक बनी है।

जिस प्रकार बाहुबली की प्रतिमा वस्तु कला में अप्रतिम है उसी प्रकार बाहुबली अपने मानवीय जीवन में भी अप्रतिम थे। उनका बल, उनका भोग, उनका ध्यान, उनका योग उनकी स्वतन्त्रता, उनका स्वाभिमान, उनका केवल ज्ञान, उनका मोक्ष-प्रस्थान उनका सारा जीवन ही एक अप्रतिम था। वे जैसे पहले कामदेव थे वैसे सर्वप्रथम मोक्षगामी भी थे। विस्मय की बात तो यह है कि तीर्थंकर नहीं होकर भी वे तीर्थंकर से पहले मोक्ष गये। वे अपने पिता श्री ऋषभदेव या महाप्रभु आदिनाथ, जो इस युग के सर्वप्रथम तीर्थंकर थे, उनसे भी पहले मोक्ष चले गए।

बाहुबलि में क्या गुण थे? प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर में यह प्रश्न पूछना ही समुचित समाधान कारक होगा कि बाहुबली में क्या-क्या गुण नहीं थे? अर्थात् वे सभी पुष्पोचित सद्गुणों से सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके विषय में तो यह भी अनश्रुति है कि प्रव्रज्या के उपरान्त और मोक्ष के प्रस्थान तक उन्होंने एक घास आहार भी ग्रहण नहीं किया। उनकी अद्वितीय क्षमता को देख कर लगता है कि जैसे उनमें सभी मानवों का साहस पुंजीभूत हो गया

हो। बाहुबली का जीवन और चरित्र यथानाम तथोगुण; का केन्द्रबिन्दु है।

बाहुबली की प्रतिमा के विषय में सुप्रसिद्ध मूर्तिकार मूलचन्द्र रामचन्द्र नाठा ने अभिमत दिया—एक सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन प्रतिमायें सहस्रों की संख्या में आज तक उपलब्ध हैं जिनके दर्शन और पूजन करने के लिए हम तीर्थ क्षेत्रों पर जाते हैं परन्तु उनमें वह सौन्दर्य, वह कला नहीं है, जो श्रवणवेलगोला के बाहुबली की प्रतिमा में है। शिल्पकला की दृष्टि से यह प्रतिमा अद्वितीय और अप्रतिम, अप्रतिद्वन्द्वी और अजातशत्रु है।

प्रतिमा की रूप रेखा :

मैसूर संस्थान के चीफ कमिश्नर मि० बोरिंग ने स्वयं माप कर प्रतिमा की ऊँचाई ५७ फीट बतलाई। प्रतिमा के अवयवों का संक्षिप्त विवरण सप्रमाण निम्नलिखित है—

प्रमाण	फुट	इंच
चरण से कर्ण के अधोभाग तक	५०	—
कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक	६	६
चरण की लम्बाई	६	—
चरण के अधोभाग की चौड़ाई	४	६
चरण का अँगूठा	२	६
पाद पृष्ठ के ऊपर की गोलाई	६	४
जाघ की ऊपरी आधी गोलाई	१०	—
नितम्ब से कान तक	२४	६
रोठ की अस्थि अधोभाग से कर्ण तक	२०	—
नाभि के नीचे उदर की चौड़ाई	१३	—
कटि और टेहुनी से कान तक	१७	—
बहुमूल से कान तक	७	—
तर्जनी उँगली की लम्बाई	३	६
मध्यमा उँगली की लम्बाई	५	३
अनामिका की लम्बाई	४	७
कनिष्ठिका की लम्बाई	२	८
गर्दन के नीचे भाग से कान तक	२	६
मूर्ति की कुल ऊँचाई	५७	—

गोमटेश्वर द्वार की बायीं ओर जो शिला लेख है, वह सन् १०६० का है, उसमें कन्नड़ काव्य ५० वीं पंक्ति में प्रतिमा की महिमा का प्रतिपादक एक काव्य लिखा है,

जिसका हिन्दी भाषा में सरल अनुवाद निम्नलिखित है—

जब मूर्ति आकार में बहुत ऊँची और बड़ी होती है तब उसमें प्रायः सौन्दर्य का अभाव रहता है। यदि मूर्ति बड़ी हुई और सौन्दर्य भी हुआ तो उसमें देवी चमत्कार होना असम्भव लगता है परन्तु गोम्मटेश्वर (कामदेव और चामुण्डराय के देवता) बाहुबली की मूर्ति ऊँची-बड़ी सुन्दर साश्चर्य-चमत्कारिणी है। दूसरे शब्दों में ५७ फुट ऊँची होने से बड़ी है, सौन्दर्य में अद्वितीय है और देवी चमत्कार-सम्पन्न है, अतएव यह प्रतिविम्ब सम्पूर्ण विश्व के व्यक्तियों द्वारा दर्शनीय और पूजनीय है। इस तथ्य को समझ कर ही शायद कर्नाटक सरकार ने श्रवण बेलगोला को पर्यटन-स्थल बनाया।

बाहुबली की निरावरणता :

दिगम्बर जैन मूर्तियों की निरावरणता के रहस्य को जो लोग नहीं समझते हैं, वे नग्नता के साथ अपनी अश्लील भावनायें भी जोड़ लेते हैं। शिवप्रतलाल वर्मन सदृश अल्प लोग भी चाहें तो दिगम्बर जैन मंदिर में जाकर 'छवि बीतरागी नग्न मुद्रा दृष्टि नासा पै धरै' तुल्य प्रतिमा के दर्शन करके भूल सुधार सकते हैं। हिन्दी वाङ्मय के सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रकुमार के शब्दों में सूर्य सत्य तो यह है कि मनुष्य जब आता है तब वस्त्र साथ नहीं लाता है और जब जाता है तब भी वस्त्र साथ नहीं ले जाता है। वस्त्रों का उपयोग जन्म से मरण के मध्य सामाजिक जीवन के लिए ही है। निर्विकार होने से साधु-जन निर्वस्त्र भी रह सकते हैं इसलिए दिगम्बर साधुओं सदृश परम हंस और मादर जात फकीर भी होते रहे हैं।

भगवान बाहुबली ने निरावरण होकर, वस्त्राभूषण त्यागी होकर पुनीत साधना की थी और जब बाहर सदृश भीतर से भी निरावरण राग द्वेष रहित हुए तब ही उन्हें केवल ज्ञान की महामणि मिली और मुक्ति श्री भी। उनकी प्रतिमा भी एक सहस्राब्दी से निरावरण ध्यानस्थ बीतराग मुद्रा में खड़ी है और पुरुषों को ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों को भी दिव्य शान्ति का संदेश दे रही है। बाहुबली की प्रतिमा की निरावरणता से प्रभावित होकर अब तो जैनैतर विद्वान भी दिगम्बरता के प्रति द्वेष भाव को छोड़ कर परम प्रीति को प्राप्त होने लगे हैं।

भगवान बाहुबली की निरावरणता को लक्ष्य कर भारत के सुप्रसिद्ध साहित्यकार काका कालेलकर ने अतीव मर्म-स्पर्शी हृदयोद्गार व्यक्त किये हैं, जो अक्षरशः अविकल माननीय हैं—

सांसारिक शिष्टाचार में फँसे हुए हम मूर्ति की ओर देखते ही सोचने लगते हैं कि यह नग्न है। क्या नग्नता वास्तव में हेय है? अत्यन्त अशोभन है? यदि ऐसा होता तो प्रकृति को भी इसके लिए लज्जा आती। फूल नंगे रहते हैं। प्रकृति के साथ जिनकी एकता बनी हुई है, वे शिशु भी नंगे रहते हैं। उनको अपनी नग्नता में लज्जा नहीं लगती।

मूर्ति में कुछ भी बीभत्स जुगुप्सित अशोभन अनुचित लगता है, ऐसा किसी भी दर्शक मनुष्य का अनुभव नहीं है। कारण नग्नता एक प्राकृतिक स्थिति है। मनुष्य न विकारों को आत्मसात करते-करते अपने मन को इतना अधिक विकृत कर लिया कि स्वभाव से सुन्दर नग्नता उससे सहन नहीं होती। दोष नग्नता का नहीं अपने कृत्रिम जीवन का है। बीमार मनुष्य के आगे फल पोष्टिक भेदे या सात्विक आहार भी स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं खाया जा सकता। दोष खाद्य पदार्थ का नहीं, बीमार को बीमारी का है। यदि हम नग्नता को छिपाते हैं तो नग्नता के दोष के कारण नहीं बल्कि अपने मानसिक रोग के कारण। नग्नता छिपाने में नग्नता की सुरक्षा नहीं लज्जा ही है।

जैसे बालक के सामने नराधम भी शान्त पवित्र हो जाता है वैसे ही पुण्यात्माओं-बीतरागों के सम्मुख भी मनुष्य शान्त गम्भीर हो जाता है। जहाँ भव्यता और दिव्यता है वहाँ मनुष्य विनम्र होकर शुद्ध हो जाता है। मूर्तिकार चाहते तो माधवी लता की एक शाखा को लिंग के ऊपर से कमर तक ले जाते और नग्नता को ढकना असम्भव नहीं होता पर तब तो बाहुबली भी स्वयं अपने जीवन-दर्शन के प्रति विद्रोह करते प्रतीत होते। जब निरावरणता ही उन्हें पवित्र करती है तब दूसरा आवरण उनके लिए किस काम का है?

निष्कर्ष यह निकला कि निर्विकार अमण की नग्नता निन्दा योग्य नहीं है बल्कि विकारग्रस्त समाज की अश्लीलता मूलक नग्नता ही अतीव निन्दनीय है, संशोधन

योग्य है।

बाहुबली की योग-साधना :

प्रथम मुनि और प्रथम तीर्थंकर महाप्रभु आदिनाथ ने छह माह के लिए प्रतिमा योग धारण किया था पर उनके द्वितीय पुत्र बाहुबली ने एक वर्ष के लिए प्रतिमा योग स्वीकार किया। इसके पहले भरत सम्राट ने छह खण्ड पृथ्वी जीत कर जो कीर्ति उपाजित की, जिससे वे चक्रवर्ती कहलाए, ऐसे भरतेश्वर की विजयलक्ष्मी दौड़ोप्यमान चक्र-मूर्ति के बहाने बाहुबलि के समीप आई परन्तु बाहुबलि ने उसे तृणवत् समझ कर छोड़ दिया। भरत क चक्र चलाने का कारण यह था कि बाहुबली दृष्टियुद्ध जलयुद्ध और मल्लयुद्ध में विजित हो चुके थे और उनके चक्र ने बाहुबली का बाल बांका भी नहीं किया था।

बाहुबली योग-साधना में लीन है। एक स्थान एक आसन पर खड़े रहने का नियम लिए है। न आहार है न बिहार और न निहार, न निद्रा है और न तन्द्रा, केवल ज्ञान है और ध्यान। एक से अधिक माह यो ही बीते। समीप का स्थान वन-वल्सरियों से व्याप्त हो गया, उनके चरणों के समीप सर्पों ने बानिया बना ली। वामियों से सर्पों के बच्चे निकल रहे। उनके लम्बे-लम्बे केश कन्धों तक लटक रहे, फूली हुई घासन्ती लता अपनी शाखा लुपी भुजाओं से उनका आलिङ्गन कर रही।

बाहुबली महान अध्यात्म योगी है। इन्होंने शरीर से आत्मा को पृथक् समझ लिया है। ये अपनी आत्मा को अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यमय देख रहे हैं। अनन्त गुणों के पुञ्जस्वरूप अपनी आत्मा का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में तन्मयरूप चरित्र, यो ये भी निश्चय रत्नत्रय रूप से परिणमन कर शुद्धोपयोग में लीन हो रहे पर कालान्तर में कभी उत्कृष्टतम शुभोपयोगी भी हो जाते हैं। इन्होंने ध्यान और तपश्चरण के बल से मति, श्रुत अवधि और मनः पर्यय चार ज्ञान प्राप्त कर लिए। चूंकि ये तपस्यामूलक श्रम से अणु भर भी मन में खेद विन्त नहीं है अतएव आत्मिक आह्लाद की उज्ज्वल झलक इनके सुमुख पर है।

शरीर पर लताएँ चढ़ गईं। सर्पों ने वामियाँ बना ली। विरोधी वनचर प्रशस्त होकर विचरण कर रहे।

बाहुबली सुमेरु सदृश सुदृढ़ हो रहे और निष्कम्प प्रतिमा योग धारण किए हैं और अब पूर्णतया केवलज्ञानी हो गये हैं इसलिए चक्रवर्ती भरत उनकी प्रशंसा कर रहे हैं—

आपकी एकाग्रता, आपका धैर्य धन्य है। आपने आहारादि संज्ञाओं सदृश क्रोधादि चार कषायों को ही नहीं जीता बल्कि चार घातिया कर्मों को भी जीत लिया और अनन्तदर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य के घनी हो गए। स्वर्ग के देवता और मर्त्यलोक के मनुष्य स्तुति कर रहे—

आपने जैसा ध्यान किया वैसा ध्यान भला कौन कर सकता, ध्यान-चक्रवर्ती योगेश्वर बाहुबली तृतीय काल में जन्मे, जीवन त्रिया, जो गन्मुक्त हुये और मुक्ति श्री का वरण भी किया। यद्यपि भगवान बाहुबली तीर्थंकर नहीं थे तथापि उनकी प्रतिमाएँ कारकल, मूर्धाबंदी, वादामि पर्वत समग्रालय बबई, जूनागढ़ खजुराह, लखनऊ, देवगढ़, तिलहरी, फिरोजाबाद, हस्तिनापुर, एलोरा आदि में है। यह उनके अप्रतिम त्याग और अद्भुत तपश्चरण का ही प्रभाव है जो आज भी उनकी मूर्ति की स्थापना से दिगम्बरत्व गौरवान्वित हो रहा है।

महाश्रमण गोमटेश्वर बाहुबली की दिगम्बर मूर्ति युग-युग तक असंख्य प्राणियों को सुख और शान्ति, सन्तोष और समृद्धि बन्धन और मुक्ति, भोग और योग स्वतन्त्रता और स्वाभिमान का संदेश देती रहेगी और मृष्टि को शिब का मार्ग प्रदर्शित करती रहेगी तथा अतीत की भाँति आज भी अपने चरित्र और चारित्र्य का पुनरावलोकन करने के लिए प्रेरणा देती रहेगी।

जब तक सूर्य और चन्द्र प्रकाश देते हैं, सरिताएँ बहती हैं, सरोवर लहराते हैं, समुद्र उद्वेलित होते हैं तब तक भारतीय संस्कृति की ज्वलन्त उदाहरण जैसी गामटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा का पूजन-अर्चन-वन्दन करते हुये भक्तजन त्रैविद्यदेव नेमोचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के स्वर में स्वर मिला कर कहते रहेंगे—

परम दिगम्बर ईतिभोति से रहित विशुद्ध बिहारी।

नाग समूहों से आवृत फिर भी स्थिर मूढ़ा धारी॥

निर्भय निर्विकल्प प्रतिमायोगी को छवि मम लाऊँ।

गोमटेश के शिष्यों में बाराबार झुक जाऊँ॥

२२, बजाजखाना, जाबरा (म० प्र०)

बाहुबली बोले

[] श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज', एम० ए०

आदिनाथ का मनय बाहुबलि तुम सबको प्रेरित करता हूँ ।
यत्न करो, नीचे से ऊपर उठो नित्य यह कहता हूँ ॥
सदियों से यद्यपि मौन खड़ा, देखा करता नित नील गगन ।
तथापि मेरे मानस पर शत अंकित जीवन के परिवर्तन ॥
अगणित वर्षों से छत्र किये मेरे ऊपर नभ के बादल ।
श्रम-युक्त हुआ विहगों का दल मँडराता होकर कुछ चञ्चल ॥
रवि-शशि निशिर्दान प्रतिवेला, उपहार मुझ देते आला ।
पद-पूजा नित करती आकर, सन्ध्या-ऊषा रूपी बाला ॥
सत्य अमावास्या में पाता, निस्तब्ध सरोवर शान्त हुआ ।
देखा करता ज्योत्स्ना में, भूतल चाँदी का कान्त हुआ ॥
मेरी मुख मुद्रा पर अंकित, शत सत्य त्याग के भाव सबल ।
मेरे चिर परिचित है जितने, उनके श्रद्धामय भाव प्रबल ॥
मैंने महलों की माया में, सुख-दुख के देखे वातायन ।
जहाँ दिखा था गायन-नर्तन, गुना वहाँ पर क्रन्दन-रोदन ॥
मैंने देखे अपनी आँखा व राजाओं के सेनानी ।
जो नगरों के रत्न लूटते, जिनके हमले थे तूफानी ॥
देखी राज्यों में उलट-पुलट, सम्राटों को मिटते देखा ।
मानव के जीवन को मैंने, दुख-भोगों में लुटते देखा ॥
पर मैं युग-युग से मौन खड़ा, हूँ आत्मध्यान में सतत मगन ।
इससे ही मुझको प्राप्त हुआ अनन्त सुख वह जीवन दर्शन ॥
मानव तू मुझसे पूछ नहीं किसने मेरा निर्माण किया ?
मैं कहता विषयों में फँस कर तूने जीवन निष्प्राण जिया ॥
सीधे मानव हो सावधान तू जड़ शरीर से ऊँचा ।
उतनी ऊँची तेरी आत्मा धरती से जितना नभ ऊँचा ॥
यदि सचमुच ही यत्न करे तो नर से बन जावे नारायण ।
लग जावे आत्म साधना में ही सफल मन्त्र का पारायण ।
आदिनाथ का मनय बाहुबलि उद्धार तुम्हारा करता हूँ ।
यत्न करो नीचे से ऊपर उठो नित्य यह कहता हूँ ॥

जे कम्मे सूर ते धम्मे सूर

□ डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'बोति'

सूर्योदय हुआ। चक्रवर्ती भरत और पराक्रमी बाहुवली पुष्पों से उपचित रणभूमि में घा गये। सारा तारापथ देवताओं से भर गया। भरत और बाहुवली के मस्तकों पर किरीट शोभित हो रहे थे। दोनों महान प्रतापी अपने शरीर पर कवन घाघण किए हुए थे। दोनों एक ही जयलक्ष्मी का वरण करने की समस्तुक थे। देवताकुल परस्पर विजय संदिग्ध वितर्कणा कर रहे थे।

बिगुल बजा। 'दृष्टियुद्ध' प्रारम्भ हुआ। दोनों महान वलियों की उत्साह से मराबोर आँखें केहरि की भाँति एक दूसरे की घूर रही थी। भीगी पलकों के अन्तराल में तारायें डूब रही थी। देवता, मनुष्य और किन्नर परस्पर में आश्चर्य प्रदर्शित कर रहे थे। प्रहर बीत चला। जिस प्रकार दिवावसान में भास्कर रश्मियाँ मँब हो जाती उसी प्रकार भरत की आँखें शान्त हो गईं। भरत हार गए।

अनन्तर में 'शब्दयुद्ध' प्रारम्भ हुआ। दोनों राज-हास्तियों के मिहनादों से कुञ्जर मृग-सदृश सञ्चल हो गए। भयभीत वल्लरियाँ वृक्षों से जा लिपटी और कान्नायें अपने प्रियतमों से आनिगित हुईं। मृगेन्द्र अपने गह्वर में जा छिपे। मृजगमों ने नागलोक का आश्रय ले लिया। सम्पूर्ण जगतीतल शब्दमय, अतिशय आतंकमय हो गया। यद्यपि भरत का सिंहनाद बहुत और ध्वन्यायित हुआ तथापि बाहुवली के मिहनाद में वैसे ही ढका जा रहा था जैसे समुद्र में मिलने वाला नदी का प्रवाह उदधि-कल्लोलों से आच्छन्न हो जाता है। भरत श्रम से थक गए। क्षण-भर आँखें बन्दकर वह विश्रामार्थ विराज गए। बाहुवली विजयी हुए।

तदनन्तर 'मृष्टियुद्ध' हेतु दोनों भुजबलियों ने अपनी-अपनी मुट्ठियाँ तान लीं। भदोन्मा हाथों की तरह धय-कालीन वारदाचक्र की तरह उछलते हुए एक दूसरे के सामने खड़े होकर परस्पर भुजायें उठा लीं। कुपित हो

भरत ने दृढमृष्टि से बाहुवली की छाती पर प्रहार किया। रोष आकाश में बाहुवली की आँखें विकराल हो गईं। नासिका उच्छ्वास की वायु से भर गईं। बाहुवली तक्षक की भाँति फुफकारने लगे। उन्होंने भरत की उठाकर आकाश में फेंक दिया। भरत आकाश में इतनी दूर उछले कि दीखने बन्द हो गए। बाहुवली का मन अनुताप से भर गया, नानाविध सकल्पों में उलझ गया। इतने में ही भरत आकाशमार्ग में दीख पड़े। बाहुवली ने उन्हें अपनी भुजाओं से झेल लिया। भरत क्रुद्ध हो गए। जीत बाहुवली की हुई।

अन्त में 'मल्लयुद्ध' की वारी थी। युद्ध प्रारम्भ हुआ। भरत के तीव्र प्रहारों से बाहुवली टलने-घुटने तक भूमि में घँस गए। उन्होंने पुनः प्रहार करना चाहा लेकिन बाहुवली सबल चुके थे। उन्होंने भरत पर प्रहार किया। भरत गले तक भूमि में घँस गए। भरत सबड़ा गए। उनकी आँखें भय से भयभीत थी। बाहुवली ने देखा तो मन उनका खिन्न हो गया। उन्होंने बार-बार सोचा किया कि यह मैंने क्या किया? शब्द के चन्द्रमा सा निष्कलक पूज्य पिता का वंश और मङ्गल द्वारा किया गया कलंक से पकिल कम। मैं जानता हूँ अभी युद्ध क्रीडामों में मेरी विजय हुई है तथापि घण्टी के लिए अग्रज की मारना उचित नहीं है। इधर बाहुवली स्वगत कथन में निमग्न-मंलग्न थे उधर वातावरण हँस-बिहँस उठा। विजय की दुन्दुभि बज उठी। लेकिन भरत ने अपनी पराजय को स्वीकार नहीं किया। वह बाहुवली से बोल-- "अनुजमन! अभी भी प्रणिपात कर लो, वर्ण ही बयो भरत हा। अपना भुजबल के ग्रहों का छाड़ दो। देखो, मेरे दाँत चक्र की अग्नि में तप्त-उत्तप्त होकर राजा कही भी मुख नहीं पा सके, फिर तुम क्या हो?"

भरत की वाणी सुन बाहुवली कुपित हुए और बोले—

“भाईवर ! तुम अपने आपको ही प्रभु मान रहे हो ? क्या मैं तुम्हारी इस प्रकार की बातों से डर जाऊँगा ? क्या मैं इस लोहे के टुकड़े चक्र से भयभीत हो जाऊँगा ?”

भरत से रहा न गया उन्होंने दीप्ति से जाउज्वल्यमान चक्र को जोर से फेंका। वह चक्र बाहुबली के पास आकर चक्रवर्ती भरत की ओर मुड़-बढ़ गया। बाहुबली का रोष बढ़ा और वे मुष्टिप्रहार से भरत को मारने लगे। तभी आकाशवाणी हुई—“हे बाहुबली ! व्यर्थ अपने बल को युद्ध में नष्ट-विनष्ट कर रहे हो ? यह भवितव्य हेतु शुभ-कर नहीं। तुम्हें अपने क्रोध का सङ्ग्रह करना पड़ेगा। भरत द्वारा आचीर्ण चरित्र को विस्मरण करना होगा। तुम्हें आत्म कल्याणार्थ अप्रसर होना है। मुनिपद की साधना करना है।”

आकाशवाणी सुन बाहुबली का रोष-आक्रोश क्षमित-शांत हुआ। बाहुबली ने अपने बल का प्रयोग हाथ से सिर के केश लुचन में किया और वे महाव्रतधारी मुनि बन

गये। भोगी से योगी बन गए। यह देख भरत की आँखें डबडबा आईं। उन्होंने प्रेम प्रवण बचनों से मुनीन्द्र बाहु-बली की बंदना की।

बाहुबली कायोत्सर्ग में लवलीन थे। शरीर उनका मोक्ष का हेतु बन गया था। एक नही बारह महीने बीत गए। अभिष्ट की प्राप्ति नहीं हुई। उनके मन में अहं का अंकुर जो विद्यमान था। विभु ऋषभदेव ने यह जाना। उन्होंने अपनी प्रव्रजित दुहिताओं ब्राह्मी और सुन्दरी को शका निवारणार्थ भेजा। उन्होंने अपने बन्धु को प्रतिबोध दिया—“मुनीन्द्र ! गज से उतरिए।” बस फिर क्या था प्रतिबद्ध बाहुबली ने अहं के अंकुर को समूल उखाड़ फेंका। विनय के प्रवाह में वे निमग्न हो गये। प्रबुद्ध हो गए। निरावरण ज्ञान की उपलब्धि हो गई। बाहुबली सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गए।

पोली कोठी, आगरा रोड,

अलीगढ़-२०२००१

(१०४ का शेषांश)

तत्पयता ने ५७ फुट उन्नत कामदेव सरीखी मानव आकृति को समुलित रूप में सर्जन कर दुनियाँ को आठवाँ आश्चर्य भेंट कर दिया। ५७ फुट उन्नत नग्न खड़ी बिना आवार की यह प्रतिमा पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी पर आज एक हजार वर्षों से खड़ी भारतीय और विदेशी भक्तों का तीर्थ धाम बनी हुई है। यह धाम आज अन्तर्राष्ट्रीय तीर्थस्थल है।

प्रतिमा के मस्तकाभिषेक की परम्परा प्रतिमा के स्थापना दिवस से (कुभ के सदृश्य) १२ वर्षों में की है। परन्तु इस विधान में अक्सर व्यवधान उपस्थित होता रहा है। २०वीं शती का मस्तकाभिषेक का क्रम इस प्रकार रहा है, १९०६, १९२५, १९४०, १९५२ और १९६७। अब २२ फनवरी १९८१ को हो रहा है।

सन् १९५२ ई० के मस्तकाभिषेक के अवसर पर मैसूर नरेश श्रीमन्त महाराज। कृष्णराज ने कहा था— ‘जिस प्रकार भगवान बाहुबली के अग्रज चक्रवर्ती भरत के साम्राज्य के रूप में इस देश का नाम भरत वर्ष (बाद में भारतवर्ष) कहलाया, उसी प्रकार यह मैसूर राज्य की भूमि भी भगवान गोम्मटेश्वर के आध्यात्मिक-साम्राज्य की प्रतीक है।

कल्कि संवत् ६०० में विभव संवत्सर चैत्र शुक्ला ५ वार रविकुम्भ लग्न, सो-मोय्य योग, मृगाशिरा नक्षत्र में प्रतिमा की प्रतिष्ठा और प्रथम मस्तकाभिषेक हुआ था। वर्तमान विद्वानों की गणनानुसार उस दिन २३ मार्च १०२८ ई० सन् था।

पोदनपुर के महाराजा बाहुबली को सुन्दरता के कारण गोम्मट कहा जाता था, अतएव गोम्मट की प्रतिमा गोम्मटेश्वर के नाम से विश्व में प्रख्यात हुई, और वह अपनी बहुमुखी प्रतिभा, शिल्प की अद्भुतता विना आधार की ५७ फुट ऊँची प्रतिमा सभी ऋतुओं के विविध भ्रष्टाचारों का वरण करते हुए जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों में प्रत्यक्ष प्रतीक रूप में अनुभव करा कर जन-जन का कल्याण कर रही है।

आज हम सहस्राब्दी महा महोत्सव की पवित्र मेला में भगवान बाहुबली गोम्मटेश्वर के चरणों में अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए अघा नहीं रहे हैं।

बनारसी माल के व्यापार, बसन्ती कटरा,

ठठेरी बाजार, बाराणसी-२२१००१

श्रवणबेलगोल के शिलालेख

□ श्री सतीशकुमार जैन, नई दिल्ली

श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल में अभी तक ५७३ शिलालेख ज्ञात हुए हैं। इन शिलालेखों के कारण श्रवण-बेलगोल तथा जैन धर्म के दक्षिण में प्रसार का प्राचीन इतिहास तो मिलता ही है इसके अतिरिक्त यह शिलालेख वहाँ के स्थापत्य, निर्माण, निर्माताओं, राज-परिवारों, धर्म परामर्श व्यक्तियों आदि पर भी यथेष्ट प्रकाश डालते हैं।

मैसूर राज्य में शिलालेखों से संबंधित खोज एवं उनके संकलन के कार्य का आरंभिक श्रेय एक अंग्रेज विद्वान मि० बी० एल० राइस को प्राप्त होता है जिन्हें सन् १८८० में मैसूर राज्य के पुरातत्व विभाग का अंशकालिक निदेशक नियुक्त किया गया था। उन्होंने अपने बारह वर्ष के सेवा काल में, सन् १९०६ तक, उस समय तक मैसूर राज्य में सम्मिलित आठ जिलों तथा कुर्ग से, जो उस समय एक स्वतन्त्र रियासत थी, ८८६६ शिलालेखों का संकलन किया। इन शिलालेखों को उन्होंने Transliteration एवं अंग्रेजी में अनुवाद सहित ऐपिग्राफिया कर्नाटिका नामक पुस्तक के बारह भागों में प्रकाशित करवाया। भाग दो में केवल श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल के शिलालेखों का ही संकलन है। सन् १९०६ में श्री राइस के सेवा निवृत्त होने पर रामानुजापुरम् नरसिंहाचार्य (१८६०-१९३६) उस पद पर आरूढ़ हुए। अपने सोलह वर्ष के सेवाकाल में उन्होंने ५००० और शिलालेखों की खोज की। उनमें से महत्वपूर्ण शिलालेखों को उन्होंने राज्य के पुरातत्व विभाग की वार्षिक रिपोर्टों में भी प्रकाशित करवाया। मि० राइस ने ऐपिग्राफिया कर्नाटिका के दूसरे भाग में, जिसका प्रकाशन सन् १८८६ में हुआ था, श्रवणबेलगोल में उस समय तक प्राप्त केवल १४४ शिलालेखों का ही संकलन किया था। पुरातत्व के धुरन्धर विद्वान श्री नरसिंहाचार्य ने अथक परिश्रम करके जब सन् १९२३ में इसका परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित किया तब उसमें ५००

शिलालेख संकलित थे। ऐपिग्राफिया कर्नाटिका भाग दो का सन् १९७३ में अन्त्य परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित होने पर उसमें तब तक प्राप्त ५७३ शिलालेखों का संकलन किया गया है। कन्नड विद्या संस्थान, मैसूर विश्वविद्यालय मानस गंगोत्री, मैसूर ने इस परिवर्द्धित संस्करण का प्रकाशन कर पुरातत्व प्रेमियों एवं शोधकर्त्ताओं पर विशेष उपकार किया है। इन ५७३ शिलालेखों में केवल पाषाण पर अंकित लेख ही सम्मिलित हैं। कागज पर लिखी सन्धें अथवा काष्ठों पर उत्कीर्ण लेख शिलालेखों के अन्तर्गत न आने का कारण उनमें नहीं दिए गए हैं।

इन ५७३ शिलालेखों में से २७१ चन्द्रगिरि पर, १७२ विष्णुगिरि पर, ८४ श्रवणबेलगोल नगर में तथा ५० समीपस्थ ग्रामों में उत्कीर्ण हैं। समीपस्थ ग्रामों में उत्कीर्ण ५० लेखों का विवरण इस प्रकार है : बस्तिहल्लि—१, बेका—४, बोम्मेणहल्लि—२, बलया—२, हैलेबेलगोल—१, हालुमस्तिगत्ता—२, हिन्दलहल्लि—१, हिरबेल्टी—१, होमाहल्लि—३, जिननाथपुर—१६, जिणहल्लि—२, कब्बलु—१, कन्तराजपुर—१, कन्थिरयापुर—२, कुम्बेणहल्लि—१, मट्टकाले—१, परमा—१, रागी-बोम्मेणहल्लि—१, साणेहल्लि—४, सुन्दाहल्लि—१, वहरहल्लि—२।

इन ५७३ शिलालेखों में १, लेख छठी-सातवीं शताब्दी का, ५४ लेख सातवीं शताब्दी के २० लेख आठवीं शताब्दी के तथा १० लेख नौवीं शताब्दी के केवल चन्द्रगिरि पर ही उत्कीर्ण हैं। दसवीं शताब्दी तथा उसके पश्चात् १९वीं शताब्दी तक के शेष लेख चन्द्रगिरि के साथ-साथ विष्णु-गिरि, श्रवण बेलगोल एवं समीपस्थ ग्रामों में भी मिलते हैं।

इन ५७३ लेखों में से १०० लेख मुनियों, धार्मिकाओं और आबक-आविकाओं के समाधिमण से, ४० लेख योद्धाओं की स्तुति, धार्मिकों की प्रशस्ति अथवा कुछ

विशेष स्थानों के उल्लेख से, १६० लेख सघों एवं यात्रियों की समृद्धि से (जिनमें १०७ लेख दक्षिण से आए हुए तथा ५३ लेख उत्तर भारत से आए हुए संबंधों अथवा यात्रियों के सम्बन्ध में हैं) १०० लेख मन्दिरों के निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, दानशाला, सरोवर, उद्यान आदि के निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, दानशाला, सरोवर, उद्यान आदि के निर्माण से तथा १०० लेख दान तथा दातारों से सम्बन्धित हैं, शेष ७३ लेख अन्य विषयों पर हैं।

प्राचीन तमिल और कन्नड़, तेलगु, मलयालम, मराठी भाषाओं के यह लेख अधिकतर तमिल की प्राचीन लिपि ग्रन्थ-तमिल, कन्नड़ लिपि, मलयालम लिपि, और नागरी लिपि में हैं। सम्स्कृत एवं मराठी भाषा के लेख कन्नड़ लिपि में उत्कीर्ण हैं। कन्नड़ मलयालम, तमिल व तेलगु लिपि के लेखों के अनिर्दिष्ट ३६ लेख देवनागरी लिपि में तथा कुछ लेख हिमाचल के पहाड़ी क्षेत्रों की टीकरी लिपि में भी उत्कीर्ण हैं। प्राचीन होने के कारण बहुत से शिलालेखों के अक्षर घिस गए हैं अथवा मिट गए हैं। कुछ लेखों को अज्ञानतावश मूल स्थान से उठा कर अन्यत्र भी जड़ दिया गया है जिससे उनका सन्दर्भ निकालना कठिन हो गया है कि वह शिलालेख वस्तुतः किस स्थान के प्रति हैं। शिलालेखों में अक्षर घिस जाने के कारण कहीं-कहीं पर स्थानों एवं साधुओं व आचार्यों का नाम स्पष्ट हो गया है। उन स्थानों अथवा महापुरुषों का अन्यत्र भी उल्लेख होने के कारण सन्दर्भ जोड़ कर उनके नाम पूरे पड़े जा सके हैं, अथवा पूरे किये जा सके हैं। इन शिलालेखों द्वारा तद्वर्ती काल अथवा पूर्वकाल के दक्षिण क्षेत्र के जैन धर्मावलम्बी तथा जैन धर्म से प्रभावित नरेशों अमात्य, सेनापतियों, श्रेष्ठियों आदि के विषय में तथा विष्णुगिरि पर निर्मित एक ही शिलालेख में बिस्व की सबसे ऊँची ५७ फीट अद्वितीय मूर्ति के अमत्य चामुण्ड द्वारा उत्कीर्ण कराने तथा विष्णुगिरि एवं चन्द्रगिरि पर अनेक जैन बसदियों स्तम्भों आदि के निर्माण के विषय में ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है। इनमें यह भी ज्ञात होता है कि किस राजा या सेनापति के काल में कौन से जैन आचार्य थे और कौन सा नरेश, अमात्य अथवा श्रेष्ठी किन जैन आचार्यों अथवा साधु का शिष्य था।

विविध भाषाओं एवं लिपियों में उत्कीर्ण इन शिलालेखों से तथा उनके विषय में यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्व काल से ही श्रवणबेलगोल समस्त भारत का पवित्र तीर्थस्थल रहा है तथा यातायात के साधनों के अभाव में भी इस दूरस्थ तीर्थ के प्रति उत्तर भारत तक के धर्मी बन्धुओं की श्रद्धा रही है और यात्रा के कष्ट उठा कर भी वह निरन्तर ही वहाँ गोम्मटेश्वर बाहुबली की मूर्ति के दर्शन के लिए आते रहे हैं। इन शिलालेखों से यह भी स्पष्ट होता है कि जैन संस्कृति ध्वंसी भाति पूर्व में भी भारत व्यापी थी तथा जैन धर्म अनेक नरेशों द्वारा सम्मानित था। ऐतिहासिक महत्व होने के अनिर्दिष्ट इन शिलालेखों द्वारा पूर्व काल में जैन साधुओं के धार्मिक कृत्यों जैसे सल्लेखनाश्रत अथवा सयाधिमरण, व्रत, उपवास, तप ध्यान आदि के भी वषष्ट उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होने के लिए जैन साधु कितना अधिक शारीरिक परिश्रम भोगते थे तथा आत्म-चिन्तन में लीन रहते थे। साधुओं के सल्लेखना व्रत धारण करने अर्थात् समाधि मरण पूर्वक देह त्याग करने सम्बन्धी अनेक उल्लेख इन शिलालेखों में मिलते हैं। धर्म भावना को अनन्तर में सुरक्षित रखते हुए सधम एवं साधना पूर्वक शरीर त्याग को ही सल्लेखना (समाधि मरण) कहा गया है।

इन शिलालेखों में अनेक शिलालेख बहुत महत्वपूर्ण हैं और उनमें भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है इनमें सबसे प्राचीन छठी शताब्दी का चन्द्रगिरि पर पार्श्वनाथ बसदि के दक्षिण की ओर वाली शिला पर पूर्व कन्नड़ लिपि में उत्कीर्ण लेख क्रमांक १। यह गोम्मटेश्वर मूर्ति की प्रतिष्ठा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व उत्कीर्ण किया हुआ है। इसमें उल्लेख है कि त्रिकालदर्शी भद्रबाहु स्वामी की अष्टांग निर्मित जान द्वारा यह विदित होने पर कि उज्जयिनी तथा उत्तरांचल में १२ वर्ष का दुर्मिष पड़ने वाला है वह अपने सघ को उत्तरापथ से दक्षिण की ओर ले गए और क्रम-क्रम से जनपद, नगर, ग्राम पार करते हुए 'कटवप्र' अर्थात् चन्द्रगिरि पर पहुँचे। अन्त समय निकट जानकर उन्होंने अपने सघ को अन्यत्र चले जाने का निर्देश दिया और वहाँ पर उनके साथ केवल एक शिष्य प्रभाचंद्र

(इतिहास नाम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य) ही रह गए, भद्रबाहु स्वामी को वहाँ समाधिमरण हुआ और उनके पश्चात् ७०० ग्रन्थ साधुओं को भी वहाँ में समाधिमरण हुआ। जिनालेखों का काव्य सरस तथा प्रवाहमय भाषा में सुन्दरतम शब्दावली में रचा गया है। घटनाओं व दृश्यों का चित्रण बहुत सजीव हुआ।

सन् ११५३ में उत्कीर्ण लेखक्रमांक ७१ में भद्रबाहु को श्रुतकेवली एवं चन्द्रगुप्त को उनका शिष्य कहा गया है। सन् ११२६ में उत्कीर्ण लेख क्रमांक ७७ में जो पादबर्णाथ वरदि के एक स्तम्भ पर अंकित है लिखा है कि स्वामी भद्रबाहु का शिष्य बनने के कारण चन्द्रगुप्त की इतनी पुण्य महिमा हुई कि वन देवता भी उनकी सुश्रुषा करने लगे। लगभग सन ६५० में अंकित शिलालेख क्रमांक ३४ में उल्लेख है कि जो जैन धर्म मुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के तेज में भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था उनके किवंत क्षीण हो जाने पर शातिसेन मुनि ने उसे पुनरुत्थापित किया। नागरी लिपि के ११वीं शताब्दी के शिलालेख क्रमांक २५१ में जो चन्द्रगिरि पर भद्रबाहु गुफा में शिला पर उत्कीर्ण है उल्लेख है कि जिनचन्द्र स्वामी ने भद्रबाहु स्वामी के चरणों को नमस्कार किया। (श्री भद्रबाहु स्वामिय पादुमं जिनचन्द्र प्रणमता) चन्द्रगिरि पर्वत के शिखर पर भी चरण-चिह्न अंकित है। चरणों के नीचे १३वीं शताब्दी में उत्कीर्ण लेख क्रमांक २५४ में उल्लेख है कि यह चरण भद्रबाहु स्वामी के हैं (भद्रबाहु भलि स्वामिय पाद)। उल्लेखनीय है कि कर्नाटक राज्य में प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान श्री रंगपट्टन के सन ६०० में उत्कीर्ण एक लेख में जो श्रवणबेलगोल से सम्बन्धित है, उल्लेख है कि कलबस्त्र शिखर (चन्द्रगिरि) पर महामुनि भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के चरण चिह्न बने हैं। सन १४३२ के विस्तृत लेख क्रमांक ३६४ में जो विष्णुगिरि पर निर्मित सिद्धरबसदि के बाएं स्तम्भ पर अंकित है एवं भद्रबाहु तथा चन्द्रगुप्त की प्रशस्ति रूप में है, उल्लेख है कि चन्द्रगुप्त श्रुतकेवली भद्रबाहु कि शिष्य थे।

जैन इतिहास की दृष्टि में यह शिलालेख बहुत महत्वपूर्ण हैं। यह सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के जैन धर्मावलम्बी होने, स्वामी भद्रबाहु के उस समय विशालतम साम्राज्य

में प्रतिष्ठा प्राप्त करने तथा उत्तर-मध्य भारत में जैन धर्म की व्यापकता एवं दक्षिण में जैन धर्म प्रसार के विषय में ऐतिहासिक सक्षम प्रस्तुत करते हैं। इन शिलालेखों से संश्लिष्ट है जैन संस्कृति की सार्वभौमिकता के सबाहक तथा उस समय के महान धर्मगुरु प्राचाय भद्रबाहु तथा महान प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य विधान, कूटनीति एवं ग्रन्थ-व्यवस्था के महान प्राचाय चाणक्य का जीवन वृत्त एवं कृतित्व भी जो वस्तुतः चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य के निर्माता थे।

मूलमध एव कुन्दकुन्द आश्रय के प्राचार्यों की पट्टावली श्रवणबेलगोल के प्राचार पर ही तैयार की गई है। शिलालेख क्रमांक १ में भगवान् महावीर के प्रमुख गणधर गौतम से लेकर भद्रबाहु स्वामी तक प्राचार्यों के नाम क्रमबद्ध रूप में यहाँ दिए गए हैं जिसे सम्मिलित है लोहाय, जम्बू स्वामी, विष्णुदेव, धरराजिन, गोवर्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल कृतिकाय, जयनाम सिद्धाय घनसेन, बधिला। होयसल नरेश विष्णुवर्धन द्वारा दिमम्बर ११२४ में उत्कीर्ण लेख क्रमांक ५६६ में भी गौतम गणधर से लेकर श्रीपाल त्रैविद्यदेव तक की परम्परा दी गई है। कुछ शास्त्रकारों तथा उनकी रचनाओं के विषय में भी उल्लेख किये गये हैं। लेख क्रमांक ३६०, ७७, ७१, ५६६, ३६४ आदि में कुछ शास्त्रकारों तथा उनकी रचनाओं के विषय में उल्लेख किये गये हैं।

अनेक शिलालेखों में जिनमें जैन प्राचार्यों की जीवन की घटनाओं का उल्लेख है अथवा जो उनकी प्रशस्ति रूप में अंकित है उल्लेख किया गया है कि वे शास्त्रार्थ में अति निपुण थे और उन्होंने प्रतिबादियों को अपनेकी बार ज्ञान एवं तर्क द्वारा परास्त किया। दक्षिण वाले महानबमि मण्डा के एक स्तूप पर अंकित लेख क्रमांक ७० में उल्लेख है कि १२वीं शताब्दी में महामण्डलाचार्य वेवकीर्ति पंडित ने चार्वाक, बौद्ध, नैयायिक, कापालिक एवं वैशेषिकों को शास्त्रार्थ में परास्त किया।

जैन मुनि मल्लिसेण की नैषिद्धया रूप में सन् ११२८ में अंकित विस्तृत लेख क्रम संख्या ७७ में जो पादबर्णाथ के स्तम्भ पर अंकित है उल्लेख है कि मुनि महेश्वर ने ७७ में जो पादबर्णाथ के स्तम्भ पर अंकित है उल्लेख है कि मुनि

महेश्वरने ७० बार शास्त्रार्थमें प्रसिद्ध प्रतिवादियों पर विजय प्राप्त की। लेख क्रमांक ३६० में कहा गया है कि पण्डिताचार्य चारुकीर्ति का यश इतना प्रशस्त था कि चार्वाकों को अपनी अभिमान, सांख्य को अपनी उपाधियाँ, भट्ट को अपने सब साधन एवं कणाद को अपना हठ छोड़ना पड़ा।

कस्तले बसदि के लेख क्रमांक ७९ में आचार्य गोपनन्दि की शास्त्रार्थ प्रतिभा के विषय में कहा गया है। अन्य मतों के विद्वानों की अपेक्षा में उन्हें मूनि पुंगव कहा गया है। शिलालेख का भावार्थ है कि उस प्रखर विद्वान के सम्मुख जो मतगज के समान है जैमिनी, मुग्त, अक्षपाद, लोकायत एवं सांख्य जैसे विरोधी हाथी भी अतर्कित हो गए, परास्त हो गए, लज्जा से मुँह बचा कर भाग गए आदि। प्रचुर सिद्धान्त-ज्ञान एवं विशेष तर्क शक्ति पर आधारित जैन साधुओं की शास्त्रार्थ श्रेष्ठता ही उनकी ११वीं से १४वीं शताब्दी के मध्य पनपे प्रबल धार्मिक विरोध से उनकी रक्षा कर सकी। कहा जाता है कि उनके तप एवं ध्यान के प्रभाव से सिद्धि रूप में अलौकिक चमत्कार भी उत्पन्न हो जाते थे। सन् १३६८ में सिद्धर बसदि के स्तंभ पर उत्कीर्ण अत्यन्त विस्तृत शिलालेख क्रमांक ३६० में वर्णन है कि चारुकीर्ति पण्डित मृतप्रायः राजा बल्लाल को स्वस्थ कर "बल्ला जीव रक्षक" उपाधि से विभूषित हुए थे। सन् १४३२ के एक अन्य विस्तृत शिलालेख क्रमांक ३६४ में, जो सिद्धर बसदि के बाएँ स्तंभ पर उत्कीर्ण है, कहा गया है कि उनके शरीर को छूकर जो वायु प्रवाहित होती थी वह रोगों को शान्त कर देती थी। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि जैन साधकों तथा साधुओं ने धर्म प्रचार अथवा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए कभी भी चमत्कार अथवा मंत्र-तंत्र को साधन नहीं बनाया। यह दूसरी बात है कि उनके तप एवं ध्यान के प्रभाव के कारण अलौकिक चमत्कार घटित हो जाते थे जिससे राजा तथा प्रजा प्रभावित होते थे।

शिलालेखों में अनेक महिलाओं का उल्लेख भी हुआ है जो राजवंश, सेनापतियों, मंत्रियों, तथा श्रेष्ठियों के परिवारों से सम्बन्धित थीं। इनमें उनके द्वारा किये गए निर्माण कार्य, धार्मिक कृत्यों समाधिभरण आदि का वर्णन है। इनमें होयसल नरेश विष्णुवर्धन की पत्नि शान्तशा

रानी, उनकी दूसरी पत्नी लक्ष्मी देवी, पोयसल सेठ की माता शान्तिकम्बे, गंगराज की माता पोचम्बे अथवा पोचिकम्बे, गंगायी, चन्द्रमोलि मंत्री की माता अक्कम्बे, नागदेव की पत्नी का कामल देवी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में उत्कीर्णकर्ताओं ने शूरवीर तथा रण-कुशल एवं रण-बांकुरे वीरों को अनेक उपाधियों से विभूषित कर उनके प्रति अपने हृदय का आदर प्रदर्शित किया है। अनेक शूरवीरों को तो एक साथ कई-कई उपाधियों से विभूषित किया गया है।

अनेक शिलालेखों में उन करो के नाम भी दिए गए हैं जिन्हें श्रवणबेलगोल की तीर्थरक्षा, मन्दिरों के जीर्णोद्धार, प्रहरियों व कर्मचारियों के वेतन भुगतान तथा तीर्थ-व्यवस्था आदि के लिए लगाया गया था।

श्रवणबेलगोल के इन शिलालेखों में दक्षिण के अनेक राजवंशों राष्ट्रकूट वंश, गंगवंश, कल्याण के चालुक्य वंश, द्वारसमुद्र के होयसल वंश, विजयनगर के राजवंश, मैसूर नगर के मोड्यार राजवंश, चंगल वंश, नुगगेहल्लि के तिरुमल नायक कदम्ब वंश के नरेश कदम्ब, नोलम्ब एवं पल्लव वंश, चोलवंश, निडुगलवंश आदि के नरेशों तथा उनके अमात्यो, सेनापतियों एवं श्रेष्ठियों के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे उनके जैनधर्म प्रेम, पराक्रम, साहस, शौर्य, समरकुशलता, विद्वत्ता, दानशीलता आदि पर यथेष्ट सामग्री उपलब्ध होती है।

होयसल वंश से सम्बन्धित शिलालेखों की संख्या इस प्रकार के शिलालेखों में सबसे अधिक है। विष्णुवर्धन के काल के सन् १११३ से ११४५ के मध्य उत्कीर्ण १० लेख, जिन पर समय अंकित नहीं है उसके समय के ८ लेख, नरसिंह प्रथम के काल के सन् ११५६ एवं ११६३ में उत्कीर्ण ३ लेख, जिन पर समय अंकित नहीं है उसके काल के ऐसे-ऐसे लेख, बल्लाल द्वितीय के काल के सन् ११७३, ११८१ एवं ११९५ में उत्कीर्ण ५ लेख तथा जिन पर काल अंकित नहीं है उसके समय के ऐसे तीन लेख, नरसिंह देव द्वितीय के काल के सन् १११७ से १२७३ के मध्य उत्कीर्ण ६ लेख, तथा १२वीं शती में उत्कीर्ण २३ तथा १३वीं शती में उत्कीर्ण ४ अन्य लेख यहां मिलते हैं। राष्ट्रकूट वंश के नरेशों, कम्बव्य एवं इन्द्र चतुर्थ के माठवीं

तथा दसवीं शताब्दी के २ लेख, गंगवंश के सत्यवाद्य पेरमानडि, रायमल्ल द्वितीय, एरेगंग द्वितीय तथा मारसिह द्वितीय आदि के नौवीं एवं दसवीं शताब्दी के १० लेख, विजयनगर साम्राज्य के शासकों बुक्कराय प्रथम, हरिहर द्वितीय, देवराय प्रथम तथा देवराय द्वितीय के ६ लेख, मैसूर के ओडेयार राजवंश के चामराज सप्तम, दोड्डदेवराज, चिक्कदेवराज, दोड्डकृष्णराज प्रथम, तथा कृष्णराज तृतीय के ६ लेख, चंगल्व वंश के चंगल्व महादेव का सन् १५८६ का १ लेख, नुगेहलि के तिरुमल नायक का सोलहवीं शती का १ लेख, कदम्ब वंश के कदम्ब राजा का नौवीं शताब्दी का एक लेख, शकर नायक (पल्लव) के १३वीं शती के २ लेख, चोलवंश के चोल पेरमंडि का १०वीं शती का १ लेख तथा १२वीं शताब्दी के ३ लेख तथा निडुगम वंश के इरुंगोल के १२वीं शती के २ लेख यहा उत्कीर्ण है।

उपरोक्त शिलालेखों के अतिरिक्त सैंकड़ों ऐसे शिलालेख भी हैं जिनमें उपरोक्त वर्णित वंशों के साथ-साथ अन्यान्य अनेक वंशों के नरेशों, मंत्रियों, सेनापतियों आदि के नामों, कृतित्व आदि का उल्लेख हुआ है।

होयसल काल के लेखों में सबसे अधिक वर्णन हुआ है नरेश विष्णुवर्धन, उनकी पत्नी शांतला, उनके मंत्री गंगराज तथा नरेश नरसिह देव द्वितीय का। प्रतापी होयसल नरेश जैन धर्म के पालन एवं संरक्षण के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। विनयादिद्य द्वितीय (१०४७—११००) इस वंश का ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध प्रथम नरेश था जिसे राज सत्ता, शक्ति एवं यश जैन साधु शांतिदेव के आशीर्वाद से प्राप्त हुए थे। वह जैन धर्मावलम्बी शासक था। अपने राज्यकाल (११११—११८१) के आरम्भिक वर्षों में होयसल वंश के सबसे प्रतापी एवं यशस्वी नरेश विष्णुवर्धन जैन धर्मावलम्बी ही थे और उनका नाम था विट्टिगदेव अथवा विट्टिदेव। रामानुजाचार्य के प्रभाव से शैव धर्म अंगीकार कर लेने के पश्चात् उन्होंने विष्णुवर्धन नाम धारण किया। उनसे पूर्व सभी होयसल नरेश जैन धर्मानुयायी ही थे। कहीं-कहीं अल्पत्र यह उल्लेख हुआ है कि धर्म परिवर्तन के पश्चात् वह रामानुजाचार्य के प्रभाव से जैनों के प्रति कठोर रहे उनके द्वारा जैनों को शारीरिक

यातनाएँ दी गईं तथा उनका वध भी कराया गया किंतु यह सत्य प्रतीत नहीं होता। उनके धर्म परिवर्तन के पश्चात् भी उनकी प्रमुख पत्नी रानी शांतला जैन धर्मावलम्बी ही बनी रही और अपने पति की स्वीकृति से अनेक जैन मन्दिरों तथा जैनों को भेंट आदि देती रहीं। उनके जैन धर्मावलम्बी मंत्री गंगराज भी उनके विशेष कृपापात्र बने रहे तथा उनसे भेंट में वाप्त गाँवों को गंगराज ने जैन बसवियों की व्यवस्था के लिए सौंप दिया। जहाँ शांतला रानी ने हैलेबिड में तीन सुन्दर जैन मन्दिरों पार्श्वनाथ बसदि, आदिनाथ बसदि तथा शांतिनाथ बसदि का निर्माण कराया उन्होंने अपने पति के साथ हैलेबिड में ही विश्व प्रसिद्ध होयसलेश्वर—शांतलेश्वर नामक अत्यन्त कलात्मक समुक्त शैव मन्दिर का भी लगभग सन् ११२१ में निर्माण पूर्ण करवाया। यह उन पति-पत्नी की धर्म सहिष्णुता का भली-भाँति परिचायक है। यह धर्म सहिष्णुता न केवल उन दोनों के काल तक ही विद्यमान रही अपितु उनके वंशज उत्तराधिकारियों, नरसिह प्रथम (सन् ११४३—७३), वीर बल्लाल द्वितीय (११७३—१२२०) तथा नरसिह तृतीय (सन् १२५४—६१) आदि ने भी जैन मन्दिरों के निर्माण में सहयोग तथा जैन आचार्यों के संरक्षण द्वारा उसका भली-भाँति निर्वाह किया।

शिलालेख क्रमसंख्या ८२ एवं ५०२ में विष्णुवर्धन की महामण्डलेश्वर, त्रिभुवन महल, तलकाडुविजयेता, भुजबल-वीरगंग—विष्णुवर्धन होयसल देव आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है। अनेक शिलालेखों में जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, उनसे प्राप्त गाँवों को उनके अत्यन्त विश्वासपात्र तथा स्नेहपात्र मंत्री एवं सेनापति गंगराज ने जैन बसदियों की व्यवस्था केलिए भेंट कर दिया था।

अनेक शिलालेखों में शांतला रानी के विषय में विविध उल्लेख हुए हैं। उनसे उसके सीदर्य, नृत्य एवं कला प्रेम, जैन धर्म एवं साधुओं में आस्था तथा उसके द्वारा मन्दिर निर्माण आदि के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। अपनी प्रतिभा, कला प्रेम तथा सौन्दर्य के कारण वह विष्णुवर्धन को सभी रानियों में सबसे अधिक प्रिय थी। अन्य रानियों (सीदों) में मत्तगज के समान उसका

उपनाम ही सवतिगंधवारण पड़ गया था।

शांतला रानी के पिता शैव थे एवं माता जैन। उसने अपने गुरु प्रभावन्द सिद्धांतदेव की प्रेरणा से जैन धर्म के उन्नयन के लिए अनेक कार्य किए। श्रवणबेलगोल में सवतिगंधवारण मंदिर का निर्माण करवाया तथा सन ११२३ में वहाँ तीर्थंकर शातिनाथ की मूर्ति स्थापित की। शिलालेख क्रमांक १७६ एवं १६२ में उसकी धर्म परायणता एवं पातिव्रत की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। इस अत्यन्त धार्मिक महिला ने मल्लखना व्रत द्वारा सन ११३१ में समाधिभरण किया।

अनेक शिलालेखों में नरेश विष्णुवर्धन के निपुण मंत्री एवं वीर सेनापति जैन धर्मावलम्बी गंगराज के वीरोचित गुणों, विष्णुवर्धन के प्रति निष्ठा, धर्म-प्रेम, जैन माधुष्य के प्रति आदर एवं भक्ति, उनका द्वारा जैन मन्दिरों के निर्माण, उनसे निर्माण कार्य, जीर्णोद्धार एवं संरक्षण के विषय में विस्तार से उल्लेख हुआ है। शिलालेख क्रमांक ८२ एवं ५६१ में उल्लेख है कि जिस प्रकार इन्द्र के लिए उनका वज्र, बलराज के लिए उनका हल, विष्णु के लिए उनका चक्र, शक्तिधर के लिए शक्ति तथा वीर अर्जुन के लिए गंडीव धनुष उनके सहायक रहे हैं उसी प्रकार गंगराज भी विष्णुवर्धन के राज्य-संचालन, सैन्य-विजय आदि में सहायक रहे। वह विष्णुवर्धन के राज्य कार्य का कुशलता एवं निष्ठा से संचालन करते थे।

शासन बमदि के द्वार से दाहिनी ओर एक पाषाण खड्ग पर उत्कीर्ण विस्तृत शिलालेख क्रम संख्या ८२ में यह उल्लेख है कि कन्नौज के युद्ध में चालुक्य नरेश त्रिभुवन मल्ल परमादिदेव को अनेक बार सामंतों सहित परास्त करने पर विष्णुवर्धन ने प्रसन्न होकर गंगराज को कोई भी इच्छित वस्तु मागने के लिए कहा किन्तु धर्म प्रेमी गंगराज ने केवल परमा नामक ग्राम भेंट में लेकर उन मन्दिरों की व्यवस्था के लिए अर्पित कर दिया जिसका निर्माण उनकी माता पोचबे (पोचल देवी) तथा पत्नी लक्ष्मी द्वारा हुआ था। अन्य विजय करन के उपलक्ष्य में उन्होंने विष्णुवर्धन से गोविन्दगढ़ी ग्राम भेंट लेकर उसे गोम्मटेश्वर मूर्ति की व्यवस्था के लिए अर्पित कर दिया।

इनका सारा परिवार धार्मिक वृत्ति का तथा शुभचन्द्र सिद्धांतदेव का शिष्य था। लेख संख्या ८२ में ही उल्लेख है कि गंगराज ने गंगवाड़ी में सभी जैन बसदियों (जिनालयों) का जीर्णोद्धार करवाया, गोम्मटेश्वर मूर्ति के चारों ओर परकीटे का निर्माण करवाया तथा जहाँ-जहाँ भी गंगराज का प्रभाव रहा ओर वह जिस स्थान से प्रभावित हुए वहाँ शिलालेखों का निर्माण करवाया। इस लेख में यह भी वर्णन है कि तिगुनों को गंगवाड़ी से निष्काशित कर उन्होंने उसे विष्णुवर्धन को वापिस दिलवाया। कर्नाटक में अनेक जैन मन्दिरों के निर्माण का श्रेय गंगराज की प्राप्त होता है।

गंगराज ने अपने बड़े भाई वम्मदेव की पत्नी जक्कमब्बे की स्मृति में लेख उत्कीर्ण करवा कर उसमें उनके द्वारा किए गए सुकार्यों का वर्णन किया है।

गंगराज की माता पोचबे (पोचल देवी) तथा पति लक्ष्मी धर्म परायण महिलाएँ थीं। लक्ष्मी ने एरडुकट्टे बमदि का निर्माण करवाया, पति की माता पोचबे की स्मृति में कत्तले बमदि तथा शासन बसदि का निर्माण करवाया। अपने अपने बड़े भाई बूच एवं बहिन देमेति की मृत्यु की स्मृति में शिलालेख उत्कीर्ण करवाया तथा जैनाचार्य मेघचन्द्र की स्मृति में भी लेख अंकित करवाया।

इन शिलालेखों द्वारा होयसल राजवंश के प्रतिरिक्त अन्य राजवंशों के अनेक नरेशों, अमात्यों, सेनापतियों तथा श्रेष्ठियों आदि के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है। जहाँ उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि पहाड़ी पर हाथी गुम्फा में महाराजा खारवेल द्वारा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में उत्कीर्ण १७ पत्तियों वाला शिलालेख जैन शिलालेखों में सबसे प्राचीन है एवं जैन इतिहास की दृष्टि से विशेष ऐतिहासिक महत्त्व का है, श्रवणबेलगोल एवं उसके अंचल में अभी तक ज्ञात यह ५७३ शिलालेख एक ही स्थान पर पाये जाने वाले शिलालेखों में संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक है। कटवप्र (चन्द्रगिरि) पहाड़ी पर छठी सातवीं शताब्दी का उपरोक्त वर्णित शिलालेख क्रम संख्या १ तो इन सभी में सबसे अधिक ऐतिहासिक महत्त्व का है।



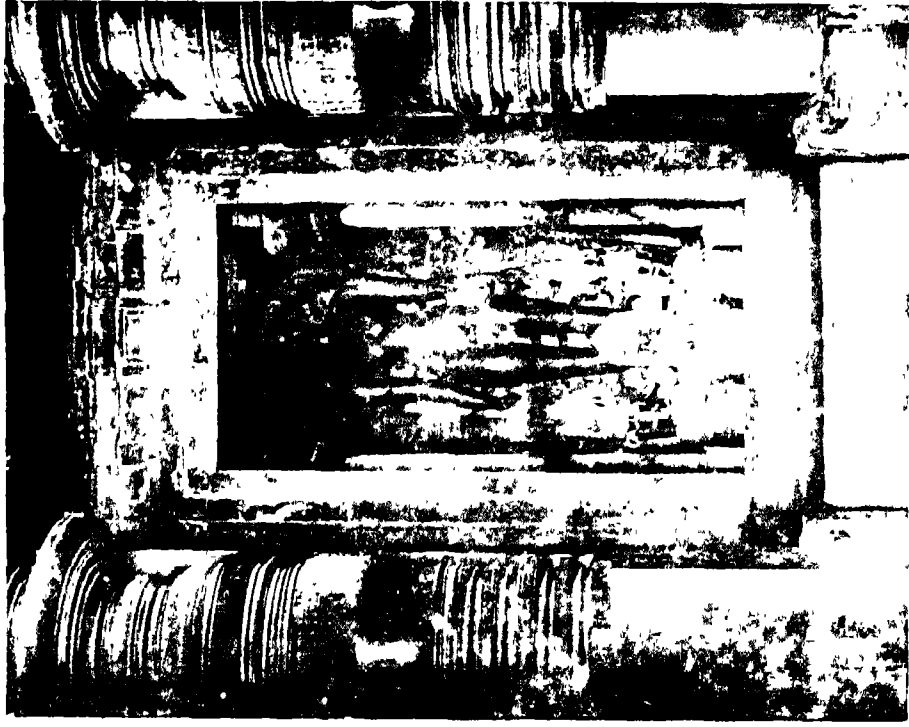
पृथुमन्थ, भुजबिक्रम, समरचुरंधर, और मातंगड चामुण्डराय श्रवणबेलगोल
की गंगबंसीय राजा रावमदल के प्रबान मन्त्री और सेनापति यं और
बिन्हेने विश्वप्रसिद्ध बाहुबली प्रतिमा की प्रतिष्ठापना कराई ।



विश्ववर्म के प्रेरक एवं जैन संस्कृति के समय उदबोधक
एलाचार्य मूनिभी विद्यानन्द जी महाराज, जिनकी संप्रेरणा
और सतत सान्निध्य में करवरी, १९८१ में अन्तर्राष्ट्रीय
स्तर पर श्रवणबेलगोल (जिला हसन), कर्नाटक में
भगवान् बाहुबली प्रतिमा प्रतिष्ठापना सहस्राब्द
समारोह मनाया जा रहा है ।



पोरनेस भगवान् बाहुबली, अरुणकेलगोल



हनेविड (दक्षिण भारत) के विजय पार्श्वनाथ

श्रवणबेलगोल-स्तवन

□ श्री कल्याणकुमार जैन 'शशि'

तुम प्राचीन कलाओं का आदर्श विमल दर्शाते ।
भारत के ध्रुव गौरव-गढ़ पर जैन केतु फहराते ॥
कला-विश्व के सुप्त प्राण पर अमृत रस बरसाने ।
निधियों के हत साहस में नवनिधि-सौरभ सरसाने ॥
आओ इस आदर्श कीर्ति के दर्शन कर हरपाओ ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥१॥

शुभस्मरण कर तीर्थराज हे, शुभ्र अतीत तुम्हारा ।
फूल-फूल उठता है अन्तस्तल स्वयमेव हमारा ॥
मुरस्सरि-सदृश वहा दो तुमने पावन गौरव-धारा ।
तीर्थक्षेत्र जग में तुम हाँ देदोप्यमान ध्रुवतारा ॥
खिले पुष्प की तरह विश्व में नवमुगन्ध महकाओ ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥२॥

दिव्य विध्यगिरि भव्य चन्द्रगिरि की शोभा हे न्यारी ।
पुलकित हृदय नाच उठता है हो वरवस आभारी ॥
श्रुत-केवली सुभद्रबाहु सम्राट् महा यश-धारी ।
तप-तप घोर समाधिमरण कर यहीं कीर्ति विस्तारी ॥
उठो पूर्वजों की गाथाएँ जग का मान बढ़ाओ ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥३॥

सात-आठ सौ शिलालेख का है तुममें दुर्लभ धन ।
श्रावक-राजा-सेनानी श्राविका-आयिका मुनिजन ॥
धीर-वीर-गम्भीर कथाएँ धर्म-कार्य संचालन ।
उक्त शिलालेखों में है इनका सुन्दरतम वर्णन ॥
दर्शन कर इस पुण्य क्षेत्र का जीवन सफल बनाओ ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥४॥

पशु-रक्षा पर प्राण दिये जिन लोगों ने हँस-हँस कर ।
वीर-बधू सायिबे लड़ी पति-संग समर के स्थल पर ॥
चन्द्रगुप्त सम्राट् मौर्यका जीवन अति उज्ज्वलतर ।
चित्रित है इसमें इन सबका स्मृति-पट महामनोहर ॥
आ-आ एक बार तुम भी इसके दर्शन कर जाओ ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥५॥

मन्दिर अति-प्राचीन कलामय यहां अनेक सुहाते ।
दुर्लभ मानस्तम्भ मनोहर अनुपम छवि दिखलाते ॥
यहां अनेकानेक विदेशी दर्शनार्थ हे आते ।
यह विचित्र निर्माण देख आश्चर्यचकित रह जाते ॥
अपनी निरूपम कला देखने देशवासियों ! आओ ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥६॥

प्रतिमा गोम्मटदेव बाहुबलि की अति-गौरवशाली ।
देखो कितनी आकर्षक है चित्त-लुभानेवाली ॥
बढ़ा रही शोभा शरीर पर चढ लतिका शुभशाली ।
मानों दिव्य कलाओं ने अपने हाथों ही ढाली ॥
इस उन्नति के मूल केन्द्र में जीवन ज्योति जगाओ ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥७॥

ऊँचे सत्तावन मुफीट पर नभसे शीश लगाए ।
शोभा देती जैनधर्म का उज्ज्वल यश दर्शाए ॥
जिसने कौशल-कला-कलाविद के सम्मान बढ़ाए ।
देख-देख हैदर-टीपू-मुल्तान जिसे चकराए ॥
आओ इसका गौरव लख अपना सम्मान बढ़ाओ ।
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में यश पाओ ॥८॥

(कोष्ठ पृष्ठ २१ पर)

करुणामूर्ति बाहुबली

□ उपाध्याय श्री अमरमुनि

जैन-इतिहास का पहला अध्याय भगवान् ऋषभदेव से प्रारम्भ होता है। वहीं से जीवन की कला उद्भूत होती है। भगवान् ऋषभदेव के समय में ही उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत के चक्रवर्ती बनने का प्रसंग आया। वे लड़ाइयाँ लड़ते रहे। भारत की समस्त भूमि पर उनका स्वामित्व, आधिपत्य स्थापित हो गया। किन्तु उनके भाइयों ने उनका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। तब भरत ने सोचा, जब तक भाई भी मेरे सेनाचक्र के नीचे न आ जायें, तब तक चक्रवर्ती का साम्राज्य पूरा नहीं होगा। यह सोचकर भरत ने अपने ६६ भाइयों के पास दूत भेजा। बाहुबली विशेषरूप से महान् भुजबल के धनी और स्वाभिमानी थे। उन्होंने भरत की अधीनता स्वीकार करने से साफ इनकार कर दिया। परिणामतः भरत और बाहुबली की विशाल सेनायें मैदान में आ डटी। जब दोनों ओर की सेनायें जूझने को तैयार थी, सिर्फ शंखनाद करके आदेश देने की देर थी कि बाहुबली के चित्त में करुणा की मधुर लहर उद्भूत हुई।

वैसे तो इस प्रसंग पर इन्द्र के आने की बात कही जाती है। अनेक युद्धों में इन्द्र को बुलाने के प्रसंग भी मिलते हैं। किन्तु, इतिहास के मूल में यह बात नहीं है। ऐसा कोई कारण नहीं है कि युद्ध में होने वाली हिंसा की परिकल्पना करके इन्द्र का अन्तःकरण तो करुणा से परिपूर्ण हो जाए और बाहुबली जैसे अपने जीवन की भीतरी तह में विरक्ति-भाव, अनासक्ति-भाव और करुणा-भाव धारण करने वाले के चित्त में इन्द्र के बराबर भी करुणा न हो। आचार्य जिनदेव महत्तर ने आवश्यक चूर्ण में इन्द्र के आगमन का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने स्वयं बाहुबली के हृदय में ही करुणा-स्रोत का उमड़ना लिखा है। दिगंबर-परम्परा भी इस बात को मानती है।

वस्तुतः बाहुबली ने सोचा कि भरत को चक्रवर्ती बनना है और मैं उसके पथ को रोका हूँ। तब मेरा स्वाभिमान मुझे आदेश देता है कि मैं भरत की आज्ञा स्वीकार न करूँ। क्योंकि यह अनुचित है। भाई को भाई से भाई के

रूप में सेवा लेने का अधिकार है। मैं भरत से छोटा हूँ। मैं हजार बार सेवा करने को तैयार हूँ। परन्तु, भाई बनकर ही सेवा करूँगा, दास और गुलाम बनकर नहीं।

बाहुबली की दृष्टि में यही चिन्तन था। उन्होंने सोचा—भरत हैं, जो चक्रवर्ती बनने को उत्सुक है और मैं, अपने स्वाभिमान को तिलांजलि नहीं दे सकता। हम दोनों अपनी-अपनी बात पर अटल रहने के लिए तलवारें लेकर युद्ध के मैदान में आये हैं। प्रश्न है—मेरा और भरत का। बेचारे सैनिक एवं यह गरीब प्रजा क्यों कट-कट कर मरे? हम दोनों के भगड़े में हजारों-लाखों व्यक्ति दोनों ओर के कट मरेंगे, कितना भीषण नर-संहार होगा? न मालूम, कितनी सुहागिनों का मिदूर पुंछ जायगा? कितनी मातायें अपने कलेजे के टुकड़े के लिए विलाप करेंगी और कितने पुत्र अनाथ होकर अपने पिताओं के लिए हजार-हजार आँसू बहायेंगे?

अतः बाहुबली ने भरत के पास सदेश भेजा—“आओ, भाई! इस लड़ाई का फंसला मैं और आप दोनों आपस में कर लें। यह उचित नहीं है कि सैनिक लड़ें और हम लोग अपने-अपने कैंम्पो में बैठे दर्शकों की तरह युद्ध देखते रहें? अच्छा हो, सिर्फ हम दोनों परस्पर मल्ल-युद्ध करें और व्यर्थ के नर-संहार को समाप्त करें। इसका प्रार्थ हुआ—युद्ध कराना नहीं, स्वयं करना है। कराने में जो विराट् हिंसा थी, उसे स्वयं के करने में सीमित कर दिया गया। इस विचार से दोनों भाई युद्ध-मैदान में उतर आये। आँखों का युद्ध हुआ, मुष्टि-प्रहार का युद्ध हुआ। इस युद्ध में अहिंसा की उल्लेखनीय सीमा यह थी कि किसी को मरना-मारना नहीं था, केवल जय-पराजय का निर्णय करना था। और यह निर्णय खून की एक बूंद बहाये बिना उक्त तरीके से हो सकता था, जिसे किया गया। विश्व के इतिहास में वह युद्ध सर्व-प्रथम अहिंसक युद्ध था।

प्रस्तुत प्रसंग में जैन-धर्म का अहिंसा एवं करुणा का (शेष पृ० २१ पर)

बाहुबली और महामस्तकाभिषेक

□ डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, अलीगढ़

श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतिया मिल कर भारतीय संस्कृति को स्थिर करती है। ब्राह्मण से वैदिक और श्रमण से बौद्ध तथा बौद्ध से बहुत पहिले जैन संस्कृति का अभि-प्राय लिया जाता है। वैदिक वाङ्मय के लिए वेद, बौद्ध वाङ्मय के लिए पिटक और जैन वाङ्मय के लिए आगम शब्द का प्रयोग आरम्भ से ही होता आ रहा है।

आगम को विषय की दृष्टि से चार भागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक भागको अनुयोग की संज्ञा दी गई है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग नामक ये चार पूरे आगम के रूप को स्वरूप प्रदान करते हैं। प्रथमानुयोग में जितेन्द्र देवों पर आधृत अनेक कथाएं और पुराण रचें गए हैं। करणानुयोग में कर्म-सिद्धान्त और लोक-व्यवहार, चरणानुयोग से जीव का आचार-विचार तथा द्रव्यानुयोग से चेतन-अचेतन द्रव्यों का स्वरूप तथा तत्त्वों का निर्देश सम्बन्धी बातों की विशद विवेचना सम्बद्ध है।

जैनानुयोग के अनुसार जैनतत्त्व चिन्तन प्रणाली वस्तुतः अनादि है। इस अवसरपिणी काल में जैन धर्म का प्रवर्तन भगवान् ऋषभदेव के द्वारा हुआ। चौबीस तीर्थंकरों में भगवान् ऋषभदेव आद्य तीर्थंकर हैं अज्ञानता से कुछ लोग कभी-कभी अतिम और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर भगवान् को ही जैन धर्म का प्रवर्तक घोषित कर देते हैं। वास्तविकता यह है कि जैन धर्म एक प्राकृत धर्म है। उसका कोई व्यक्ति विशेष निर्माता या कर्ता नहीं है। किसी व्यक्ति द्वारा धर्म विशेष का नहीं अपितु किसी मत का प्रवर्तन हुआ करता है। हाँ समय-समय पर तीर्थंकरों द्वारा जन साधारण के लाभ हेतु धर्म का उन्नयन अवश्य हुआ करता है। उनके द्वारा धर्म की प्रभावना अवश्य होती है।

प्रथमानुयोग में अनेक पुराणों का उल्लेख मिलता है। पुराण परम्परा में महापुराण का स्थान बड़े महत्व का है। महापुराण में चौबीसों तीर्थंकरों के विषय में पर्याप्त चर्चा हुई है। प्रथम तीर्थंकर से सम्बन्धित यहाँ संक्षेप में चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत रहा है। कहते हैं कि अयोध्या के महाराजा नाभिराय और महारानी मरुदेवी के यशस्वी पुत्र ऋषभदेव उत्पन्न हुए। युवराज ऋषभ का नन्दा और सुनन्दा नामक राजकुमारियों के साथ मंगल परिणय हुआ महारानी नन्दा के ज्येष्ठ पुत्र भरत थे जिनके नाम पर इस विशाल देश का नाम भारत पड़ा। भरत के उपरान्त उनके निन्यातवें भाई और हुए। वे सभी प्रतापी थे। भरत की बहिन का नाम द्राह्मी था। महादेवी सुनन्दा के महा-प्रतापी पुत्र बाहुबली तथा सुन्दरी नामक सुपुत्री का जन्म हुआ था।

बाहुबली के विषय में महापुराण में विशद विवेचन विद्यमान है। बाहुबली के नाम की सार्थकता सिद्ध करते हुए महापुराणकार की मान्यता है कि उन तेजपुंज विशाल बाहु की दोनों भुजाएँ उत्कृष्ट बल परिपूर्ण थी, इसीलिए उनका नाम बाहुबली वस्तुतः सार्थक था। यथा—

बाहु तस्य महाबाहोः अघाना बल सजितम् ।
यतो बाहुबलीत्यासीत् नामास्य कर्णानिधेः ॥

महापुराण—१६-१७

महाराजा ऋषभ अपनी सति की विविध शास्त्रों का अध्ययन कराते। और उन्हें लोक और लोकोत्तर ज्ञान से विभूषित करने। इसी क्रम में भरत जी को अर्थशास्त्र और नृत्य शास्त्र का और बाहुबली को काम नीति, स्त्री-पुरुष के लक्षण, आयुर्वेद, तंत्र-शास्त्र तथा रत्नपरीक्षा आदि के अनेक शास्त्रों का अध्ययन कराया गया। कुछ

ही समय में ऋषभ सतति सुयोग्य-शक्तिशाली तथा प्रशसन पटु हो गई। सयोगवश नीलाजना के नृत्य के समय आयु समाप्ति के निमित्त में भगवान को वैराग्य उत्पन्न हुआ फलस्वरूप अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को साम्राज्य पद पर अभिषेक कराया और बाहुबली को युवराज पद पर अलंकृत किया। भरत अयोध्या के राजा हुए और शेष पुत्रों को विभिन्न राज्यों का प्रशासक बनाया गया। बाहुबली जी पोदनपुर के राजा बनाए गए।

कालान्तर में भरत ने दिग्विजय हेतु देश-देशान्तरों में गमन करना प्रारम्भ किया। जहाँ-जहाँ वे गए उन्हें सफलता प्राप्त होती गई। उन्होंने चक्रवर्ती यश अर्जित किया। दिग्विजयी होकर जब वे अपनी राजधानी में वापस आए तब उनका चक्ररत्न गोपुर द्वार के पास रुक गया। इसका अर्थ यह होता है कि भरत जी की अभी भी कोई जीतना शेष है। निमित्त जानियों के सहयोग से यह स्पष्ट हुआ कि बाहुबली द्वारा उनकी अधीनता स्वीकार नहीं हुई है। यह जान कर महाराजा भरत का उद्विग्न होना स्वाभाविक था। उन्होंने क्रमशः अपने सभी भाइयों के पास राजदूत भेजे। बाहुबली के अतिरिक्त सभी बन्धुओं ने अपने-अपने अग्रज भरत जी की शरण स्वीकार कर ली। बाहुबली जी अपने को सर्वथा स्वाधीन शत्रुभाव कर निर्वाण राज करते रहे।

ऐसी स्थिति में दोनों राजाओं की शक्ति-सामर्थ्य का अपनी-अपनी शक्ति परीक्षण करने-कराने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग अथवा उपाय शेष नहीं रहा। परिणाम-स्वरूप इनमें युद्ध प्रतियोगिताएं स्थिर हुईं। नर-संहार से बचने के लिए व्यक्तिशः जल, मल्ल, तथा दृष्टि नामक युद्ध प्रतियोगिताएं इन उभय बन्धु राजाओं के बल-विक्रम का निर्णायक-निष्कर्ष सर्वमान्य हुआ। दोनों और की प्रजा, प्रभु और आगत दर्शनार्थियों के समक्ष युद्ध-प्रतियोगिताएं प्रारम्भ हुईं। दिग्विजयी भरत इन प्रतियोगिताओं में क्रमशः पराजित होने लगे। आयोजित इन प्रतियोगिताओं ने उपस्थित अपार जन समूह को आश्चर्य अन्वित कर दिया और महाराजा बाहुबली का बल-विक्रम सर्वोपरि घोषित किया गया।

इस भौतिक विजय से उनका मन क्षुब्ध हो उठा और

वे काम-क्रोधादिक अम्यन्तर कापायिक शत्रुओं को जीतने की अनुमोदना कर उठे। उन्हें सासारिक ऐश्वर्य नीरस और निरर्थक प्रतीत हो उठा। वे वैराग्योन्मुख हुए। उन्होंने एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण कर घोर तप किया। उनके इस निर्णय ने पराजित भरत के मनोरथ को पूर्ण किया फलस्वरूप भरत जी निर्वाण चक्रवर्ती बन कर राज्य भागने लगे।

महातपस्वी बाहुबली जी आध्यात्मिक-साधना में जुट गए महातपश्चरण करते हुए वे सिद्धि-शीर्ष तक पहुँच रहे थे कि उनके मन में एक शल्य ने जन्म लिया। शल्य यह कि वे भरत-भूमि पर अध्यात्म-साधना कर रहे हैं। निःशल्य हुए बिना केवलज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। उधर महाराजा भरत अपार राज-वैभव को भोगते हुए ऊबने लगे। संयोगवश जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि महातपस्वी बाहुबली जी शल्यशील होने से अघर में हैं तो वे उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुए। नमोस्तु करते हुए उन्होंने निवेदन किया कि—

भरत चक्रवर्ती बनकर जब कीर्ति-शिला पर अपना नाम अंकित करने हेतु मेरा जाना हुआ तो शिला को देख कर मैं दंग रह गया। पूरा शिला खड चक्रवर्तियों के नामों से भरा पड़ा है। किसी नए नाम को उस पर लिखना सम्भव नहीं दिखा फलस्वरूप मैंने अंतिम नाम को मिटा कर अपना नाम उत्कीर्ण कराया है। नाम तो उत्कीर्ण करा लिया किन्तु मेरे मन में चक्रवर्ती होने का उत्साह प्रायः समाप्त हो गया और वह भारी छोभ से भर गया। छोभ इस बात का कि चक्रवर्ती पद कोई निराला नहीं है। और इस प्रकार मेरा सारा पुष्पार्थ निरर्थक ही रहा। सोचकर मैं आपकी इस शरण में चला आया हूँ।

महामुने-भरत जैसे अग्रणी चक्रवर्ती राजा इस भूमि के स्वामी बनने का मिथ्या दावा करते गए—किसी ने अभी तक वास्तविक स्वामित्व प्राप्त करने का सकल्प ही नहीं किया, वस्तुतः आश्चर्य का विषय है। मुनिवर—यह भूमि कभी किसी की नहीं हुई है। कहा भी है—जहाँ देह अपनी नहीं वहाँ न अपना कोय।—अन्यत्व भावना। उद्बोधन सुनते हुए महामुनि बाहुबली ने अर्द्धनिमीलित नेत्रों से देखा और देखते-ही-देखते वे निःशल्य हो गए,

धावागमन से मुक्त हो गए । वे केवलज्ञान को पा गए ।

बाहुबली जी वस्तुतः जीत को जीत कर अजीत बन गए । ससार सागर से तिरने का अमोघ साधन सुझा गए तथा बुझा गए वह रहस्य जिसको जाने बिना राजा और रक्त अनादि काल से मानवीयपर्याय पाकर निरर्थक ही गवाता रहा । कल का बाहुबली वस्तुतः आज का बोधबली बन गया । आचार्य नेमिचन्द्राचार्य की शब्दावली में श्री गोम्मटेश हमारी स्तुति के स्तुत्य बन गए । यथा—

उपाहिमुत्तं धन-धाम बज्जिय,
सुसम्मज्जुत्तं भय-मोह हारयं ।
वस्सेयपज्जंतं भुव वास-जुत्तं,
तं गोम्मटे सं पणमामि जिच्छं ॥

अर्थात् जो समस्त उपाधि परिग्रह से मुक्त है, धन और धाम का जिन्होंने अन्तरंग से ही परित्याग कर दिया, मद और मोह, राग दोष को जिन्होंने तप द्वारा जीत कर क्षायिक भाव में स्थित हुए तथा पूरे एक वर्ष तक जिन्होंने अखंड उपवास व्रत लिया है, ऐसे श्री गोम्मटेश महा-तपस्वी के श्री चरणों में मन, वचन और काय से मेरा

नमोस्तु निवेदित है ।

एक हजार वर्ष पूर्व की घटना है । गंगवशीय नरेशों के धर्मप्राण सेनापति श्रीमान् चामुण्डराय ने विध्यगिरि, (श्रवणबेलगोला, कर्णाटक) पर आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और कलात्मक चेतना को प्राणप्रतिष्ठित करने के लिए बाहुबली की प्रतिमा स्थापित की । सिद्धार्थाचार्य श्री नेमिचन्द्राचार्य जी द्वारा प्रतिष्ठा-अनुष्ठान सम्पन्न हुआ । सत्तावन फीट ऊँची एक ही शिलाखंड से उकेरी गई इस प्रतिमा की भव्यता तथा शान्तिदायिनी प्रभा आज भी सम्मार्ग को प्रणस्त करती है ।

विश्व-व्यापी कला-कीर्ति की अविष्ठात्री इस प्रतिमा का सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक दिनांक २२ फरवरी उन्नीस सौ इक्कासी को होने जा रहा है । भक्त समुदाय अपनी वर्तमान पर्याय में पहली और अकाली बार इस मांगलिक अवसर पर श्रवणबेलगोला पहुँच कर कलशाभिषेक कर भगवान के श्री चरणों में अपनी श्रद्धाजलियाँ अर्पित कर सकते हैं ।



(पृ० १० का शेषार्थ)

गग-वंश के राचमन्ल नृप विश्व-कीर्ति-व्यापक है ।
नृप-मन्त्री चामुण्डरायजी जिसके संस्थापक हैं ॥
जा निर्माण हुआ नोसे नव्वे में यशवर्द्धक है ।
राज्य-वंश मैसूर आजकल जिसका संरक्षक है ॥
उपका देख-रेख रक्षा में अपना याग लगाया ।
वन्दनाय ह जैन तार्थ तुम युग-युग में जय पाया ॥६॥

कह लेखना पुण्य-तीर्थ क्या गारव क्या तुम्हारी ।
विस्तृत कांति-सिन्धु तरंग में हूँ असमर्थ विचारी ॥
नमस्तर्क अतस्तल तन-मन-धन तुम पर बलिहारी ।
धन-शत नमस्कार तुम का हूँ नमस्कार अधिकारी ॥
किर सम्पूर्ण विश्व में अपना विजय-ध्वजा फहराया ।
वन्दनाय ह जैन तार्थ तुम युग-युग में जय पाया ॥१०॥



(पृ० १८ का शेषार्थ)

महान् दृष्टिकोण परिलक्षित होता है, जिसके लिए बाहुबली को हजारों-हजार धन्यवाद हैं । उनके मन में करुणा की, अहिंसा की वह उज्ज्वल-धारा प्रवाहमान हुई कि उन्होंने हजारों-लाखों व्यक्तियों को गाजर-मूली की तरह कटने से बचा लिया । उन्होंने स्वयं न लड़कर दूसरों को लड़वाने में, युद्ध की भाग में झोकने में अपने जीवन को अधिक कलुषित होते देखा । जैन-धर्म का वह युग-गुरुप, जब दूसरों से युद्ध करवाने की अपेक्षा स्वयं युद्ध करने को उद्यत हुआ, तो उस महान् ऐतिहासिक निर्णय की तेजस्विता से उसका अंग-अंग आलोकित हो उठा, चमकने लगा ।



उत्तरभारत में गोम्मटेश्वर बाहुबली

बाहुबली गोम्मटेश्वर प्रथम जैन तीर्थंकर (या जिन) आदिनाथ के पुत्र हैं। जैन परम्परा में इनका गोम्मट, गोम्मटेश्वर भुजबली, एवं कृष्णकटेश्वर आदि नामों से भी उल्लेख हुआ है। बाहुबली की जैन परम्परा में वर्तमान अवसर्पिणी युग का प्रथम कामदेव भी कहा गया है। कैवल्य प्राप्ति के लिए बाहुबली ने एक वर्ष तक जो कठिन तपस्या की थी, उभी कारण उन्हें जैन देवकुल में विशेष प्रतिष्ठा मिली। मूर्तियों में बाहुबली को सदैव कायोत्सर्ग मुद्रा में दोनों हाथ नीचे लटकाकर सीधे खड़ा दिखाया गया है। यह मुद्रा स्वतः उनकी कठिन तपस्या को मूर्त रूप में व्यक्त करती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परा के ग्रन्थों में बाहुबली के जीवन और उनकी तपस्या का विस्तार से उल्लेख हुआ है। पर शिल्प में बाहुबली की सर्वाधिक मूर्तियाँ दिगम्बर स्थलों पर बनीं। उनमें भी सर्वाधिक मूर्तियाँ दक्षिण भारत में बनीं।

श्वेताम्बर स्थलों पर १४वीं शती ई० के पूर्व बाहुबली की कोई स्वतन्त्र मूर्ति सम्भवतः नहीं बनी। १४वीं शती ई० की श्वेत वस्त्रधारी बाहुबली की श्वेताम्बर मूर्ति गुजरात के शत्रुंजय पहाड़ी पर है। श्वेताम्बर स्थलों पर आदिनाथ के जीवन दृश्यों के अनेक प्रसंग में भी कुम्हारिया (गुजरात) और भाबू (विमलवसही-राजस्थान) में भरत-बाहुबली की तपस्या का निरूपण हुआ है। दिगम्बर स्थलों पर छठी-सातवीं शती ई० में ही बाहुबली की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया, जिसके प्रारम्भिकतम उदाहरण कर्नाटक स्थित बादामी और अयहोल में है।

बाहुबली गोम्मटेश्वर की ज्ञात मूर्तियों में विशालतम और श्रेष्ठतम अवणबेलगोला (हसन जिला, कर्नाटक) की मूर्ति है। ५७ फीट ऊँची यह दिगम्बर प्रतिमा न केवल भारत वरन् विश्व की भी सम्भवतः विशालतम धार्मिक मूर्ति है। इस मूर्ति में बाहुबली के मुख पर मन्दस्मित और गम्भीर चिन्तन का भाव व्यक्त है। बाहुबली की कायोत्सर्ग मुद्रा पूर्ण आत्मनियंत्रण का भाव व्यक्त करती है। इसका निर्माण काल ६८१ ई० में गंग शासक के मन्त्री चामुण्डराय द्वारा कराया गया था। फरवरी ८१ में रक्षापना के १००० वर्ष पूरा करने के अवसर पर इस प्रतिमा के सहस्राब्दि

डा० मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी, वाराणसी
महामस्तकाभिषेक महोत्सव का आयोजन किया जा रहा है। यह धार्मिक महोत्सव विशाल स्तर पर आयोजित है। इस अवसर पर हम प्रस्तुत लेख के माध्यम से यह बतलाना चाहते हैं कि बाहुबली मूर्तियों का निर्माण उत्तर भारत में भी पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। इस क्षेत्र में प्रभास पाटण (गुजरात), खजुराहो, (पाश्चान्नाथ मंदिर-मध्य प्रदेश), त्रिहारी जबलपुर, मध्य प्रदेश) एवं देवगढ़ (उत्तर प्रदेश) जैसे स्थलों से नवीं से १२वीं शती के मध्य की कई मूर्तियाँ मिली हैं। एक मूर्ति राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक ६४०) में भी है। विशालता की दृष्टि से उत्तर भारत के दिगम्बर स्थलों की उपर्युक्त मूर्तियाँ दक्षिण भारत की श्रवणबेलगोला, कारकल, वेणुर एव गोम्मट गिरि जैसे स्थलों की १८ से ५७ फीट ऊँची मूर्तियों की समता नहीं करती, पर उनमें कुछ ऐसे मौलिक प्रतिमालाक्षणिक तत्वों के दर्शन होते हैं, जो इस क्षेत्र की बाहुबली मूर्तियों की निजी विशेषताएँ रही हैं। आशय यह कि बाहुबली मूर्तियों के लक्षणों के विकास में उत्तर भारत के दिगम्बर स्थलों की मूर्तियों का अग्रगामी योगदान रहा है। इस क्षेत्र में कलाकार का सारा प्रयास इस बात पर केन्द्रित था कि किस प्रकार बाहुबली की तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठा प्रदान की जाय। यह बात देवगढ़ की बाहुबली मूर्तियों के अध्ययन से पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। प्रस्तुत विषय पर लेखक की एक पुस्तक भी प्रकाशन में है।

देवगढ़ की बाहुबली मूर्तियों की चर्चा के पूर्व यहाँ ग्रन्थों में बाहुबली के जीवन एवं उनकी तपस्या से संबंधित विवरणों का उल्लेख पृष्ठभूमि सामग्री के रूप में आवश्यक होगा। इस पृष्ठभूमि के बिना हम उन मूर्तियों के स्वरूप एवं महत्व का वास्तविक निरूपण नहीं कर सकेंगे। जैन परम्परा में बाहुबली प्रसंग का प्रारम्भिकतम उल्लेख विमलसूरिकृत पञ्चमचरियम (तीसरी शती ई०) में हुआ है। तदनन्तर दोनों परम्परा के कई ग्रन्थों में बाहुबली की कथा का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। जिनमें वसुदेव ह्रिषी (छठीं शती ई०), हरिवंशपुराण (८वीं शती ई०), पद्मपुराण (७वीं शती ई०), आदिपुराण (६वीं शती ई०) एवं त्रिवर्णशलाकापुरुषचरित्र (१२वीं शती ई०) मुख्य

है। संक्षेप में इन ग्रन्थों में वर्णित बाहुबली कथा इस प्रकार है :—

बाहुबली के पिता आदिनाथ और माता सुनन्दा थीं। आदिनाथ के १०० पुत्रों और २ पुत्रियों में भरत सबसे बड़े थे। जैन परम्परा में भरत को प्रथम चक्रवर्ती बनालाया गया है। आदिनाथ के दीक्षा ग्रहण करने के बाद भरत चक्रवर्ती विनीता और बाहुबली तक्षजिना के शासक हुए। दिगंबर परम्परामें बाहुबली को पोदनस या पोदनपुर का शासक बनाया गया है। दिग्विजय के उपरान्त चक्रवर्ती भरत ने अपने ६८ भाइयों से मत्ता स्वीकार करने को कहा। इस पर सभी ६८ भाइयों ने राज्य का त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली। भरत ने बाहुबली से भी यही प्रस्ताव किया, जिसे बाहुबली ने अस्वीकार कर दिया। फलतः दोनों भाइयों के मध्य युद्ध अवश्यभावी हो गया। युद्ध की विभीषिका की कल्पना करते हुए उसमें होने वाले भीषण नरसंहार को रोकने के उद्देश्य से बाहुबली ने भरत से शस्त्रविहीन द्वन्द्व युद्ध का प्रस्ताव किया। इस द्वन्द्व युद्ध में जब भरत किसी प्रकार बाहुबली पर नियंत्रण नहीं कर सके, तब निराशा में उन्होंने देवनाग्रों से प्राप्त कालवक्र से बाहुबली पर प्रहार किया। भरत की राज्यलिप्सा और उसके कारण अपने वचन से विमुख होने की इस घटना से बाहुबली इतने दुःखी हुए कि तत्क्षण उन्होंने समार त्यागकर दीक्षा लेने का निर्णय ले लिया। बाहुबली ने केशों का लुचन कर वस्त्राभूषणों का परित्याग किया। बाद में भरत को भी अपनी भूल का अहंमास हुआ, और वे सेना सहित राजधानी लौट गये।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद बाहुबली ने अत्यन्त कठिन तपस्या की और पूरे एक वर्ष तक कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े रहे। ज्ञातव्य है कि कायोत्सर्ग मुद्रा कठिन तपस्या की मुद्रा है। इसी मुद्रा में सभी तीर्थंकरों ने तपस्या की थी। बाहुबली की मूर्तियाँ केवल इसी मुद्रा में बनी हैं। एक वर्ष की कठिन तपस्या के बाद बाहुबली को कैवल्य प्राप्त हुआ। पर श्वेतांबर परंपरा, के अनुसार वर्ष के कारण बाहुबली कुछ समय तक कैवल्य प्राप्ति से वंचित रहे। इस पर आदिनाथ ने बाहुबली की दोनों सुन्दरी, बहिनों काह्मी और को उनके पाम हर्ष दूर करने के लिए भेजा। इस प्रकार दर्प से मुक्त

होने के बाद ही बाहुबली कैवल्य-ज्ञान प्राप्त कर सके। विनंबर परम्परा में इस प्रसंग का अनुस्लेष है। एक वर्ष की कठिन तपस्या की अवधि में बाहुबली ठण्ड, सूर्य की ताप, वर्षा, वायु और बिजली की कड़क को शान्तभाव से सहते रहे। उनका सम्पूर्ण शरीर लता वल्लरियों से घिर गया, और उस पर सर्प, वृश्चिक और छिपकली जैसे जन्तुओं का निवास बन गया। चरणों के समीप बल्मीक से ऊपर उठते सर्प विचरण करते थे। किन्तु ध्यान निमग्न बाहुबली इन सबसे अवचलित और अप्रभावित रहे, जो बाहुबली की तपस्या की कठोरता का परिचायक है। उपर्युक्त परम्परा के अनुरूप ही मूर्तियों में बाहुबली कायोत्सर्ग मुद्रा में निरूपित हुए और उनके शरीर पर माघवी, सर्प, वृश्चिक एवं छिपकली आदि का प्रदर्शन हुआ।

उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ प्राचीन भारतीय स्थापत्य एवं मूर्तिकला का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। देवगढ़ के गुप्तकालीन दशावतार मन्दिर का महत्व सर्वविदिन है। ब्राह्मण धर्म के साथ ही नवीं से १२वीं शती ई० के मध्य देवगढ़ जैन-धर्म का भी एक प्रमुख केन्द्र रहा है, जिसकी गारुडी यहाँ की अपार जैन मूर्तियाँ और मंदिर हैं। यह दिगंबर परम्परा का कला-केन्द्र था। जैन प्रतिमाशास्त्र के अध्ययन की जितनी प्रभूत सामग्री यहाँ है, उतनी सम्भवतः मथूरा के परिरक्षित अन्य किसी एक स्थल पर नहीं मिलती है। २४ यक्षियों के गामूहिक चित्रण का प्राश्निकतम प्रयास यहीं किया गया। २४ यक्षियों की मूर्तियाँ मन्दिर १२ (नातिनाथ मंदिर, ८६२ ई०) की भित्ति पर बनी हैं। यक्ष और यक्षियों के निरूपण में जितनी विविधता यहाँ प्राप्त होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यही स्थिति भरत चक्रवर्ती और बाहुबली की मूर्तियों की भी रही है। वर्तमान सन्दर्भ में हमारे लिए केवल बाहुबली मूर्तियों की ही प्रासंगिकता है।

देवगढ़ में बाहुबली की कुल ६ मूर्तियाँ हैं। ये मूर्तियाँ १०वीं से १२वीं शती ई० के मध्य की हैं। उदाहरणों में वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्न से युक्त बाहुबली के शरीर से माघवी लिपटी है। मंदिर १२ की छोटी मूर्ति में दोनों और दो स्त्री प्राकृतियाँ बनी हैं, जिनमें से एक के हाथ में

चामर है, और दूसरे के हाथ में कलश। शेष चार मूर्तियों में से एक स्थानीय साहू जैन संग्रहालय में है। यह मूर्ति पहले मंदिर १२ में थी। अन्य तीन उदाहरणों, में से दो मंदिर २ में हैं और एक मंदिर ११ में है।

साहू जैन संग्रहालय की मूर्ति में बाहुबली सामान्य पीठिका पर कायोत्सर्ग में खड़े है, और उनके पैरों एवं हाथों में माधवी की लताएं लिपटी है। पैरों पर वृश्चिक और छिपकली तथा उदर पर सर्प प्रदर्शित है। बाहुबली की केश रचना पीछे की ओर संवारी गयी है, और कुछ जटाएं कंधों पर लटक रही हैं। सिर के ऊपर एक छत्र है, और पीछे की ओर प्रभामण्डल भी उत्कीर्ण है। ज्ञातव्य है कि तीर्थंकर मूर्तियों में सिर के ऊपर एक छत्र के स्थान पर त्रिछत्र के प्रदर्शन की परम्परा रही है। हरिवंशपुराण एवं मादिपुराण जैसे दिगंबर परम्परा के ग्रंथों के उल्लेख के अनुरूप ही इस मूर्ति में दोनों ओर विद्याधारियों की दो प्राकृतियां खड़ी है, जिनके हाथों में माधवी की छोर प्रदर्शित है।

मंदिर-२ की दोनों मूर्तियां ११वीं शती ई० की है। इन मूर्तियों में बाहुबली के लक्षणों में एक स्पष्ट विकास परिलक्षित होता है। विकास की इस प्रक्रिया में बाहुबली के साथ तीर्थंकर मूर्तियों की कुछ अन्य विशेषतायें प्रदर्शित हुईं। इनमें सिंहासन, चामरधर सेवकों, त्रिछत्र, देवदुन्दुभि, उड्डीयमान मालाधरों तथा उपासकों से वेष्टित धर्मचक्र मुख्य हैं। धर्मचक्र एवं उपासकों के अतिरिक्त अन्य तत्त्व तीर्थंकर मूर्तियों में प्रदर्शित होने वाले अष्टप्रातिहार्यों का अंग है। एक ओर महत्त्वपूर्ण बात यह रही है कि इनमें बाहुबली के दोनों ओर परम्परासम्मत विद्याधारियों की प्राकृतियां भी नहीं बनी हैं। विद्याधारियों के स्थान पर चामरधर सेवकों की मूर्तियां बनी हैं जो, तीर्थंकर मूर्तियों की एक प्रमुख विशेषता रही है। यह तथ्य पुनः हमारी इसी धारणा को पुष्ट करता है कि देवगढ़ में बाहुबली को पूरी तरह तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठा प्रदान की गयी। इसी कारण बाहुबली की मूर्तियों में तीर्थंकर मूर्तियों की विशेषताएं प्रदर्शित हुईं दोनों उदाहरणों में बाहुबली निर्बस्त्र और कायोत्सर्ग मूद्रा में खड़े हैं। हाथों और पैरों पर लता-वल्सरियों, सर्पों, वृश्चिकों एवं छिपकलियों का

अंकन हुआ है। धीवत्स से युक्त बाहुबली की केश रचना गुच्छकों के रूप में निर्मित है, जिसने मध्य में उष्णीष बना है एक उदाहरण में बाहुबली के वाम पाद में नमन की मुद्रा में सम्भवतः उनके प्रपञ्च भरत का निरूपण हुआ है। उपर्युक्त दोनों मूर्तियों में से एक में बाहुबली के साथ दो अन्य तीर्थंकरों (शीतलनाथ और अभिनंदन) की भी मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। दो तीर्थंकरों के साथ बाहुबली का अंकन पुनः हमारी उपर्युक्त धारणा का ही समर्थक प्रमाण है।

मंदिर ११ की तीसरी मूर्ति १२वीं शती ई० की है। यह मूर्ति देवगढ़ और साथ ही अन्यत्र की भी ज्ञात बाहुबली मूर्तियों में प्रदर्शित लक्षणों के विकास की परा-काष्ठा दर्शाती है। इस मूर्ति में मंदिर २ की ऊपर विवेचित मूर्तियों की ही विशेषताएं प्रदर्शित हैं। केवल चामरधर सेवकों के स्थान पर विद्याधारियों का अंकन हुआ है, जिन्हें बाहुबली के शरीर से लिपटी माधवी का छोर पकड़े हुए दिखाया गया है। इस मूर्ति की प्रमुख विशेषता सिंहासन के छोरों पर द्विभुज गोमुख यक्ष और यक्षी का अंकन है। यक्ष और यक्षी का अंकन तीर्थंकर मूर्तियों की नियमित विशेषता रही है। यहाँ परम्परा के विरुद्ध बाहुबली के साथ यक्ष और यक्षी युगल का निरूपण स्थानीय कलाकारों या परम्परा की अपनी देन रही है। इस प्रकार कलाकार ने देवगढ़ में बाहुबली को पूरी तरह तीर्थंकरों के समान प्रतिष्ठा प्रदान करने का कार्य इस मूर्ति के माध्यम से पूरा किया था।

उपर्युक्त अध्ययन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि बाहुबली मूर्तियों के विकास की दृष्टि से देवगढ़ की मूर्तियां का विशेष महत्व है। ये मूर्तियां बाहुबली के लक्षणों में एक क्रमिक विकास दर्शाती हैं। इस विकास की प्रक्रिया में बाहुबली की मूर्तियों में तीर्थंकर मूर्तियों के तत्त्व जुड़ते गये जिसे १२वीं शती ई० में बाहुबली के साथ यक्ष और यक्षी युगल को सम्बद्ध करके पूर्णता प्रदान की गयी।

□ □ □

व्याख्याता, कला इतिहास विभाग, कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

दिव्य चरित्र बाहुबली

□ श्री रतनलाल कटारिया, केकड़ी (प्रजमेर)

१६६ विशिष्ट महापुरुषों में २४ कामदेव भी हैं इन २४ कामदेवों में सर्वप्रथम बाहुबली है। अतः इन्हें गोप्म-टेस्वर=कामदेवों में प्रमुख कहते हैं। “तिलोपपण्णत्ती” ग्रन्थिकार ४ में लिखा है—

कालेनु जिणवराण, चउवीसाणं हवंति चउवीसा ।

ते बाहु बलिप्पमुहा, कंवप्पा णिरुवमायारा ॥१४७२॥

(चौबीस तीर्थंकरों के समय में महान् सुन्दर बाहुबली प्रमुख चौबीस कामदेव होते हैं।)

कामदेव बाहुबली प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के सुपुत्र थे। हुंडावसविणी के तृतीय काल में महारानी सुनन्दा से उत्पन्न हुए थे। सर्वायसिद्धि की ग्रहमिन्द्र पर्याय से जलकर प्राये थे। चरमजगीरी और ५२५ धनुष की उन्नत काय के धारी थे। जिनसेनाचार्यकृत महापुराण पर्व १६ में इनका पावन चरित्र दिया है वहाँ लिखा है—

बाहु तस्य महाबाहोः, अघाता बलमूर्जितम् ।

यतो बाहुबलीत्यासीत्, नामास्य महसां निधेः ॥१७॥

तेषु तेजस्विनां धूर्यो, भरतोऽकं इषाद्युतत् ।

शशीव जगतः का तो, युषा बाहुबली बभौ ॥१६॥

(लक्ष्मी मूर्जा वाले तेजस्वी उन बाहुबली की दोनों भुयार्थ उत्कृष्ट बल को धारण करती थी अतः उनका “बाहुबली” नाम सार्थक था। उनके बड़े भाई भरत सूर्य के समान तेजस्वी थे तो वे चन्द्र के समान सारे जगत के प्रिय थे।)

१. सबसे प्रथम मोक्ष किनका ?

महापुराण पर्व ३६ श्लोक २०४ में—सर्वप्रथम मोक्ष इन बाहुबली स्वामी का ही बताया है। पद्मपुराण पर्व ४ श्लोक ७७ में भी ऐसा ही कथन है। महापुराण पर्व २४ श्लोक १८१ में भरत के छोटे भाई अनन्तदीय का भी सर्वप्रथम मोक्ष बताया है। एवे० हेमचन्द्राचार्य ने मरुदेवी का बताया है।

२. बाहुबली ने किनसे दीक्षा ली ?

महापुराण पर्व ३६ श्लोक १०४ तथा १०६ से ज्ञात होता है कि—गुरु (पूज्य पिता ऋषभ देव) के चरणों में में वे दीक्षित हुए थे और उनकी आज्ञा से रहकर शास्त्राध्ययन किया था फिर एकल विहारी होकर एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण किया था। श्लोक १८६ में बताया है कि—“भरतेश्वर मुझसे संकलेश को प्राप्त हुए हैं” ये विचार बाहुबली के केवलज्ञान में बाधक हो रहे थे। भरत के द्वारा बाहुबली की पूजा करते ही बाहुबली का हृदय एकदम पवित्र हो गया और उन्हें केवलज्ञान हो गया।

विशिष्ट ज्ञाता पुरुष चरित्र में हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है कि—भगवान् ऋषभदेव के पास बाहुबली दीक्षा लेने को इस विचार से नहीं गये कि—वहाँ उनके लघु भ्राता पहिले से ही दीक्षा लिए बैठे थे उनका विनय करना पड़े। अतः वे स्वयं ही दीक्षित हो गये और एक वर्ष का कायोत्सर्ग धार लिया। उन्होंने यह सकल्प किया कि—केवलज्ञान होने पर ही मैं ऋषभदेव की सभा में जाऊंगा। फिर जब वे केवली हुए तब ऋषभ की समवधारण सभा में गये।

पहिले उनको घोर तपस्या करते भी केवलज्ञान न हुआ तो भगवान् की भेजी ब्राह्मी सुन्दरी ने आकर उनसे कहा—“तुम मान के हाथी पर चढ़े रहोगे तब तक तुम्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी।” यह सुना तो उन्हें अपनी उस गलती (अपने लघुभ्राता मुनियों का विनय नहीं करने) का भान हुआ तो वे जाने की उद्यत हुए कि उन्हें केवलज्ञान हो गया। पद्मचरित्र और पद्मपुराण में यद्यपि इतना कोई विवरण नहीं है तथापि वहाँ भी बाहुबली को भगवान् से दीक्षा लेने का कथन नहीं है। (उन दोनों में लिखा है कि—भरत की धर्मीति को देख बाहुबली उसी समय दीक्षित हो गये। हरिवंशपुराण में तो

लिखा है कि—उनकी केवलज्ञान हुए बाद में भगवान् की सभा में गये।

३. बाहुबली के नगर का नाम

महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराणादि में “पोदनपुर” लिखा है। किन्तु पद्मचरिय में तक्षशिला लिखा है। यही हेमचन्द्र ने भी लिखा है।

४. भरत बाहुबली के युद्धों का नाम

महापुराणादि में दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और बाहुयुद्ध ये तीन युद्ध लिखे हैं। किन्तु पद्मचरिय में दो ही युद्ध लिखे हैं—दृष्टियुद्ध और मृष्टियुद्ध। पद्मपुराण में ये दो लिखकर आदि शब्द दे दिया है। हेमचन्द्र ने तीन लिखे हैं।

५. ऋषभदेव की राणियों के नाम

महापुराण में यशस्वती और सुनन्दा ये दो राणियां बताई हैं। पद्मचरिय और श्वे० ग्रंथों में सुमंगला और मन्दा नाम दिये हैं। पद्मपुराण और हरिवंशपुराण तथा पद्मचरित में नैदा सुनंदा दिये हैं। पद्मपुराण पर्व २० श्लोक १२४ में भरत की माता का नाम यशोवती भी लिखा है।

६. ऋषभदेव के युगम-पुत्र

हरिवंशपुराण पर्व ६ श्लोक २१-२२ में भरत और ब्राह्मी का तथा बाहुबली और सुन्दरी का युगल जन्म लिखा है। श्वे० ग्रंथों में लिखा है कि—ऋषभदेव की एक राणी तो बहो थी जो ऋषभ के साथ ही जन्मी थी और दूसरी राणी किसी दूसरे युगलिया के साथ पैदा हुई थी। युगलिया के मरने के बाद उसे ऋषभदेव ने अपनी रानी बनाई थी। उनसे भरत और ब्राह्मी व बाहुबली और सुन्दरी को युगल जन्म तथा शेष ६८ पुत्रों के भी युगल-जन्म हुए थे। महापुराण में ऐसा कथन नहीं है। किसी का युगल-जन्म नहीं लिखा है।

७. ऋषभदेव के कितने पुत्र थे ?

पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मचरिय, और श्वे० ग्रंथों में १०० संख्या लिखी है किन्तु महापुराण में १०१ पुत्र बताये हैं।

८. ऋषभदेव के साथ कच्छ महाकच्छ का क्या रिस्ता था ?

महापुराण पर्व १४ श्लोक ७० में ऋषभदेव की दोनों राणियों को कच्छ महाकच्छ राजाओं की बहनें बताया है।

यहां ‘जामी’ शब्द का प्रयोग किया है जिसका संस्कृत टिप्पणकार ने भगिनी (बहन) अर्थ किया है। इस तरह कच्छ महाकच्छ भगवान् ऋषभदेव के साले लगे यह सिद्ध होता है। कोशग्रंथों में ‘जामी’ शब्द का अर्थ पुत्री भी दिया है। तदनुसार पुष्पदन्त ने अपभ्रंश महापुराण के प्रथम खण्ड पृ० ६२ और २५५ में भगवान् की राणियों को कच्छ महाकच्छ की पुत्रियां बताई हैं। हरिवंशपुराण और पद्मपुराण इस विषय में मौन हैं। भगवान् की दीक्षा के साथ ही कच्छ महाकच्छ ने भी दीक्षा ली थी अतः ये भगवान् के समवयस्क होने से भगवान् की रानियां इनकी बहनें थीं यह मानना ही संगत बैठता है। पुत्रियां मानने से तो इनकी उन्नत नामिराजा के तुल्य होगी। जो ठीक नहीं है।

९. श्रेयांस किसका पुत्र था ?

हेमचन्द्राचार्य ने श्रेयांस को बाहुबली का पोता व सोमप्रभ का पुत्र लिखा है। पद्मचरिय के पद्म उद्देश्य में सोमवंश की उत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि—बाहुबली के पुत्र सोमप्रभ से सोमवंश का प्रारम्भ हुआ है। किन्तु सोमप्रभ के बाद श्रेयांस का नाम नहीं लिखा है। पद्मचरिय, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण तीनों में सोमवंश की उत्पत्ति बाहुबली के पुत्र सोमयश अथवा सोमप्रभ से बताई है और सोमप्रभ का पुत्र महाबल लिखा है किन्तु महापुराण में सोमवंश नाम का कोई वंश ही नहीं बताया है। इसी से वहां “बाहुबली ने दीक्षा लेते वक्त राज्य अपने पुत्र महाबल को दिया” ऐसा लिखा है। इससे जाना जाता है कि—महापुराण के मतानुसार बाहुबली के सोमप्रभ नाम का कोई पुत्र ही न था। महाबल नाम का पुत्र था।

इस प्रकार इन ६ अनुच्छेदों से बाहुबली स्वामी के जीवन-चरित्र पर शास्त्रों में जो परस्पर थोड़ा बहुत मत वैभिन्न्य पाया जाता है उसका सम्यक् परिज्ञान संभव है।

उन्हीं भगवान् बाहुबली की एक सातिशय विद्वत् विभूत ५७ फीट उत्तुंग विशाल प्रतिमा ध्वजवेलगीला के विष्णुमिरि पर्वत पर श्री चामुण्डराय नृपति ने सन् ६८२ में प्रतिष्ठित की थी। इस प्रतिमा की एक विशेषता खास तौर से लक्ष्य में लेने योग्य है कि—यह पर्वत पर एक ही पत्थर में काटकर निर्माण की गई है। अलग पत्थर में (खेप पृ० २६ पर)

भगवान् बाहुबली को शल्य नहीं थी

□ आधिकारिक ज्ञानमयी माताजी

भगवज्जिसेनाचार्य ने महापुराण में भगवान् बाहुबली के ध्यान के बारे में जैसा वर्णन किया है, उसके आधार से उनके शल्य मानना उनका भवर्णवाद है। सो ही देखिये—

“एकल विहारी अवस्था को प्राप्त बाहुबली ने एक वर्ष तक के लिये प्रतिमायोग धारण किया।” वे रस गोरव, शब्द गोरव और ऋद्धि गोरव इन तीनों से रहित थे, अत्यन्त निःशल्य थे और दश धर्मों के द्वारा उन्हें मोक्षमार्ग में अत्यन्त दृढ़ता प्राप्त हो गई थी।

“तपश्चरण का बल पाकर उन मुनिराज के योग के निमित्त से होने वाली ऐसी अनेक ऋद्धियां प्रगट हुई थी, जिससे कि उनके तीनों लोकों में क्षोभ पैदा करने की शक्ति प्रगट हो गई थी। मतिज्ञान की वृद्धि से कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियां एवं श्रुतज्ञान की वृद्धि से समस्त अंगपूर्वों के जानने की शक्ति का विस्तार हो गया था। वे अविज्ञान में परमावधि को उल्लंघन कर सर्वावधि को और मनः पर्यय में विपुलमति मनः पर्ययज्ञान को प्राप्त हुए थे।”

सिद्धांत ग्रन्थ का यह नियम है कि आबलिषी व वृद्धिगत चरित्र वाले मुनि के ही सर्वावधिज्ञान होता है तथा “विपुलमति मनः पर्यय तो वर्धमान चरित्र वाले एवं

किसी-न-किसी ऋद्धि से समन्वित मुनि के ही होता है।”

आगे भगवान् जिसेन सभी प्रकार की ऋद्धियों की प्रगटता मानते हुए कहते हैं—

“उनके तप के प्रभाव से आठ प्रकार की विक्रियऋद्धि प्रगट हो गई थी धामशोषधि, जलशोषधि, स्थूलशोषधि आदि शोषधियों के हो जाने से उन मुनिराज की समीपता जगत का उपकार करने वाली थी यद्यपि वे भोजन नहीं करते थे तथापि शक्तिमात्र से ही उनके रसऋद्धि प्रगट हुई थी।” उनके शरीर पर लतायें चढ़ गई थीं। सर्पों ने वामियां बना ली थीं और वे निर्भीक हो क्रीड़ा किया करते थे। परस्पर विरोधी तिर्यक् भी क्रूरभाव को छोड़ कर शान्तचित्त हो गए थे। विद्याधर लोग गतिभंग हो जाने से उनका सद्भाव जान लेते थे और विमान से उतरकर ध्यान में स्थित उन मुनिराज की बार-बार पूजा करते थे। तप की शक्ति के प्रभाव से देवों के आसन भी बार-बार कम्पित हो जाते थे जिससे ये मस्तक झुकाकर नमस्कार करते रहते थे। कभी-कभी क्रीड़ा के लिये झाई हुई विद्याधारियां उनके सर्व शरीर पर लगी हुई लताओं को हटा जाती थीं।

“इस प्रकार धारण किये समीचीन धर्मध्यान के बल से जिनके तप की शक्ति उत्पन्न हुई है ऐसे वे मुनि लेश्वा

१. प्रतिमायोगमावर्धमातस्थे किल संबृतः।

महापुराण ३६.१०६

२. गोरवैस्त्रिभिरुक्तः परा निःशल्यता गतः। बही, १३७

३. मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुद्ध्यादयोऽवबन्।

श्रुतज्ञानेन विश्वबागपूर्वाविस्त्वादि विस्तरः॥

परमावधिमुल्लंघ्य स सर्वावधिसम्बत्।

मनः पर्यय बोधे च संप्राप्त विपुलां मतिम्॥

बही, १४६-४७

४. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, १.२५

५. विक्रियावृत्तयो च त्र प्रादुरासीतपोबलात्।

प्राप्तोषधैरस्यासीत् सन्निधिजंगते हितः॥

धामशोषधे जलशोषधे प्राणिनामुपकारिणः।

धनाशुषोषपि तस्यसीद, रसद्विशक्तिमात्रतः॥

तपोबल समुद्भूता बलद्विरपि पश्ये।

—महापुराण ३६.१५२-५४

६. विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोःपागतः॥

वृक्षीरव्रवेष्टयामासुर्मुनेः सर्वांगसंगिनीः॥

—महापु०, ३६.१८३

की विबुद्धि को प्राप्त होते हुए शुक्लध्यान के सम्मुख हुए। एक वर्ष का उपवास समाप्त होने पर भरतेश्वर ने आकर जिनकी पूजा की है ऐसे महामुनि बाहुबली केवलज्ञान उद्योति को प्राप्त हो गये। वह भरतेश्वर मूढके सक्लेश की प्राप्त हो गया है यह विचार बाहुबली के हृदय में रहता था, इसलिये केवलज्ञान ने भरत की पूजा की अपेक्षा की थी। प्रसन्नबुद्धि सम्राट्, भरत ने केवल ज्ञान उदय के पहले और पीछे विधिपूर्वक उनकी पूजा की थी। भरतेश्वर ने केवलज्ञान के पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करने के लिये की थी और केवलज्ञान के बाद में जो पूजा की थी वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करनेके लिए की थी।”

इस प्रकार महापुराण के इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् बाहुबली को कोई शल्य नहीं थी। मात्र इतना विकल्प प्रसङ्ग था कि “भरत को मेरे द्वारा सक्लेश हो गया है।” तो भरत को पूजा करते ही वह दूर हो गया।

“आप जाइये, कहाँ जायेंगे।” भरत की भूमि पर ही तो रहेंगे। ऐसे मंत्रियों के द्वारा व्यंग्यपूर्ण शब्द के कहे जाने पर बाहुबली कुछ क्षुब्ध से हुए और मान-कषाय को धारण करते हुए चले गये तथा दीक्षा ले ली उस समय से लेकर उनके मन में यही शल्य लगी हुई थी कि “मैं भरत की भूमि में खड़ा हुआ हूँ।” अतः उन्हें केवलज्ञान नहीं हो रहा था। तब भरत ने आकर भगवान् ऋषभदेव से प्रश्न किया कि बाहुबली को एक वर्ष के लगभग होने पर भी अभी तक केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ है? भगवान् ने कहा—भरत! उसके मन में शल्य है। अतः तुम जाओ और समझाओ कि भला यह पृथ्वी किसकी है! हमारे जैसे तो अनन्तों चक्रवर्ती हो चुके हैं। फिर भला यह पृथ्वी मेरी कैसे है! “इत्यादि समाधान करते हुए बाहुबली भगवान् की शल्य दूर हुई और उन्हें केवलज्ञान प्रकट हो गया।”

यह किंवदन्ती महापुराण के आधार से तो गलत है

ही, साथ ही सिद्धान्त की दृष्टि से भी बाधित हो है। जैले कि शल्य तीन होती हैं—माया, मिथ्या और निदान।

बाबा का प्रश्न है बन्धना-ठगना, शल्य-मिथ्यात्व को कहते हैं “मैं भारत की भूमि पर खड़ा हूँ” यह विपरीत ही मिथ्या शल्य कही जा सकती है सो भी बाहुबली के मानना सम्भव नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि साधु के सर्वविज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और अनेकों ऋद्धिया प्रगट नहीं हो सकती थीं। निदान शल्य का अर्थ है आगामो काल में भोगों की बाँछा रखते हुए उसी का चिन्तन करना सो भी उन्हें नहीं मानी जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि तत्त्वार्थ सूत्र में श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि “निःशल्यो व्रती” जो माया, मिथ्यात्व और निदान तीनों शल्यों से रहित होता है वही व्रती कहलाता है। पुनः यदि बाहुबली जैसे महामुनि के भी शल्य मान ली जावे तो वे महाव्रती क्या अणुव्रती भी नहीं माने जा सकेंगे। पुनः वे भावलिगीमुनि नहीं हो सकते और न उनके ऋद्धियों का प्रादुर्भाव माना जा सकता है। यदि कोई कहे कि पुनः एक वर्ष तक ध्यान करते रहे और केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ, सो भी प्रश्न उचित नहीं प्रतीत होता।

एक वर्ष का ध्यान तो अन्य महामुनियों के भी माना गया है। जैसे कि उत्तरपुराण में भगवान् शांतिनाथ के पूर्वजों में एक उदाहरण आता है—

वज्रायुध ने विरक्त हो सहस्रायुध को राज्य दिया पुनः क्षेमंकर तीर्थंकर के पास जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और बाद में उन्होंने “सिद्धिगिरि” पर्वत पर जाकर एक वर्ष के लिए प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके चरणों का आश्रय पाकर बहुत से वमीडे तैयार हो गये। उनके चारों तरफ लगी हुई लतायें भी मुनिराज के पास जा पहुँची। इसर वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध ने भी विरक्त हो अपना

१. इत्युपाकुलसद्धान् बलीभूतं तपोबलः ।

स लेषया शुद्धिमास्कन्दं, शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत् ॥

बत्सरामशनस्याप्ते भरतेशेन पूजितः ।

स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षरम् ॥

सकिलष्टो भरताधीष्ठः सोऽस्मत्तः इति बहिरक्ष ।

हृदयस्य हार्दं तेनासीत्, तत्पूजाऽपेक्षि केवलम् ॥

केवलार्कोदयात् प्राक्य पद्माच्छ विधिवद् व्यावात् ।

सपर्या भरताघोषो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः ॥

स्वायः प्रमाज्जनार्थज्या प्राक्तनी भरतेशिनः ।

बाह्याख्याऽस्मयताऽपीज्या केवलोत्पत्तिमन्वभूत् ॥

महापुराण ३६.१८४-८८

राज्य शतबली की दिया और दीक्षा ले ली। जब एक वर्ष का योग समाप्त हुआ तब वे अपने पिता वज्रायुध के पास जा पहुँचे। अनंतर पिता-पुत्र दोनों ने चिरकाल तक तपस्या की। पुनः भीमार पर्वत पर पहुँच कर अन्त में सन्यास विधि से मरण कर अहमिन्द्र हो गये।

यह प्रकरण भगवान् शातिनाथ के पाँचवें भव पूर्व का है। यह घटना पूर्व विदेह क्षेत्र की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेहादि क्षेत्र में ऐसे-ऐसे महामुनि एक-एक वर्ष का योग लेकर ध्यान किया करते थे।

भगवान् बाहुबली चतुर्थ काल के आदि में क्या तृतीय काल के अन्त में जन्मे थे। और ध्यान में लीन हुए थे तथा मूर्ति भी तृतीय काल के अन्त में प्राप्त की थी। अतः उनमें एक वर्ष के ध्यान की योग्यता होना कोई बड़ी बात नहीं है। पुनः "शल्य थी इसलिए केवलज्ञान नहीं हुआ" यह कथन संगत नहीं प्रतीत होता है।

रविषेणाचार्य ने भी बाहुबली के शल्य का वर्णन नहीं किया है। यथा—“उन्होंने उस समय सकल भोगों को त्याग दिया और निर्वन्त्र दिगम्बर मुनि हो गये तथा एक वर्ष तक मेरु पर्वत के समान निष्प्रकप खड़े रहकर प्रतिमा-योग धारण कर लिया। उनके पास अनेक वामियाँ लग गईं जिनके बिलों से निकले हुए बड़े-बड़े साँपों और इयामा आदि की हरी-हरी लताओं ने उन्हें वेष्टित कर लिया, इस दशा में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया”।

अतएव भगवान् बाहुबली के शल्य नहीं थी।

कोई कहने है कि भरत के साथ ब्राह्मी-सुन्दरी बहनों ने भी जाकर उन्हें संबोधा तब उनकी शल्य दूर हुई।

यह वचन भी नितान्त असंगत है। क्योंकि भगवान् वृषभदेव की केवलज्ञान होने के बाद पुरिमनाल नगर के मगर के स्वामी भरत के छोटे भाई वृषभसेन ने भगवान् से दीक्षा ले ली और प्रथम गणधर हो गये। ब्राह्मी ने भी

दीक्षा ले पद प्राप्त किया एवं सुन्दरी ने भी दीक्षा ले ली”।

इसके बाद चक्रवर्ती ने घर आकर अक्षरान की पूजा करके दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया जहाँ उन्हें साठ हजार वर्ष लग गये। तदनंतर वापिस आने पर बाहुबली के साथ युद्ध हुआ है।

अतः भगवान् बाहुबली का आदर्श जीवन महापुराण के आधार से लेना चाहिये। चूँकि यह ब्रम्हराज ऋषिप्रणीत होने से “आर्षप्रथ” माना जाता है। अतः वह सम्स्त विवादों से रहित पूर्णतया प्रमाणिक है इसमें किसी को रचमात्र भी सन्देह नहीं होना चाहिए। □ □ □

(पृ० २६ का शेषार्थ)

गढ़कर फिर स्थापित नहीं की गई है। अतः इसका पत्थर पर्वत का अंग होने से सचित है।

इसको एक हजार वर्ष हो गये हैं अतः इसका सहस्राब्धि महोत्सव मनाया जा रहा है। २२ फरवरी सन् १९८१ को इसका १००८ विशाल कलशों में महामस्तकाभिषेक सम्पन्न होगा जिसमें ८-१० लाख मनुष्य इकट्ठे होंगे। वैदिक कुम्भ पर्व की तरह ही यह जैन कुम्भपर्व हीना।

जैनो में तीर्थंकर मूर्तियाँ हाँ बनाने का प्रचलन है। बाहुबली स्वयं कोई तीर्थंकर नहीं थे किन्तु तीर्थंकर पुत्र व कामदेव होने से साथ ही एक वर्ष तक और लक्ष्म्या कर केवली बन मूर्ति प्राप्त करने के कारण उनकी मूर्तियाँ बनाई गई हैं। श्रवणबेलगोला, कांकरकल, बेणूर आदि अनेक स्थानों पर उनकी विशाल और प्राचीन मूर्तियाँ पाई जाती हैं।

इस लेख द्वारा उन विशयवश गोमटेस्वर भगवान् बाहुबलि के चरणारविन्दों में सहस्रशः प्रणामाञ्जलि प्रस्तुत करता हूँ।

केकड़ी (प्रजमेर-प्रायस्थान)

१. अथ वज्रायुधाधीशो नष्टकैवल्यदक्षिणात् ।
लम्बबोधिः महस्त्रायुधाय राज्यं प्रदाय तत् ।
दीक्षां क्षेमकरास्यान् तीर्थकर्तृकरागतः ।
प्राप्यः निदिगिरी वर्षप्रतिमायोगमास्थितः ॥
तस्य पादौ समालम्ब्य बाल्मोकं बहुवर्तत ।
अतिन त व्रतस्थोऽपि माधव वा समीपसुतः ॥
गाढं हृढा समासेदुर कण्ठमभितस्तनुम् ।
किञ्चित्कारणमुद्दिश्य वज्रायुधसुतोऽपि तत् ।
अथन सन्यासादाय मुनीन्द्रात् पिहितान्नात् ।

योगावधाने स प्राप्त वज्रायुधमुनीश्वरम् ।
तावभो सुचिरं कृत्वा प्रव्रज्या मह दुःसहा ।
उत्तरपुराण, ६३.१३१-१४० ।

२. संत्यज्य स ततोभोगान् भूत्वा निर्वन्त्रभूषणः ।
वर्षं प्रतिमया तस्यौ मेरुवन्निः प्रसम्पकः ॥
वल्मीक विवरोद्धातेरत्युग्रं स महोरगः ।
इयामादीनां चबहलीभिः बिन्दितं प्राप केवलम् ॥
पद्मपुराण, ४.७५-७६ ।

३. महापुराण, पर्व-२४

की विशुद्धि को प्राप्त होते हुए शुक्लध्यान के सम्मुख हुए। एक वर्ष का उपवास समाप्त होने पर भरतेश्वर ने आकर जिनकी पूजा की है ऐसे महामुनि बाहुबली केवलज्ञान ज्योति को प्राप्त हो गये। वह भरतेश्वर मुझसे सलेश को प्राप्त हो गया है यह विचार बाहुबली के हृदय में रहता था, इसलिये केवलज्ञान ने भरत की पूजा की प्रपेक्षा की थी। प्रसन्नबुद्धि सम्राट्, भरत ने केवल ज्ञान उदय के पहले और पीछे विधिपूर्वक उनकी पूजा की थी। भरतेश्वर ने केवलज्ञान के पहले जो पूजा की थी वह प्रपना प्रपराष नष्ट करने के लिये की थी और केवलज्ञान के बाद में जो पूजा की थी वह केवलज्ञान की उत्पत्ति का अनुभव करने के लिए की थी।”

इस प्रकार महापुराण के इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् बाहुबली को कोई शल्य नहीं था। मात्र इतना विकल्प प्रपश्य था कि “भरत को मेरे द्वारा सलेश हा गया है।” सो भरत को पूजा करते ही वह दूर हो गया।

“आप जाइये, कहाँ जायेंगे।” भरत की भूमि पर ही तो रहेंगे। ऐसे मंत्रियों के द्वारा व्यंग्यपूर्ण शब्द के कहे जाने पर बाहुबली कुछ क्षुब्ध से हुए और मान-कषाय को धारण करते हुए चले गये तथा दीक्षा ले ली उस समय से लेकर उनके मन में यही शल्य लगी हुई थी कि “मैं भरत की भूमि में खड़ा हुआ हूँ।” अतः उन्हें केवलज्ञान नहीं हो रहा था। तब भरत ने जाकर भगवान् ऋषभदेव से प्रश्न किया कि बाहुबली को एक वर्ष के लगभग होने पर भी अभी तक केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ है? भगवान् ने कहा—भरत! उसके मन में शल्य है। अतः तुम जाओ और समझाओ कि भला यह पृथ्वी किसकी है। हमारे जैसे तो अनन्तों चक्रवर्ती हो चुके हैं। फिर भला यह पृथ्वी मेरी कैसे है! “इत्यादि समाधान करते हुए बाहुबली भगवान् की शल्य दूर हुई और उन्हें केवलज्ञान प्रकट हो गया।”

यह किंवदन्ती महापुराण के आधार से तो गलत है

ही, साथ ही सिद्धान्त की दृष्टि से भी बाधित हो है। जैले कि शल्य तीन होती हैं—माया, मिथ्या और निदान।

माया का अर्थ है ध्वंशना-ठगना, शल्य-मिथ्यात्व का कहते हैं “मैं भारत की भूमि पर खड़ा हूँ” यह विपरीत ही मिथ्या शल्य कही जा सकती है सो भी बाहुबली के मानना सम्भव नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टि मायु के सर्वाधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और अनेकों ऋद्धिया प्रगट नहीं हो सकती थी। निदान शल्य का अर्थ है आगामा काल में भोगों की बाँछा रखते हुए उसी का चिन्तन करना सो भी उन्हें नहीं मानो जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि तत्त्वार्थ सूत्र में श्री उमास्वामी आचार्य ने कहा है कि “निःशल्यो व्रती” जो माया, मिथ्यात्व और निदान तीनों शल्यों से रहित होता है वही व्रती कहलाता है। पुनः यदि बाहुबली जैसे महामुनि के भी शल्य मान लो जावे तो वे महाव्रती क्या अणुव्रती भी नहीं माने जा सकेंगे। पुनः वे भावलिङ्गीमुनि नहीं हो सकते और न उनके ऋद्धियों का प्रादुर्भाव माना जा सकता है। यदि कोई कहे कि पुनः एक वर्ष तक ध्यान करते रहे और केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ, सो भी प्रश्न उचित नहीं प्रतीत होता।

एक वर्ष का ध्यान तो अन्य महामुनियों के भी माना गया है। जैसे कि उत्तरपुराण में भगवान् शातिनाथ के पूर्वभवों में एक उदाहरण आता है—

वज्रायुध ने विरक्त हो सहस्रायुध को राज्य दिया पुनः क्षेमंकर तीर्थंकर के पास जैनदेवरी दीक्षा ले ली और बाद में उन्होंने “सिद्धिगिरि” पर्वत पर जाकर एक वर्ष के लिए प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके चरणों का आश्रय पाकर बहुत से वमीठे तैयार हो गये। उनके चारों तरफ लगी हुई लतायें भी मुनिराज के पास जा पड़ती। इस वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध ने भी विरक्त हो अपना

१. इत्युपाकृतसद्ध्यान बलोद्भूतं तपोबलः ।

स लेख्या शुद्धिभास्कदन्, शुक्लध्यानोन्मुखोद्भवत् ॥

बस्तरानशनस्यागते भरतेष्वेन पूजितः ।

स भजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षरम् ॥

सकिलष्टो भरताधीशः सोऽस्मतः इति यत्किल ।

हृदयस्य हार्दं तेनासीत्, तत्पूजाऽपेक्षि केवलम् ॥

केवलार्कोदयात् प्राक्य पदचाञ्च विधिवद् व्याघ्रात् ।

सपर्या भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः ॥

स्वागः प्रमार्जनाद्येज्या प्राक्तनी भरतेशिनः ।

पादचात्यादत्ययताडपीज्या केवलोत्पत्तिमन्वभूत् ॥

महापुराण ३६.१८४-८८

राज्य शतबली को दिया और दीक्षा ले ली। जब एक वर्ष का योग समाप्त हुआ तब वे अपने पिता वज्रायुध के पास जा पहुँचे। अनंतर पिता-पुत्र दोनों ने चिरकाल तक तपस्या की। पुनः भैभार पर्वत पर पहुँच कर अन्त में स्नानादि विधि से मरण कर ब्रह्मिन्द्र हो गये।

यह प्रकरण भगवान् शातिनाथ के पाचवें भव पूर्व का है। यह घटना पूर्व विदेह क्षेत्र की है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विदेहादि क्षेत्र में ऐसे-ऐसे महामुनि एक-एक वर्ष का योग लेकर ध्यान किया करते थे।

भगवान् बाहुबली चतुर्थ काल के आदि में क्या तृतीय काल के अन्त में जन्म थे। और ध्यान में लीन हुए थे तथा मुक्ति भी तृतीय काल के अन्त में प्राप्त की थी। अतः उनमें एक वर्ष के ध्यान की योग्यता होना कोई बड़ी बात नहीं है। पुनः "शल्य थी इसलिए केवलज्ञान नहीं हुआ" यह कथन सगत नहीं प्रतीत होता है।

रविषेणाचार्य ने भी बाहुबली के शल्य का वर्णन नहीं किया है। यथा—“उन्होंने उस समय सकल भोगों को त्याग दिया और निर्वन्त्र दिगम्बर मुनि हो गये तथा एक वर्ष तक मेरु पर्वत के समान निष्प्रकप खड़े रहकर प्रतिमा-योग धारण कर लिया। उनके पास अनेक वामियाँ लग गईं जिनके बिलों से निकले हुए बड़े-बड़े साँपों और इयामा आदि की हरी-हरी लताओं ने उन्हें वेष्टित कर लिया, इस दशा में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया”।

अतएव भगवान् बाहुबली के शल्य नहीं थी।

कोई कहन है कि भरत के साथ ब्राह्मी-मुन्दरी बहनों ने भी जाकर उन्हें संबोधा तब उनकी शल्य दूर हुई।

यह वचन भी नितान्त असंगत है। क्योंकि भगवान् वृषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद पुरिमनाल नगर के नगर के स्वामी भरत के छोटे भाई वृषभसेन ने भगवान् से दीक्षा ले ली और प्रथम गणधर हो गये। ब्राह्मी ने भी

दीक्षा ले पद प्राप्त किया एवं सुन्दरी ने भी दीक्षा ले ली”।

इसके बाद चक्रवर्ती ने घर आकर चक्ररत्न की पूजा करके दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया जहाँ उन्हें साठ हजार वर्ष लग गये। तदनंतर वापिस आने पर बाहुबली के साथ युद्ध हुआ है।

अतः भगवान् बाहुबली का आदर्श जीवन महापुराण के आधार से लेना चाहिये। चूँकि यह संस्मृत राज ऋषिप्रणीत होने से “प्रावर्षय” माना जाता है। अतः वह समस्त विवादों से रहित पूर्णतया प्रामाणिक है इसमें किसी को रचमात्र भी संदेह नहीं होना चाहिए। □□□

(पृ० २६ का शेषार्थ)

गढ़कर फिर स्थापित नहीं की गई है। अतः इसका पत्थर पर्वत का अंग होने में सचित्त है।

इसको एक हजार वर्ष हो गये हैं अतः इसका सहस्राब्धि महोत्सव मनाया जा रहा है। २२ फरवरी सन् १९८१ को इसका १००८ विशाल कलशों में महापस्तकाभिषेक सम्पन्न होगा जिसमें ८-१० लाख मनुष्य इकट्ठे होंगे। वैदिक क्रम पर्व की तरह ही यह जैन क्रमपर्व होगा।

जैनो में तीर्थंकर मूर्तियाँ ही बनाने का प्रचलन है। बाहुबली स्वयं कोई तीर्थंकर नहीं थे किन्तु तीर्थंकर पुत्र व कामदेव होने से साथ ही एक वर्ष तक और तपस्या कर केवली बन मुक्ति प्राप्त करने के कारण उनकी मूर्तियाँ बनाई गई हैं। श्रवणबेलगोला, कांकरल, बेणूर आदि अनेक स्थानों पर उनकी विशाल और प्राचीन मूर्तियाँ पाई जाती हैं।

इस लेख द्वारा उन विद्वत्पण्डित गोमटेस्वर भगवान् बाहुबली के चरणारविन्दों में सहस्रशः प्रणामांजलि प्रस्तुत करता हूँ।

कंकड़ी (प्रजपति-राजस्थान)

१. अथ वज्रायुधाधीशा नप्सुर्कैवल्यदक्षिणात् ।
लब्धवोधिः महत्त्रायुधाय राज्यं प्रदाय तत् ।
दीक्षां क्षेमकगल्यान् तीर्थकर्तृकामनाम् ।
प्राप्यः सिद्धिगिरी वषप्रतिमायोगमास्थितः ॥
तस्य पादौ समालम्ब्य बाल्मोक्तं बहुवर्तनम् ।
अतिन त प्रतयोऽपि मार्देव वा समोत्सवः ॥
गाढं रुद्धा समासेदुर कण्ठमभितस्तनुम् ।
किञ्चिदकारणमुद्दिश्य वज्रायुधमुनोऽपि तत् ।
सद्यस तस्यगादाय मुनीन्द्रात् पिहितस्तान्नात् ।

योगावसाने स प्रापत् वज्रायुधमुनीश्वरम् ।

तावुभी मुचिरं कृत्वा प्रवर्ज्या मह दुःसहा ।

उत्तरपुराण, ६३.१३१-१४० ।

२. संशयज्ज स ततोभोगान् भूत्वा निर्वन्त्रभूषणः ।

वर्षं प्रतिमया तस्यो मेरुवन्तिः प्रकम्पकः ॥

वल्लोक्तं विवरोद्धातिरत्युग्रं स महोरगः ।

इयामादीना चवल्लीभिः बिबिडिष प्राप केवलम् ॥

पद्मपुराण, ४.७५-७६

३. महापुराण, पर्व-२४

बाहुबलि-स्तवन

□ श्री भगवत् जैन

जिस वीरने हिंसा की हुकूमत को मिटाया ।
जिस वीरके अवतार ने पाखण्ड नशाया ॥
जिस वीरने सोती हुई दुनिया को जगाया ।
मानव को मानवीयता का पाठ पढ़ाया ॥
उस वीर महावीर के कदमों में झुका सर ।
जय बोलियेगा एक बार प्रेम से लियवर !

कहता हूँ कहानी मैं सुनन्दा के नन्द की ।
जिसने न कभी दिल में गुलामी पसन्द की ॥
नौबत भी आई भाई से भाई के द्वन्द्व की ।
लेकिन न मोड़ा मुह, न जुबां अपनी बन्द की ॥
आजादी छोड़ जीना जिसे नागवार था ।
बेशक स्वतन्त्रता से मुहब्बत थी, प्यार था ॥

थे 'बाहुबलि' छोटे, 'भरतराज' बड़े थे ।
छह-खण्ड के वैभव सभी पैरों में पड़े थे ॥
थे चक्रवर्ति, देवता सेवा में खड़े थे ।
लेकिन थे वे भाई कि जो भाई से लड़े थे ॥
भगवान् ऋषभदेव के वे नौनिहाल थे ।
सानी न था दोनों ही अनुज बे-मिसाल थे ॥

भगवान् तो, दे राज्य, तपोवन को सिधारे ।
करने थे उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर्म के आरे ॥
रहने लगे सुख-चैन से दोनों ही दुलारे ।
थे अपने-अपने राज्य में सन्तुष्ट बिचारे ॥
इतने में उठी क्रान्ति की एक आग विषैली ।
जो देखते ही देखते ब्रह्माण्ड में फैली ॥

करने के लिए दिग्विजय भरतेश चल पड़े ।
कदमों में गिरे शत्रु, नहीं रह सके खड़े ॥

थी ताब, यह किसकी कि जो चक्री से आ लड़े ?
यों आके मिले आप ही राजा बड़े-बड़े ॥
फिर हो गया छह-खण्ड में भरतेश का शासन ।
पुजने लगा अमरों से नरोत्तम का सिंहासन ॥

था सबसे बड़ा पद जो हुकूमत का वो पाया ।
था कौन बचा, जिसने नहीं सिर था झुकाया ?
दल देव-व-दानव का जिसे पूजने आया ।
फिरती थी छहों खण्ड में भरतेश की छाया ॥
यह सत्य हर तरह है कि मानव महान् था ।
गो, था नहीं परमात्मा; पर, पुण्यवान् था ॥

जब लौटा राजधानी को चक्रीश का दल-बल ।
जिस देश में आया कि वही पड़ गई हल-चल ॥
ले-लेके आए भेट—जवाहरात, फूल-फल ।
नरनाथ लगे पूछने—भरतेश की कुशल ॥
स्वागत किया, सत्कार किया सवने मोद भर ।
था गूजता भरतेश की जयघोष से अम्बर ॥

था कितना विभव साथ में, कितना था सैन्य-दल ।
कैसे करूं बयान, नहीं लेखनी में बल ॥
हां इतना इशारा ही मगर काफी है केवल ।
सब कुछ था मुहैया, जिसे कर सकता पुण्य-फल ॥
सेवक करोड़ों साथ थे, लाखों थे ताजवर ।
अगणित थे अस्त्र-शस्त्र; देख थरहरे कायर ॥

उत्सव थे राजधानी के हर शस्त्र के घर में ।
खुशियां मनाई जा रही थी खूब नगर में ॥
थे आ रहे चक्रीश, चक्ररत्न ले कर में ।
चर्चाएँ दिग्विजय की थी घर-घर में डगर में ॥

इतने में एक बाधा नई सामने आई ।
दम-भर के लिए सबको मुसीबत-सी दिखाई ॥

जाने न लगा चक्र नगर-द्वार के भीतर ।
सब कोई खड़े रह गए जैसे कि हों पत्थर ॥
सब रुक गई सवारियां, रास्ते को घेर कर ।
गोया थमा हो मंत्र की ताकत से समुन्दर ॥
चक्रोश लगे सोचने—‘ये माजरा क्या है ?
है किसकी शरावत कि जो ये विघ्न हुआ है ?’

क्यों कर नहीं जाता है चक्र अपने देश को ?
है टाल रहा किसलिये अपने प्रवेश को ?
आनन्द में क्यों घोल रहा है कलेश को ?
मिटना रहा है, शेष कहाँ के नरेश को ?
वाको बचा है कौन-सा इन छहों खण्ड में ?
जो डूब रहा आज तक अपने घमण्ड में ॥

जब मंत्रियों ने फिर मे चक्रोश को पाया ।
माथा झुका के सामने आ भेद बताया ॥
‘बाहुबली का गढ़ नहीं अधिकार में आया ।
है उसने नहीं आके अभी शोश झुकाया ॥
जबतक न वे आधीनता स्वीकार करेंगे ।
तबतक प्रवेश देश में हम कर न सकेंगे’ ॥

क्षण-भर तो रहे मौन, फिर ये वैन उचरा ।—
‘भेजो अभी आदेश उन्हें दूत के द्वारा’ ॥
आदेश पा भरतेश का तब भृत्य सिधारा ।
लेकर के चक्रवर्ती की आज्ञा का कुठारा ॥
वाचाल था, विद्वान, चतुर था, प्रचण्ड था ।
‘चक्री के दूत होने का उसको घमण्ड था ॥

बोला कि—‘चक्रवर्ति को जा शीश झुकाओ ।
या रखते हो कुछ दम तो फिर मैदान में आओ ।
मैं कह रहा हूँ उसको शीघ्र ध्यान में लाओ ।
स्वामी का शरण जाओ, या वीरत्व दिखाओ ॥’
सुनते रहे बाहुबली गभीर हो वानी ।
फिर कहने लगे दूत से वे आत्म-कहानी ॥

‘रे, दूत ! अहंकार में खुद को न डुबा तू ।
स्वामी की विभव देख कर मत गर्व में आ तू ॥
वाणी को और बुद्धि को कुछ होश में ला तू ।
इन्सान के जामे को न हैवान बना तू ॥
सेवक की नहीं जैसी कि स्वामी की जिन्दगी ।
क्या चीज है दुनिया में गुलामी की जिन्दगी ॥

स्वामी के इशारे पे जिसे नाचना पड़ता ।
ताज्जुब है कि वह शस्त्र भी, है कैसे अकड़ता ?
मुर्दा हुई-सी रूह में है जोश न दृढ़ता ।
ठोकर भी खा के स्वामी के पैरों को पकड़ता ॥
वह आ के अहंकार की आवाज में बोले ।
अचरज की बात है कि लाश पुतलियां खोले ॥’

सुनकर ये, राजदूत का चेहरा बिगड़ गया ।
चुपचाप खड़ा रह गया, लज्जा से गड़ गया ॥
दिल से गरूर मिट गया, पैरों में पड़ गया ।
हैवानियत का डेरा ही गोया उखड़ गया ॥
पर, बाहुबली राजा का कहना रहा जारी ।
वह यों, जवाब देने की उनकी ही थी बारी ॥

बोले कि—‘चक्रवर्ति से कह देना ये जाकर ।
बाहुबली न अपना झुकाएँगे कभी सर ॥
मैं भी तो लाल उनका हूँ हो जिनके तुम पिसर ।
दोनों को दिए थे उन्होंने राज्य बराबर ॥
सन्तोष नहीं तुमको ये अफसोस है मुझको ।
देखो जरा से राज्य पे, क्या तो है मुझको ।

अब मेरे राज्य पर भी है क्यों दांत तुम्हारा ?
क्यों अपने बड़प्पन का चलाते हो कुठारा ?
मैं तुच्छ-सा राजा हूँ, अनुज हूँ मैं तुम्हारा ।
दिखलाइयेगा मुझको न वैभव का नजारा ॥
नारी की तरह होती है राजा की सलतनत ।
यों, बन्धु की गृहणी पे न बद कीजिए नीयत ॥

छोटा हूँ, मगर स्वाभिमान मुझमें कम नहीं ।
बलिदान का बल है, अगर लड़ने का दम नहीं ॥
'स्वातन्त्र' के हित प्राण भी जाएँ तो गम नहीं ।
लेकिन तुम्हारा दिल है वह जिसमें रहम नहीं ॥
कह देना चक्रधर से झुकेगा ये सर नहीं ।
बाहुबली के दिल पे जरा भी असर नहीं ॥

ये सुन पड़ा—न वीरों के अब खून बहेगे ।
भरतेश व बाहुबली खुद आके लड़ेंगे ॥
दोनों ही युद्ध करके स्वर-बल आजमालेंगे ।
हारेंगे वही विश्व की नजरो में गिरेंगे ॥
दोनों ही बली, दोनों ही हैं चरम-शरीरी ।
धारण करेंगे बाद को दोनों ही फकीरी ॥

वेचूंगा न आजादी को, लेकर मैं गुलामी ।
भाई है बराबर के, हों क्यों सेवको स्वामी ?
मत डालिए अच्छा है यही प्यार में खामो ।
आऊँगा नहीं जीते-जी देने को सलामी ॥'
सुन कर वचन, राजदूत लोट के आया ।
भरतेश को आकर के सभी हाल सुनाया ॥

क्या फायदा है व्यर्थ में जा फौज कटाए ?
बेकार गरीबों का यहाँ खून बहाए ?
दोजख का सीना किसलिए हम मामने लाए ?
क्यों नारियों को व्यर्थ में विधवाए बनाए ?
दोनों के मंत्रियों ने इसे तय किया मिलकर ।
फिर दोनों नरेशों ने दो स्वीकारना इस पर ॥

चप सुनते रहे जब तलवा, कावू में रक्ता दिल ।
पर देर तक खामोशी का रखना हुआ मुश्किल ॥
फिर बोले जग जोर में, हो क्रोध में गाफिल ।
'मरने के लिए आगगा, क्या मेरे मुकाबिल ?
छोटा है, मगर उसको बड़ा-मा गरूर है ।
मुझको घमण्ड उमका मिटाना जरूर है ॥

तब युद्ध तीन किस्म के होने है मुकर्रर ।
जल-युद्ध, मल्ल-युद्ध, दृष्टि-युद्ध, भयकर ॥
फिर देर थी या ? लड़ने लग दानो बिगदर ।
दर्शक है खडे देखते इकटक किए नजर ॥
कितना यह दर्दनाक है दुनिया का रवेया ।
लड़ता है जर-जमी को यहाँ भैया से भैया ॥

फिर क्या था, समर-भूमि में बजने लगे गाजे ।
हथियार उठाने लगे नृप थे जो विराजे ॥
घोडे भी लगे हीमने, गजगज भी गाजे ।
कायर थे, छिपा आंख वे रण-भूमि में भाजे ॥
सुभगाँ ने किया दूर जब इन्सान का जामा ।
घन-घोर में संग्राम का तब सज गया सामां ॥

अचरज में सभी डूबे जब ये मामने आया ।
जल-युद्ध में चक्री को बाहुबलि ने हराया ॥
झूझला उठे भरतेश कि अपमान था पाया ।
था सब, कि है जग अभी और बकाया ॥
'इस जीत में बाहुबली के कद की उचाई ।—
लोगों ने कहा—खूब ही वह काम में आई !!'

दोनों ही पक्ष आ गए, आकर अनी भिड़ी ।
सबको यकीन यह था कि दोनों में अब छिड़ी ॥
इतने में एक बात वहा ऐसी सुन पड़ी ।
जिसने कि युद्ध-क्षेत्र में फैला दी गड़बड़ी ॥
हाथों में उठे, रह गए जो शस्त्र उठे थे ।
मुह रह गए वे मौन जो कहने को खुले थे ॥

भरतेश के छोटे सभी लगते थे गले पर ।
बाहुबली के पडते थे जा आंख के अन्दर ॥
दुखने लगी आंखें, कि लगा जैसे हो खजर ।
आखिर यों, हार माननी ही पड गई थक कर ॥
ठाईसी-धनुष-दुगनी थी चक्रीश की काया ।
लघु-प्रात की पच्चीस अधिक, भाग्यकी माया ॥

फिर दृष्टि-युद्ध, दूसरा भी सामने आया ।
अचरज, कि चक्रवर्ति को इसमें भी हराया ॥
लघु-भ्राता को इसमें भी सहायक हुई काया ।
सब दंग हुए देख ये अनहोनी-सी माया ।
चक्रीश को पड़ती थी नजर अपनी उठानी ।
पड़ती थी जबकि दृष्टि बाहुबली को झुकानी ॥

गर्दन भी थकी, थक गए जब आँख के तारे ।
लाचार हो कहना पड़ा भरतेश को—‘हारे’ ॥
गुस्से में हुई आँखें, धधकते से अगारे ।
पर, दिल में बड़े जोर से चलने लगे आरे ॥
तन करके रोम-रोम खड़ा हो गया तन का ।
मुह पर भी झलकने लगा जो क्रोध था मन का ॥

मग कांप उठे क्रोध जो चक्रीश का देखा ।
चेहरे पर उभर आई थी अपमान की रेखा ॥
सब कहने लगे ‘अब के बदल जायेगा लेखा ।
रहने का नहीं चक्री के मन, जय का परेखा ॥’
चक्रीश के मन में था—‘विजय अबके मैं लूंगा ।
आने ही अखाड़े, उसे मद-हीन करूँगा ॥’

वह वक्त भी फिर आ ही गया भीड़ के आग ।
दोनों ही मुभट लड़ने लगे क्रोध में पागे ॥
हम भाग्यवान् इनको कहें, या कि अभागे ?
आपस में लड़ रहे जो खड़े प्रेम को त्यागे ।
होती रही कुछ देर घमासान लड़ाई ।
भरपूर दाव पेच में थे दोनों ही भाई ॥

दर्शक थे दंग—देख विकट युद्ध—थे थर-थर ।
देवों से विर रहा था समर-भूमि का अम्बर ॥
नीचे था युद्ध हो रहा दोनों में परस्पर ।
बाहुबली नीचे कभी ऊपर थे चक्रधर ॥
फिर देखते ही देखते ये दृश्य दिखया ।
बाहुबली ने भरत को कंधे पं उठाया ॥

यह पास था कि चक्री को धरती पं पटक दे ।
अपनी विजय से विश्व की सीमाओं को ढक दे ॥

रण-थल में बाहुबल से विरोधी को चटक दें ।
भूले नहीं जो जिन्दगी-भर ऐसा सबक दें ॥
पर, मनमें सौम्यता की सही बात ये आई ।—
‘आखिर तो पूज्य हैं कि पिता-सम बड़े भाई !!’

उस ओर भरतराज का मन क्रोध में पागा ।
‘प्राणान्त कर दूं भाई का यह भाव था जागा ॥
अपमान की ज्वाला में मनुज-धर्म भी त्यागा ।
फिर चक्र चलाकर किया सोने में सुहागा ॥
वह चक्र जिसके बल पं छहों खण्ड झुके थे ।
अमरेश तक भी हार जिससे मान चुके थे ॥

कन्धे से ही उस चक्र को चक्री ने चलाया ।
सुरनर ने तभी ‘आह’ से आकाश गुंजाया ॥
सब सोच उठे—‘देव के मन क्या है समाया ?’
पर चक्र ने भाई का नहीं खून बहाया ॥
वह सौम्य हुआ, छोड़ बनावट की निठुरता ।
देने लगा प्रदक्षिणा धर मन में नम्रता ॥

फिर चक्र लौट हाथ में चक्रीश के आया ।
सन्तोष-सा, हर शस्त्र के चेहरे पं दिखाया ॥
श्रद्धा से बाहुबलि को सबने भाल झुकाया ।
फिर कालचक्र दृश्य नया सामने लाया ॥—
भरतेश को रणभूमि में धीरे से उतारा ।
तत्काल बहाने लगे फिर दूसरी धारा ॥

धिक्कार है दुनिया कि है दमभर का तमाशा ।
भटकता, अमता है पुण्य-पाप का पाशा ॥
कर सकते वफादारी की हम किस तरह आशा ?
है भाई जहाँ भाई ही के खून का प्यासा ॥
चक्रीश ! चक्र छोड़ते क्या यह था विचारा ?
मर जाएगा बेमौत मेरा भाई दुलारा ॥

भाई के प्राण में भी अधिक राज्य है प्यारा ।
दिखला दिया तुमने इसे, निज कृत्य के द्वारा ॥

तीनों ही युद्ध में हुआ अपमान तुम्हारा ।
जब हार गए न्याय से हट चक्र भी मारा ॥
देवोपनीत शस्त्र न करते हैं वंश-घात ।
भूले इसे भी, आ गया जब दिल में पक्षपात ॥

तपव्रत किया कि नाम जहां में कमा लिया ।
कहते हैं तपस्या किसे, इसको दिखा दिया ॥
कायोत्सर्ग वर्ष भर अविचल खड़े रहे ।
ध्यानस्थ इस कदर रहे, कवि किस तरह कहे ?

बस बच गया पर तुमने नहीं छोड़ी कसर थी ।
सोचो, जरा भी दिल में मुहब्बत की लहर थी ?
दिल में था जहर, आग के मर्निद नजर थी ।
ये चाहते कि जल्दी बधे भाई की अरथी ॥
अन्धा किया है तुमको, परिग्रह को चाह ने ॥
सब कुछ भुला दिया है गुनाहों की छाह ने ॥

मिट्टी जमी शरीर से सटकर, इधर-उधर ।
फिर दूब उगी, बेलें बढ़ी बाहों पे चढ़ कर ॥
बांबी बना के रहने लगे मौज से फनधर ॥
मृग भी खुजाने खाज लगे ठूठ जानकर ॥
निस्पृह हुए शरार से वे आत्मध्यान में ।
चर्चा का विषय बन गए सारे जहान में ॥

सोचो तो, बना रह सका किसका घमण्ड है ?
जिसने किया उसी का हुआ खण्ड-खण्ड है ॥
अपमान, अहंकार की चेष्टा का दण्ड है ।
किस्मत का वदा, बल सभी बल में प्रचण्ड है ॥
है राज्य की ख्वाहिश तुम्हें लो राज्य संभालो ।
गद्दी पे विराजे उसे कदमों में झुकालो ॥

पर, शल्य रही इतनी गोमटेश के भीतर ।
'ये पैर टिके हैं मेरे चक्र की भूमि पर ।'
इसने ही रोक रखा था कंवलय का दिनकर ।
वरना वो तपस्या थी तभी जाते पाप झर ॥
यह बात बढ़ी और सभी देश में छाई ॥
इतनी कि चक्रवर्ति के कानों में भी आई ॥

उस राज्य को धिक्कार कि जो मद में डुबा दे ।
अन्याय और न्याय का सब भेद भुला दे ॥
भाई की मुहब्बत को भी मिट्टी में मिला दे ।
या यों कहो—इन्सान को हैवान बनादे ।
दरकार नहीं ऐसे घृणित राज्य की मन को ।
मैं छोड़ता हूँ आज से इस नारकीपन को ॥

मुन, दीड़े हुए आए भक्तिभाव से भरकर ।
फिर बोले मधुर-वैन ये चरणों में झुका सर ॥
'योगीश ! उसे छोड़िये ! जो द्वन्द्व है भीतर ।
हो जाय प्रगट जिससे शीघ्र आत्म दिवाकर ॥
हो धन्य, पुण्यमूर्ति ! कि तुम हो तपेश्वरी !
प्रभु ! कर सका है कौन तुम्हारी बराबरी ?

यह कहके चले बाहुबलि मुक्ति के पथ पर ।
सब देखते रहे कि हुए हों सभी पत्थर ॥
भरतेश के भीतर था व्यथाओं का बवण्डर ।
स्वर मौन था, अटल थे कि धरती पे थी नजर ॥
आँखों में आगया था दुखी-प्राण का पानी ।
या देख रहे थे खड़े वैभव की कहानी ॥

मुझसे अनेकों चक्री हुए, होते रहेंगे ।
यह सच है कि सब अपनी इसे भूमि कहेंगे ॥
पर, आप सचाई पे अगर ध्यान को देंगे ।
तो चक्रधर की भूमि कभी कह न सकेंगे ॥
मैं क्या हूँ ? तुच्छ ! भूमि कहाँ ? यह तो विचारो ।
कांटा निकाल दिल से अकल्याण को मारो ॥

× × × ×
जाकर के बाहुबली ने तपोवन में जो किया ।
जस कृत्य ने ससार सभी दंग कर दिया ॥

चक्री ने तभी भाल को धरती से लगाया ।
पद-रज को उठा भक्ति से मस्तक पे चढ़ाया ॥
(शिष्य पृष्ठ ३८ पर)

जैन काशी : मूडबिंद्री

□ श्री गोकुल प्रसाद जैन, नई दिल्ली

मूडबिंद्री यह क्षेत्र 'जैन काशी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान मंगलूर से उत्तर की ओर कार्कल तालुक (दक्षिण कन्नड़ जिले) में अवस्थित है। मूडबिंद्री जैनों को भगवत् धार्मिक दृष्टि से पवित्र है तो ग्रन्थ लोगों को ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रारंभिक नाम संस्कृत में 'वंशपुर' अथवा 'वैष्णपुर' भी है। यहाँ का प्राचीन मन्दिर 'गुरुवसदि' (गुरुमन्दिर) या 'सिद्धांतवसदि' एक समय उन्नत स्थिति में था। एक समय इस गाँव का तथा इस मन्दिर का अधिकांश भाग जैनों के प्रभाव से और ग्रन्थ बाघाओं से अरुण्य होकर पेड़ों और बाँसों (वंशवृक्ष) से व्याप्त हो गया था। इन्हीं बाँसों के कारण इसका नाम 'बिदिरे' या 'वैष्णपुर' पड़ा। कन्नड़ भाषा में बाँस को 'बिदिरे' कहते हैं। इस 'बिदिरे' शब्द से ही 'बिदिरे' बना है। 'बिदिरे' या 'बिंद्री' इसका अपभ्रंश है। चूँकि यह स्थान मूलूक, मंगलूर आदि समीपस्थ बन्दरगाह या व्यापार स्थलों से 'मूड' (पूर्व) दिशा में स्थित है। अतः 'मूडबिदिरे' 'मूडबिंद्री' नाम से पुकारा जाने लगा। जो आज तक प्रसिद्ध व मान्य बन गया है। इसके अलावा यहाँ अनेक जैन धार्मिक (साधु, गुरु, भ्रमण) रहने के कारण, इसे शिला शासन में 'व्रतपुर' भी कहा गया है।

यद्यपि मूडबिंद्री 'तुलुनाडु' (यहाँ तुलु बोली बोली जाती है, अतः इस प्रदेश को 'तुलुनाडु' कहते हैं, नाडु=प्रदेश) या दक्षिण कन्नड़ जिले का एक छोटा-सा नगर है तथापि चारों ओर के प्राकृतिक दृश्यों से यह अतीव सुन्दर है। यहाँ बेल्गुमार फल-भरित हरे-भरे खेत हैं, बाग-बगीचे हैं। यत्र तत्र तालाब हैं। यहाँ पर नारियल, सुपारी, काजू, पान, कालीमिर्च आदि विशेष रूप से पैदा होता है। यहाँ का राज महल, जैनमन्दिर लिख-कला की दृष्टि से विशेषाकर्षक हैं। इस क्षेत्र की वनवायु समशीतोष्ण है इसी कारण यहाँ पर सरकार ने भी टी०

बी० (अयुरोगी का हॉस्पिटल खोला है।

ई० पूर्व तृतीय शताब्दी में श्रुतकेवली भद्रबाहु के उत्तर भारत से श्रवणबेलगोला पदार्पण से पूर्व ही मूडबिंद्री व यहाँ के चारों ओर के प्रदेशों में जैनों का अस्तित्व था। यद्यपि क्रि० श० ७वीं शती से पूर्व का ऐतिहासिक आधार प्राप्त नहीं होता, फिर भी दक्षिण कन्नड़ जिले के बहुभाग में प्राप्त जैनस्थ के अवशेषों से यह बात सिद्ध होती है।

इतिहास का प्रमाण है कि ई० पूर्व चौथी शताब्दी में श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुजी ने मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त एवं १२००० शिष्यों के साथ दक्षिण में आकर श्रवणबेलगोला में निवास किया। उनके इन शिष्यों में कुछ ने तमिल, तेलुगु कर्नाटक एवं तेलुगु देशों में जाकर धर्म का प्रचार और यत्र तत्र निवास किया तब से मूडबिंद्री में भी जैन लोगों ने आकर वाणिज्य-व्यवसाय करते हुए अनेक जैन मन्दिर बनवाये, ये द्वीपांतर में व्यापार करते हुए विपुल धनार्जन कर प्रसिद्ध थे।

परन्तु कालक्षय से धन-जन-संपन्न इस मूडबिंद्री में भी जैनों का प्रभाव हो गया और यहाँ का जैनमन्दिर चारों ओर पेड़ों और वनवृक्षों से बिर गया। लगभग ७वीं शताब्दी में श्रवणबेलगोला से इधर आये हुए एक मुनि-महाराज ने एक जगह ग्रन्थोन्मत्त स्नेह से खेलते हुए एक बाघ और गाय को देखा। इस अपूर्व दृश्य को देखकर मुनि जो ने यह निश्चय किया कि इस स्थान में कुछ-न-कुछ प्रतिशय अवश्य है। जब धिरे हुए पेड़ों को कटवाया तब श्री भगवान् पार्श्वनाथ प्रभु की विशालकाय, अतीव सुन्दर व मनोमोहक मूर्ति दृष्टिगोचर हुई। पाषाणमयी यह मूर्ति हजारों वर्ष प्राचीन है। उस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी गयी।

मूडबिंद्री की प्रसिद्धि यहाँ 'गुरुवसदि' या 'सिद्धांत मन्दिर' में सुरक्षित मूलगम व परमागम ध्वजादि ग्रन्थ व

अनर्घ्य नवरत्न प्रतिमाओं से हैं। खबलादि ग्रंथ कन्नड लिपि में लिखे हैं, इनकी करीब ८५० वर्ष हो गये हैं। जब उत्तर भारत में शास्त्र ग्रंथ कागज पर लिखे जाते थे, तब दक्षिण में द्राविड लिपि के ग्रंथ ताडपत्र में सुई से न कुरेद कर ऊपर से स्याही भरे जाने की प्रथा थी। लेकिन आश्चर्य यह है कि ये तीनों ग्रंथ सुई से न लिखे जाकर लेखनी द्वारा लाख की स्याही से लिखे गये हैं। यह नयी खोज उक्त लिपिकारों की अपनी ही है। बाद के किसी भी लिपिकार ने इस प्रथा को नहीं अपनाया। इस जिले में प्राप्त सहस्रशः ताडपत्रीय ग्रंथों में ये तीन मात्र ग्रंथ स्याही से लिखे गये हैं।

इसी 'शुक्कसदि' में वज्र, मरकत, माणिक्य, नील, वैडूर्य आदि बहुमूल्य रत्नों से निर्मित अद्वितीय व अनुपम जिन प्रतिमाएँ हैं। मूडबिद्री के प्राचीन आबक जहाजों के द्वारा द्वीपान्तर जाकर वाणिज्य करने में प्रसिद्ध थे। वे अरेबिया, अफ्रीका आदि पश्चिम देशों में और मलाया, जावा, इन्डोनेसिया, चीन आदि सुदूरपूर्व देशों में जाकर व्यापार करते थे अतएव जिराफ चीनीस ड्रागन आदि प्राणियों से परिचित इन लोगों ने 'त्रिभुवनतिलकचूडामणि-मन्दिर' की आचारशिला में इन विचित्र प्राणियों की आकृतियाँ विभिन्न ढंगों में आकर्षक भंगियों में खुदवाई। 'त्रिभुवनतिलकचूडामणि मन्दिर' के 'भैरोदेवी मण्डप' के निचले भाग के पत्थर में जिराफ मृग और चीनी ड्रैगन के चित्र चित्रित हैं। यह जिराफा मृग अफ्रीका में पाया जाता है। और ड्रैगन तो चीन देश में पाया जाता है। यह वहाँ का पुराना प्रसिद्ध प्राणि है। यह मकर (मगर) आकृति का जलचर है। विदेश के यह प्राणि यहाँ पर चित्रित होने से सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय के जैन आबक व्यापारार्थ इन देशों में भी गये होंगे व व्यापारिक संपर्क बढ़ जाने से वहाँ के रहने वाले प्राणि यहाँ पर चित्रित हुए होंगे।

मूडबिद्री के मन्दिर क्या है? शिलालेखों, शिल्पकला व शिलापट्टों का आगार ही हैं। एक अज्ञात कवि ने शिलालेख में तरकालीन 'वंशपुर' (मूडबिद्री) का निम्न प्रकार से वर्णन किया है :—

“सुन्दर बाग-बगीचे, बिकसित पुष्पों की सुगन्ध से,

व्याप्त हुआ से चारों ओर से सुशोभित, बाह्य प्रदेशों में विरा हुआ, उत्तम जिनमन्दिरों से पवित्र एवं रम्य आवास गृहों से सुशोभित यह मूडबिद्री देवांगनाओं के समान पुण्य स्थलों के विराजने से सुन्दर है।”

मूडबिद्री के एक और शासन में तरकालीन 'वेणुपुर' का जीता जागता चित्रण निम्न रूप में है :—

“तुलुदेश में वेणुपुर नाम का एक विशिष्ट नगर सुशोभित है। यहाँ पर जैन धर्मानुयायी सुपात्र दानादि उत्साह से करने वाले भव्यजीव विराजमान हैं। साधु-सत्तों से वे श्रद्धापूर्वक शुद्धमन से जैन शास्त्र का श्रवण करते हैं। इस प्रकार यह वेणुपुर सुशील सत्पुरुषों से शोभित है।” मूडबिद्री का गुरुपीठ या भट्टारक का गादी पीठ :

यहाँ के गुरुपीठ की स्थापना ई० सन् १२२० में श्रवणबेलगोला के मठ के स्वस्ति श्री चारुकीर्ति पण्डिताचार्य स्वामीजी ने की थी। द्वारसमुद्र (हेल्लेयबीडु) के राजा विट्ठदेवने (सन् ११०४—११४१) जैन धर्म को छोड़कर वैष्णव धर्म स्वीकार किया और विष्णुवर्धन कहलाया। मत्तांतरी राजा विष्णुवर्धन ने अनेकों जैन जिनालयों को तुड़वाया, और बन्धुओं को मरवा डाला। इस अत्याचार के फलस्वरूप मानो वहाँ की जमीन पर बड़ी-बड़ी दरारें पड़ गयीं। लोगों और प्राणियों की बड़ी हानि हुई। क्रि० श० ११७२ से १२१६ तक यहाँ के शासन करने वाले वीर बल्लाल राय ने उस घोर उपसर्ग से बचने के लिए श्रवणबेलगोला के श्री चारुकीर्ति स्वामी जी से प्रार्थना की। राजा की प्रार्थना मान कर स्वामीजी द्वारसमुद्र आये। भगवान् पार्वप्रभु की 'कलिकुण्ड आराधना' करते हुए मन्त्रपूत 'कूष्माण्डो, (कुम्हडों) से दरारें पाट दी, जमीन पूर्ववत् हो गई।

वहाँ से श्री स्वामीजी सीधे दक्षिण कन्नड जिले के कार्कल तालूक के 'नल्लूर' आये और वहाँ एक मठ की स्थापना की। वहाँ से मूडबिद्री के सिद्धान्त दर्शन करने यहाँ आये और यहाँ पर भी सन् १२२० में एक मठ की स्थापना की। इस तरह यह दोनों मठ श्रवणबेलगोला के शास्त्रा मठ होने के कारण यहाँ के मठाधिपति भी 'चारुकीर्ति' अभिधान से प्रसिद्ध हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि आज से ७६० वर्ष पहले यहाँ के मठ की स्थापना हुई थी।

इस समय जैन मठ के भट्टारक गद्दी में विराजमान स्वस्ति श्रीमद्भिनव भट्टारक प० पूज्य चारुकीर्ति पण्डिता-चार्यवर्य स्वामीजी एम्० ए० (हिन्दी), एम्० ए० (संस्कृत) साहित्यशास्त्री, सिद्धान्तशास्त्री, उपाध्याय (० एच्पी० डी० दर्शन) का पट्टाभिषेकोत्सव दि० ३०-४-१९७६ को सम्पन्न हुआ था। अनेक भाषाओं के ज्ञाता, उद्भट विद्वान् प० पू० भट्टारकजी के संचालकत्व व सफल नेतृत्व में क्षेत्र रात्रि-दिन प्रगति के पथ पर अग्रसर है। मूडबिंद्री के भठारह मन्दिर और भनघ्य रत्नप्रतिमाएँ आपके आश्रीत हैं। आप इन सब के मेनेजिंग ट्रस्टी व सर्वाधिकारी हैं। मूडबिंद्री के अठारह भव्य जिनमन्दिर :

मूडबिंद्री में कुल मिला कर अठारह भव्य जिनमन्दिर हैं। इसमें 'श्री पावर्चनाथ बसदि की 'त्रिमूर्ति तिलक चूडामणि बसदि' भी कहते हैं। इन मन्दिरों के अलावा अन्य मन्दिरों में भी शिल्पकला की उच्चकोटि की गरिमा खुल कर सामने आई है। 'बसदि' यह संस्कृत 'वसति' शब्द का तद्भव है। इसी प्रकार होसबसदि, बडगबसदि, शेहरबसदि, हिरबसदि, बेटकेरी बसदि, कोटिबसदि, त्रिकुशसहिबसदि, कल्लुबसदि, लेप्पद बसदि, देरम्मशेहि-बसदि, चोलशेहिबसदि, महादेवशेहिबसदि, वैकण्तिकादि-बसदि, केरेबसदि, पडुबसदि, श्री जैनमठबसदि, जैन-पाठशालेयबसदि आदि बसदि विद्यमान हैं जो प्रतिबिम्बों-जिनलताओं से शोभायमान हैं और जहाँ निश्चय अनेक धर्मानुष्ठान सम्पन्न होते रहते हैं।

मूडबिंद्री के अन्य दर्शनीय स्थल

१. समाधिस्थान (निबिबियाँ) :

यहाँ स्वर्गीय भठारिणियों की १८ समाधियों के अतिरिक्त अंबुसेट्टी एवं आदुसेट्टी नामक दो श्रीमान् आश्रितों की समाधियाँ बेटकेरी बसदि से १ फलींग पर विद्यमान हैं। परंतु यह जानना कठिन है कि ये समाधियाँ किन-किन की हैं? और कब निर्माण हुई हैं। केवल दो एक समाधियों में शिलालेख विद्यमान हैं।

२. कोडंकल्लु न्याय बसदि :

मूडबिंद्री से करीब १ मील पर 'कोडंकल्लु' नामक स्थान में 'न्यायबसदि' नामक एक मंदिर एवं एक समाधि-

स्थान विद्यमान है। कहा जाता है कि इस मंडप में लोगों के न्याय-प्रम्य का विचार और निर्णय होता था। इसी कारण से मंडप का नाम 'न्यायबसदि' नाम पड़ा है जो सार्थक ही है। इसके पास ही श्री चन्द्रकीर्ति मुनि (ई० सन् १६३७) का एक समाधिस्थान और सति सहस्रमन करने का एक स्थान "महासतिकट्टे (मास्तिकट्टे) भी है।

३. चौटर राजमहल :

दक्षिण कन्नड जिले के जैन राजाओं में चौटरवंशीय राजा बड़े प्रसिद्ध थे। इनकी राजधानी पहले "उल्लास" में थी। हुळेबोड के राजा विष्णुवर्धन के अधीन रहने वाले राजागण स्वतन्त्र होने के बाद चौटर वंशीय राजाओं ने अपनी राजधानी को मूडबिंद्री और इसके निकटवर्ती 'तुत्तिग' में स्थापित किया। इन राजाओं ने लगभग ७०० वर्ष तक (११६० से १८६७ ई० सन् तक) स्वतंत्र रूप से शासन किया। इनके वंशज आज भी मूडबिंद्री (चौटर पैलेस) में रहते हैं जिनको सरकार से मालिखाना (Political Pension) मिलता है। यह राजघर यद्यपि जीर्ण-शीर्ण है फिर भी इसे देखकर इसकी महत्ता का अनुभव कर सकते हैं। राजसभा के विशाल स्तंभों पर खुदे हुए चित्र दर्शनीय हैं। इनमें चित्रकला की दृष्टि में "नवनारीकुंजर" और "पवनारीतुरग" की रचना और शिल्पकला अत्यन्त मनोहारी हैं।

४. श्री बीरबाणी विलास जैन सिद्धांत भवन :

यह एक शास्त्रमंडार है। स्व० पं० लोकनाथजी शास्त्री ने इसका निर्माण किया और सैकड़ों ताडपत्रीय ग्रंथों को अन्वग्य गाँवों में जाकर संग्रहित किया और यहाँ सुरक्षित रखा है। इसकी अलग ट्रस्टी है। मुद्रित ग्रंथों का भी संग्रह अच्छा है।

५. श्रीवती रमाराजी जैन शोध संस्थान :

इस भवन का निर्माण स्वनामधन्य, आबकशिरोमणि, स्व० साहू श्री शांतिप्रसाद जी ने लाखों रुपये व्यय करके किया है। इस संस्थान या भवन में परम पुनीत अमूल्य ताडपत्रीय पर लिखे सहस्रशः जैन पुराण, दर्शन, धर्म, सिद्धांत, न्याय, ज्योतिष, आचारपरक 'जिनबाणी मी' का संग्रह है। इन ताडपत्रीय जैन शास्त्रों के अध्ययनार्थ व अलोकनार्थ देख-विदेश के विद्वान् यहाँ पधार कर, इन

अनमोल ग्रंथ रत्नों का दर्शन कर पुनीत हो जाते हैं। अनेक साहसप्रतियों का समुदर, पुनर्लेखन, संशोधन, संग्रह, प्रकाशन आदि कार्य ५० पू० भट्टारकजी के नेतृत्व में संपन्न हो रहा है। देश-विदेश के जैन-जैनेतर विद्वानों के लिए तो यह संग्रहालय मानों ज्ञान का प्रजस स्रोत है और है सरस्वती का बरव और पुनीत प्रसूषण भंडार।

मूडविद्वी की अन्य संस्थाएँ और सामाजिक स्थिति :

प्रब तक ऐतिहासिक मूडविद्वी का प्रवलोकन हुआ। अब प्राधुनिक मूडविद्वी का प्रवलोकन करेंगे।

मूडविद्वी में तीन हाय-स्कूल है—१) जैन हायस्कूल, २) बाबू राजेन्द्र प्रसाद हायस्कूल, ३) कान्वेन्ट गल्स हायस्कूल। जैन हायस्कूल रजत जयति मना कर प्रब जैन ज्युनियर कालेज के रूप में परिवर्तित हो गया है।

सन् १९६५ में 'समाज मंदिर सभा' नामक सांस्कृतिक संस्था द्वारा यहाँ पर "महावीर घाटंस, सायन्स एण्ड कामर्स कालेज" खोला गया है।

सन् १९७६ में दक्षिण कन्नड जिला जैन समाज के सत्-प्रयत्न से "श्री बबला कालेज" मूडविद्वी में प्रारंभ हुआ है।

'भरतेश वैभव' 'रत्नाकर सतक' आदि श्रेष्ठ कृतियों के रचयिता महाकवि रत्नाकर वर्णी की जन्मभूमि भी यही मूडविद्वी है। इसी कवि के नाम से मूडविद्वी का एक भाग 'रत्नाकर वर्णी नगर' के रूप में नामकरण पाकर सुशो-भित है।

मूडविद्वी की जनसंख्या लगभग १०-१२ हजार है। लोगों की आर्थिक स्थिति सामान्य है। जैन भाइयों के लगभग ६० घर हैं। जैनों की आर्थिक स्थिति (२-४ घर को छोड़ कर) सामान्य है। प्रायः सब लोगों का जीवन-धार कृषि पर ही निर्भर है। नारियल, सुपारी, धान, काजू, आदि ही यहाँ की प्रमुख कृषि या उपज है। परंतु इस समय 'मू सुधारणा कानून' पास होकर लागू होने से सब खेतिहर जैनों के ऊपर और जैन मंदिरों के ऊपर भोषण संकट आया है।

□□□

(पृ० ३४ का शेषांश)

गोया ये तपस्या का ही सामर्थ्य दिखाया—
पूजना जो चाहता था वही पूजने आया।
फिर क्या था, मन का द्वन्द्व सभी दूर हो गया।
अपनी ही दिव्य-ज्योति से भरपूर हो गया।

कैवल्य मिला, देवता मिल पूजने आए।
नर नारियों ने खूब ही आनन्द मनाए।
चक्रो भी अन्तरंग में फूले न समाए।
भाई की आत्म-जय पे अश्रु आँख में आए।
है वंदनीय, जिसने गुलामी समाप्त की।
मिलनी जो चाहिए, वही आजादी प्राप्त की।

× × × ×

उन गोम्मटेश-प्रभु के सौम्य-रूप की झांकी।
वर्षों हुए कि विज्ञ शिल्पकार ने झांकी।
कितनी है कलापूर्ण, विशद, पुष्प की झांकी।
दिल सोचने लगता है, चूम हाथ या टांकी ?
है श्रवणबेलगोल में वह आज भी सुस्थित।
जिसको विदेशी देख के होते हैं चकितचित।

कहते हैं उसे विश्व का वे आठवां अचरज।
खिल उठता जिसे देख अन्तरंग का पंकज।
झुकते हैं और लेते हैं श्रद्धा का चरणरज।
ले जाते हैं विदेश उनके अक्स का कागज।
वह धन्य, जिसने दर्शनों का लाभ उठाया।
बेशक सफल हुई है उसी भक्त की काया।

उस मूर्ति से है शान कि शोभा है हमारी।
गौरव है हमें, हम कि हैं उस प्रभु के पुजारी।
जिसने कि गुलामी की बला सिर से उतारी।
स्वाधीनता के युद्ध की था जो कि चिंगारी।
आजादी सिखाती है गोम्मटेश की गाथा।
झुकता है अनायास भक्तिभाव से माथा।

× × × ×

'भगवत्' उन्ही-सा शौर्य हो, साहस हो, मुबल हो।
जिससे कि मुक्ति-लाभ ले, नर जन्म सफल हो।

□□□

बाहुबलि की प्रतिमा गोम्मटेश्वर क्यों कही जाती हैं ?

□ डा० प्रेमचन्द जैन, जयपुर

चामुण्डराय ने मैसूर के श्रवणबेलगोल नामक ग्राम के सन्निकट छोटी-सी पहाड़ी पर एक विशाल प्राकृति और अत्यन्त मनोहर मूर्ति निर्माण कराई थी। यह बाहुबलि की मूर्ति है और गोम्मटेश्वर कहलाती है।

श्रवण-बेलगोल के शिलालेख नं० २३४ (८५) में श्रवण बेलगोल की बाहुबलि प्रतिमा और प्रतिष्ठा सम्बन्धी एक कहानी दी गई है, जो बहु प्रचलित हो चुकी है। इसके वर्णनानुसार गोम्मट, पुण्ड्रक अपरनाम ऋषभदेव (प्रथम तीर्थंकर) के पुत्र थे। इनका नाम बाहुबलि या भुजबलि था। ये भारत के लघु भ्राता थे। इन्होंने भरत को युद्ध परास्त कर दिया, किन्तु संसार से विरक्त हो राज्य भरत के लिए ही छोड़ उन्होंने जिन-दोक्षा धारण कर ली। भरत ने पोदनपुर के समीप ५२५ धनुष प्रमाण बाहुबलि की मूर्ति प्रतिष्ठित कराई। कुछ काल बीतने पर मूर्ति के आसपास की भूमि कुछकुट सर्पों से व्याप्त और बोहड़ वन से आच्छादित होकर दुर्गन्ध हो गई।

राजमल्ल नृप के मन्त्री चामुण्डराय को बाहुबली के दर्शन की अभिलाषा हुई, पर यात्राके हेतु जब वे तैयार हुए तब उनके गुरु ने उनसे कहा कि वह स्थान बहुत दूर और अगम्य है। इस पर चामुण्डराय ने स्वयं बैसा ही मूर्ति की प्रतिष्ठा कराने का विचार किया और उन्होंने उसकी प्रतिष्ठा करायी जो गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके पूर्व भी और पश्चात् भी दक्षिण में गोम्मटेश्वर की और विशालकाय मूर्तियाँ निर्माण हुईं। चालुक्यों के समय में ई० सन् ६५० में निर्मित गोम्मट की एक मूर्ति त्रिजापुर के बादामी में है। मैसूर के समीप ही गोम्मटगिरि में १४ फीट ऊँची एक गोम्मट मूर्ति है जो १४वीं सदी में निर्मित है, इसके समीप ही कन्नबाड़ी (कुन्नराज सागर) के उस पार १२ मील दूरी पर स्थित बसवि होवकोटे हवल्ली में गङ्गाकालीन एक 'गोम्मट' मूर्ति है जो १८

फीट ऊँची है। मैसूर राज्य के अन्वेषण विभाग ने हाल ही में इसका अन्वेषण किया है। एक कारकल में सन् १४३२ में १४^१/_२ फीट ऊँची और दूसरी बेनूर में सन् १६०४ ईस्वी में ३५ फीट ऊँची मूर्तियाँ स्थापित हुईं और वे भी 'गोम्मट' 'गोमत' 'गोमट्ट' 'गुम्मट' अथवा गोम्मटेश्वर कहलाती हैं। अतः इस लेख में यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास है कि ये मूर्तियाँ गोम्मट क्यों कही जाती हैं ?

कुछ विद्वानों का मत है कि इस मूर्ति के निर्मापक का अपरनाम 'गोम्मट' या गोम्मटराय था। क्योंकि 'गोम्मट-सार' नामक ग्रन्थ में उनका उल्लेख इसी नाम से हुआ है, अतः उनके द्वारा स्थापित मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' अर्थात् (गोम्मटस्य) + ईश्वरः कहलाना उपयुक्त है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि जब श्रवणबेलगोल स्थित बाहुबलि की मूर्ति उपर्युक्त कारण से गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हो गई इसके पश्चात् से ही अग्र्यत्र भी तत्साम्य से बाहुबलि की मूर्तियाँ 'गोम्मट' 'गोमत' 'गोमट्ट' 'गोम्मटेश्वर' आदि कही जाने लगीं। किन्तु निम्नलिखित कारणों से यह मत निस्सार प्रकट होता है—

(१) चामुण्डराय के खास आशय में रहे हुए कवि रत्न ने अपने 'अजितपुराण' में उनका उल्लेख इस नाम से कहीं पर भी नहीं किया है। अजितपुराण का समय ९९३ ई० है अतः इस दशा में यह मानना उचित ही है कि सन् ९९३ ई० तक चामुण्डराय का 'गोम्मट' अथवा 'गोम्मटेश्वर' ऐसा कोई नाम नहीं था।

(२) कवि दोड्डय ने अपने संस्कृत ग्रन्थ 'भुजबलि शतक' सन् (१५५०) में लिखा है कि श्रवणबेलगोल की छोटी पहाड़ी 'चन्द्रगिरि' पर खड़े होकर चामुण्डराय ने बड़ी पहाड़ी 'इन्द्रगिरि' पर तीर मारा था जिससे इस विष्णु-गिरि पर पोदनपुर के गोम्मट प्रकट हो गये थे। और उनकी पूजा के लिए चामुण्डरायने कई ग्राम भेंट किये थे।

अब चूँकि 'बाहुबलि शतक' में भी चामुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मट' नाम से नहीं है; अतः यह नहीं कहा जा सकता कि श्रवणबेलगोल की मूर्ति का नाम उनके संस्थापक की अपेक्षा से गोम्मटेश्वर पड़ा था।

(३) बाहुबलि की मूर्ति के संस्थापक स्वयं चामुण्डराय ने जो गोम्मट-मूर्ति के पाद-मूल में तीन लेख अंकित कराये हैं, उनमें भी उन्होंने अपने को 'गोम्मट' अथवा 'गोम्मटेश्वर' नहीं लिखा है। वे ये हैं—

१. लेख नं० १७५—“श्री चामुण्डराय ने निर्मापित कराया।” कब और किसे यह नहीं लिखा है। यह लेख कन्नड़ भाषा में है।

२. लेख नं० १७६—“श्री चामुण्डराय ने निर्मापित कराया।” कब और किसे यह नहीं लिखा है। यह लेख तमिल भाषा में है।

३. लेख नं० १७९—“श्री चामुण्डराय ने निर्मापित कराया।” इसमें भी कब और किसको इसका उल्लेख नहीं है। यह लेख मराठी भाषा और नागरी लिपि में अंकित है। उपर्युक्त तीनों प्राचीन लेखों से भी स्पष्ट है कि स्वयं चामुण्डराय भी गोम्मट नाम से परिचित नहीं थे।

४. श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में (एपीग्राफिया कर्णाटिका, भाग-२ अनुक्रमणी (Index) पृष्ठ १३ प्रकट है कि उनमें से जिन लेखों में गोम्मट नाम का उल्लेख हुआ है वे सर्व-प्राचीन रूप में मन् १११८ के न० ७३ व १२५ के शिलालेख हैं। इनमें मूर्ति को गोम्मटदेव लिखा है और चामुण्डराय 'राय' कहे गये हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि मूर्ति का नाम ही गोम्मटदेव कहा जाने लगा था।

५. श्रवणबेलगोल स्थित बाहुबलि का नाम मूर्ति स्थापक की अपेक्षा से यदि गोम्मटेश्वर पड़ा होता तो अन्यत्र विभिन्न स्थानों पर स्थापित बाहुबलि की प्रतिमाओं का नाम अन्य स्थापकों (निर्मापकों) की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न क्यों नहीं पड़ा? वास्तविकता तो यह है कि श्रवणबेलगोल के बाहुबलि की स्थापना के पूर्व भी बाहुबलि का गोम्मट अर्थ में उल्लेख हुआ है जिसका भाग्य प्रसंगानुसार वर्णन है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाहुबलि

का ही अपर नाम 'गोम्मट' 'गुम्मट' था। वह ही भाग्य चल कर गोम्मटेश्वर हो गया। जिसके लिए निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

गोम्मट शब्द की व्युत्पत्ति — प० के० बी० शास्त्री ने अपने एक लेख में गोम्मट शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बताया है कि प्राकृत भाषा के त्रिविक्रम व्याकरण के “गुम्म गुम्मडो मुहेः” ३-४-१३१) इस सूत्रानुसार ‘मोहक’ अर्थ में णिञ्प्रत्यय में ‘मुह’ धातु को गुम्मड’ आदेश होता है। इस शब्द के उकार के स्थान में उसी व्याकरण के गजडदव धम्मडधम कचटतप खछठयफाल् (३-२-६५) सूत्रानुसार डकार आकर ‘गुम्मट’ शब्द बनता है। इस मूल रूप में ही उच्चारण भेद से गोमट और गोम्मट शब्द बन गये हैं।

परन्तु एक अन्य प्रकार से—कात्यायन की प्राकृत मंजरी के ‘मो मः’ (३-४२) सूत्र के अनुसार संस्कृत का ‘मम्मथ’ शब्द प्राकृत में ‘गम्मह’ हो जाता है। उधर कन्नड़ भाषा में संस्कृत का ‘ग्रन्थि’ शब्द ‘गन्टि’ और ‘यथ’ शब्द ‘बट्टे’ आदि में परिवर्तित हो जाने हैं। अनन्वय संस्कृत के ‘मम्मथ’ शब्द का ‘ह’ उच्चारण जो उसे प्राकृत रूप में नसीब होता है, वह कन्नड़ में नहीं रहेगा, बल्कि वह ‘ट’ में बदल जावेगा। इस प्रकार संस्कृत ‘मम्मथ’ प्राकृत गम्मह का कन्नड़ तथ्यरूप ‘गम्मट’ हो जायगा। और उसी ‘गम्मट’ का ‘गोम्मट’ रूप हो गया है, क्योंकि बोलचाल की कन्नड़ में ‘घ’ स्वर का उच्चारण घीमे घो’ की ध्वनि में होता है, जैसे—‘मृगु’=‘मोगु’; ‘सप्पु’=‘सोप्पु’ इत्यादि।

उधर कोंकणी और मराठी भाषाओं का उद्गम क्रमशः अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से हुआ प्रकट है और यह भी विदित है कि मराठी, कोंकणी एवं कन्नड़ भाषाओं का शब्द-विनिमय पहले होता रहा है। क्योंकि इन भाषा-भाषी देश के लोगों का पारस्परिक विशेष सम्बन्ध था। अब कोंकणी भाषा का एक शब्द ‘गोमटो’ या ‘गोम्मटो’ मिलता है और यह संस्कृत के ‘मम्मथ’ शब्द का ही रूपान्तर है। यह यद्यपि सुन्दर अर्थ में व्यवहृत है। कोंकणी भाषा का यह शब्द मराठी भाषा में पहुँच कर कन्नड़ भाषा में प्रवेश कर गया हो—कोई प्राश्न नहीं।

(शेष पृष्ठ ४२ पर)

मैं रहूँ आप में आप लीन

□ पं० पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

‘इणमणं जीवावो देहं पुणलमयं युगितुं मुनो ।

भगवति ह्य संयुवो वडिओ मये केवली भवव ॥’

—समयसार, २८

जीव से भिन्न, इस पुद्गलमयी देह की स्तुति करके मुनि वास्तव में ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान की स्तुति की और वन्दना की ।

विभाव हमारा स्वभाव जैसा बन गया है । हम अपने को विभावरूप अनुभव करने के अभ्यासी जैसे तो बन ही गए हैं, पर हम अपनी घट्टमन्य चतुराई से दूसरों को भी विभावरूपों के आधार से परखने हैं । कहने को हम बीतराग की बीतरागता के पुजारी हैं, उनकी उपासना बीतराग के आश्रय से करते हैं, हमारा धर्म बीतरागता के मूलाधार में ही पनपा है । पर, हम बीतरागता की उपासना में बीतरागता से विपरीत—सरागता में मग्न होते हैं । इससे स्पष्ट होता है कि जिस विभाव को हमें छोड़ना चाहिए हम उसी में बड़ होने का प्रयत्न करते हैं, जबकि आचार्यों ने मूर्ति को आधार मात्र मान कर केवली की वन्दना का संकेत दिया है, न कि मूर्ति की आराधना का ।

आज म० बाहुबली की अनुपम, आश्चर्यकारी, विशाल प्रस्तरमूर्ति के सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक समारोह मनाये जाने का उपक्रम है । इसके लिए हम जी-जान से जुटे हैं । जिस साक्षात् शरीर को म० बाहुबली ने क्षण-भंगुर समझ छोड़ने का उपक्रम किया—हम उसी के अनु-रूप स्थापना निशेष द्वारा स्थापित प्रस्तरमूर्ति-मूर्ति के संभारने में लगे हैं । इसमें तथ्य क्या है ? यदि इसे विचारें तो सहज ही यह तथ्य सामने आयेगा कि—बूक हम छप्पस और अशक्त हैं, हमें भक्ति के लिए सहायक अवलम्बन चाहिए और वह अवलम्बन मूर्तरूप होना चाहिए । यतः प्रमूर्त आत्मा में हमारी गति नहीं है आदि । हम मूर्तरूप प्रतिकृति के आधार, प्रेरणा पाते हैं और बीतराग की बीतरागमूढा द्वारा आत्मा का मनन-चिन्तन करते हैं ।

बाहुबली कामदेव थे, उनका दिव्य-शरीर स्वस्थ सुखी और अनुपम था, उन्होंने अपने स्वाभिमान को ठेस नहीं खाने दी पर, क्या ? बीतराग धर्म की दृष्टि में उक्त

आधारों को उनकी पूज्यता में कारण कहा जा सकता है ? उक्त बातें तो अन्य बहुतों में भी हुईं, कामदेव अन्य भी हुए, स्वाभिमान की रक्षा छक्ति भर अन्य बहुतों ने भी की । इन सब बातों को करके भी वे सभी पूज्य न हो सके । अतः बाहुबली की पूज्यता में मूल कारण कोई अन्य ही होना चाहिए और वह कारण धार्मिक ही होना चाहिए । त्रिन धर्म की दृष्टि से विचारने पर वह कारण समझ आता है—उनकी बीतराग-परिणति तथा बीतराग-परिणति में साधन-भूत कठोर तपश्चर्या ।

यद्यपि अभिषेक, तीर्थंकर-सम्बन्धी पञ्चकल्याणकों में से उनके जन्मकल्याणक की एक क्रिया का अनुकरण है । बाहुबली तीर्थंकर नहीं और उनकी मुनि व धरहृत अवस्थाएँ भी अभिषेक योग्य नहीं तथापि बाहुबली-प्रतिमा का अभिषेक अपना विशेष महत्त्व रखता है । ये पहिले ही कहा जा चुका है कि छप्पस को सहारा चाहिए और वह सहारा आगामी सहारे की दृष्टि से सुरक्षित भी रहना चाहिए । यदि सहारा रूप प्रतिविम्ब सुरक्षित न होगा तो छप्पस की साधना ही समाप्त हो जायगी । भक्त, सहारे-रूप मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान को देखता है—मूर्तिमान की बीतराग प्रतिकृति का अपने में साक्षात्कार करता है—उनकी पूजा करता है । अभिषेक व्यवहार-पूजा का आवश्यक अंग है—इसके बिना पूजा अधूरी रहती है । यह सब अधूरा न रह जाय अतः अभिषेक और मूर्ति की सुरक्षा सभी आवश्यक है । आचार्य ने कहा है—

‘सं शिष्येण ज्ञातुं ज्ञानं शरीरं गुणं हि होति केवलिनो ।
केवलिनं गुणं पुनरिहो सो तथैव केवलिं पुनरिह ॥’

—समयसार, २९

मूर्ति का स्तवन ठीक नहीं है (न मूर्ति के स्तवन का विधान है) स्तवन तो केवली—बीतरागी का किया जाता है—केवली के गुणों का किया जाता है । परमार्थ से ज्ञानी पुरुष, निमित्त के आश्रित होते भी अक्षय बिन्दु केवली—बीतरागी को ही बनाता है । क्योंकि—बीतराग के द्वारा ही बीतरागता प्राप्त की जा सकती है । शरीर के गुणों का वर्णन करने से केवली—बीतरागी की स्तुति नहीं होती—

‘नगरस्मि बणिजे जह न बि रण्जो बण्जना कवा होबि ।
हैहुमजे बुझ्बंते न केवलिंगुना बुबा होति ॥’

—समयसार, ३०

जैसे नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन किया नहीं होता, उसी तरह देह के गुणों का स्तवन होने से केवली के गुण स्तवन रूप किए नहीं होते ।

उक्त प्रकाश में स्पष्ट है कि भ० बाहुबली की मूर्ति हमारा ध्येय लक्ष्य नहीं, वह तो मात्र निमित्त (आधार) रूप है, वह कुछ करती नहीं, कर सकती नहीं, अपितु उसके आधार से सब कुछ हमी को करना है । आइए, हम बाहुबली के अन्य रूपों में मोहित न हो, उनके जीवन से आत्म-जागृति सीखें—मूर्तिमात्र में ही अपने को न खो दें ।

कहने की वर्तमान युग खोज का युग है । लोग खोजों में लगे हैं भौतिक पदार्थों की । वे खोज रहे हैं एटमशक्ति को, नक्षत्रों के घरों को । कोई खोज रहे है प्रस्तरखण्डों और ग्रन्थों में अपनी प्राचीनता को । भला, अध्यात्म में भी कोई खोजने की वस्तुयें हैं । जैन मान्यतानुसार तो ये सब अनावि है—पुद्गल खण्ड है और इनमें परिवर्तन चलता रहता है । ये सभी आत्मा से भिन्न-स्वतन्त्र द्रव्य हैं, आत्मा से इनका या इनसे आत्मा का कोई बिगाड़-सुधार नहीं । पदार्थ स्व-चतुष्टय की अपेक्षा अपने में ही विद्यमान रहता है । ऐसे में जब हमे बाहुबली भगवान को निमित्त मान कर अपने को खोजना है तब इन पर-कथाओं की वास्तविक उपयोगिता कोई नहीं ।

व्यवहार दृष्टि से आज जिस सहस्राब्दि महामस्तका-भिषेक का प्रसंग है उसमें मुनिश्री विद्यानन्द जी का प्रमुख हाथ है । २५००वाँ निर्वाण उत्सव भी इन्हीं की कर्मठता

से सफल रहा । ऐसे निमित्त भाग्य से ही मिलते हैं । ऐसे व्यवहारी प्रसंग जनसाधारण के लिए पुण्यबन्ध में विशेष सहायक हो सकते हैं और व्यवहारियों का मार्ग भी यही है । यतः—

‘व्यवहार वेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिबा भावे ।’

जो जीव अपर भाव में है अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्था में ही स्थित है, वे व्यवहार द्वारा ही उपदेश योग्य हैं । और ये सब जो उपक्रम हैं, सब व्यवहार ही हैं—अर्थात् प्रस्तुत प्रसंग में सब पुण्य ही है ।

वास्तव में—निश्चय शुद्धरूप से तो बाहुबली स्वामी की मुद्रा का अवलम्बन—निमित्त प्राप्त करने से जीव परम्परित समार के पार का मार्ग ढूँढ़ सकेंगे । अनुभव तो उनका अपना ही होगा :—

‘आदा खु मरुण्ण णाणे आदा मे वंझणे चरित्ते य ।

आदा पचवख्खाणे आदा मे संवरें जोगे ॥’

ये सब जो बाह्य में कहे जाने वाले दर्शन-ज्ञान चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर योग आदिक हैं, वे भी सब वास्तव में अन्य कुछ नहीं—आत्मरूप ही हैं । बहिरंग तो मात्र व्यवहार हैं और यह व्यवहार मेरे शुद्ध स्वरूप में प्रयोजनीय नहीं हैं । जहाँ तक मन-वचन काय की प्रवृत्ति का प्रश्न है वह आस्रव की कारणभूत ही है और अन्तर्तो गत्वा आस्रव ससार की परिपाटी ही है । मोक्ष के साधनभूत तो केवल शुद्ध एकाकी—आत्म-भाव-वीतरागता मात्र है, जिसमें आस्रव-बंध नहीं । इसीलिए ज्ञानी जीव की प्रवृत्ति ज्ञानमयी होती है—वह आत्मा-परिणामी का चित्तवन करता है और उसके लिए अन्य सब बाह्य-निमित्त बाह्य ही होते हैं—वह उनमें लीन नहीं होता । जैनागमों का सार भी यही है कि

(पृष्ठ ४० का शेषांश)

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि गोम्मट संस्कृत के ‘मन्मथ’ शब्द का तद्भव रूप है और यह कामदेव का स्रोतक है ।

अब एक प्रश्न उठता है कि बाहुबलि की विशाल मूर्ति ‘मन्मथ’ या कामदेव क्यों कहलायी ? क्या बाहुबलि कामदेव कहलाते थे ? इसके उत्तर में कहना होगा—हाँ । जैनधर्मानुसार बाहुबलि इस युग के प्रथम कामदेव माने गये हैं । संस्कृतभाषा के ‘आदि-पुराण’ (१६।६) में, कन्नड

भाषा के कवि पद्मकृत ‘आदि-पुराण’—(८६।४२-४३) में, चामुण्डणाय पुराण में भी उनको कामदेव कहा गया है ।

श्रवणबेलगोल के न० २३४ (सन् ११६०) के शिलालेख में भी उनको कामदेव कहा गया है । इसलिये श्रवण-बेलगोल में या अन्यत्र स्थापित उनकी विशाल मूर्तियाँ उसके (मन्मथ के) तद्भवरूप ‘गोम्मट’ नाम से प्रख्यात हुई हैं ।

□□□

प्राप-पर की पहिचान पूर्वक आत्म-लाभ का उद्यम करे।

व्यवहारतः जैनागम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों में विभक्त है। इसमें कथाएँ हैं, लोक तथा जीवों के विविध भावों का वर्णन है, आचार-विधि है और षट्-द्रव्यों का विस्तृत विवेचन है। पर, इस सब विविध प्रक्रिया में मूलभूत प्रयोजन मात्र एक ही है—आत्म-निरीक्षण, परीक्षण द्वारा आत्मावलोकन करना। यदि इतने बड़े महामस्तकामिषेक का उपक्रम कर भी हम आत्म-लाभ न करें—ससार को ही बढ़ाएँ और बाहरी उठा-धरी में ही लगे रहें तो इससे बड़ा हमारा दुर्भाग्य क्या होगा, कि इन महापुरुष के पुण्यस्मरण को भी हम ससार में ही खो दें।

कहने को सभी कहते हैं कि एक दिन मरण निश्चित है, सब यही छूट जायगा, मैं किसी का नहीं और कोई मेरा नहीं। पर, इस सब कथनों पर बाहुबली की भाँति कितने अमल करते हैं, यह देखना है? जैसे हम कितने पौष्टिक पदार्थों का और कितने परिमाण में सेवन करते हैं? इसका मूल्य नहीं। मूल्य उतने मात्र का है जितने पदार्थ हम सुखद-रीति से पचा पाते हैं। वैसे ही बाह्य में हम कितना क्या करते हैं? इसका मूल्य नहीं। मूल्य उस तथ्य का है जिसे हम अपने अन्तर में उतार लेते हैं। यदि हम इस दृष्टि को लेकर चलेंगे तो हमारा भ० बाहुबली के प्रति सच्चा आदर-भाव होगा और उनके महामस्तकामिषेक का उपक्रम सार्थक होगा।

जैन दर्शन में राग का नहीं विराग का, प्रवृत्ति का नहीं निवृत्ति का मूल्य है। भ० बाहुबली ने ऐसा ही किया। जरा विचारिए—क्या हम इन दृष्टियों में ख उतरने का किञ्चित् भी प्रयत्न करते हैं? क्या हम बाह्य द्रव्यादि का त्याग करके भी प्रकारान्तर से उसकी सँभाल में ही तो नहीं लगे हैं? हम पापों से निवृत्ति कर किन्हीं बहानों से संवंधा—पुण्य प्रवृत्तियों में ही लीन होना तो नहीं चाहते? हमारा त्याग निःकाक्षित तो है यदि। शास्त्रों में तो कहा है—

‘परमाणु मित्तय पि तु रायावीणं तु विज्जवे जस्त ।

ण वि सो जाणवि अप्पणं तु सव्वागमधरोवि ॥’

‘जो तु न करेवि कंखं कम्मफलसु तह सव्वधम्मेषु ।

सो निक्कंखो वेदा सम्माविट्ठी मुजेयव्वो ॥’

वास्तव में जिस जीव के परमाणु मात्र—लेखमात्र भी रागादिक वतता है, वह जीव भले ही सर्वांगम का धारी हो तथापि आत्मा को न जानता हुआ वह अनात्मा को भी नहीं जानता। इस प्रकार जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? जो चेतयिता कर्मों के फलों के प्रति तथा सर्व धर्म के प्रति कांक्षा नहीं करता उसको निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दृष्टि टकात्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी कर्मफलों के प्रति तथा समस्त वस्तु धर्मों के प्रति कांक्षा का अभाव होने से निष्कांक्ष है।

स्वामी बाहुबली में जब राग और कांक्षा का अभाव हुआ, तभी उन्हें भगवान पद मिल सका। यद्यपि प्रागमा-नुसार उन्हें मिथ्यात्वरूप कोई शल्य नहीं थी तथापि जितने काल उनके परिणाम भरत और या अन्य किसी के प्रति विद्यमान रहे—उन्हे दीक्षित होने व सम्बन्धी तपस्या के बावजूद भी, केवलज्ञान न हो सका। अतः सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि हम प्रस्तुत महामस्तका-मिषेक के बहाने अशुभ से निवृत्ति कर शुभ-संकल्प लें और क्रमशः उन शुभों के भी त्याग का बिकल्प रखें। यही शुद्ध वस्तु की शुद्ध विचार श्रेणी है—जिसे हमें प्राप्त करना है। क्योंकि हय अनादि से संसार भ्रमण में व्यवहाररूप में सुखी और दुखी होते रहे हैं—धीरे होते रहेंगे—कोई नई बात नहीं। हमें तो ‘जो सुख आकर न जाए’ उस सुख को प्राप्त करना है और सुख की परिभाषा भी यही है। भाषा है भव्यजीव इस पुण्य अवसर से लाभ उठाएँगे और शुद्ध की और बढ़ेंगे।

भ० बाहुबली वर्ष तक घडिग रहे, उस पर लताएँ चढ़ गईं, दीमकों ने बामियाँ बना ली, उनमें सपें रहने लगे। क्या इसका मूल्य है या बे ध्यानमग्न रहे इसका मूल्य है? ये गम्भीर प्रश्न हैं, जिसका उत्तर हमें सोचना है। अर्ध्यात्मदृष्टि में तो ये सब कुछ उपादेय नहीं चलेगा। वहाँ तो वह आत्म-ध्यान ही प्राप्त होगा जिससे भरत-अनुज बाहुबली को साधक से सिद्ध बना दिया, उनको ससार से मुक्त करा दिया और जिस सबमें मूल निमित्त थी उनकी उत्कट अन्तरंग भावना—

‘मैं रहूँ प्रापमें प्राप लीन ।’

—बीरसेवामंदिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली-२

श्री गोम्मटेश संस्तवन

□ श्री नाथूराम डोंगरीय जैन, न्यायतीर्थ 'भवनीन्द्र', इन्दौर

[परमपूज्य आचार्य श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धातचक्रवर्ती विरचित प्राकृत गोम्मटेश धुदि के आचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज कृत हिंदी गद्यानुवाद पर आधारित पद्यानुवाद]

शत-शत बार विनम्र प्रणाम !

विकसित नील कमल दल सम है जिनके सुन्दर नेत्र विशाल ।

शरदचन्द्र शरमाता जिनकी निरख शात छवि, उन्नत भाल ।

चम्पक पुष्प लजाता लख कर ललित नासिका सुषमा धाम ।

विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥१॥

पय सम विमल कपोल, झूलते कर्ण कध पर्यंत नितान्त ।

सौम्य, सातिशय, सहज शांतिप्रद वीतराग मुद्राति प्रशांत ।

हस्तिशुड सम सबल भुजाएँ वन कृतकृत्य करें विश्राम ।

विश्वप्रेम उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥२॥

दिव्य संख सौदर्य विजयिनी ग्रीवा जिनकी भव्य विशाल ।

दृढ़ स्कंध लख हुआ पराजित हिमगिरि का भी उन्नत भाल ।

जग जन मन आकर्षित करती कटि सुपुष्ट जिनकी अभिराम ।

विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥३॥

विध्याचल के उच्च शिखर पर हीरक ज्यों दमके जिन भाव ।

तपःपूत सर्वांग मुखद है आत्मलीन जो देव विशाल ।

वर विराग प्रसाद शिखामणि, भुवन शांतिप्रद चन्द्र ललाम ।

विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥४॥

निर्भय बन बल्लरियाँ लिपटी पाकर जिनकी शरण उदार ।

भव्य जनो को सहज मुखद है कल्पवृक्ष सम मुख दातार ।

देवेन्द्रों द्वारा अर्चित है जिन पादारविद अभिराम ।

विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥५॥

निष्कलंक निर्गुण दिग्म्बर भय भ्रमादि परिमुक्त नितान्त ।

अम्बरादि-आसक्ति विवर्जित निर्विकार योगीन्द्र प्रशांत ।

सिंह-स्थाल-शुडाल-व्यालकृत उपसर्गों में अटल अकाम ।

विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥६॥

जिनकी सम्यग्दृष्टि विमल है आशा-अभिलाषा परिहीन ।

संभृति-मुख बाँछा से विरहित, दोष मूल अरि मोह विहीन

बन संपुष्ट विरागभाव से लिया भरत प्रति पूर्ण विराम ।

विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥७॥

अंतरंग-बहिरंग-संग धन धाम विवर्जित विभु संप्रांत ।

समभावी, मदमोह-रागजित् कामक्रोधउन्मुक्त नितान्त ।

किया वर्ष उपवास मौन रह बाहुबली चरितार्थ सुनाम ।

विश्ववंद्य उन गोम्मटेश प्रति शत-शत बार विनम्र प्रणाम ॥८॥

□ □ □

भगवान् गोम्मटेश्वर की प्रतिमा का माप

□ श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली

भ० गोमट स्वामी की प्रतिमा १३ मार्च सन् ६८१ ई० में मैसूर नरेश राचमल्ल के प्रधान सेनापति श्री चामुण्डराय ने अपनी मातु श्री के दर्शनार्थ निमित्त कराई थी। आज से ठीक हजार वर्ष पूर्व यह अपूर्व कलाकृति कैसे निमित्त हुई होगी, यह अपने आप में एक महान आश्चर्य की बात है या दैवी अनुकम्पा कहना चाहिए। इसके प्रमुख शिल्पी श्री त्यागद ब्रह्मदेव थे।

संसार में ताजमहल, ईजिप्ट (मिश्र) के पिरामिड आदि सात अद्भुत (Seven Wonders) प्रसिद्ध हैं पर बड़े खेद की बात है कि हमारे प्रचार के अभाव में अथवा जाति धर्मगत भेदभाव एवं द्वेष के कारण इस अपूर्व कलाकृति की विशेषज्ञों ने परवाह ही नहीं की अन्यथा यह सात अद्भुतों में अवश्य ही सम्मिलित की जाती। अब जब विदेशी पर्यटक आते हैं और इस अनुपम कलाकृति के दर्शन करते हैं तो भाव विभोर हो उठते हैं और भारतीय शिल्पियों की शिल्पकला की प्रशंसा एवं सराहना करते हुए नहीं आवाते हैं।

फरवरी १९८१ में इस कलाकृति का हजारवा वर्ष बड़े समारोह से सम्पन्न किया जा रहा है इस अवसर पर देश-विदेश के अनेकों दर्शनार्थी पधारेंगे सम्भवतः संयुक्तराष्ट्र संघ के विशेषज्ञ भी आवें हमारी प्रधानमन्त्री भी पहुँचेंगी मेरा सुझाव है तथा जैन समाज से अनुरोध है कि भारत सरकार के शिक्षा एवं सांस्कृतिक मंत्रालय के माध्यम से संयुक्त राष्ट्र संघ के शिक्षा सांस्कृतिक विभाग द्वारा (UNESCO) इसे (Seven Wonders) में सम्मिलित कर Eight Wonders (आठ अद्भुत) के रूप में इस कलाकृति को सम्मिलित किया जावे। यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि जैन समाज के लिए होगी।

उस युग में जब कि प्राधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियाँ नहीं थीं यातायात के साधन सीमित और धीमे थे केन

जंसी मशीनों का सर्वथा अभाव था तथा स्थापत्य कला एवं मूर्तिकला जैसी प्राधुनिक शिल्प सुविधाओं का सर्वथा अभाव था उस सक्रातिकाल में ऐसी विशाल प्रतिमा, सर्वांगीण सुन्दर एवं समचतुरस्र संस्थान वाली उच्चकोटि की ऐसी महान कलाकृति का निर्माण कर भारतीय शिल्पियों ने निश्चय ही भारतीय मूर्ति निर्माण एवं शिल्पकला के इतिहास में स्वर्णमय पृष्ठ अंकित कर दिए हैं! धन्य है वे शिल्पी और धन्य है उनको शिल्प विज्ञता, जिनके सघे हुए सुघट हाथों से अब अपने कलाबान् छनो हथौड़ों से ऐसे सुन्दर बिराट स्वरूप को उत्कीर्ण किया और विश्व की ऐसी अनुपम सर्वोत्कृष्ट कलाकृति भेंट की जो अपने वैशिष्ट्य एवं सौन्दर्य तथा कलात्मकता के लिए संपूर्ण विश्व में बड़े गौरव एवं आदर के साथ पूजी एवं अपनाई जाती है।

उपर्युक्त प्रतिमा को निमित्त हुए हजार वर्ष हो रहे हैं फरवरी १९८१ में इस मूर्ति का हजारवां वर्ष बड़े समारोह के साथ मनाया जा रहा है और सदा की भाँति महामस्तकामिषेक भी होगा और सुना है प्रथम कला भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गांधी अर्पित करेंगी (ढ़ोरेगी) यह महामस्तकामिषेक इस युग की एक महनीय अद्भुत घटना सिद्ध होगी जबकि संसार की प्राधुनिक सारी वैज्ञानिक उपलब्धियाँ इसका आगे सर्वथा तुच्छ और नगण्य सिद्ध होंगी।

उपर्युक्त प्रतिमा का माप विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से दिया है। सर्व प्रथम प्राचीन विदेशी मूर्ति विशेषज्ञ डा० बुन्नन ने इसकी ऊँचाई ७० फीट ३ इंच लिखी है। इसके बाद सर आर्थर बेन्जली ने इसकी ऊँचाई ६० फी० ३ इ० लिखी है। सन् १८६५ में मैसूर राज्य के तत्कालीन चीफ कमिशनर श्री वीरिंग ने इस प्रतिमा का ठीक-ठीक माप कराकर केवल ५७ फी० ही लिखा है। सन् १८७१ में महामस्तकामिषेक के समय मैसूर के सरकारी

अक्षरों ने इस प्रतिमा के प्रत्येक भाग का नाप लिया था जो निम्नप्रकार है—

चरण से कर्ण के अग्रभाग तक ५० फी० । कर्ण के अग्रभाग से मस्तक तक लगभग ६ फीट ६ इ० । चरण की लम्बाई ६ फी० । चरण के अग्रभाग की चौड़ाई ४ फी० ६ इंच । चरण का अंगुष्ठ २ फी० ६ इंच । पाद पृष्ठ के ऊपर की गुलाई ६ फी० ४ इंच । जघा की गर्ध गुलाई १० फी० । नितम्ब से कर्ण तक २० फी० । नाभि के नीचे उदर की चौड़ाई १३ फी० । कटि की चौड़ाई १० फी० । कटि और टेढ़नी से कर्ण तक ७ फी० । वक्षस्थल की चौड़ाई २६ फीट । श्रोत्रा के अग्रभाग से कर्ण तक २ फी० ६ इंच । तर्जनी की लम्बाई ३ फी० ६ इंच । मध्यमा की लम्बाई ५ फी० ३ इ० । अनामिका की लम्बाई ४ फी० ७ इ० । कनिष्ठिका की लम्बाई २ फी० ८ इ० ।

पर इससे भी अधिक प्रामाणिक नाप हमें 'सरस जन चिन्तामणि' काव्य के कर्ता कवि चक्रवर्ती पंडित शान्तराज द्वारा निमित १६ श्लोको से प्राप्त होता है जो निम्न प्रकार है । यह नाप पंडित शान्तराज जी ने अब से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व सन् १८२५ में तत्कालीन मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर तृतीय के आदेश पर किया था यह नाप हस्त और अंगुली में है जो पूर्णतया प्रामाणिक है आज भी प्रत्येक भाग श्लोक में वर्णित हस्त और अंगुली में बिल्कुल ठीक-ठीक उतरता है केवल चरण के अंगुष्ठ में कुछ अंतर है । कविशान्तराज द्वारा निमित २ श्लोक निम्न प्रकार है ।

जयति खेलुगुल श्री गोमटेशस्य मूर्तिः,

परिमितिमधुनामहवचमि संवत् हर्षत् ।

स्व समय जनाना भावनादेशनार्थम्,

पर समय जनानामद्भुतार्थं च साक्षात् ॥१॥

पादान्मस्तकमध्यदेशचरम पादार्धं युग्मात् षट्,
त्रिषष्टहस्तमितोच्छ्रयास्तिहि यथा श्री दोर्वलिस्वामिनः ।
पादाद्विंशतिहस्तसन्निधिमितिर्नाम्न्यस्तमस्त्युच्छ्रय,
पादार्धान्वित षोडशोच्छ्रयभरो भाभेविशरोरान्त तथा ॥२॥

बुद्धकर्मधर्मपयन्त श्रीमद्वाहुबलीशिनः

अस्त्यङ्गुलित्रयी युक्तहस्तषट्कप्रमोक्ष्यः ॥३॥

पादत्रयाधिक्य युक्त द्विहस्त प्रमितोच्छ्रयः ।

प्रत्येकं कर्णयोरस्ति भगवद्दोर्वलीशिनः ॥४॥

पश्चाद्भुजबलीशस्य त्रियंभागीस्ति कर्णयोः ।

अष्टहस्तप्रमोक्ष्यः प्रमाकृद्भिः प्रकीर्तित ॥५॥

सौमन्देः परितः कष्ट त्रियंगुलि मनोहरम् ।

पादत्रयाधिक दशहस्तप्रमिन्दीर्घतर ॥६॥

मुनन्दातनुत्रस्यास्ति पुरस्तात्कष्ट रुच्छ्रयः ।

पादत्रयाधिक्य युक्त हस्त प्रमिति निश्चयः ॥७॥

भगवद्गोमटेशस्यासयोरन्तरमस्य वै ।

त्रियंगायतिरस्यैव खलु षोडश हस्तमा ॥८॥

वसवचूचुक सलक्ष्य रेखा द्वितय दीर्घता ।

नवांगुलाधिक्ययुक्त चतुर्हस्तप्रमेशितुः ॥९॥

परितोमध्यमेतस्य परीतत्वेन विस्तृतः ।

अस्ति विंशतिहस्ताना प्रमाण दोर्वलीशिनः ॥१०॥

मध्यमांगुलिपर्यन्तं स्कन्धाद्दोर्वलीशितुः ।

बाहुयुग्मस्य पादाम्या युताष्टादश हस्त मा ॥११॥

मणिबन्धस्यास्य त्रियंक्वपरीतत्वात्समन्ततः ।

द्विपादाधिक षडहस्त प्रमाण परिगण्यते ॥१२॥

हस्तागुष्ठोच्छ्रयोस्त्यस्यैकागुष्ठात्पदद्विहस्त मा ।

लक्ष्यते गोमटेशस्य जगदाश्चर्यकारिणः ॥१३॥

पादागुष्ठस्यास्य दैर्घ्यं द्विपादाधिकता भुजः ।

चतुष्टयस्य हस्ताना प्रणाममिति निश्चिनम् ॥१४॥

दिश्य श्रीपाद दीर्घत्वं भगवद्गोमटेशिनः ।

सैर्कागुल चतुर्हस्त प्रमाणमिति वर्णितम् ॥१५॥

श्रीमत्कृष्णनराल कारित महाससक पूजोत्सवे,

शिष्टया तस्य कटाक्षरोचिरमृत स्नातेन शान्तेन वै ।

आनीत कवि चक्रवर्त्युत्तर श्री शान्त राजेन तद्,

बोध्यैस्त्वं परिमाण लक्षणमिहाकारीवमेतद्विभोः ॥१६॥

उपर्युक्त पं० शान्तराजकृत १६ श्लोको का सारांश

निम्न प्रकार है—

चरण से मस्तक तक ३६^१/_२ हस्त । चरण से नाभि तक २० हस्त । नाभि से मस्तक तक १६^१/_२ हस्त । बिबूक से मस्तक तक ६ हस्त ३ अंगुल । कर्ण की लम्बाई २^३/_४ हस्त ! एक कर्ण से दूसरे कर्ण तक चौड़ाई ८ हस्त । गले की गुलाई १०-३/४ हस्त । गले की लम्बाई १-३/४ हस्त/एक कक्षे से दूसरे कक्षे तक चौड़ाई १६ हाथ । स्तनमुख की मोल रेखा ४ हस्त । कटि की गुलाई २० हस्त । कक्षे से मध्यमा अंगुली तक १८-१/२ हस्त । कलाई की गुलाई

६-१/४ हस्त । अंगुष्ठ की लम्बाई २-१/४ हस्त । चरण का अंगुष्ठ ४-१/२ (१) चरण की लम्बाई ४ हस्त । अंगुल ।

उपर्युक्त विभिन्न नापों में पं० शान्तराज का नाभ बहुत अधिक प्रामाणिक और ऐतिहासिक है अब आवश्यकता है । इसे मीटर और सेंटीमीटरों में बदलने की जिससे आधुनिक गणित विशेषज्ञ इस प्रतिमा की निर्माण पद्धति से परिचित हो सके और उन शिल्पियों और कलाकार के गणित ज्ञान को सराह सकें जिन्होंने मूर्ति के समचतुरस्र निर्माण में कहीं भी त्रुटि नहीं की और जो भाग जिस जगह जितना लंबा-चौड़ा, ऊँचा-मोटा होना चाहिए था उसे उतना ही रखा उसमें रूच मात्र भी अंतर नहीं आने दिया । और मूर्ति की सुघडाई एवं मौल्य में तेनिक सी भी त्रुटि नहीं आने दी । अन्यथा मनुष्य तो भूलों का पुतला है कहीं भी भूल हो सानी थी पर इसे दैवी अनुकम्पा और प्रभु का वरदान समझना चाहिए और शिल्पियों की भगवद्भक्ति एवं मनोयोग पूर्वक की गई साधना और तपस्या ही उन्हें इस शुभ कार्य में सफलता दिला सकी । और वे शिल्पी आज हजार वर्ष बाद भी कोटि-कोटि जनों के बंदनीय है और भविष्य में भी जब तक भ० बाहुबली की प्रतिमा विश्वमान रहेगी वे शिल्पी कोटिशः बंदनीय रहेंगे और भारत का मूर्ति निर्माण का इतिहास उन्हें कदापि न भुला सकेगा ।

उपर्युक्त पं० शान्तराज के हस्त एवं अंगुल माप को फुट इंच में बदलने के लिए १८ इंच का (हस्त) तथा १.४ अंगुल का एक इंच यदि मान लें तो करीब-करीब प्रतिमा की ऊँचाई का मेल खा जाता है । श्री डा० जैनेन्द्र जैन इन्दौर ने साप्ताहिक हिन्दुस्तान के वर्ष ३१ अंक में (७ मे १३ दिसंबर ८०) में बावनगजा का लेख लिखते हुए इस प्रतिमा की ऊँचाई १७.२ मीटर दी हुई है पं० शान्तराज के अनुसार इसकी ऊँचाई १६.६६ मीटर निकलती है बहरहाल पुरातत्व विदों से अनुरोध है कि इस वर्ष में इस प्रतिमा का स्टैंडर्ड माप प्राचीन नापों का तुलनात्मक अध्ययन कर सुनिश्चित अवश्य ही करना चाहिए जिससे आने वाली भावी पीढ़ी किसी तरह के भ्रम में न रहें । मैंने विभिन्न नापों की मीटर सेंटीमीटर में व्यवस्था का जो दुस्साहस किया है उसे सुविज्ञ सुखी पाठक

समा करेंगे और यदि कहीं कोई त्रुटि हो तो मुझे अवगत कराने की महती अनुकम्पा करें मैं इस अनुगृहीत होऊँगा । सिस्टर बुथानन के अनुसार यह २१ मी० पर से० है । श्री प्रार्थर वेल्सली के अनुसार १८ मी० ३६ से० है । मि० वीरिंग के अनुसार १७ मी० ३७ से० है । डा० जैनेन्द्र जैन इन्दौर के अनुसार १७ मी० २ से० है और पं० शान्तराज के अनुसार १६ मी० ६ से० निकलती है ।

चूँकि मि० वीरिंग १८६५ का माप प्रायः प्रचलित है इसलिए उनके अनुसार विभिन्न अंगों का माप मीटर सेंटीमीटर में निम्न प्रकार है । चरण से कर्ण के अधोभाग तक १५ मी० २४ से० । कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक लगभग १ मी० ६८ से० । चरण की लम्बाई २ मी० ७४ से० । चरण के अधोभाग की चौड़ाई १ मी० ३७ से० । चरण का अंगुष्ठ ८४ से० । पादपृष्ठ की ऊपर की गुलाई १ मी० ६३ से० । जघा की अर्ध गुलाई ३ मी० ५ से० । नितम्ब से वर्ण तक ७ मी० ४७ से० । पृष्ठ अस्थि के अधोभाग से कर्ण तक ६ मी० १० से० । नाभि के नीचे उदर की चौड़ाई ३ मी० ६६ से० । कटि की चौड़ाई ३ मी० ०५ से० । कटि और टेढ़नी से कर्ण तक ५ मी० १८ से० । बाहू मूल से कर्ण तक २ मी० १३ से० । वक्षस्थली की चौड़ाई ७ मी० ६२ से० । ग्रीवा के अधोभाग से कर्ण तक ७६ से० । तर्जनी की लम्बाई १ मी० ०७ से० । मध्यमा की लम्बाई १ मी० ६० से० । अनामिका की लम्बाई १ मी० ४० से० । कनिष्ठिका की लम्बाई ८१ से० ।

इतने पर भी मेरा विश्वास पं० शान्तराज के माप पर अधिक है अतः उसे कोई गणित विशेषज्ञ विद्वान् मी० से० में परिवर्तित कर नई पीढ़ी के लिए विशेष मार्गदर्शन करेगा । मैं श्री लक्ष्मचंद जी सीहोर से अनुरोध करूँगा कि वे इस कार्य की सुगमता से कर सकेंगे ।

अंतः मैं इस लेख के लिए स्व० डा० हीरालाल जी नागपुर का आभारी हूँ जिनके द्वारा सकलित सामग्री का इसमें उपयोग हो सका । □ □ □

श्रुतकुटीर, ६८ कुर्ती मार्ग,
विश्वासनगर, शाहदरा दिल्ली-११००३२

बाहुबली : स्वतन्त्र चेतना का हस्ताक्षर

□ युवाचार्य महाप्रज्ञ

श्रवणबेलगोला में भगवान बाहुबली की विशाल प्रतिमा एक प्रश्नचिह्न है और एक अनुचरित प्रश्न का समाधान भी है। क्या मनुष्य शरीर इतना विशाल हो सकता है? हजारों-हजारों वर्ष पहले कोई मीर मण्डल का ऐसा प्रभाव रहा होगा, मनुष्य ने विशाल शरीर पाया होगा। उसकी पुष्टि में अभी कोई तर्क प्रस्तुत नहीं करना है। वर्तमान की समस्या का वर्तमान के सन्दर्भ में समाधान खोजना है। कभी-कभी बाहरी उपकरण मनुष्य की अन्तरात्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं। भगवान बाहुबली की विशाल प्रतिमा का रहस्य उनकी अन्तरात्मा की विशालता में खोजा जा सकता है। स्वाभिमान, स्वतन्त्रता और त्याग की विशालता में बाहुबली प्रसाधारण है। यह विशाल प्रतिमा उसी विशाल व्यक्तित्व का एक प्राणवान दर्शन है।

भरत टिग्विजय कर अपनी राजधानी अयोध्या में पहुँचा। सेनापति सुषेण ने कहा, “चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है।” भरत ने जिज्ञासा के स्वर में कहा—“क्या कोई राजा अभी बचा है, जो अयोध्या के अनुशासन को शिरोधार्य न करे? सेनापति बोला—“कोई बचा है इसलिए चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है” कौन बचा है वह? अपनी स्मृति पर दबाव डालते हुए भरत ने कहा। सेनापति फिर भी मौन रहा। भरत की उसका मौन अच्छा नहीं लगा। उसने झुंझलाहट के साथ कहा—“लगता है, तुम मुझ से कुछ छिपा रहे हो। तुम सकुचा रहे हो। मौन भग नहीं कर रहे हो”। सेनापति बोला—“क्या कहूँ? समस्या घर की है। पराए सब राजे जीत लिए गये हैं। कोई बाकी बचा है तो वह अपना ही है” ‘क्या बाहुबली बचा है’ भरत के मुख से प्रचलित यह नाम निकल गया। “मेरा वह भाई है। फिर वह कैसे अवरोध पैदा करेगा मेरे चक्रवर्ती होने में?

सेनापति ने विनम्र स्वर में कहा—‘सम्राट, मैं नहीं कहता, वह अवरोध पैदा करेगा। यह मैं कह सकता हूँ चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है? उसका कारण बाहुबली का आपके चक्रवर्तित्व में विश्वास न होना ही है।

भरत ने सेनापति से विमर्श कर बाहुबली के पास अपने दूत को भेजा। दूत तक्षशिला में पहुँच बाहुबली के सामने उपस्थित हो गया। बाहुबली ने भरत का कुशल खेम पूछा। दूत बाहुबली के तेज से अभिभूत हो गया। वह मौन रहा। कहना चाहते हुए भी कुछ न कह पाया। बाहुबली ने उसकी आकृति को पढ़ा। स्वयं बोले—“भाई भरत में और मुझ में आज प्रेम और सोहार्द है पर क्या करें? हम दोनों के बीच देशान्तर आ गया जिस प्रकार प्रेम से भीगी हुई आँखों के बीच नाक आ जाता है दूत! पहले मैं भाई के बिना मुहूर्त भर भी नहीं रहा सकता था। किन्तु आज मेरी आँखें उसे देखने को प्यासी हैं। वे उपवास कर रही हैं। उसे देख नहीं पा रही हैं। इसलिए ये दिन मेरे व्यर्थ बीत रहे हैं। मैं उस प्रीति को स्वीकार नहीं करता जिसमें विरह होता है। यदि हम वियुक्त होकर भी जी रहे हैं तो हमें प्रीति नहीं रीति ही समझना चाहिए” —दूत बाहुबली की बातें सुन पुलकित हो उठा। उसने सोचा—मुझे भरत का सन्देश बाहुबली को देना ही नहीं पड़ा। यह भरत से प्यार करता है। मुझे पूरा विश्वास है कि मुझे धकेला नहीं लौटना पड़ेगा। मैं बाहुबली के साथ ही भरत के चरणों में उपस्थित होऊँगा। दूत नहीं जानता था कि प्रेम और स्वतन्त्रता दोनों अलग-अलग हैं। बाहुबली प्रेम करना जानता है, पर स्वतन्त्रता को बेचना नहीं। बाहुबली ने दूत के स्वप्न को भग करते हुए कहा “दूत, पिताश्री ने मुझे एक स्वतन्त्र राज्य सौंपा है, इसलिए मैं अयोध्या जा नहीं सकता। मेरा हृदय वहाँ

जाने के लिए वैसे ही उत्कण्ठित है, जैसे रात के समय चकवा चकवी से मिलने के लिए उत्कण्ठित रहता है। दूत ! तुम बोलो, मीन क्यों बैठे हो ? भरत ने तुमको किस लिए यहाँ भेजा है, उसे स्पष्ट करो”। बाहुबली की वाणी से दूत कुछ त्राण-संचार हुआ वह साहस बटोर कर बोला —“महाराज ! आपको पता है आपके भाई भरत दिग्विजय कर प्रयोध्या लौट चुके हैं। उनकी सभा में संसार के सभी राजे हैं वे सभी सम्राट के सामने नतमस्तक हैं, सम्राट की आज्ञा को शिरोधार्य किए हुए हैं। उनकी उपस्थिति में आपकी अनुपस्थिति सम्राट को खल रही है। वे चाहते हैं आप उस महापरिषद में उपस्थित हों उनकी आज्ञा शिरोधार्य करें”। परामर्श मांगे बिना ही दूत अपना परामर्श दे बैठा —“सम्राट ने जो कहलाया है, उसे मैं भी उचित मानता हूँ। आपके हित की दृष्टि से कहना चाहता हूँ कि आप उनकी इच्छा का मूल्यांकन करें। आप यह सोचकर निश्चित हैं कि भरत मेरा भाई है, किन्तु ऐसा सोचना उचित नहीं है। क्योंकि राजाओं के साथ परिचय करना अन्ततः सुखद नहीं होता। यद्यपि आप बलवान हैं, फिर भी कहीं सावंभीम सम्राट भरत और कहा एक देश के अधिपति आप। दीपक कितना भी बड़ा हो, वह एक ही घर को प्रकाशित करता है, सारे जगत को प्रकाशित करने वाला तो सूर्य ही है”।

दूत की वाचालता ने बाहुबली की शीर्ष ज्वाला को प्रदीप्त कर दिया। वे बोल—ऋषभ के पुत्रों के लिए राजाओं को जीत लेना कौन सी बड़ी बात है ? मुझे जीते बिना ही भरत सावंभीम चक्रवर्ती बनकर दण्ड कर रहा है, यह बहुत आश्चर्य की बात है। आज तक मेरे लिए भाई भरत पिता की भाँति पूज्य था, किन्तु आज से वह मेरा विरोधी है। वह अपने छोटे भाइयों के राज्यो का हृदय कर भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। अब मुझ पर अपनी आज्ञा थोपना चाहता है और मेरे राज्य को अपने अधीन करना चाहता है। पर, मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। मेरे निम्नान्वे भाई राज्य को छोड़ पिता के पास चले गए—मृनि बन गए। वैसे ही मैं भी चला जाऊँगा ? उन्होंने संघर्ष को टालने के लिए वैया किया, किन्तु मैं ऐसा नहीं

होने दूंगा। मैं उनकी भाँति लीबा नहीं, अपना पराक्रम दिखाने के बाद जाऊँगा। दूत ! तुम लीज जाओ और भरत से कहो—हम अपनी मर्यादा का लोप न करें। यदि तुमने युद्ध लाद दिया तो मैं पीछे नहीं रहूँगा। जय पराजय की कथा दुनियाँ कहेगी। मैं संघर्ष से नहीं घबड़ाता। मुझे केवल एक ही चिन्ता है कि भगवान ऋषभ ने सारे संसार को मर्यादा, व्यवस्था और अनुशासन का पाठ पढ़ाया। हम दोनों युद्ध में उतरेंगे तो लोग क्या कहेंगे। इतिहास लिखा जाएगा, भगवान ने व्यवस्था दी और उनके पुत्रों ने ही सबसे पहले उस व्यवस्था को तोड़ा। भाई-भाई की लड़ाई के लिए भरत-बाहुबली की लड़ाई उदाहरण बन जाएगी।

दूत हतप्रभ हो बाहुबली की उदात्त वाणी को सुनता रहा। वह बाहुबली से बिदा ले भरत के पास पहुँच गया। बाहुबली ने जो कहा, वह भरत को बता दिया।

क्या भरत बाहुबली से युद्ध करना नहीं चाहता था। नहीं क्यों चाहता था, चक्रवर्ती बनने की आकांक्षा है तो वह युद्ध चाहता ही था। भरत ने विजय यात्रा के लिए प्रयाण कर दिया। बाहुबली भी रणभूमि में आ गया। दोनों की सेनाएँ आमने-सामने टट गईं। परस्पर युद्ध हुआ। मानवीय हित के पक्ष में सेना का युद्ध स्फुटित हो गया। भरत और बाहुबली दोनों ने परस्पर युद्ध करने का निर्णय लिया। उन्होंने दृष्टि युद्ध, मृष्टि युद्ध, शब्द युद्ध और गष्टि युद्ध—ये चार युद्ध निश्चित किए। भरत और बाहुबली की का दृष्टि युद्ध कुछ प्रहरों तक चला। उनकी प्रतिमण्डपों में एक दूसरे को घूर रही थी। भीगी हुई पलकों के प्रन्तराल में तारायें दूब रही थी। भरत को दोनों भाइयों आँत हो गई। बाहुबली वैसे ही एकटक निहारते रहे। भरत पराजित हो गया। मृष्टि युद्ध, शब्द युद्ध और गष्टि युद्ध में भी भरत को पराजय मिली। पराजित भरत ने मर्यादा का अतिक्रमण कर बाहुबली पर चक्र अस्त्र का प्रयोग किया। चक्र बाहुबली के पास गया। प्रवर्धना कर भरत के पास लौट आया। चक्र वह आत्मीय वनों पर प्रहार नहीं करता।

(लेख पृ० ५३ पर)

बाहुबली और दक्षिण की जैन परम्परा

□ श्री टी० एन० रामचन्द्रन्

मैसूर में श्रवणबेलगोल नगर में विजयगिरि पर्वत पर जो गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति है, वह प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की महारानी सुनन्दा के पुत्र बाहुबली की है। दक्षिण भारत में जैन धर्म का स्वर्णयुग साधारणतया और कर्नाटक में विशेषतया गंगवंश के शासकों के समय में था, जिन्होंने जैन धर्म को राष्ट्र-धर्म के रूप में अंगीकार किया था। महान् जैन-आचार्य सिद्धन्तो गंगराष्ट्र की नींव डालने के ही निमित्त न थे, बल्कि गंगराष्ट्र के प्रथम नरेश कर्णगुणवर्मन के परामर्शदाता भी थे। माधव (द्वितीय) ने दिगम्बर जैनों को दानपत्र दिये। इनका राज्यकाल ईसा के ४५०-४६५ रहा है। दुर्विनीत को वन्दनीय पूज्य-पादाचार्य के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इनका राज्यकाल ई० ६०५ से ६५० रहा है। ई० ६५० में दुर्विनीत के पुत्र मुशकारा ने जैनधर्म को राष्ट्रधर्म घोषित किया। बाद के गंग-शासक जैनधर्म के कट्टर संरक्षक रहे हैं। गगनरेश मारसिंह (तृतीय) के समय में उनके सेनापति चामुण्डराय ने श्रवणबेलगोल में गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति का निर्माण करवाया। मारसिंह का राज्य-काल ईसा की ६६१-६७४ रहा है। जैनधर्म में जो अपूर्व स्थान कहा जाता है, मारसिंह ने उस सल्लेखना द्वारा देहोत्सर्ग करके अपने जीवन को समर्पित किया। राजमल्ल (प्रथम) ने मद्रास राज्यान्तर्गत उत्तरी आरकोट जिले में जैन गुफाएँ बनवाईं। इनका राज्यकाल ई० ८१७-८२८ रहा है। इनका पुत्र नीतिमार्ग एक अच्छा जैन था।

बाहुबली के त्याग और गहन तपश्चर्या की कथा को गुणप्राप्ति जैनों ने बड़ा महत्त्व दिया है और एक महान् प्रस्तर खण्ड की विशाल मूर्ति बना कर उसके सिद्धान्तों का प्रचार किया है, जो इस बात का द्योतक है कि बाहुबली की उक्त मूर्ति त्याग, भक्ति, ग्रहस्था और परम आनन्द की प्रतीक है। इस मूर्ति की पृष्ठभूमि विस्तीर्णता,

पूर्णता और अभ्यक्त आनन्द की जनक है और मूर्ति की अग्रभूमि काल, अन्तर, भक्ति और नित्यता की उद्बोधक है। यद्यपि दक्षिण भारत में कारकल और वेणूर में भी बाहुबली की विशाल मूर्तियाँ एक ही पाषाण में उत्कीर्ण की हुई हैं तथापि श्रवणबेलगोल की यह मूर्ति सबसे अधिक आकर्षक होने के कारण सर्वश्रेष्ठ है।

बाहुबली की मूर्ति का इतिवृत्त हमें दक्षिण भारत के जैनधर्म के रोचक इतिहास की ओर ले जाता है। श्रवण-बेलगोल में उत्कीर्ण शिलालेखों के आधार पर इस बात का पता लगता है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु १२००० जैन श्रमणों का सव लेकर उत्तरापथ से दक्षिणापथ को गये थे। उनके साथ चन्द्रगुप्त भी थे। प्रोफेसर जेकोबी का अनुमान है कि यह देशाटन ईसा से २६७ वर्ष से कुछ पूर्व हुआ था। भद्रबाहु ने अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने से पूर्व ही मार्ग में चन्द्र-धिर पर्वत पर समाधिमरण-पूर्वक देह का विसर्जन किया। इस देशाटन की महत्ता इस बात की सूचक है कि दक्षिण भारत में जैनधर्म की व्यापक प्रभावना इसी समय में हुई है। इसी देशाटन के समय से जैन श्रमण-संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर दो भागों में विभक्त हुआ है। भद्रबाहु के संघ नमन की देखकर कालिकाचार्य और विशाखाचार्य के संघ ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। विशाखाचार्य दिगम्बर सम्प्रदाय के महान् आचार्य थे जो दक्षिण भारत के चोल और पांड्य देश में गये। महान् आचार्य कुन्दकुण्ड के समय में तामिल देश में जैनधर्म की क्याति में और भी वृद्धि हुई। कुन्दकुण्डाचार्य द्राविण थे और स्पष्टतया दक्षिण भारत के आचार्यों में प्रथम थे। कांचीपुर और मदुरा के राजदरबार तामिल देश में जैनधर्म के प्रचार में विशेष सहायक थे। जब चीनी यात्री सुवान चुवांग ईसा की ७वीं शताब्दी में इन दोनों नगरों में गया तो उसने,

कांची में अधिकतर दिगम्बर जैन मन्दिर पाये और मदुरा में दिगम्बर जैन धर्मविलम्बी ।

इतिहासज्ञ इस बात को स्वीकार करते हैं कि ईसा से १२वीं शताब्दी तक दक्षिण भारत में जैनधर्म सबसे अधिक शक्तिशाली, आकर्षक और स्वीकार्य धर्म था । उसी समय वैष्णव आचार्य रामानुज ने विष्णुवर्द्धन को जैनधर्म का परित्याग कराकर वैष्णव बनाया था ।

कांचीपुर के एक परलव नरेश महेन्द्रवर्मन (प्रथम) राज्यकाल ६०० से ६३० ई०, पांड्य, पश्चिमी चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट, कलचूरी और होयशल वंश के बहुत से राजा जैन थे । महेन्द्रवर्मन के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह पहले जैन थे, किन्तु धरमसेन मुनि जब जैनधर्म को त्याग कर शैव हो गये तो उनके साथ महेन्द्रवर्मन भी शैव हो गया । शैव होने पर धरमसेन ने अपना नाम अप्पड़ रखा ।

आठवीं शताब्दी का एक पांड्य नरेश नेदुमारन अपर नाम कुणपाड्या जैनधर्मविलम्बी था और तामिल भाषा के शैव ग्रन्थों के अनुसार शैवाचार्य सम्बन्ध के ने उससे जैनधर्म छुड़ाया ।

कर्नाटक में बनवासी के कादम्ब शासकों में कुकुस्थवर्मन (४३० से ४५० ई०) मृगेशवर्मन (४७५ से ४९० ई०), रविवर्मन (४९७ से ५३७) और हरीवर्मन (५३७ से ५४७) यद्यपि हिंदू थे तथापि उनकी बहुत-सी प्रजा के जैन होने के कारण वे भी यथाक्रम जैनधर्म के अनुकूल थे । कुकुस्थवर्मन ने अपने एक लेख के अन्त में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को नमस्कार किया है । उसके पोते मृगेशवर्मन ने ब्रजयन्ती में घर्हंतो के धर्म बहुत-सी भूमि प्रदान की । धर्म्य और समय में कालबंग ग्राम की तीन भागों में विभक्त किया । पहला भाग उसने जिनेन्द्र भगवान को अर्पण किया, दूसरा भाग श्वेतपथ वालों और तीसरा भाग निर्धन्य को । पालासिका (हालसी) में रविवर्मन ने एक ग्राम इसलिए दान में दिया कि उसकी ग्रामदनी से हर वर्ष जिनेन्द्र भगवान् का उत्सव मनाया जाय । हरि-कर्म ने भी जैवियों को बहुत दानपत्र दिये ।

पश्चिमी चालुक्य वंश के शासक जैनधर्म की संरक्षकता के लिए प्रख्यात थे । महाराज जयसिंह (प्रथम) ने दिगंबर

जैनाचार्य गुणचन्द्र, बासुचन्द्र और बादिराज की अपनाया । पुलकेशी (प्रथम) ५५० ई० और उसके पुत्र कीर्तिवर्मन (प्रथम) राज्यकाल ५६६ से ६७ ई० ने जैन मन्दिरों को कई दानपत्र दिये । कीर्तिवर्मन का पुत्र पुलकेशी (द्वितीय) (राज्यकाल ६०६ से ६४२ ई०) प्रख्यात जैन कवि रविकीर्ति का उपासक था, जिन्होंने ऐहोल नामक ग्रंथ रचा । इसमें रविकीर्ति को कविताचातुरी के लिए कालिदास और भैरवि से उपमा दी । ऐहोल ग्रंथ के कथनानुसार रविकीर्ति ने जिनेन्द्र भगवान् का एक पाषाण का मन्दिर भी बनवाया । रविकीर्ति को सत्याश्रम (पुलकेशी) का बहुत संरक्षण था और सत्याश्रम के राज्य की सीमा तीन समुद्रों तक थी । पूज्यपाद के शिष्य निरवध पंडित (उदयदेव) जयसिंह (द्वितीय) के राज्यगुरु थे और विनयादित्य (६८० से ६९७ ई०) और उनके पुत्र विजयादित्य (६९९ से ७३३ ई०) ने निरवध पंडित को जैन-मन्दिर की रक्षा के लिए एक ग्राम दिया । उसके पुत्र विक्रमादित्य (द्वितीय) ने (राज्यकाल ७३३ से ७४७ ई०) एक जैन मन्दिर की भली प्रकार मरम्मत कराई और एक दूसरे जैन साधु विजय पंडित को इस मन्दिर की रक्षा के लिए कुछ दान दिया । किन्तु वास्तव में जैनधर्म का स्वर्णयुग गंग-राष्ट्र के शासकों के समय में था और यह पहले ही बताया जा चुका है कि श्रवणबेलगोल में मारसिंह (तृतीय) के सेनापति चामुण्डराय ने बाहुबली की अविनश्वर मूर्ति बनवाई । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गंगराष्ट्र के शासक कट्टर जैन थे ।

राष्ट्रकूट वंश के शासक भी जैनधर्म के महान संरक्षक रहे हैं । गोविंद (तृतीय) (राज्यकाल ७९८ से ८१५ ई०) महान् जैनाचार्य अरिकीर्ति का संरक्षक था । उसके पुत्र अमोघवर्ष (प्रथम) राज्यकाल ८१४ से ८७८ ई० को जियसेनाचार्य के चरणों में बैठने का सीमाय प्राप्त हुआ । आचार्य त्रिनसेनाचार्य के चरणों में बैठने का सीमाय प्राप्त हुआ । आचार्य त्रिनसेन गुणभद्र के गुरु थे । इन्होंने सन् ७८३-८४ में गोविंद (तृतीय) के समय में आदि-पुराण के प्रथम भाग की रचना की और उसका उत्तरार्द्ध गुणभद्राचार्य ने सन् ८६७ में अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी कृष्ण (द्वितीय) के राज्यकाल ८८० से ९१२ में पूर्ण

किया। अमोघवर्ष प्रथम के समय में राष्ट्रकूट की राजधानी में 'हरिवंशपुराण', 'मादिपुराण' और उत्तर पुराण, अकलंक चरित, जयध्वला टीका आदि ग्रंथों की रचना हुई है। जयध्वला टीका विष्णुवर्द्धन जैन सिद्धांत का एक महान् ग्रन्थ है। यहीं पर वीराचार्य ने गणित शास्त्र का 'सार-संग्रह' नाम का एक ग्रन्थ रचा। अमोघवर्ष ने स्वयं नीतिशास्त्र पर एक 'प्रश्नोत्तर रत्नमालिका' बनाई। संक्षेप में, अमोघवर्ष (प्रथम) के समय में यह कहा जाता है कि उसने दिगम्बर जैनधर्म स्वीकार किया था और वह अपने समय में दिगम्बर जैनधर्म का सर्वश्रेष्ठ संरक्षक था। कृष्ण (द्वितीय) के राज्यकाल में उसकी प्रजा और सरदारों ने या तो स्वयं मन्दिर बनवाये, या बने हुए मन्दिरों को दान दिया। शक सवत् ८२० में गुणभद्राचार्य के शिष्य लोकसेन ने महापुराण की पूजा की।

यद्यपि कल्याणी के चालुक्य जैन नहीं थे, तथापि हमारे पास सोमेश्वर (प्रथम) १०४२ से १०६८ ई० का उत्तम उदाहरण है, जिन्होंने श्रवणबेलगोल के शिलालेखानुसार एक जैनाचार्य को 'शब्दचतुर्मुख' की उपाधि से विभूषित किया था। इस शिलालेख में सोमेश्वर को 'माहवमल्ल' कहा है।

तामिल देश के चोल राजाओं के सम्बन्ध में यह धारणा निराधार है कि उन्होंने जैनधर्म का विरोध किया। जिनकांची के शिलालेखों से यह बात भली प्रकार विदित होती है कि उन्होंने आचार्य चन्द्रकीर्ति और अनवरथवीर्य वर्मन की रचनाओं की प्रशंसा की। चोल राजाओं द्वारा जिनकांची के मन्दिरों को पर्याप्त सहायता मिलती रही है।

कलचूरि वंश के संस्थापक त्रिभुवनमल्ल विजयल राज्यकाल ११५६ से ११६७ ई० के तमाम दान-पत्रों में एक जैन तीर्थंकर का चित्र अंकित था। वह स्वयं जैन था। अनन्तर वह अपने मंत्री वासव के दुष्प्रयत्न से मारा गया; क्योंकि उसने वासव के कहने से जैनियों को संताप देने से इनकार कर दिया था। वासव लिगायत सम्प्रदाय का संस्थापक था।

मैसूर के होयसल शासक जैन रहे हैं। विनयादित्य (द्वितीय) राज्यकाल १०४७ से ११०० ई० तक इस वंश का ऐतिहासिक व्यक्ति रहा है। जैनाचार्य शान्तिदेव ने

उसकी बहुत सहायता की थी। विष्णुवर्द्धन की रानी शान्तलादेवी जैनाचार्य प्रभाचन्द्र की शिष्या थी और विष्णुवर्द्धन के मंत्री गगराज और हुल्ला ने जैनधर्म का बहुत प्रचार किया अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पहले होयसल नरेश जैन थे। विष्णुवर्द्धन अपरनाम 'विट्टी' रामानुजाचार्य के प्रभाव में आकर वैष्णव हो गये। विट्टी वैष्णव होने से पहले कट्टर जैन था और वैष्णव शास्त्रों में उसका वैष्णव हो जाना एक आश्चर्यजनक घटना कही जाती है। इस कहावत पर विश्वास नहीं किया जाता कि उसने रामानुज का आज्ञा से जैनो को संताप दिया; क्योंकि उसकी रानी शान्तलादेवी जैन रही और विष्णुवर्द्धन की अनुमति से जैन मंदिरों को दान देती रही। विष्णुवर्द्धन के मंत्री गगराज की सवाएँ जैनधर्म के लिए प्रयत्न है। विष्णुवर्द्धन ने वैष्णव हो जाने के पश्चात् स्वयं जैन मंदिरों को दान दिया, उनकी मरम्मत कराई और उनकी मूर्तियों और पुजारियों की रक्षा की। विष्णुवर्द्धन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उस समय प्रजा को धर्म-सेवन की स्वतन्त्रता थी। विष्णुवर्द्धन के उत्तराधिकारी यद्यपि वैष्णव थे तो भी उन्होंने जैन मंदिर बनाये और जैनाचार्यों की रक्षा की। उदाहरण के तौर पर नरसिंह (प्रथम) राज्यकाल ११४३ से ११७३, वीरवल्लभ (द्वितीय) राज्यकाल ११७३ से १२२० और नरसिंह (तृतीय) राज्यकाल १२५४ से १२६१।

विजयनगर के राजाओं की जैनधर्म के प्रति भारी सहिष्णुता रही है। अतः वे भी जैनधर्म के संरक्षक थे। बुक्का (प्रथम) राज्यकाल १३५७ से १३७८ ने अपने समय में जैनो और वैष्णवों का समझौता कराया। इससे यह सिद्ध है कि विजयनगर के राजाओं की जैनधर्म पर अनुकम्पा रही है। देवराय प्रथम की रानी विम्मादेवी जैनाचार्य अभिनवचार्कीर्ति पडिताचार्य की शिष्या रही है और उसीने श्रवणबेलगोल में शांतिनाथ की मूर्ति स्थापित कराई।

बुक्का (द्वितीय) राज्यकाल १३८५ से १४०६ के सेनापति इरुगुप्पा ने एक सांची के शिलालेखानुसार सन् १३८५ ईस्वी में जिनकांची में १७वें तीर्थंकर भगवान् कुम्भनाथ का मन्दिर और संगीतालय बनवाया। इसी

मन्दिर के दूसरे शिलालेख के अनुसार विजयनगर के नरेश कृष्णदेवराय सन् १५१० से १५२६ की जैनधर्म के प्रति सहिष्णुता रही और उसने जैनमंदिरों को दान दिये और उनकी जैनधर्म के प्रति आस्था रही।

विजयनगर के शासकों का और उनके अधीन सरदारों का, और मैसूर राज्य का आज तक जैनधर्म के प्रति यही दृष्टिकोण रहा है। कारकल के शासक गरसोप्पा और मेरव भी जैनधर्मानुयायी थे और उन्होंने भी जैनकला को प्रदर्शित करने वाले अनेक कार्य किये।

श्रवणबेलगोल और अन्य स्थानों की बाहुबली की विशाल मूर्तियों एवं अन्य चौबीस तीर्थंकर की प्रतिमाएँ ससार को विशेष सन्देश देती हैं।

जैनधर्म के प्रवर्तकों ने मनुष्य को सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् बोध, सम्यक् ज्ञान और निर्दोष चारित्र्य के द्वारा परमात्मा बनने का आदर्श उपस्थित किया है। जैनधर्म का

ईश्वर में पूर्ण विश्वास है और जैनधर्म के अनुष्ठान द्वारा अनेक जीव परमात्मा बने हैं। जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के धर्म का २५०० वर्षों का एक लम्बा इतिहास है। यह धर्म भारत में एक कोने से दूसरे कोने तक रहा है। आज भी गुजरात, मधुरा, राजस्थान, बिहार, बंगाल, उड़ीस, दक्षिण मैसूर और दक्षिण भारत इसके प्रचार के केन्द्र हैं। इस धर्म के साधु और विद्वानों ने इस धर्म को समुच्चल किया और जैन व्यापारियों ने भारत में सर्वत्र सहस्रों मंदिर बनवाये, जो आज भारत की धार्मिक पुरातत्त्वकला की अमूल्य धरोहर हैं।

महावीर और बुद्ध का प्रवर्तार एक ऐसे समय में हुआ है जब भारत में भारी राजनैतिक उथल-पुथल रही थी। महावीर ने एक ऐसी साधु-संस्था का निर्माण किया, जिसकी भित्ति पूर्ण अहिंसा पर निर्धारित थी। उनका 'अहिंसा परमो धर्मः' का सिद्धांत सारे संसार को आलोकित करता है।



(पृ० ४६ का शेषार्थ)

इस चक्र प्रयोग की घटना से बाहुबली का क्रोध सीमा पार कर गया। उन्होंने मुट्ठी दुद उठाई और आक्रमण की मुद्रा में दोड़े। उपस्थित रणमेदिनी ने हा-हा कार किया। एक साथ भूमि और आकाश से प्रार्थना का स्वर फूटे ऐसा मत करो। बाहुबली यदि तुम भी अपने बड़े भाई को मारना चाहते हो तो बड़े भाई की आज्ञा मानने वाला दूसरा कौन होगा? राजन् इस क्रोध का संहरण करो। जिस मार्ग पर तुम्हारे पिता चले हैं, उसी मार्ग का अनुसरण करो। भरत की क्षमा करो। बाहुबली का अन्तर विवेक जागा। क्रोध को शान्त कर बोले—मेरा उठा हुआ हाथ खाली नहीं जा सकता। अपने हाथ को अपनी ओर मोड़ा केश का लुंवन कर तपस्या के लिये प्रस्थान कर दिया। विजय की बेला में किया जाने वाला

तपस्या की यात्रा का प्रस्थान आदर्श बन गया। स्वतन्त्रता के प्रेम की गाथा अमर हो गई।

त्याग नहीं कर सकता है, जिसकी चेठना स्वतन्त्र होती है। विजय के क्षण में क्षमा नहीं कर सकता है, जिसकी चेठना स्वतन्त्र है। जीते हुए साम्राज्य को नहीं त्याग सकता है, जिसकी चेठना स्वतन्त्र है। बाहुबली की विशाल प्रतिमा में उस विशाल स्वतन्त्र चेठना का दर्शन प्रालिखित है हजारों-हजारों लोग उस दर्शन का प्रकलन करने के लिए उत्सुक हैं।

प्रेषक—कमलेश चतुर्वेदी

प्रबन्धक-आदर्श साहित्य संघ

पो० बूक (राजस्थान)

जय चागद जय गुल्लिकाजिज

□ श्री कुम्भनलाल जैन,

भ० बाहुबलि यद्यपि तीर्थंकर नहीं थे, वे तो चौबीस कामदेवों में से प्रथम कामदेव थे अतः सर्व सुन्दर थे इसी-लिए कन्नड भाषा में इनको गोमटस्वामी कहा है क्योंकि गोमट का अर्थ कन्नड में सर्वाधिक सुन्दर होता है, अस्तु। परन्तु श्रद्धालु भक्तजनों ने उनके त्याग तपस्या एवं साधना को देख कर उन्हें भगवान् सद्गुण ही मान लिया और वे युग-युगो से भगवान् बाहुबलि नाम से विख्यात हो गए।

भ० बाहुबलि का अधीरवेद एक महाभारतीय बलिष्ठ व्यक्तित्व विभिन्न कवियों कलाकारों एवं सरस्वती पुत्रों को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए विवशता पूर्वक प्रेरित करता रहा। भ० आदिनाथ के समय से ही वे चर्चा और विवेचना के केन्द्र बने रहे। संस्कृत के आचार्य जिनसेन, अपभ्रंश के श्रेष्ठतम कवि पुष्पदंत तथा कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र प्रभृति उत्तर भारत के तथा दक्षिण भारत के श्रेष्ठ कवियों ने विभिन्न भाषाओं में उनका चरित्र-चित्रण बड़े कलापूर्ण ढंग से अपनी-अपनी कृतियों में बड़े अनूठे ढंग से किया है।

भ० बाहुबली का चरित्र श्रद्धालु पाठकों को युग-युगों से आकर्षित करता आ रहा है। सभी लोग पठन-पाठन, धर्मा, स्तुति, पूजा, ग्रंथ रचना; मूर्ति निर्माण आदि के रूप में उनके प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करते आ रहे हैं, जो आज तक अमर और विख्यात है। पर श्रवणबेलगोल में स्थित भ० बाहुबलि की प्रतिमा को १३ मार्च ६८१ में तत्कालीन गङ्गानरेश राघवमल्ल के महामात्य एवं प्रधान सेनापति श्री चामुण्डराय ने निमित्त कराई थी वह आज भारतीय इतिहास और पुरातत्व की ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व की विख्यात श्रेष्ठतम कलाकृति है।

भ० बाहुबलि की इस श्रेष्ठतम कलाकृति के प्रमुख शिल्पी (तलक) त्यागद ब्रह्मदेव थे जिन्हें कन्नड में चागद

शब्द से संबोधित किया जाता है। इस विचारे चागद को आज कीन जानता है जिसने कामदेव बाहुबलि को साक्षात् भगवान् का रूप प्रदान कर आज हजार वर्ष बाद भी भारतीय पुरातत्व की ही नहीं अपितु संसार के समस्त पुरातत्व वेत्ताओं को ऐसा सर्व सुन्दर कला-वैभव अनुभूति के रूप में प्रदान किया है जिसके आगे Seven Wonders सर्वथा तुच्छ प्रतीत होते हैं। तथा जब तक यावत्तद्विवाकरी यह मूर्ति विद्यमान रहेगी तब तक उस श्रेष्ठतम कला साधक महान् शिल्पी चागद को कोई भी नही भूल सकेगा और सभी लोग उसकी बखोमाया गाते हुए उसकी कला की सराहना करते रहेंगे।

भ० बाहुबलि की मूर्ति के निर्माण कराने वाले श्री चामुण्डराय राजपुरुष थे विख्यात विद्वान् और प्राकृत के कवि थे उन्हें तो सभी लोग जानते हैं और आज तक इतिहास में वे पूर्णतया विख्यात हैं। पर उस तपस्वी भूक साधक, श्रेष्ठ शिल्पी उच्च कलाकार चागद की कीन जानता है जिसकी अमर साधना और भूक तपस्या ने ऐसे विराट् स्वरूप को उत्कीर्ण कर इतिहास और पुरातत्व की एक अनूठी अमर पुण्य विमूर्ति प्रदान की। जिससे चामुण्डराय का यश भी विरस्त्यायी हो गया है।

शिल्पीचागद कोई पढ़ा-लिखा प्रसिद्ध पुरुष न था पर उसके हाथ में कला थी उसके छंदी हथोड़े को प्रभु का आशीर्वाद और वरदान प्राप्त था। उसके हृदय में उसकी माँ ने भगवद्भक्ति उत्पन्न की थी और दिया था उसे त्याग एवं तपस्या का उपदेश जिसके बल पर वह ऐसा अक्षुण्ण अनुपम स्वरूप उत्कीर्ण कर सका और स्वयं इतिहास पुष्प बन गया।

भ० बाहुबली की मूर्ति के निर्माण के बाद शिल्पी चागद को जो यश और सम्मान मिला उसकी गौरव गाथा दक्षिण के जैन मंदिर आज तक गाते हैं। चागद के

उत्तराधिकारी शिल्पियों ने उसे सम्मान देने के लिए जहाँ-जहाँ जिनालयों का निर्माण हुआ वहीं-वहीं छोड़े पर बैठे हुए बागवत शिल्पी की मूर्ति भी उत्कीर्ण की जाती रही है जिनके बाएँ हाथ में चाबुक होता है जो इस बात का प्रतीक है कि धर्म विरोधियों को उचित दण्ड विधान किया जावे तथा दाएँ हाथ में श्रीफल होता है जो इस बात का प्रतीक है कि प्रभु कृपा सदा बनी रहे, एवं पावों में खड़ाऊँ उत्कीर्ण होती है जो जिनालय की पवित्रता की प्रतीक है।

अ० बाहुबलि की श्रवणबेलगोल स्थित इस विराट कलाकृति के निर्माण के लिए इसी बागवत शिल्पी को चामुण्डराय ने आमंत्रित किया था, और अपनी माता की भगवद्भक्ति उसके समक्ष प्रस्तुत की थी पर बागवत उस विशालकाय विष्णुगिरि के प्रस्तरखण्ड को देख कर विस्मय विमग्न हो गया था जिस पर उसे अपनी छँती हथौड़े की कला प्रदर्शित करनी थी, उसे अपनी शिल्पकला पर अभिमान था पर इतने विशाल कार्य के लिए वह क्या कर सकेगा ? उसकी लोभ कषाय ने उसके अन्तस्तर को झकझोर दिया। उसने प्रधानामात्य को अपने पारिश्रमिक के रूप में उतनी ही स्वर्ण राशि की याचना की जितना प्रस्तरखण्ड वह विष्णुगिरि से छीलेगा।

अ० बाहुबलि ने भक्त चामुण्डराय ने शिल्पी बागवत की शर्तें सहर्ष स्वीकार ली और मूर्ति का निर्माण प्रारम्भ हुआ। संघ्या काल में तराजू के एक पलड़े पर शिल्पी बागवत के विकृत शिलाखंड थे और दूसरे पलड़े पर भगवद्भवन एवं मातृ सेवक चामुण्डराय की दमकती हुई स्वर्ण-राशि। चामुण्डराय ने शिल्पी को बड़ी श्रद्धापूर्वक वह स्वर्ण राशि समर्पित की, वे कलाकार की कला के मर्म को समझते थे। तत्काल बागवत आज अपनी कला की मूल्य उतनी विशाल स्वर्ण राशि के रूप में पाकर हर्ष से फूला नहीं समा रहा था, खुशी के मारे उसे घर पहुँचने में कुछ विलंब से आभास ही न विदित हुआ। घर पहुँच कर कलाकार जैसे ही अपनी कला के मूल्य को सहेज कर घरने लगा कि वह राशि उसके साथ से छूट नहीं रही थी और न उसके हस्त उस स्वर्ण से घलग हो रहे थे दोनों एक-दूसरे से चिपके हुए थे।

अ० बाहुबलि की प्रतिमा का प्रधान शिल्पी असंबन्ध

में था कि यह सब क्या हो रहा है ? वह मन ही मन आकुल हो उठा, उसका हृदय इस हर्ष और उल्लास की बेला में खेद लिप्पन और दुखी था, तभी शिल्पी की मातृ भी पधारो और कलाकार पुत्र की दुर्दशा देख बड़ी दयवित हुई, लौभी शिल्पी ने अपनी रामकहानी अपनी माँ की प्रभु विखेरते हुए सुना थी, बागवत की माँ ने अपने कलाकार पुत्र की धीरज बघाया और समझाया है बरस ! क्या कला स्वर्ण के तुच्छ टुकड़ों में बिका करती है ? तुममें वह दुष्प्रवृत्ति कहाँ से जन्मी ? कला तो धाराधना और प्रार्थना की वस्तु है, तूने तो इसे बेच कर निर्मल्य और कलंकित कर दिया है। उस चामुण्डराय को तो देख जो मातृसेवा और प्रभु भक्ति के वशीभूत हो तुम्हें इतना सब कुछ निर्लोभ भाव से सहर्ष दे रहा है ! अपनी श्रेष्ठतम कला के पीछे इन तुच्छ स्वर्ण खंडों का लोभ तू त्याग और प्रभु को प्रणाम कर इस स्वर्ण राशि को वापिस कर घा तथा अपना शिल्प वैभव निष्काम भाव से प्रभु बाहुबलि के चरणों में समर्पित कर दे।

अ० बाहुबलि के शिल्पी बागवत को अपनी मातृ श्री का उपदेश भा गया, उसके भाव बदले, लोभ कषाय का उसने दहन किया, माता के उपदेश और प्रभुभक्ति ने उसकी काया कल्प कर दी। शिल्पी बागवत ने उसी समय प्रतिज्ञा की कि इस मूर्ति का निर्माण निस्वार्थ और सेवा भाव से करूँगा कोई पारिश्रमिक नहीं लूँगा और जब तक प्रतिमा का निर्माण नहीं हो जाता एकाक्षन व्रत धारण करूँगा। शिल्पी की अंतरंग विशुद्धि ने तथा लोभ निवृत्ति ने उसके हाथों से चिपका सोना छुड़ा दिया वह तत्काल ही भागा-भागा प्रधानामात्य के चरणों में जा गिरा और सारी स्वर्ण राशि लौटाते हुए बिलस-बिलस कर बोला हे प्रभु ! मेरी रक्षा करो, मेरी कला का मोल-भाव मत करो और मुझे बाहुबलि की सेवा निस्वार्थ भाव से करने दें। अगले दिन से शिल्पी अ० बाहुबलि की प्रतिमा का निर्माण पूर्णतया निर्विकार भाव तथा बड़ी श्रद्धा निष्ठा एवं संयम पूर्वक करने लगा। यह त्याग मूर्ति तत्काल बागवत की ही १२ वर्ष की सतत तपस्या और साधना का पुण्य फल है कि ऐसी अलौकिक एवं सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा का निर्माण हो सका जो हजार वर्ष बाद भी आज संसार के भक्तजनों

जय चागद जय गुल्लिकाजिज

□ श्री कुन्दनलाल जैन,

भ० बाहुबलि यद्यपि तीर्थंकर नहीं थे, वे तो चौबीस कामदेवों में से प्रथम कामदेव थे अतः सर्व सुन्दर थे इसी-लिए कन्नड भाषा में इनको मोमटस्वामी कहा है क्योंकि गोमट का अर्थ कन्नड में सर्वाधिक सुन्दर होता है, अस्तु। परन्तु श्रद्धालु भक्तजनों ने उनके त्याग तपस्या एवं साधना को देख कर उन्हें भगवान् सद्गुरु ही मान लिया और वे युग-युगो से भगवान् बाहुबलि नाम से विख्यात हो गए।

भ० बाहुबलि का प्रपीरधेय एव महामानवीय बलिष्ठ व्यक्तित्व विभिन्न कवियों कलाकारों एवं सरस्वती पुत्रों को मूर्ति रूप प्रदान करने के लिए विवशता पूर्वक प्रेरित करता रहा। भ० आदिनाथ के समय से ही वे चर्चा और विवेचना के केन्द्र बने रहे। संस्कृत के प्राचार्य जिनसेन, अपभ्रंश के श्रेष्ठतम कवि पुष्पदंत तथा कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र प्रभृति उत्तर भारत के तथा दक्षिण भारत के श्रेष्ठ कवियों ने विभिन्न भाषाओं में उनका चरित्र-चित्रण बड़े कलापूर्ण ढंग से अपनी-अपनी कृतियों में बड़े अनुष्ठे ढंग से किया है।

भ० बाहुबली का चरित्र श्रद्धालु पाठकों को युग-युगों से आकर्षित करता आ रहा है। सभी लोग पठन-पाठन, अर्चा, स्तुति, पूजा, ग्रंथ रचना, मूर्ति निर्माण आदि के रूप में उनके प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करते आ रहे हैं, जो आज तक अमर और विख्यात है। पर अवनवेलगोल में स्थित भ० बाहुबलि की प्रतिमा जो १३ मार्च ६८१ में तत्कालीन गङ्गानरेश राजमल्ल के मन्त्रकार्य एवं प्रधान सेनापति श्री चामुण्डराय ने निमित्त कराई थी वह आज भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व की ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व की विख्यात श्रेष्ठतम कलाकृति है।

भ० बाहुबलि की इस श्रेष्ठतम कलाकृति के प्रमुख शिल्पी (तक्षक) त्यागद ब्रह्मदेव थे जिन्हें कन्नड में चागद

शब्द से संबोधित किया जाता है। इस विचारे चागद को आज कौन जानता है जिसने कामदेव बाहुबलि की साक्षात् भगवान् का रूप प्रदान कर आज हजार वर्ष बाद भी भारतीय पुरातत्त्व की ही नहीं अपितु संसार के समस्त पुरातत्त्व वेत्ताओं को ऐसा सर्व सुन्दर कला-वैभव अनुभूति के रूप में प्रदान किया है जिसके आगे Seven Wonders सर्वथा तुच्छ प्रतीत होते हैं। तथा जब तक यावच्छत्र दिवाकरी यह मूर्ति विद्यमान रहेगी तब तक उस श्रेष्ठतम कला साधक महान् शिल्पी चागद को कोई भी नहीं भूल सकेगा और सभी लोग उसकी बखोभाया गाते हुए उसकी कला की सराहना करते रहेंगे।

भ० बाहुबलि की मूर्ति के निर्माण कराने वाले श्री चामुण्डराय राजपुरुष थे विख्यात विद्वान् और प्राकृत के कवि थे उन्हें तो सभी लोग जानते हैं और आज तक इतिहास में वे पूर्णतया विख्यात हैं। पर उस तपस्वी मूक साधक, श्रेष्ठ शिल्पी उच्च कलाकार चागद को कौन जानता है जिसकी अमर साधना और मूक तपस्या ने ऐसे विराट् स्वरूप को उत्कीर्ण कर इतिहास और पुरातत्त्व को एक अनुष्ठे अमर पुण्य विभूति प्रदान की। जिससे चामुण्डराय का यश भी चिरस्थायी हो गया है।

शिल्पीचागद कोई पढा-लिखा प्रसिद्ध पुरुष न था पर उसके हाथ में कला थी उसके छिन्नी हथौड़े की प्रभु का आशीर्ष और वरदान प्राप्त था। उसके हृदय में उसकी माँ ने भगवद्भक्ति उत्पन्न की थी और दिया था उसे त्याग एवं तपस्या का उपदेश जिसके बल पर वह ऐसा प्रक्षुण्ण अनुपम स्वरूप उत्कीर्ण कर सका और स्वयं इतिहास पुरुष बन गया।

भ० बाहुबली की मूर्ति के निर्माण के बाद शिल्पी चागद को जो यश और सम्मान मिला उसकी गौरव गाथा दक्षिण के जैन मंदिर आज तक गाते हैं। चागद के

उत्तराधिकारी शिल्पियों ने उसे सम्मान देने के लिए जहाँ-जहाँ जिनालयों का निर्माण हुआ वहीं-वहीं छोड़े पर बैठे हुए चागद शिल्पी की मूर्ति भी उत्कीर्ण की जाती रही है जिनके बाएँ हाथ में चाबुक होता है जो इस बात का प्रतीक है कि धर्म विरोधियों को उचित दण्ड विधान किया जावे तथा दाएँ हाथ में श्रीफल होता है जो इस बात का प्रतीक है कि प्रभु कृपा सदा बनी रहे, एवं पाकों में खड़ाऊँ उत्कीर्ण होती है जो जिनालय की पवित्रता की प्रतीक है।

भ० बाहुबलि की श्रवणबेलगोल स्थित इस विराट कलाकृति के निर्माण के लिए इसी चागद शिल्पी को चामुण्डराय ने आमन्त्रित किया था, और अपनी माता की भगवद्भक्ति उसके समक्ष प्रस्तुत की थी पर चागद उस विशालकाय विष्णुगिरि के प्रस्तरखण्ड को देख कर विस्मय विमुग्ध हो गया था जिस पर उसे अपनी छैनी हथौड़े की कला प्रदर्शित करनी थी, उसे अपनी शिल्पकला पर अभिमान था पर इतने विशाल कार्य के लिए वह क्या कर सकेगा ? उसकी लोभ कषाय ने उसके अन्तस्तरल को झकझोर दिया। उसने प्रधानामात्य को अपने पारिश्रमिक के रूप में उतनी ही स्वर्ण राशि की याचना की जितना प्रस्तरखण्ड वह विष्णुगिरि से छीलेगा।

भ० बाहुबलि ने भक्त चामुण्डराय ने शिल्पी चागद की शर्तें सहर्ष स्वीकार ली और मूर्ति का निर्माण प्रारम्भ हुआ। संघ्या काल में तराजू के एक पलड़े पर शिल्पी चागद के विकृत शिलाखंड ये और दूसरे पलड़े पर भगवद्भवन एवं मातृ सेवक चामुण्डराय की दमकती हुई स्वर्ण-राशि। चामुण्डराय ने शिल्पी को बड़ी श्रद्धापूर्वक वह स्वर्ण राशि समर्पित की, वे कलाकार की कला के मर्म को समझते थे। तत्काल चागद आज अपनी कला की मूल्य उतनी विशाल स्वर्ण राशि के रूप में पाकर हर्ष से फूला नहीं समा रहा था, खुशी के मारे उसे घर पहुँचने में कुछ विलंब से आभास ही न बिदित हुआ। घर पहुँच कर कलाकार जैसे ही अपनी कला के मूल्य को सहेज कर घरने लगा कि वह राशि उसके साथ से छूट नहीं रही थी और न उसके हस्त उस स्वर्ण से घसग हो रहे थे दोनों एक-दूसरे से चिपके हुए थे।

भ० बाहुबलि की प्रतिमा का प्रधान शिल्पी असमंजस

में था कि यह सब क्या हो रहा है ? वह मन ही मन व्याकुल हो उठा, उसका हृदय इस हर्ष और उल्लास की बेला में खेद स्थित और दुखी था, तभी शिल्पी की मातृ भी पधारी और कलाकार पुत्र की दुर्दशा देख बड़ी व्यथित हुई, लोभी शिल्पी ने अपनी रामकहानी अपनी मा को प्रभु विलेखते हुए सुना दी, चागद की मा ने अपने कलाकार पुत्र को घोरज बघाया और समझाया हे बरस ! क्या कला स्वर्ण के तुच्छ टुकड़ों में बिका करती है ? तुममें वह दुष्प्रवृत्ति कहां से जन्मी ? कला तो पाराधना और अर्चना की वस्तु है, तुने तो इसे बेच कर निर्मूल्य और कलंकित कर दिया है। उस चामुण्डराय को तो देख जो मातृसेवा और प्रभु भक्ति के वशीभूत हो तुम्हें इतना सब कुछ निर्लोभ भाव से सहर्ष दे रहा है ! अपनी श्रेष्ठतम कला के पीछे इन तुच्छ स्वर्ण खंडों का लोभ तू त्याग और प्रभु को प्रणाम कर इस स्वर्ण राशि को वापिस कर मा तथा अपना शिल्प वैभव निष्काम भाव से प्रभु बाहुबलि के चरणों में समर्पित कर दे।

भ० बाहुबलि के शिल्पी चागद को अपनी मातृ श्री का उपदेश भा गया, उसके भाव बदले, लोभ कषाय का उसने दहन किया, माता के उपदेश और प्रभुभक्ति ने उसकी काया कल्प कर दी। शिल्पी चागद ने उसी समय प्रतिज्ञा की कि इस मूर्ति का निर्माण निस्वार्थ और सेवा भाव से करूँगा कोई पारिश्रमिक नहीं लूँगा और जब तक प्रतिमा का निर्माण नहीं हो जाता एकाशन व्रत धारण करूँगा। शिल्पी की अंतरंग विशुद्धि ने तथा लोभ निवृत्ति ने उसके हाथों से चिपका सोना छुड़ा दिया वह तत्काल ही भाषा-भाषा प्रधानामात्य के चरणों में जा गिरा और सारी स्वर्ण राशि लौटाते हुए विलख-विलख कर बोला हे प्रभु ! मेरी रक्षा करो, मेरी कला का मोल-भाव मत करो और मुझे बाहुबलि की सेवा निस्वार्थ भाव से करने दें। भगले दिन से शिल्पी भ० बाहुबलि की प्रतिमा का निर्माण पूर्णतया निर्विकार भाव तथा बड़ी श्रद्धा निष्ठा एवं संयम पूर्वक करने लगा। यह त्याग मूर्ति तत्काल चागद की ही १२ वर्ष की सतत तपस्या और साधना का पुण्य फल है कि ऐसी अलौकिक एवं सर्वश्रेष्ठ प्रतिमा का निर्माण हो सका जो हजार वर्ष बाद भी आज संसार के भक्तजनों

को बाहुबलि और आप्यायित किए हुए हैं। तथा विश्व इतिहास एवं पुरातत्व की बहुमूल्य धरोहर बन गई है। जय हो उस चागद की जय हो उस शिल्पी की जय हो, जय हो उस त्यागमूर्ति तक्षक कलाकार की।

भ० बाहुबलि की इस विराट प्रतिमा के प्रतिष्ठाचार्य वे सिद्धांत चक्रवर्ती प्राचार्य श्री नेमिचन्द्राचार्य जो प्रधाना-मात्य चामुण्डराय के गुरु थे। उन्हीं के निर्देशन में यह सब कुछ हुआ था। जब प्रतिमा का निर्माण हो चुका तो इसकी प्रतिष्ठा के लिए सर्व प्रथम महामस्तकाभिषेक का आयोजन किया गया जिसके लिए हजारों मन दूध से प्रतिमा का अभिषेक किया गया पर आश्चर्य की बात कि सारा दूध नाभि से नीचे नहीं पहुंच रहा था। प्रतिष्ठाचार्य प्रधाना-मात्य एवं अन्य सभी विशिष्ट उपस्थित पुरुष विस्मय विमग्न थे कि यह सब क्या हो रहा है। सभी चिन्तित थे तभी नेमिचन्द्राचार्य श्री ने अपने निमित्त ज्ञान से जाना कि भ० महावीर के समोशरण में अपनी कमल पांखुरी लेकर प्रभु प्रार्थना के लिए फुदक कर जाने वाले उपेक्षित मण्डकराज की भांति यहां भी कोई उपेक्षित बूढ़ा श्रीफल की छोटी-सी गुल्लिका (कटोरी) में दूध लिए प्रभु का अभिषेक के लिए भक्तिपूर्वक एक मास से लगातार प्रार्थना रही है पर इस विशाल जन समूह में उसे कहीं भी कोई स्थान नहीं मिल पा रहा है। वह सर्वथा उपेक्षित है इसीलिए यह दुःखाभिषेकपूर्ण नहीं हो पा रहा है।

भ० बाहुबलि के प्रतिष्ठाचार्य ने तुरन्त ही अपने शिष्य प्रधानाचार्य को आदेश दिया कि उस बूढ़ा को आदर पूर्वक लाओ तभी अभिषेक सम्पन्न हो सकेगा। गुरु भक्त चामुण्डराय तुरन्त ही नगे पाँव प्रज्जि (बूढ़ा) के पास पहुंचे और आदर पूर्वक प्रार्थना करके उस प्रज्जि मा (बुढ़ेली में प्राजी=दादी माँ) को प्रभु प्रतिमा के पास ले आये और दुःखाभिषेक के लिए अनुरोध किया, जैसे ही प्रज्जि ने गुल्लिका भर दूध से प्रभु का भक्तिभाव से अभिषेक किया वैसे ही दूध की नदियाँ बह निकली और

विन्ध्यगिरि तथा चन्द्रगिरि के मध्य स्थित सरोवर दूध से लबालब भर गया तभी से उम बूढ़ा का नाम गुल्लिकाज्जि पड़ गया। कहते हैं गुल्लिकाज्जि के रूप में स्वयं कूष्माण्डकी देवी ही थी जिन्होंने चामुण्डराय को स्वप्न दिया था कि चन्द्रगिरि से स्वर्ण बाण छोड़ो भ० बाहुबलि के दर्शन होंगे।

भ० बाहुबलि का प्रथम महामस्तकाभिषेक समारोह पूर्वक सानन्द सम्पन्न हुआ पर प्रधानाचार्य चामुण्डराय के अन्तस्तल में उपर्युक्त दो भक्त साधको (चागद और गुल्लिकाज्जि) की श्रद्धा और निष्ठा के प्रति एक भतीव रागात्मक सद्भाव उत्पन्न हुआ अतः उन्होंने भ० बाहुबलि के चिरस्थायीत्व की भांति इन दोनों साधको की भक्ति-भावना को चिरस्थायीत्व देने के लिए प्रतिमा के पास ही छह फुट ऊँचा चागदस्तंभ तथा गुल्लिकाज्जि की प्रतिमा का निर्माण कराया जा आज भी उनकी यशोगाथा सा रहे है।

भ० बाहुबलि की प्रतिमा के शिल्पी चागद के स्तंभ की एक बड़ी भारी विशेषता है कि यह अघर में विद्यमान है इसके नीचे से एक रूमाल जैसा पतला कपड़ा अभी भी निकल जाता है। उस चागद स्तंभ पर चामुण्डराय की प्रशंसा में छह श्लोक उत्कीर्ण हैं शेष को हेमगंडे कण ने चिसवा दिया था अन्यथा चामुण्डराय तथ्य इस प्रतिमा के निर्माण संबंधी कुछ और ऐतिहासिक तथ्य हस्तगत हो जाते जिससे भारतीय इतिहास और पुरातत्व और अधिक गौरवान्वित हो जाता, पर विधि की यह सब मजूर न था। इस स्तंभ पर प्रधान शिल्पी त्यागद ब्रह्मदेव (चागद) की प्रतिमा विराजमान है। जय हो गुल्लिकाज्जि की और जय हो चागद शिल्पी जैसे भक्त साधको की जो उपेक्षित होते हुए भी भारतीयों को ही नहीं संपूर्ण विश्व को ऐसी बहुमूल्य धरोहर दे गये।

“जय चागद जय गुल्लिकाज्जि”

श्रुतकुटीर, ६८ कुन्तीगार्ग
विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

बाहुबली मूर्तियों की परम्परा

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, नई दिल्ली

वीर-मार्तण्ड चामुण्डराय ने भगवान् बाहुबली की विश्व-वन्द्य मूर्ति की प्रतिष्ठापना करके जिस विशालता, भव्यता और वीतरागता को प्रलौकिक कला में रूपान्तरित किया, उसने प्राये की शताब्दियों के श्रीमन्तो और कला-वन्तों को इतना अधिक प्रभावित किया कि बाहुबली की विशाल मूर्ति का नव-निर्माण उनके जीवन की साध बन गयी। बाहुबली यद्यपि तीर्थंकर नहीं थे, किन्तु उपासकों ने उन्हें तीर्थंकर के समकक्ष पद दिया। ऐसा ही अनुपम रहा है उनका कृतित्व जिसे हम अनेक ग्रन्थों में देख चुके हैं। कर्नाटक में जन-सामान्य के लिए तो वह मात्र देवता है—तीर्थंकर, जिन, कामदेव के नामों और उपाधियों से परे।

दक्षिण कर्नाटक में, मूडबिद्री से उत्तर में १५ कि०मी० की दूरी पर स्थित कारकल में सन् १४३२ में लगभग ४१½ फुट ऊँची प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई जिसे राजपुरुष वीरपांड्य ने जैन-आचार्य ललितकीर्ति की प्रेरणा से निर्मित कराया।

एक मूर्ति मूडबिद्री से लगभग १२ मील दूर वेणूर में चामुण्डवशीय तिममराज ने सन् १६०४ में स्थापित की, जिसकी ऊँचाई ३५ फुट है। इसके प्रेरणास्त्रोत भी चारु-कीर्ति पण्डित माने जाते हैं।

कुछ वर्ष पहले मैसूर के पास वाले एक घने उजाड़ स्थान के ऊँचे टीले का उत्खनन करने पर बाहुबली की १८ फुट ऊँची मूर्ति प्राप्त हुई थी। अब उस स्थान को 'गोम्मटगिरि' कहा जाता है।

कर्नाटक के बीजापुर जिले के बादामि पर्वत-शिखर के उत्तरी ढाल पर जो चार शैलोत्कीर्ण जैन गुहा-मन्दिर हैं उनमें से चौथे गुहा-मन्दिर के मण्डप में कोने के एक दब-प्रकोष्ठ में विभिन्न तीर्थंकर-मूर्तियों के मध्य उत्कीर्ण मूर्ति सर्वप्रथम बाहुबलि की मूर्ति है। इस ७ फुट ६ इंच ऊँची मूर्ति की केश-सज्जा भी दर्शनीय है जिसकी परम्परा दसवीं शती में श्रवणबेलगोल की महामूर्ति में ऊर्णा अर्थात् घुघराले केशों के रूप में परिणत हुई।

बादामि-बाहुबली की केश-सज्जा की परम्परा घाठवी-नीवी शती की उस मूर्ति में विद्यमान है जो बाहुबली की प्रथम काव्य-मूर्ति है। लगभग डेढ़ फुट ऊँचे आकार की यह मूर्ति मूलतः श्रवणबेलगोल की है और अब प्रिंस आफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई में (क्रमांक १०५) प्रदर्शित है। इसका वर्तुलाकार पादपोठ अनुपात में इससे कुछ बड़ा है और अब इससे टूट कर भलग हो गया है। स्कन्ध कुछ अधिक चौड़े हैं किन्तु शरीर का शेष भाग उचित अनुपात में है। मुख-मण्डल मण्डाकार है, कपोलपुष्ट हैं और नासिका उभ्रत हैं। घोष्ठ और भौहें उभरी होने से अधिक आकर्षक बन पड़ी हैं। केश राशि पीछे की ओर काढ़ी गयी है किन्तु अनेक घुघराली जटाएँ कंधों पर लहराती 'वखायी' गयी हैं। लताएँ उनके पैरों से होकर हाथों तक ही पहुँची हैं। कालक्रम से यह द्वितीय मानी जा सकती है।

कालक्रम से तृतीय बाहुबलि-मूर्ति ऐहोल के इन्द्रसभा नामक बत्तीमर्बे गुहामन्दिर की अर्द्ध-निर्मित वीथि में उत्कीर्ण है। बीजापुर जिले के इस राष्ट्रकूट-कालीन केन्द्र का निर्माण घाठवी-नीवी शती में हुआ था। इसी गुहा मन्दिर में नीवी-दसवीं शती में जो विविध चित्रांकन प्रस्तुत किए गए उनमें से एक बाहुबली का भी है। बाहुबली का इस रूप में यह प्रथम और संभवतः अन्तिम चित्रांकन है।

कर्नाटक में गोलकुण्डा के खजाना बिल्डिंग संग्रहालय में प्रदर्शित एक बाहुबली मूर्ति काले बेसाल्ट पाषाण की है। १.७३ मीटर ऊँची यह मूर्ति कदाचित् दसवीं शती की है।

पत्तनचेरु में प्राप्त और राज्य संग्रहालय हैदराबाद में प्रदर्शित एक बाहुबली मूर्ति राष्ट्रकूट कला का अच्छा उदाहरण है। इसमें लताएँ कंधों से भी ऊपर मस्तक के दोनों ओर पहुँच गयी हैं। दोनों ओर अकिन एक-एक लघु युवती-आकृति का एक हाथ लता को भलग कर रहा है और दूसरा कटितक अवलम्बित मुद्रा में है। बारहवीं

शती की यह मूर्ति कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। श्रीवत्स लांछन होने से यह उत्तर और दक्षिण की शृंखला जोड़ती है; ऊपर स्वस्तिक और कमलाकृति प्रभामण्डल है जो अन्य बाहुबलि-मूर्तियों में प्रायः अप्राप्य है। कटि की विवलि ने समूची मूर्ति के अनुपात को सन्तुलित किया है।

बादामी तालुके में ही एक गाँव है ऐहोल, जिसके पास गुफाएँ हैं। गुफाओं में पूर्व की ओर मेघुटी नामक जैन मन्दिर है। इसके पास की गुफा में बाहुबली की ७ फुट ऊँची मूर्ति उत्कीर्ण है।

दक्षिण में ही दीलताबाद से लगभग १६ मील दूर एलोर की गुफाएँ हैं। इन में पाँच जैन-गुफाएँ हैं। इनमें एक इन्द्रसभा नामक दोतल्ला सभागृह है। इनकी बाहरी दक्षिणी दीवार पर बाहुबली की एक मूर्ति उत्कीर्ण है।

उत्तर भारत की विशिष्ट बाहुबली मूर्तियाँ—

बहुत समय तक कला-विवेचकों में यह धारणा प्रचलित थी कि बाहुबली की मूर्तियाँ दक्षिण भारत में ही प्रचलित हैं। उत्तर भारत में इनका उदाहरण अत्यन्त विरल हैं। किन्तु शोध-संशोध के उपरान्त उत्तर भारत में उल्लेखनीय अनेक बाहुबली-मूर्तियों के अस्तित्व का पता लगा है जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

जुनागढ़ संग्रहालय में प्रदर्शित नौवीं शताब्दी की मूर्ति जो प्रभासपाटन से प्राप्त हुई है।

खजुराहों में पार्श्वनाथ मन्दिर की बाहरी दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण दशवीं शताब्दी की मूर्ति।

लखनऊ संग्रहालय की दशवीं शताब्दी की बाहुबली मूर्ति जिसका मस्तक और चरण खंडित हैं।

देवगढ़ में प्राप्त मूर्ति, दशवीं शताब्दी की, जो अभी वही के 'साहू जैन संग्रहालय' में प्रदर्शित है। इस मूर्ति का चित्र जयन पुरातत्त्व-वेत्ता क्लोस जून ने अपनी पुस्तक में दिया है। देवगढ़ में बाहुबली की ६ मूर्तियाँ प्राप्त हैं।

बिलहारी, जिला जबलपुर, मध्यप्रदेश में एक शिला-पट प्राप्त हुआ है जिस पर बाहुबली की प्रतिमा उत्कीर्ण है।

बीसवीं शताब्दी की नयी मूर्तियों में, जिन्हें ऊँचे माप पर बनाया गया है, घारा (बिहार) के जैन बालाश्रम में स्थापित मूर्ति, उत्तर प्रदेश के फिरोजाबाद नगर में कुछ

वर्ष पूर्व स्थापित विशाल बाहुबली-मूर्ति और सागर, १० प्र० के वर्णी भवन में स्थापित मूर्ति उल्लेखनीय हैं।

उत्तर भारत के अन्य मन्दिरों में भी बौद्ध और पीतल की अनेक बाहुबली मूर्तियाँ विराजमान हैं।

कतिपय त्रिमूर्तियाँ :

बाहुबली को भरत चक्रवर्ती के साथ ऋषभनाथ की परिकर-मूर्तियों के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। बाएँ लता-वेष्टित बाहुबली की ओर दाएँ नव-निधि से अभिज्ञात भरत की मूर्ति से समन्वित ऋषभनाथ की जटा-मण्डित मूर्तियाँ भव्य बन पड़ी हैं। ऐसे अनेक मूर्त्यंकन देखे गये हैं।

जबलपुर जिले में बिलहरी ग्राम के बाहर स्थित कल-चुरिकालीन, लगभग नौवीं शती, जैन मन्दिर के प्रवेश द्वार के सिरदल पर इस प्रकार का सम्भवतः प्राचीनतम मूर्त्यंकन है।

उत्तरप्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ के पर्वत पर एक मन्दिर में जो ऐसा मूर्त्यंकन है वह कला की दृष्टि से सुन्दरतम है और उसका निर्माण देवगढ़ की अधिकांश कलाकृतियों के साथ लगभग दसवीं शती में हुआ होगा।

खजुराहों के केन्द्रीय संग्रहालय में एक सिरदल (क्रमांक १७२४) है। उस पर विभिन्न तीर्थंकरों के साथ भरत और बाहुबली के मूर्त्यंकन भी हैं। यह दशवीं शती की चन्देल कृति है।

भरत और बाहुबली के साथ ऋषभनाथ की विशालतम मूर्ति तीमरकाल, पन्द्रहवीं शती में खालियर की गुफाओं में उत्कीर्ण की गयी।

इस प्रकार की एक पीतल की मूर्ति नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है। इसमें ऋषभनाथ सिंहासन पर प्रासीन हैं और उनकी एक ओर भरत तथा दूसरी ओर बाहुबली कायोत्पमगंस्य हैं। यह सम्भवतः चौदहवीं शती की पश्चिम भारतीय कृति है।

इन पाँचों के प्रतिरिक्त और भी कई मूर्तियों पर ऋषभनाथ के साथ भरत और बाहुबली की प्रस्तुति होने का संकेत मिलता है। उड़ीसा के बालासोर जिले में भद्रक रेलवे स्टेशन के समीप चरम्पा नामक ग्राम से प्राप्त और

प्रब राज्य सप्रहालय, भुवनेश्वर में प्रदर्शित घनेक जैन मूर्तियों में से कुछेक में इस प्रकार के मूर्त्यंकन हैं।

इसके प्रतिरिक्त एक ऐसा मूर्त्यंकन भी प्राप्त हुआ है जो इन सभी से प्राचीन कहा जा सकता है। उड़ीसा के बयोंकर जिले में अनन्तपुर तालुका में बोला पहाड़ियों के मध्य स्थित पोदसिगिदि नामक ऐतिहासिक स्थान है। यहाँ ऋषभनाथ की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। उड़ीसा में प्राप्त यह प्रथम जैनमूर्ति है जिस पर लेख उत्कीर्ण है। इसमें आगन पर वृषभ लांछन के सामने दो बड़ांजलि भक्त अंकित हैं जो भरत और बाहुबली माने जा सकते हैं, और तब यह इस प्रकार की मूर्तियों में सर्वाधिक प्राचीन होगी।

एक पटली चित्रांकन :

बाहुबली की गृहस्थ अवस्था का, भरत से युद्ध करते समय का, मूर्त्यंकन तो नहीं किन्तु चित्रांकन अवश्य प्राप्त हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित शास्त्रों के ऊपर-नीचे जो काष्ठ-निर्मित पटलियाँ बाँधी जाती थी उनमें से एक पर यह चित्रांकन है। मूलतः जैसलमेर भण्डार की यह पटली पहले साराभाई नवाब के पास थी और अब बम्बई के कुसुम और राजेय स्थली के निजी संग्रहालय में है। बारहवीं शती की इस पटली की रचना सिद्धराज जयसिंह चालुक्य, १०६४-११४४ ई०, के शासनकाल में विजय-सिंहाचार्य के लिए हुई थी। इसका रचनास्थल राजस्थान होना चाहिए। भरत-बाहुबली-युद्ध इस पटली के पृष्ठभाग पर प्रस्तुत है जिस पर घुमावदार लतावल्सरियों के वृत्ताकारों में हाथी, पक्षी और पौराणिक शेरों के भालकारिक अभिप्राय अंकित हैं।

उत्तर और दक्षिण की बाहुबली-मूर्तियों में रचना-भेद बाहुबली की मूर्तियों की सामान्य विशेषता यह है कि उनकी जंवाघो, भुजाओं और बक्षस्थल पर लताएँ उत्कीर्ण रहती हैं जो इस बात की परिचायक हैं कि बाहुबली ने एक स्थान पर खड़े होकर इतने दीर्घ समय तक कायोत्सर्ग ध्यान किया कि उनके शरीर पर बेलें बढ़ गयीं।

दक्षिण की मूर्तियों में चरणों के पास साँप की बाँबियाँ (बमोठे) हैं जिनमें से साँप निकलते हुए दिखाये गए हैं। किन्तु उत्तर की मूर्तियों में, प्रभासपाटन की मूर्ति को

छोड़कर सम्भवतः और किसी में साँप की बाँबियाँ नहीं दिखायी गयी हैं।

उत्तर भारत की मूर्तियों बाहुबली की बहिनों— ब्राह्मी और सुन्दरी का अंकन नहीं है। जहाँ भी दो स्त्रियाँ दिखायी गई हैं वे या तो सेविकाएँ हैं, या फिर बिद्या-घरियाँ जो लता गुच्छों का प्रसिद्ध भाग हाथ में धामे हैं, मानो शरीर पर से लताएँ हटा रही हैं। एलोरा की गुफा की बाहुबली मूर्ति में जो दो महिलाएँ अंकित हैं वे मुकुट और आभूषण पहने हैं। वे ब्राह्मी और सुन्दरी हो सकती हैं।

विलहरी की दो मूर्तियों में से एक में दो सेविकाएँ, जो विद्याघरी भी हो सकती हैं, लतावृत्त धामे हुए हैं। ये त्रिमंग-मृदा में हैं। मूर्ति के दोनों ओर और कन्धों के ऊपर त्रिन-प्रतिमाएँ हैं। दूसरी मूर्ति में अक्ष-सेविकाएँ प्रणाम की मृदा में लता-गुच्छ धामे दिखायी गयी हैं।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उत्तर भारत की कायो-त्सर्ग प्रतिमाओं में बाहुबली को साक्षात् तीर्थंकर की प्रतिष्ठा दशनि के लिए सिंहासन, चर्मचक्र, एक-दो या तीन छत्र आभूषण, मालाघारी, दुन्दुभिवादक और यहाँ तक कि यक्ष-यक्षियों का भी समावेश कर लिया गया। श्रीवत्स चिह्न तो अंकित हैं ही।

इसीलिए प्रथम कामदेव बाहुबली को अब सम्पूर्ण अद्भुतभाव से भगवान् बाहुबली कहा जाता है, और उनकी मूर्ति को तीर्थंकर-मूर्ति के समान पूजा जाता है।

धोती पहने बाहुबली की मूर्तियाँ भी कतिपय श्वेतांबर मन्दिरों में प्राप्त हैं। दिलवाड़ा (राजस्थान) मन्दिर की विमलवसहि, शत्रुजय (गुजरात) के धादिनाथ मन्दिर और कुम्भारिया (उत्तर गुजरात) के शान्तिनाथ मन्दिर में लगभग ११-१२वीं शताब्दी की इस प्रकार की मूर्तियाँ प्राप्त हैं। इन मूर्तियों का यद्यपि अपना एक विशेष सौंदर्य है तथापि यह कहना अनुचित न होगा कि बाहुबली की तपस्या और उनकी कायोत्सर्ग मुद्रा का समस्त सहज प्रभाव दिग्दर्शकत्व में ही है।

विदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ,

बी/४५-४७, कनाट प्लेस, नई दिल्ली-१

इन्द्रगिरि के गोम्मटेश्वर

□ श्री राजकृष्ण जैन

इन्द्रगिरि यह पर्वत बड़ी पहाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। इसे दोट्टवेट और बिन्ध्यगिरि भी कहते हैं। यह समुद्र तट से ३३४७ फुट और नीचे के मैदान से ४७० फुट ऊंचा है। ऊपर चढ़ने के लिए कोई ६०० सीढ़ी है। इसी पहाड़ पर विश्वविख्यात ५७ फुट ऊंची खड्गासन गोम्मटेश्वर की सौम्य मूर्ति है। यह मूर्ति १४-१५ मील से यात्रियों को प्रथम तो एक छबजा के स्तम्भ के आकार में दिखाई देती है, किन्तु पास घाने पर उसे एक विस्मय में डालने वाली, अपूर्व और अलौकिक प्रतिमा के दर्शन होते हैं। यात्री अगाध शान्ति का अनुभव करता है और अपने जीव की सफल मानता है।

गोम्मटेश्वर की मूर्ति

यह दिगंबर, उत्तराभिमुखी, खड्गासन ध्यानस्थ प्रतिमा समस्त संसार की आश्चर्यकारी वस्तुओं में से एक है। सिर पर केशों के छोटे-छोटे कुंतल, कान बड़े और लम्बे, वक्षःस्थल चौड़ा, नीचे लटकती हुई विशाल भुजाएं और कटि किञ्चित् झोपी है। घुटनों से नीचे की ओर टांगें सर्वाकार हैं। मूर्ति की आँखें, इसके ओष्ठ, इसकी ठुण्डी, घाँखों की मोहें सभी अनुपम और लावण्यपूर्ण हैं। मुख पर अपूर्व कान्ति और अगाध शान्ति है। घुटनों से ऊपर तक बाँवियाँ दिखाई गई हैं, जिनसे कुक्कुट सर्प निकल रहे हैं, दोनों पैरों और भुजाओं से माषवी लता लिपट रही है। मुख पर अचल ध्यान-मुद्रा अङ्कित है। मूर्ति क्या है मानीं त्याग, तपस्या और शान्ति का प्रतीक है। दुष्य बढ़ा ही भव्य और प्रभावशाली है। पादपीठ एक विकसित कमल के आकार का बनाया गया है। निःसंदेह मूर्तिकार ने अपने इस अपूर्व प्रयास में सफलता प्राप्त की है। समस्त संसार में गोम्मटेश्वर की तुलना करने वाली मूर्ति कहीं भी नहीं है। इतने भारी और विशाल पाषाण पर सिद्ध हस्त कलाकार ने जिस कीशल से अपनी छिनी चलाई है उससे

भारत के मूर्तिकारों का मस्तक सदैव गर्व से ऊंचा रहेगा।

बाहुबली (गोम्मटेश्वर) की मूर्ति यद्यपि जैन है तथापि न केवल भारत, अपितु सारे संसार का अलौकिक धन है। शिल्पकला का बेजोड़ रत्न है, विशेष मानव जाति की यह अमूल्य धरोहर है। इतने सुन्दर प्रकृतिप्रदत्त पाषाण से इस मूर्ति का निर्माण हुआ है कि १००० वर्ष से अधिक बीतने पर भी यह प्रतिमा सूर्य, मेघ, वायु आदि प्रकृति देवी की अमोघ शक्तियों से बाँते कर रही है। उसमें किसी प्रकार की भी क्षति नहीं हुई और ऐसा प्रतीत होता है कि शिल्पी ने इसे अभी टांकी से उत्कीर्ण किया है।

गोम्मटेश्वर की मूर्ति आज के शुद्ध संसार को देशना दे रही है कि परिग्रह और भौतिक पदार्थों की ममता पाप का मूल है। जिस राज्य के लिए भरतेश्वर ने मुक्त से संग्राम किया, मैंने जीतने पर भी उस राज्य को जीर्णतृणवत् समझ कर एक क्षण में छोड़ दिया। यदि तुम शान्ति चाहते हो तो मेरे समान निर्द्वन्द्व होकर आत्मरत हो।

एक बार स्वर्गीय ड्यूक आफ बैलिंगटन जब वे सरिंगापटन का घेरा डालने के लिए अपनी फौजों की कमाण्ड कर रहे थे, मार्ग में इस मूर्ति को देख कर अहर्षाश्रित हो गए और ठीक हिसाब न लगा सके कि इस मूर्ति के निर्माण में कितना रुपया तथा समय व्यय हुआ है।

गोम्मटेश्वर कौन थे और उनकी मूर्ति यहां किसके द्वारा किस प्रकार और कब प्रतिष्ठित की गई, इसका कुछ उत्प्रेक्ष्य शिलालेख नं० २३४ (८५) में पाया जाता है। यह लेख एक छोटा-सा सुन्दर कन्नड काव्य है जो सन् ११८० ई० के लगभग बोप्पनकवि के द्वारा रचा गया था, वह इस प्रकार है।

“गोम्मट, पुरुदेव अपर नाम ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर के पुत्र थे। इनका नाम बाहुबली या भुजबली भी था।

इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत थे। ऋषभदेव के दीक्षित होने के पश्चात् भरत और बाहुबली दोनों भाइयों में साम्राज्य के लिए युद्ध हुआ, इसमें बाहुबली की विजय हुई, पर ससार की गति से विरक्त हो उन्होंने राज्य अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को सौंप दिया और आप तपस्या करने वन में चले गए। थोड़े ही काल में तपस्या के द्वारा उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। भरत ने जो भव चक्रवर्ती हो गए थे, पौदनपुर में स्मृति रूप उनकी शरीरकृति के अनुरूप ५२५ घनुष प्रमाण की एक प्रतिमा स्थापित कराई, समयानुसार मूर्ति के आसपास का प्रदेश कुक्कुट सर्पों से व्याप्त हो गया, जिससे उस मूर्ति का नाम कुक्कुटेश्वर पड़ गया। धीरे-धीरे-धीरे वह मूर्ति लुप्त हो गई और उसके दर्शन केवल मुनियों की ही मन्त्रशक्ति से प्राप्त होतेथे। गगनरेण राक्षमल्ल के मंत्री चामुण्डगय ने इस मूर्ति का वृत्तान्त सुना और उन्हें इसके दर्शन करने की प्रमिलाषा हुई। पर पौदनपुर की यात्रा अशक्य जान उन्होंने उसी के समान एक सौम्य मूर्ति स्थापित करने का विचार किया और तदनुसार इस मूर्ति का निर्माण कराया।" प्रागे कवि ने अपने भावों की अत्यन्त रसपूर्ण सुन्दर कविता में वर्णन किया है। जिसका भाव इस प्रकार है :—

“यदि कोई मूर्ति अत्युन्नत (विशाल) हो, तो यह आवश्यक नहीं कि वह सुन्दर भी हो। यदि विशालता और सुन्दरता दोनों हो, तो यह आवश्यक नहीं, कि उसमें अलौकिक वैभव भी हो। गोम्मटेश्वर की मूर्ति में विशालता, सुन्दरता और अलौकिक वैभव, तीनों का सम्मिश्रण है। अतः गोम्मटेश्वर की मूर्ति में बह कर संसार में उपानना के योग्य क्या वस्तु हो सकती है ?

यदि माया (शची) इनके रूप का चित्र न बना सकती, १,००५ नेत्र वाला इन्द्र भी इनके रूप को देखकर तृप्त न हुआ और २००० जिह्वा वाला नागेश्वर (अविशेष) भी इनका गुणगान करने में असमर्थ रहा, तो दक्षिण के अनुपम और विशाल गोम्मटेश्वर के रूप का कौन चित्रण कर सकता है। कौन उनके रूप को देखकर तृप्त हो सकता है और कौन उनका गुणगान कर सकता है ?

पक्षी भूलकर भी इस मूर्ति के ऊपर नहीं उड़ते। बाहुबली की दोनों काखों में से केशर की सुगन्ध निकलती

है। तीनों लोको के लोगों ने यह आश्चर्यजनक घटना देखी। वहकौन है जो इस तेजस्वी मूर्ति का ठीक वर्णन कर सकता है ?

नागराजों का प्रख्यात संसार (पाताललोक) जिसकी नींव है, पृथ्वी (मध्यलोक) जिसका आधार है, परिविचक्र जिसकी दीवारें हैं, स्वर्गलोक (ऊर्ध्वलोक) जिसकी छत है, जिसकी भट्टारी पर देवों के रथ हैं, जिनका ज्ञान तीन लोकों में व्याप्त है। अतः वही त्रिलोक गोम्मटेश्वर का निवास है।

क्या बाहुबली अनुपम सुन्दर हैं ? हां, वे कामदेव हैं। क्या वे बलवान हैं ? हां, उन्होंने सम्राट् भरत को परास्त कर दिया है। क्या वे उदार हैं ? हां, उन्होंने जीता हुआ साम्राज्य भरत को वापिस दे दिया है। क्या वे मोह रहित हैं ? हां, वे ध्यानस्थ हैं और उनको केवल दो पैर पृथ्वी से सन्तोष है जिस पर वे खड़े हैं। क्या वे केवलज्ञानी हैं ? हां, उन्होंने कर्मबन्धन का नाश कर दिया है।

जो मन्मथ से अधिक सुन्दर है, उत्कृष्ट भुजबल की धारण करने वाले हैं, जिगने सम्राट् के गर्व को लण्डित कर दिया, राज्य की त्यागने से जिसका मोह नष्ट हो गया, जिसने कैवल्य प्राप्त करके सिद्धत्व पा लिया, समस्त संसार ने जिन पर नमस्कार पुष्पों की वर्षा देखी, उन पुष्पों की चमक और दिव्य सुगन्ध परिविचक्र से प्रागे चली गई। ...गोम्मटेश्वर के मस्तक पर पुष्पवृष्टि देखकर स्त्री, पुरुष, बालक और पशु समूह भी हर्षित हो उठा। बेल्गोल के गोम्मटेश्वर के चरणों पर पुष्पवृष्टि ऐसी प्रतीत होती थी, मानो उज्ज्वल तारा समूह उनके चरणों की वन्दना को आया हो। बाहुबली पर ऐसी पुष्पवृष्टि या तो उस समय हुई थी, जब उन्होंने द्वाद युद्ध में भारत को परास्त किया या उस समय हुई जब उन्होंने कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त की।

अय प्राणी ! तू व्यर्थ जन्म रूपो बन में भ्रमण कर रहा है। तू मिथ्या देवों में क्यों भ्रष्टा करता है ? तू सर्वश्रेष्ठ गोम्मटेश्वर का चिन्तन कर। तू जन्म, बुढ़ापा और क्षेद से मुक्त हो जायगा।

गोम्मटेश्वर की यह विशाल मूर्ति देशना कर रही है कि कोई प्राणी हिमा भूट, चोरी, कुशील और परिग्रह में

सुख न माने अन्यथा मनुष्य जन्म बेकार जायगा।

बाहुबली को निरपराध स्त्रियों का विलाप भी न रोक सका। उनका रोना उनके कानों तक नहीं पहुँचा। बिना कारण परित्याग करने पर उनको बसन्त ऋतु, चन्द्रमा, पुष्प धनुष और बाण ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे नायक के बिना नाट्य मंडली। बावियाँ और शरीर पर लिपटी हुई माधवी लता बतला रही है कि पृथ्वी बिना कारण परित्याग के सिमट गई हो और लतारूप शोकग्रस्त स्त्रियों ने उनकी आलिंगन कर लिया हो।

बाहुबली को भरतेश्वर की प्रार्थना भी न रोक सकी। भरत ने कहा था कि “भाई ! मेरे ६८ भाइयों ने संसार-त्याग करके दीक्षा धारण कर ली है। यदि आप भी तपश्चरण को जायगे, तो यह राज्य सम्पदा मेरे किम काम आगयी ?”

गोम्मटदेव ! आपकी वीरता प्रशंसनीय है। जब आपके बड़े भाई भरत ने प्रार्थना की, कि आप यह विचार छोड़ दें कि आपके दोनों पाँव मेरी पृथ्वी में है। पृथ्वी न मेरी है न आपकी। भगवान ने बतलाया है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ही आत्मा के निजी गुण हैं। ऐसा सुनते ही आपने सर्वं गवं त्याग दिया और आपको कैवल्य की प्राप्ति हुई।

गोम्मटदेव यह आप ही के योग्य था। आपके तपश्चरण से आपको स्थायी सुख मिला तथा औरों को आपने मार्गप्रदर्शक का कार्य किया। आपने घातिया कर्मों का नाश करके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख प्राप्त किया और अघातिया कर्मों के नाश से अपने सिद्धत्व प्राप्त किया।

हे गोम्मटदेव ! जो लोग इन्द्र के समान सुगन्धित पुष्पों से आपके चरण कमल पूजते हैं, प्रसन्नचित्त होकर दर्शन करते हैं, आपकी परिक्रमा करते हैं और आपका गान करते हैं, उनसे अधिक पुण्यशाली कौन होगा ?”

यह वर्णन थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ ‘भुजबलिशतक’, ‘भुजबलिचरित’, ‘गोम्मटेश्वर चरित्र’, ‘राजाबलिकथा’ तथा ‘स्थलपुराण’ में भी पाया जाता है।

‘भुजबलिचरित’ के अनुसार जैनार्थ्य जिनसेन ने

पोदन-पुरस्थ मूर्ति का वर्णन चामुण्डराय की माता काल देवी को सुनाया। उसे सुन कर मातश्री ने प्रण किया कि जब तक गोम्मटदेव के दर्शन न कर लूंगी, दुःख नहीं लूंगी। मातृभक्त चामुण्डराय ने यह संवाद अपनीपत्नी अजितादेवी के मुख से सुना और तत्काल गोम्मटेश्वर की यात्रा को प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होंने श्रवणबेलगोल की चन्द्रगुप्त बस्ती में भगवान् पार्श्वनाथ के दर्शन किए और अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के चरणों की वन्दना की। रात्रि का स्वप्न आया कि पोदनपुर वाली गोम्मटेश्वर की मूर्ति का दर्शन केवल देव कर सकते हैं, वहाँ वन्दना तुम्हारे लिए अगम्य है, पर तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर गोम्मटेश्वर तुम्हें यही दर्शन देंगे। तुम मन, वचन, काय की शुद्धि में सामने वाले पर्वत पर एक स्वर्णबाण छोड़ो और भगवान् के दर्शन करो। मातश्री को भी ऐसा ही स्वप्न हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल ही चामुण्डराय ने स्नान पूजन व शुद्ध हो चन्द्रगिरि की एक शिला पर अवस्थित होकर, दक्षिण दिशा को मुख करके एक स्वर्णबाण छोड़ा, जो बड़ी पहाड़ी (विन्ध्यगिरि) के मस्तक पर जाकर लगा। बाण लगा ही विन्ध्यगिरि का शिखर काँ उठा, पत्थरों की पपड़ा टूट पड़ी और मैत्री, प्रमोद और करुणा का ब्रह्मविहार दिखलाता हुआ गोम्मटेश्वर का मस्तक प्रकट हुआ। चामुण्डराय और उसकी माता की आँखों से भक्तिवश अविरल अश्रुधारा बहने लगी। तुरंत असंख्य मूर्तिकाएँ वहाँ आ गयीं। प्रत्येक के हाथ में हीरे की एक-एक छँनी थी। बाहुबली के मस्तक के दर्शन करते जाते थे और आस-पास के पत्थर उतारते जाते थे। कन्वे प्रकट हुए, छाती दिखाई देने लगी, विशाल बाहुओं पर लिपटी हुई माधवालता दिखाई दी। वे पेरों तक आ पहुँचे। नीचे बाँमियों में से कुक्कुट सर्प निकल रहे थे, पर बिल्कुल अहिसक। पेरों के नीचे एक विकसित कमल निकला। भक्त माता का हृदय-कमल भी खिल गया और उसने कृतायं और ध्यानन्दिता हो ‘अय गोम्मटेश्वर’ की ध्वनि की। आकाश से पुष्पनृष्टि हुई और सभी घण्य-घण्य कहने लगे। फिर चामुण्डराय ने कारोगरों से दक्षिण बाजू पर ब्रह्मदेव सहित पाताल गम्ब, सन्मुख यज्ञगम्ब, ऊपर का खण्ड, त्यागदकम्ब, अखण्ड वागिलु नामक दरवाजा और

धनत्रय सोढ़िया बनवाई। दरवाजे पर ही एक भव्यात्मा गुलकाय देवी की मूर्ति है।

इसके पश्चात् अभिषेक की तैयारी हुई। उस समय एक वृद्धा महिला गुलकायजी नाम की, एक नारियल की प्याली में अभिषेक के लिए थोड़ा-सा अपनी गाय का दूध ले आई और लोगों से कहने लगी कि मुझे अभिषेक के लिए यह दूध लेकर जाने दो, पर बिचारी बुढ़िया की कौन सुनता ? वृद्धा प्रतिदिन सबेरे गाय का दूध लेकर आती और अघेरा होने पर निराश होकर घर लौट जाती। इस प्रकार एक मास बीत गया। अभिषेक का दिन आया पर चामुण्डराय ने जितना भी दुग्ध एकत्रित कराया उससे अभिषेक न हुआ। हजारों घड़े दूध डालने पर भी दुग्ध गोम्मटेश्वर की कटि तक भी न पहुँचा। चामुण्डराय ने पबरा कर प्रतिष्ठाचार्य से कारण पूछा। उन्होंने बतलाया कि मूर्ति निर्माण पर जो तुमने कुछ गर्व की आभा-सी छा गई है इसलिए दुग्ध कटि से नीचे नहीं उतरता। उन्होंने आदेश दिया कि जो दुग्ध वृद्धा गुलिकाया अपनी कटोरी में लाई है उससे अभिषेक कराओ। चामुण्डराय ने ऐसा ही किया, और उस अत्यल्प दुग्ध की धारा गोम्मटेश के मस्तक पर छोड़ते ही न केवल समस्त मूर्ति का अभिषेक हुआ, बल्कि सारी पहाड़ी दुग्धमय हो गई चामुण्डराय को ज्ञान हुआ कि इतनी मेहनत, इतना व्यय और इतना वैभव भक्ति भरी एक दुग्ध की कटोरी के सामने तुच्छ है।

इसके पश्चात् चामुण्डराय ने पहाड़ी के नीचे एक नगर बसाया और मूर्ति के लिए ६६,००० बरह की आग के गांव लगा दिए। अपने गुरु अजितसेन के कहने पर उस गांव का नाम अमणबेलगोल रखा और उस गुलकायजि वृद्धा की मूर्ति भी बनवाई।

‘गोम्मटेश्वर चरित’ में लिखा है कि चामुण्डराय के स्वर्णबाण चलाने से जो गोम्मट की मूर्ति प्रकट हुई थी, चामुण्डराय ने उसे मूर्तिकारों से सुघटित कराकर अभिषिक्त और प्रतिष्ठित कराई।

‘स्तलपुराण’ के अनुसार चामुण्डराय ने मूर्ति के हेतु एक लाख छयानवे बरह की आग के प्रामों का दान दिया। राजाबलिकथा के अनुसार प्राचीन काल में राम,

रावण और रावण की रानी मण्डोदरी ने बेल्गोल की गोम्मटेश्वर की वन्दना की थी।

मुनिवशाभ्युदय काव्य में लिखा है कि गोम्मट की मूर्तिको राम और सीता लङ्का से लाए थे। वे इसका पूजन करते थे। जाते समय वे इस मूर्ति को उठाने में असमर्थ रहे इसी से वे उन्हें इस स्थान पर छोड़ कर चले गए।

उपर्युक्त प्रमाणों से यही विदित होता है कि इस मूर्ति की स्थापना चामुण्डराय ने ही कराई थी। ५७ फुट की मूर्ति खोद निकालने योग्य पाषाण कहीं और स्थान से लाकर इतने ऊँचे पर्वत पर प्रतिष्ठित किया जाना बुद्धिमत्त्व नहीं है। इसी पहाड़ पर प्रकृति-प्रदत्त स्तम्भाकार चट्टान काट कर इस मूर्ति का निर्माण हुआ है। मूर्ति के सम्मुख का मण्डप नव सौन्दर्य से सज्जित छतों से सजा हुआ है। गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा और उपासना

बाहुबली चरित्र में गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा का समय कल्कि सवत् ६०० में विभवसवत्सर चैत्र शुक्ल ५ रविवार को कुम्भ लगन, सौभाग्ययोग, मृगशिरा नक्षत्र लिखा है। विद्वानों ने इस संवत् की तिथि २३ मार्च सन् १०२८ निश्चित की है।

प्रश्न हो सकता है कि बाहुबली की मूर्ति की उपासना कैसे प्रचलित हुई। इसका प्रथम कारण यह है कि इस अवसर्पिणी काल में सब प्रथम भगवान् ऋषभदेव से भी पहले मोक्ष जाने वाले क्षत्रिय वीर बाहुबली ही थे। इस युग के आदि में इन्होंने ही सर्वप्रथम मुक्ति-पथ प्रदर्शन किया। दूसरा कारण यह हो सकता है कि बाहुबली के अपूर्व त्याग, भौतिक आत्मनिग्रह और निज शत्रु-प्रेम आदि प्रसाधारण एवं अमानुषिक गुणों ने सर्वप्रथम अपने बड़े भाई सम्राट् भरत को इन्हें पूजने की बाध्य किया और तत्पश्चात् औरों ने भी भरत का अनुकरण किया। चामुण्डराय स्वयं वीरमार्तण्ड थे, सुयोग्य सेनापति थे। अतः उनके लिए महाबाहु बाहुबली से बढ़ कर दूसरा कोई आदर्श व्यक्ति न था। यही कारण है कि अग्र्य क्षत्रियों ने भी चामुण्डराय का अनुसरण करके कारकल और तेलूर में गोम्मटेश की मूर्तियाँ स्थापित कराईं।

गोम्मटेश्वर नाम क्यों पड़ा ?

प्रश्न हो सकता है कि बाहुबली की मूर्ति का नाम गोम्मट क्यों पड़ा ? संस्कृत में गोम्मट शब्द मम्मथ (कामदेव) का ही रूपान्तर है। इसलिए बाहुबली की मूर्तियाँ गोम्मट नाम से प्रख्यात हुईं। इतना ही नहीं, बल्कि मूर्ति स्थापना के पश्चात् इस पुण्य कार्य की स्मृति को जीवित रखने के लिए सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्यप्रवर श्री नेमिचन्द्र जी ने चामुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मटराय' के नाम से ही किया और अपने शिष्य चामुण्डराय के लिए रचे हुए 'पंच संग्रह' ग्रन्थ का नाम उन्होंने गोम्मटसार रखा। चामुण्डराय का धरू नाम भी गोम्मट था। इसलिए भी कहा जाता है कि मूर्ति का नाम गोम्मटेश्वर पड़ा।

मूर्ति का आकार

भगवान बाहुबली की इतनी उन्नत मूर्ति का नाप लेना कोई सरल कार्य नहीं है। सन् १८६५ में मैसूर के चीफ कमिश्नर श्री बोरिंग ने मूर्ति का ठीक-ठीक माप करा कर उसकी ऊँचाई ५७ फुट दर्ज की थी। सन् १८७१ ईस्वी में महामस्तकाभिषेक के समय मैसूर के सरकारी भक्तियों ने मूर्ति के निम्न माप लिये—

	फुट	इंच
चरण से कर्ण के अधोभाग तक	५०	०
कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक	६	६
चरण की लम्बाई	६	०
चरण के प्रग्रभाग की चौड़ाई	४	६
चरण का अंगुष्ठ	२	६
पाद पृष्ठ की ऊपर की गोलाई	६	४
जंघा की प्रग्र गोलाई	१०	०
नितम्ब से कर्ण तक	२४	६
पृष्ठ-प्रस्थि के अधोभाग से कर्ण तक	२०	०
नाभि के नीचे उदर की चौड़ाई	१३	०
कटि की चौड़ाई	१०	०
कटि और टेहुनी से कर्ण तक	१७	०
बाहुमूल से कर्ण तक	७	०
वक्षःस्थल की चौड़ाई	२६	०
श्रोवा के अधोभाग से कर्ण तक	२	६
तर्जनी की लम्बाई	३	६
मध्यमा की लम्बाई	५	३
प्रनामिका की लम्बाई	४	७
कनिष्ठका की लम्बाई	२	८

[स्व० श्री राजकृष्ण जैन कृत पुस्तक 'श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ' से उद्धृत]



सम्यक्त्व-मूर्ति चामुण्डराय

[गोम्मटसार की कन्नड़ी टीका श्री केशव वर्णी ने शक सं० १२८१ में की थी उसकी प्रशस्ति में चामुण्डराय के विषय में निम्न उल्लेख दृष्टव्य है (इसे पृष्ठ ५६ के लेख के शेषांश के रूप में भी पढ़ा जाए) — सत्पावक

श्री महाप्रतिहतप्रभावा स्याद्वादशासनगुह्याभ्यन्तरनिवासि सिंहायमान सिंहनंदी मुनीश्वराभिनवित गंगवंश ललाम राज सर्वज्ञाद्यनेक गुणनामधेय भागधेय श्रीमद्वाचमल्ल देव महोदयस्य महामात्यपद विराजमान रणरग-मल्ल सहाय पराक्रम गुणरत्नभूषण सम्यक्त्वरत्न निलायादिविविधगुणनामसमासावित कीर्तिकान्त श्रीमच्छा-मुण्डराय प्रवनाबतीर्णक चत्वारिंशत्पदानाम सत्प्रकरणद्वारेणाशेषविनेयजन निकुरवातबोधनार्थ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती शास्त्रमकरोत् । कार्णाटिकी वृत्तिर्बर्णि केशवः कुतम् ।”

—“स्याद्वाद-शासनरूपी गुफा के मध्य निवास करने वाले—स्याद्वाद के अनुगामी और (बाहियों में) सिंह के समान आचरण करने वाले अप्रतिहत प्रभावी सिंहनंदी नामक मुनि से अभिनंदित, सर्वज्ञ (?) आदि अनेक गुण नाम के धारक, भाग्यशाली गंगवंश के अवतंस राजा राक्षमल्ल के महामात्यपद पर आसीन, रणभूमि में मल्ल, पराक्रमरूपी, गुणरत्न के भूषण, सम्यक्त्वरूपी रत्न के निवास आदि विविध गुणों से युक्त और कीर्ति से बँदोप्यमान श्रीमद् चामुण्डराय के प्रशंनों के कारण से—समस्तशिष्य समूह के ज्ञान के लिए सिद्धान्तचक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्र जी द्वारा इकतालीस पदों वाली सत्-प्रकरण का अवतरण हुआ—शास्त्र (गोम्मटसार) बनाया गया। जिसकी कर्णाटकी वृत्ति (टीका) केशववर्णी द्वारा बनाई गई।”

जैन-परम्परा में सन्त और उनकी साधना-पद्धति

□ डा० वैवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

जैन सन्त : लक्षण तथा स्वरूप

सामान्यतः भारतीय सन्त साधु, मुनि, तपस्वी या यतिके नाम से अभिहित किए जाते हैं। समय की गतिशील धारा में साधु-सन्तों के इनने नाम प्रचलित रहे हैं कि उन सबको गिनना हम छोटे से निबन्ध में सम्भव नहीं है। किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन-परम्परा में साधु, मुनि तथा श्रमण शब्द विशेष रूप से प्रचलित रहे हैं। साधु चारित्र्य वाले सन्तों के नाम हैं।^१ श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दन्त या यति। बौद्ध परम्परा के श्रमण, क्षपणक तथा भिक्षु शब्दों का प्रयोग भी जैनवाद में जैन साधुओं के लिए दृष्टिगत होता है। हमारी धारणा यह है कि साधु तथा श्रमण शब्द अत्यन्त प्राचीन हैं। शौरसेनी आगम ग्रन्थों में तथा नमस्कार-मन्त्र में 'साहू' शब्द का ही प्रयोग मिलना है। परवर्ती काल में जैन आगम ग्रन्थों में तथा आचार्य कुन्दकुन्द आदि की रचनाओं में साहू तथा सपण दोनों शब्दों के प्रयोग भली-भाँति लक्षित होते हैं।

साधु का अर्थ है^२ — अनन्त ज्ञानादि स्वरूप शुद्धात्म की साधना करने वाला। जो अनन्त ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख और आध्यात्मिक सम्यक्त्वादि गुणों का साधक है, वह साधु कहा जाता है। 'सन्त' शब्द से भी यही भाव ध्वनित होता है क्योंकि सत्, चित् और आनन्द को उपलब्ध होने वाला सन्त कहलाता है। इसी प्रकार जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टी के देने, स्वर्ण और जीवन-मरण के प्रति सदा समताका भाव बना रहता है, वह श्रमण है^३। दूसरे शब्दों में जिसके राग-द्वेष

का द्वैत प्रकट नहीं होता, जो सतत विषुद्धदृष्टि-स्वभाव शुद्धात्म-तत्त्व का अनुभव करता है, वही सच्चा साधु किंवा सन्त है। इस प्रकार धर्मपरिणत स्वरूपवाला आत्मा शुद्धोपयोग में लीन होने के कारण सच्चा सुख अथवा मोक्ष सुख प्राप्त करता है। साधु-सन्तों की साधना का यही एक मात्र लक्ष्य होता है। जो शुद्धोपयोगी श्रमण होते हैं, वे राग-द्वेषादि से रहित धर्म-परिणत स्वरूप शुद्ध साध्य को उपलब्ध करने वाले होते हैं, उन्हें ही उत्तम मुनि कहते हैं। किन्तु प्रारम्भिक भूमिका में उनके निकट-वर्ती शुभोपयोगी साधु भी गौण रूप से श्रमण कहे जाते हैं। वास्तव में परमजिनकी आराधना करने में सभी जैन सन्त-साधु स्व शुद्धात्मा के ही आराधक होते हैं क्योंकि निष्वात्मा की आराधना करके ही वे कर्म-शत्रुओं का विनाश करते हैं।

साधु के अनेक गुण कहे गए हैं। किन्तु उनमें मूल गुणों का होना अत्यन्त अनिवार्य है। मूल गुण के बिना कोई जैनसाधु नहीं हो सकता। मूलगुण ही वे बाह्य लक्षण हैं जिनके आधार पर जैन सन्त की परीक्षा की जाती है। यथार्थ में निर्विकल्पता में स्थित रहने वाले साम्य-दशा को प्राप्त साधु ही उत्तम कहे जाते हैं। परन्तु अधिक समय तक कोई भी श्रमण सन्त निर्विकल्प दशा में स्थित नहीं रह सकता। अतएव सम्यक् रूप से व्यवहार चारित्र्य का पालन करते हुए अविच्छिन्न रूप से सामायिक में मग्न होते हैं। चारित्र्य का उद्देश्य मूल में समताभाव की उपासना है। वरुण दिगम्बर और वसु दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मुनियों के चारित्र्य को महत्त्व दिया गया है। चारित्र्य दो

१. समणोत्ति संज्जोत्ति य रिस्सिमुणिसाधुत्ति वोदराणोत्ति ।
णामणि सुविहिदाण अणगार भदन्त दत्तोत्ति ॥
मूलाचार, गा० ८८६

२. "अनन्तज्ञानादिविशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः ।"
— धवला टीका, १, १, १

३. समानुबन्धुवग्गो समसुहृदुवखो पसंसणिदसमो ।

समलोठुकंणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥

प्रवचनसार, गा० २४१

प्रकार का कहा गया है—सयम्भवाचरण चारित्र और सयमाचरण चारित्र। प्रथम सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट जिनायम में प्रतिपादित सत्त्वार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानकर श्रद्धावान करना तथा शकादि अनिचार मल-दोष रहित निर्मलता सहित निःस्पृहित आदि अष्टांग गुणों का प्रकट होना सयम्भवाचरण चारित्र है। द्वितीय महाव्रतादि से युक्त अष्टांग मूल गुणों का संयमाचरण है^१। परमार्थ में तो श्रमण के निर्विकल्प सामायिकसयम रूप एक ही प्रकार का अभेद चारित्र होता है। किन्तु उसमें विकल्प या भेद-रूप होने से श्रमणों के मूलगुण कहे जाते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार सभी काल के तीर्थंकरों के शासन में सामायिक संयम का ही उपदेश दिया जाता रहता है। किन्तु अन्तिम तीर्थंकर महावीर तथा आदि तीर्थंकर ऋषभ-देव ने छेदोपस्थापना का उपदेश दिया था^२। इसका कारण मुख्य रूप से बोर मिथ्यात्वी जीवों का होना कहा जाता है। आदि तीर्थ में लोग सरल थे और अन्तिम में कुटिल बुद्धि वाले। अष्टाईस मूलगुण इस प्रकार कहे गए हैं^३ : पाँच महाव्रत, पाँच क्षमिति, पाँच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक केशलोच, नग्नत्व अस्नान, भूमिशयन, दन्तधावन-वर्जन, लड़े होकर भोजन और एक बार आहार। श्वेताम्बर परम्परा में भी पाँच महाव्रतों को अनिवार्य रूप से माना गया है। पाँच महाव्रतों और पाँच क्षमितियों के बिना कोई जैनश्रमि नहीं हो सकता। 'स्थानांगसूत्र' में दश प्रकार की समाधियों में पाँच महाव्रत तथा पाँच क्षमिति का उल्लेख किया गया है^४।

पाँच महाव्रतों में सब प्रकार के परिग्रह का त्याग हो

जाता है। जहाँ सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग है, वहाँ सभी वस्त्रों का भी त्याग है। कहा भी है—सम्पूर्ण वस्त्रों का त्याग, अचेलकता या नग्नता, केशलोच करना, शरीरादि से ममत्व छोड़ना या कायोत्सर्ग करना और मयूरपिच्छिका धारण करना - यह चार प्रकार का श्रौतसंगिक लिंग है^५। श्वेताम्बरों के मान्य आगम ग्रन्थ में भी साधु के अष्टाईस मूलगुणों में से कई बातें समान मिलती हैं। 'स्थानांग सूत्र' में उल्लेख है—'आर्यों ! ... मैंने पाँच महाव्रतात्मक, सप्रति-क्रमण और अचेल धर्म का निरूपण किया है। आर्यों, मैंने नग्नभावत्व, मुण्डभाव, अस्नान, दन्तप्रक्षालन-वर्जन, छत्र-वर्जन, पादुका-वर्जन, भूमि-शय्या, केशलोच आदि का निरूपण किया है^६। श्वेताम्बर-परम्परा में साधु के मूल गुणों की संख्या सामान्यतः छह मानी गई है^७। जिन भद्रगणि क्षमा-श्रमणने मूलगुणों की संख्या पाँच और छह दोनों का उल्लेख किया है सयम्भव से सहित पाँच महाव्रतों को उन्होंने पाँच मूलगुण कहा है^८। इन पाँच महाव्रतों के साथ रात्रिभोजन-विरमण मिला कर मूलगुणों की संख्या छह कही जाती है।

वास्तव में जैन साधु-सन्तों का स्वरूप दिगम्बर मुद्रा में विराजित वीतरागता में ही लक्षित होता है अतएव सभी भारतीय सम्प्रदायों में समानान्तर रूप से दिगम्बरत्व का महत्व किसी-न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। योगियों में परमहम साधुओं का स्थान सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। आजीवक श्रमण नग्न रूप में ही विहार करते थे। इसी प्रकार हिन्दुओं के कापालिक साधु नागा ही होते हैं जो आज भी विद्यमान हैं। यह परम्परा अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है। भारतीय सन्तों की परम्परा वैदिक और

१. जिणणाणदिट्ठिसुद्ध पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।

विदियं सज्जमचरण जिणणासदेसियं त पि ॥

चारित्तपाहुड, गा० ५

२. बावीसं तित्थयरां सामाइयसज्जम उवदिसंति ।

छेदुवट्ठवणियं पुण भयवं उसो य वीरो य ॥

मूलाचार, गा० ५३३

३. वडसमिदिदियरोओ लोबावसयमचेलमणहणं ।

खिदिसयणमवतभावणं ठिदिभोयणभेगभत्तं च ॥

एवे खलु मूनगुणा समणाणं जिणवरेहि पणत्ता ॥

प्रवचनसार, गा० २०८-२०९

४. ठाणांगसुत्त, स्या० १०, सूत्र ८

५. अच्वेलक्कं लोचो वोसट्टसरोरदा य पडिलिहणं ।

एसो तु लिंगवत्पो चदुव्विहो होदि उत्सग्गे ॥

भगवती आराधना, गा० ८२

६. मुनि नथमलः उत्तराध्ययन-एक समीक्षात्मक अध्ययन,

कलकत्ता, १९६८, पृ० १२८

७. विशेषावश्यक भाष्य, गा० १८२६

८. सम्मत्त समेयाइं महव्वयाणत्त्वयाइं मूलगुणा ।

वही, गा० १२४४

श्रमण इन दो रूपों में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रवाहित रही है। इसे ही हम दूसरे जनों में ऋषि-परम्परा तथा मुनि-परम्परा कह सकते हैं। मुनि-परम्परा अध्यात्मिक रही है जिसका सभी प्रकार से आर्हत संस्कृति से सम्बन्ध रहा है। ऋषि-परम्परा वेदों को प्रमाण मानने वाली पूर्णतः बाह्य रही है। श्रमण मुनि वस्तु-स्वरूप के विज्ञानी तथा आत्म-धर्म के उपदेष्टा रहे हैं। आत्म-धर्म की साधना के बिना कोई सच्चा श्रमण नहीं हो सकता। श्रमण-परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और संन्यास को प्रश्रय मिला^१। जैनधर्म में प्रारम्भ से ही वानप्रस्थ के रूप में ऐलक, क्षुल्लक (लंगोटी धारण करने वाले) साधकों का वर्ग दिगम्बर परम्परा में प्रचलित रहा है। संन्यासी के रूप में पूर्ण नग्न साधु ही मान्य रहे हैं।

केवल जैन साहित्य में ही नहीं, वेद उपनिषद्, पुराणादि साहित्य में भी श्रमण संस्कृति के पुरस्कर्ता 'श्रमण' का उल्लेख तपस्वी के रूप में परिलक्षित होता है^२। इन उल्लेखों के आधार पर जैनधर्म व आर्हत मत की प्राचीनता का निश्चित होता है। इतना ही नहीं, इस काल चक्र की धारा में अभिमत प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का भी सादर उल्लेख वैदिक वाङ्मय तथा हिन्दू पुराणों में मिलता है। अतएव इनकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं है। पुराण-साहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका से उद्धृत, पृ० १३

२. "तृदिला अतृदिलासो मद्रयो श्रमणा अश्रुयिता अमृतयवः।"
"श्रमणो श्रमणस्तापतो तापसोः..."

बृहदारण्यक, ४, ३, २२

वातरसना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः"
तैत्तिरीय धारण्यक, २ प्रपाठक, ७ अनुवाक, १-२ तथा

—तैत्तिरीयोपनिषद्, २, ७

"वातरसना य ह्वयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः।"

श्रीमद्भागवत ११, ६, ४७

"यत्र लोका न लोकाः...श्रमणो न श्रमणस्तापसो।"

—ब्रह्मोपनिषद्

"आत्मारामाः समदृशः श्रमणाः जना।"

—श्रीमद्भागवत १२, ३, १८

किं भिक्षुओं के पाँच महाव्रत या यम सर्वमान्य थे^३। 'जाबालोपनिषद्' का यह वर्णन भी ध्यान देने योग्य है कि निर्ग्रन्थ, निर्णयिही, नग्न-दिगम्बर साधु ब्रह्ममार्ग में सलग्न हैं^४। उपनिषद्-साहित्य में तुरीयातीत^५ अर्थात् सर्व-त्यागी संन्यासियों का जो वर्णन किया गया है, उनमें परमहंस साधु की भाँति अतनी उत्तनवर्षा लिए हुए आत्म-ज्ञान-ध्यान में लीन दिगम्बर जैन साधु कहे जाते हैं। संन्यासी को भी अपने शुद्धरूप में दिगम्बर बताया गया है^६। टीकाकारों ने 'अश्रुता' का अर्थ दिगम्बर किया है^७। भर्तृहरि ने दिगम्बर मुद्रा का महत्त्व बताते हुए यह कामना की थी कि मैं इस अवस्था को कब प्राप्त होऊँगा? क्योंकि दिगम्बरत्न के बिना कर्म-ज्वालों से मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है^८।

साधना-पद्धति

यथार्थ में स्वभाव की आराधना को साधना कहते हैं। स्वभाव की आराधना के समय समस्त अलौकिक कर्म तथा व्यावहारिक प्रवृत्ति गौण हो जाती है, क्योंकि उनमें राग-द्वेष की प्रवृत्ति होती है। वास्तव में प्रवृत्ति का मूल राग कहा गया है। अतः राग-द्वेष के त्याग का नाम निवृत्ति है। राग-द्वेष का सम्बन्ध बाहरी पर-पदाद्यों से होने के कारण उनका भी त्याग किया जाता है, किन्तु त्याग का मूल राग-द्वेष-मोह का अभाव है। जैसे-जैसे यह जीव

३. अस्तेय ब्रह्मचर्यञ्च असोभस्त्याग एव च।

व्रतानि पञ्च भिक्षुणमहिंसा परमातिवह॥

निगपुराण, ८६, २४

४. "यथावैतरूपधरो नियन्थो निर्णयिहस्तत्तद् ब्रह्ममार्गो..."

—जाबालोपनिषद् पृ० २०६

५. "संन्यासः षड्विधो भवति—कुटिचक्रं बहुदकहं परम-हंस तुरीयातीत प्रवक्ष्यमृति। संन्यासोपनिषद्, १३ तुरीयातीत—सर्वत्यागी तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या कला-हारी चेति गृहत्यागी देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरोरवृत्तिकः।

६. एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।

कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षतः॥

वैराग्यशतक, ५८ वि० सं० १६८२ का संस्करण

आत्म-स्वभाव में लीन होता जाता है, वैसे-वैसे धार्मिक क्रिया प्रवृत्ति रूप व्रत-नियमादि सहज ही छूटते जाते हैं। साधक दक्षा में साधु जिन मूलगुणों तथा उत्तरगुणों को साध्य के निमित्त समझकर पूर्व में अंगीकार करता है, व्यवहार में उनका पालन करता हुआ भी उनसे साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं मानता। इसीलिए कहा गया है कि व्यवहार में बन्ध होता है और स्वभाव में लीन होने से मोक्ष होता है। इसीलिए स्वभाव की आराधना के समय व्यवहार को गौण कर देना चाहिए। जिनकी व्यवहार की ही एकाग्रता मान्यता है, वे सुख-दुःखादि कर्मों से छूट कर कभी सच्चे सुख को उपलब्ध नहीं होते। क्योंकि व्यवहार पर-पदार्थों के आश्रय से होता है और उनके ही आश्रय से राग-द्वेष के भाव होते हैं। परन्तु परमार्थ निज आत्माश्रित है, इसलिए कर्म-प्रवृत्ति छुड़ाने के लिए परमार्थ का उपदेश दिया गया है। व्यवहार का आश्रय तो अभिव्य जीव भी ग्रहण करते हैं। व्रत, समिति, गुप्ति, तप और शील कापालन करते हुए भी वे सदा मोहो, अज्ञानी बने रहते हैं। जो ऐसा मानते हैं कि परपदार्थ जीव में रागद्वेष उत्पन्न करते हैं तो यह अज्ञान है। क्योंकि आत्मा के उत्पन्न होने वाले रागद्वेष का कारण अपने ही अशुद्ध परिणाम है। अन्य द्रव्य तो निमित्त मात्र हैं। परमार्थ में आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न चैतन्य निमित्त की अपेक्षा बिना नित्य अभेद एक रूप है। उसमें ऐसी स्वच्छता है कि दर्पण की भांति जब जैसा निमित्त मिलना है वैसा स्वयं परिणमन करता है, उसको अन्य कोई परिणमाता नहीं है। किन्तु जिनको आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं है, वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा को परद्रव्य जैसा चाहे, यह परिणमन

करता है। यह मान्यता अज्ञानपूर्ण है क्योंकि जिसे पुरुषार्थ का पता होगा, वही अन्य द्रव्य की क्रिया को बदलकर उसे शक्ति-हीन कर सकता है; परन्तु सभी द्रव्य अपने-अपने परिणमन में स्वतन्त्र हैं। उनको मूल रूप से बनाने और मिटाने का भाव करना कर्तृत्व रूप अहंकार है, घोर अज्ञान है।

जैन दर्शन कहता है कि एकाग्रता से द्वैत या अद्वैत नहीं माना जा सकता है। किन्तु लोक में पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ इहलोक-परलोक, अन्धकार-प्रकाश, ज्ञान-अज्ञान, बन्ध-मोक्ष का होना पाया जाता है, अतः व्यवहार से मान लेना चाहिए। यह कथन भी उचित नहीं है कि कर्मद्वैत, लीकद्वैत आदि की कल्पना अविद्या के निमित्त से होती है क्योंकि विद्या अविद्या और बन्ध मोक्ष की व्यवस्था अद्वैत में नहीं हो सकती है। हेतु के द्वारा यदि अद्वैत की सिद्धि की जाए, तो हेतु तथा साध्य के सद्भाव में द्वैत की भी सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार हेतु के बिना यदि अद्वैत की सिद्धि की जाये, तो वचन मात्र से द्वैत की सिद्धि हो जाती है। अतएव किसी अपेक्षा से द्वैत को और किसी अपेक्षा से अद्वैत को माना जा सकता है; किन्तु वस्तु-स्थिति वैसी होनी चाहिए क्योंकि आत्मद्रव्य परमार्थ से बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करने वाला है। इसी विचार-सरणि के अनुरूप परमार्थोन्मुखी होकर व्यवहार मार्ग में प्रवृत्ति का उपदेश किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है—साधु पुरुष सदा सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य का सेवन करें। परमार्थ में इन तीनों को आत्मस्वरूप ही जानें। परमार्थ या निश्चय अभेद रूप है और व्यवहार भेद रूप है। जिनागम का समस्त विवेचन परमार्थ और

१. व्यवहारादो बंधो मोक्षो जम्हा सहावसंजुतो ।

तम्हा कुरु तं गउणं सहावमारापणाकाले ॥

नयचक्र, गा० २४२

२. वदसमिदीगुत्तिघो शीलतवं जिणवरेहि पण्णत्त ।

कुव्वंतो वि अभवो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥

समयसार, गा० २७३

३. अज्ञानवस्तु सत्तुणाम्यवहारकारी ज्ञानं,

स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।

नीत्वा ज्ञानं दधीक्षुमधुराम्लरसातिगुदया,

गां दोग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ॥

—समयसार कलश इलो० ५७

४. कर्मद्वैतं फलद्वैतं च नो भवेत् ।

विद्या विद्याद्वयं न स्याद् बन्धमोक्षद्वयं तथा ॥

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्वैतुसाध्ययोः ।

हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं बाह्यमात्रतो न किम् ॥

प्राप्तमीमांसा प० २, का० २५—२६

५. दंसणणाणचरित्ताणि सेविदब्बणि साह्णणा णिच्चं ।

ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चैव णिच्छयदो ॥

समयसार, गा० १६

व्यवहार—दोनों प्रकार से किया गया है। ये ही दोनों अनेकान्त के मूल हैं।

साधना : क्रम व भेद

जिस प्रकार ज्ञान, जपित, ज्ञाता और ज्ञेयका प्रतिपादन किया जाता है, उसी प्रकार से साधन, साधना, साधक और साध्य का भी विचार किया गया है। साधन से ही साधना का क्रम निश्चित होता है। साधना का निश्चय साध्य-साधक संबंध से किया जाता है। सब्ब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर निश्चित किया जाता है। जहाँ पर अभेद प्रधान होता है और भेद गौण अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की प्रत्यासत्ति होती है, उसे संबंध कहते हैं। स्वभाव मात्र स्वस्वात्मित्वमयी संबंध शक्ति कही जाती है। साधना के मूल में यही परिणमनशील लक्षित होती है। जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य मात्र का साध्य कर्म ब्रह्म से मुक्ति या आत्मोपलब्धि है। अपने अमाधारण गुण से युक्त स्व-पर प्रकाशक आत्मा स्वयंसाधक है। दूसरे शब्दों से शुद्ध आत्मा की स्वतः उपलब्धि साध्य है और अशुद्ध आत्मा साधक है। आत्मद्रव्य निर्मल ज्ञानमय है जो परमात्मा रूप है^१। इस प्रकार साध्य को सिद्ध करने के लिए जिन अंतरंग और बहिरंग निमित्तों का आलम्बन लिया जाता है, उनको साधन कहा जाता है और तद्रूप प्रवृत्ति को साधना कहते हैं। जैनधर्म की मूलधुरी वीतरागता की परिणति में जो निमित्त होता है, उसे ही लोक में साधन या कारण कहा जाता है। वीतरागता की प्राप्ति में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य व तप साधन बड़े जाते हैं। इनको ही जिनागम में आराधना नाम दिया गया है^२। आराधना का मूल सूत्र है—वस्तु-स्वरूप की वास्तविक पहचान। जिसे आत्मा की पहचान नहीं है, वह वर्तमान तथा अनुभूयमान शुद्ध दशा का बोध नहीं कर सकता। अतएव सकर्मा तथा प्रबन्ध—दोनों ही दशाओं का वास्तविक परिज्ञान कर साधक भेद-विज्ञान के बल पर मुक्ति की आराधना के मार्ग

पर अग्रसर हो सकता है।

जैनधर्म की मूलधारा वीतरागता से उपलक्षित वीतराग परिणति है। उसे लक्षकर जिस साधना-पद्धति का निर्वचन किया गया है, वह एकान्ततः न तो ज्ञानप्रधान है, न चारित्र्यप्रधान और न केवल मुक्ति-प्रधान। वास्तव में इसमें तीनों का सम्यक् समन्वय है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यह सम्यक् दर्शन-ज्ञानमूलक चारित्र्य प्रधान साधन-पद्धति है। यथार्थ में चारित्र्य पुरुष का दर्पण है। चारित्र्य के निर्मल दर्पण में ही पुरुष का व्यक्तित्व सम्यक् प्रकार प्रतिबिम्बित होता है। वास्तव में चारित्र्य ही धर्म है। जो धर्म है वह साम्य है—ऐसा जिनागम में कहा गया है। मोह, राग-द्वेष से रहित आत्मा का परिणाम साम्य है^३। जिस गुण के निर्मल होने पर अन्य द्रव्यों से भिन्न सच्चिदानन्द विज्ञानधनस्वभावी त्रैकालिक ध्रुव आत्म-चैतन्य की प्रतीति हो, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन के साथ अविनाभाव रूप से भेद-विज्ञान युक्त जो है, वही सम्यग्ज्ञान है तथा राग-द्वेष व योगों की निवृत्ति पूर्वक स्वात्म-स्वभाव में संलीन होना सम्यक्चारित्र्य है। ये तीनों साधन क्रम से पूर्ण होते हैं। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की पूर्णता होती है, तदनन्तर सम्यग्ज्ञान की अन्त में सम्यक्-चारित्र्य में पूर्णता होती है। अतएव इन तीनों की पूर्णता होने पर ही आत्मा विभाव-भावो तथा कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर पूर्ण विशुद्धता को उपलब्ध होता है। यहाँ कारण है कि ये तीनों मिल कर मोक्ष के साधन माने गए हैं। इनमें से किसी एक के भी अपूर्ण रहने पर मोक्ष नहीं हो सकता।

जैनधर्म विशुद्ध आध्यात्मिक है। अतः जैन साधु-सन्तों की चर्या भी आध्यात्मिक है। किन्तु अन्य सन्तों से इनकी विलक्षणता यह है कि इनका अध्यात्म चरित्र निरपेक्ष नहीं है। जैन सन्तों का जीवन अथ से इति तक परमार्थ चारित्र्य से भरपूर है। उनकी सभी प्रवृत्तियाँ व्यवहार चारित्र्य

१. जेहउ णिम्मलु भाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ ।

तेहउ णिवसइ बंभु पर देहहं म करि भेउ ॥

परमात्मकप्रकाश, १, २६

२. उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च निच्छरणं ।

दंस । १२ । तवाणमाराहणा भणिवा ॥

भगवती आराधना, अ० १, गा० २

३. चारित्तं खलु घम्मो घम्मो जो सो सगो त्ति णिद्धिओ ।

मोहवलोह विहीणो परिणामो अप्पणो हू सभो ॥

प्रवचनसार, गा० ७

होती हैं। दूसरे शब्दों में जैन सन्त समन्वय और समता के आदर्श होते हैं। उनमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का समन्वय तथा सुख-दुःखादि परिस्थितियों में समताभाव लक्षित होता है। उनका चारित्र्य राग-द्वेष, मोह से रहित होता है इस प्रकार अन्तराग और बहिराग—दोनों से आराधना करते हुए जो बीतराग चारित्र्य के अविनाभूत निज शुद्धात्मा की भावना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं^१। उत्तम साधु स्वसंवेदनगम्य परम निर्विकल्प समाधि में निरत रहते हैं। जानानन्द स्वरूप का साधक साधु आत्मानन्द को प्राप्त करता ही है। अतः सर्व क्रियाओं से रहित साधु को ज्ञान का आश्रय ही शरणभूत होता है। कहा भी है—जो परमार्थ स्वरूप ज्ञानभाव में स्थित नहीं है, वे भले ही व्रत, संयम रूप तप आदि का आचरण करते रहे, किन्तु यथार्थ मोक्षमार्ग उनसे दूर है। क्योंकि पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ क्रियाओं का निषेध कर देने पर कर्मरहित शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति होने पर साधु आश्रयहीन नहीं होते। निष्कर्म अवस्था में भी स्वभाव रूप निर्विकल्प ज्ञान ही उनके लिए मात्र शरण है। अतः उस निर्विकल्प ज्ञान में तल्लीन साधु-सन्त स्वयं ही परम सुख का अनुभव करते हैं^२। दुःख का कारण आकुलता है और सुख का कारण है—निराकुलता। प्रश्न यह है कि आकुलता क्यों होती है? समाधान यह है कि उपयोग के निमित्त से आकुलता-निराकुलता होती है। उपयोग क्या है? ज्ञान-दर्शन रूप व्यापार उपयोग है। यह चेतन में ही पाया जाता है, अचेतन में नहीं क्योंकि चेतना शक्ति ही उपयोग का कारण है। अनादि काल से उपयोग के तीन प्रकार के परिणाम

आत्मा की स्वच्छता का विकार है। किन्तु मोह के निमित्त से यह जैसा-जैसा परिणमन करती है, वैसी-वैसी परिणति पाई जाती है। जिस प्रकार स्फटिक मणि श्वेत तथा स्वच्छ होती है, किन्तु उसके नीचे रखा हुआ कागज लाल या हरा होने से वह मणि भी लाल या हरी दिखलाई पड़ती है, इसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव में शुद्ध, निरञ्जन चैतन्यस्वरूप होने पर भी मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अव्रत—इन तीन उपयोग रूपों में अनादि काल से परिणत हो रही है। ऐसा नहीं है कि पहले इसका स्वरूप शुद्ध था, कालान्तर में अशुद्ध हो गया हो। इस प्रकार मिथ्या-दर्शन, अज्ञान और अविरति तीन प्रकार के परिणाम—विकार समझना चाहिए^३। इनसे युक्त होने पर जीव जिस-जिम भाव को करता है, उस उस भाव का कर्ता कहा जाता है। किन्तु प्रवृत्ति में चेतन-प्रचेतन भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए इन दोनों को एक मानना अज्ञान है और जो इन्हें (पर पदार्थों को) अपना मानते हैं, वे ही ममत्व बुद्धि कर अहंकार—ममकार करते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्तृत्व तथा अहंकार के मूल में भोले प्राणियों का अज्ञान ही है। इसलिये जो जानी है, वह यह जाने कि पर द्रव्य में आपा मानना ही अज्ञान है। ऐसा निश्चय कर सर्व कर्तृत्व का त्याग कर दे^४। वास्तव में जैन साधु किसी का भी, यहाँ तक कि भगवान को भी अपना कर्ता नहीं मानता है। कर्म की धारा को बदलने वाला वह परम पुरुषार्थी होता है। सतत ज्ञान-धारा में लीन होकर वह अपने आत्म-पुरुषार्थ के बल पर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। आत्म-स्वभाव का वेदन करता हुआ जो अपने में ही

१. “आभ्यन्तरानिश्चयचतुर्विधाराधनाबलेन च बाह्याभ्यन्तर मोक्षमार्गद्वितीयनामाभिधेयेन कृत्वा यः कर्ता बीतरागचारित्र्याविनाभूतं सगुणात्मानं साधयति भावयति स साधुर्भवति।”

—बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा० ५४ की व्याख्या

तथा—

दसण्णाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।

साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स ॥

२. निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुस्सिते कर्मणि किल

प्रवृत्ते नैकम्भ्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।

तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेवा हि शरणम्

स्वयं विन्दन्ते परममृतं तत्र विरत ॥

समयसारकलश श्लोक १-४ ।

३. उवधोगस्स अणाहं परिणामा तिण्णिमोहजुत्तस्स ।

मिच्छत्तं अण्णाण अविरदिभावो य णायब्बो ॥

समयसार, गा० ८६

४. एवेण दु सो कत्ता आवा णिच्छयविदूहि पारिकहिदो ।

एवं खलु जो जानदि सो मुंचदि सब्बकत्तित्तं ॥

वही, गा० ६७

अबल ब स्थिर हो जाता है, अपने स्वभाव से हटता नहीं है, वही साधु मोक्ष को उपलब्ध होता है।

जैन साधु का अर्थ है—इन्द्रियविजयी आत्म-ज्ञानी। ऐसे आत्मज्ञानी के दो ही प्रमुख कार्य बतलाए हैं—ध्यान और अध्ययन। इस भारत क्षेत्र में वर्तमान काल में साधु के धर्म ध्यान होता है। यह धर्मध्यान उस मुनि के होता है जो आत्मस्वभाव में स्थित है। जो ऐसा नहीं मानता है, वह अज्ञानी है, उसे धर्मध्यान के स्वरूप का ज्ञान नहीं है। जो व्यवहार को देखता है, वह अपने आपको नहीं लख सकता है। इसलिये योगी सभी प्रकार के व्यवहार को छोड़ कर परमात्मा का ध्यान करता है। जो योगी ध्याना मुनि व्यवहार में सोता है, वह आत्मस्वरूप-चर्या में जगता है। किन्तु जो व्यवहार में जागता है, वह आत्मचर्या में सोता रहता है। स्पष्ट है कि साधु के लौकिक व्यवहार नहीं है और यदि है, तो वह साधु नहीं है। धर्म का व्यवहार सध में रहना, महाव्रतादिक का पालन करने में भी वह उस समय तत्पर नहीं होता। अतः सब प्रवृत्तियों की निवृत्ति करके आत्मध्यान करता है। अपने आत्म-स्वरूप में लीन होकर वह देखता जानता है कि परम-ज्योति स्वरूप सच्चिदानन्द का जो अनुभव है, वही मैं हूँ अन्य सबसे भिन्न हूँ। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है—जो मोह दल का क्षय करके विषय से विरक्त हो कर मन का निरोध कर स्वभाव में समवस्थित है, वह आत्मा का ध्यान करने वाला है^१। जो आत्माश्रयी प्रवृत्ति का आश्रय ग्रहण करता है, उसके ही परद्रव्य-प्रवृत्ति का अभाव होने से विषयों की विरक्तता होती है। जैसे समुद्र में एकाकी संचरणशील जहाज पर बैठे हुए पक्षी के लिए उस जहाज

के प्रतिरिक्त अन्य कोई आश्रयभूत स्थान नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान-ध्यान से विषय-विरक्त शुद्ध चित्त के लिए आत्मा के सिवाय किसी द्रव्य का आधार नहीं रहता। आत्मा के निर्विकल्प ध्यान से ही मोह-अधि का भेदन होता है। मोह—गाँठ के टूटने पर फिर क्या होता है? इसे ही समझते हुए आचार्य कहते हैं—जो मोह-अधि को नष्ट कर राग-द्वेष का क्षय कर पुनः-पुनः में समान होता हुआ श्रमण या साधुत्व में परिणमन करता है, वही प्रक्षय सुख को प्राप्त करता है^२।

जिनागम में श्रमण या सन्त दो प्रकार के बताये गए हैं—शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। जो अशुभ प्रवृत्तियों से राग तो नहीं करते, किन्तु जिनके व्रतादि रूप शुभ प्रवृत्तियों में राग विद्यमान है वे सराग चरित्र के धारक श्रमण कहे गए हैं। परन्तु जिनके बिसौ भी प्रकार का राग नहीं है, वे वीतराग श्रमण हैं^३। किन्तु यह निश्चित है कि समभाव और आत्मध्यान की चर्या पूर्वक जो साधु वीतरागता को उपलब्ध होता है, वही कर्म-क्लेशों का नाश कर सच्चा सुख या मोक्ष प्राप्त करता है, अन्य नहीं। इस सम्बन्ध में जिनागम का सूत्र यही है कि रागी आत्मा कम बाधता है और राग रहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। निश्चय से जीवों के बन्ध का संक्षेप यही जानना चाहिए^४। इसका अर्थ यही है कि चाहे गृहस्थ हो या सन्त, सभी राग-द्वेष के कारण सत्तार-चक्र में आवर्तन करते हैं और जब राग से छूट जाते हैं, तभी मुक्ति के रुगार पर पहुँचते हैं। केवल साधु-मन्त का भय बना लेने से या बाहर से दिखने वाली सन्तोचित क्रियाओं के पालन मात्र से कोई सच्चा श्रमण-सन्त नहीं कहा जा सकता। जिनागम क्या है? यह

१. भवहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।

त अप्पसहावठिदे ण ह भण्णइ सो वि अण्णाणी॥

—मोक्षपाहुड, गा० ७६

२. जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।

जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे॥

—मोक्षपाहुड, गा० ३१

३. जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो निरुमित्ता।

समवट्ठिदो सहावे सो अप्पणं हवदि क्कादा॥

प्रवचनसार, गा० १६६

४. जो निहदमोहगठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।

होज्जे समसुहदुक्खो सो सोक्ख अक्खयं सहदि॥

वही, गा० १६५

५. असुहेण रायरहिओ वयाइयरारेण जो ह संजुत्तो।

सो इह भणिय सराओ मुक्को दोहणं पि खलु इयरो॥

नयचक्र, गा० ३३१

६. रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्महि रागरहिदप्पा।

एसो बंधसमासो जीवाणं जाज निच्छयदो॥

प्रवचनसार, गा० १७६

समझते हुए जब यह कहा जाता है कि जो विशेष नहीं समझते हैं, उनको इतना ही समझना चाहिए कि जो बीतराग का आगम है उसमें रागादिक विषय-कषाय का प्रभाव और सम्पूर्ण जीवों की दया-ये दो प्रधान हैं। फिर, हिंसा का वास्तविक स्वरूप ही यह बताया गया है कि जहाँ-जहाँ राग-द्वेष भाव हैं, वहाँ-वहाँ हिंसा है और जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं है। श्रमण-सन्त तो धर्म की मूर्ति कहे गए हैं। वे पूज्य इसीलिए हैं कि उनमें धर्म है। धर्म का आविर्भाव शुद्धोपयोग की स्थिति में ही होता है जो बीतराग चारित्र्य से युक्त साक्षात् केवलज्ञान को प्रकट करने वाली होती है। यथार्थ में निश्चय ही ग्राह्य स्वरूप है। यही कहा गया है कि बाह्य और अन्तः परमतत्त्व को जान कर ज्ञान का ज्ञान में ही स्थिर होना निश्चय ज्ञान है। यथार्थ में जिस कारण से पद्मव्यं में राग है, वह संसार का ही कारण है। उस कारण से ही मुनि नित्य आत्मा में भावना करते हैं, आत्मस्वभाव में लीन रहने की भावना भाते हैं। क्योंकि परद्रव्य से राग करने पर राग का संस्कार दुष्ट होता है और वह वासना की भाँति जन्म-जन्मान्तरों तक संयुक्त रहता है। बीतराग की भावना उस संस्कार को शिथिल करती है, उसकी आसक्ति से चित्त परावृत्त होता है और आसक्ति से हटने पर ही जैन साधु की साधना प्रशस्त होती है। आचार्य समन्तभद्र न अत्यन्त सरल शब्दों में जैन साधु के चार विशेषणों का निर्देश किया है—जो विषयों की वांछा से रहित, छह काय के जीवों के घात के आरम्भ से रहित, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित, छह काय के जीवों के घात के आरम्भ से रहित, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित तथा ज्ञान-व्यान-तप में लीन रहते हैं, वे ही तपस्वी प्रशसनीय हैं। इस प्रकार अध्यात्म और आगम—दोनों की परिपाटी में जैन सन्त को ध्यान व अध्ययनशील बतलाया है। ध्यान से ही

मन, वचन और काय—इन तीनों योगों का निरोध होकर मोह का विनाश हो जाता है।

जैन-परम्परा में संसार का मूल कारण मोह कहा गया है। मोह के दो भेद हैं—दर्शनमोह और चारित्र्यमोह। दर्शन मोह के कारण ही इस जीव की मान्यता विपरीत हो रही है। सम्यक् मान्यता का नाम ही सभ्यत्व है। मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम के कारण ही यह जीव संसार में अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। अतएव इनसे छूट जाने का नाम ही मुक्ति है। मुक्ति किसी स्थान या व्यक्ति का नाम नहीं है। यह वह स्थिति है जिसमें प्रतिबन्धक कारणों के प्रभाव से व्यक्त हुई परमात्मा की शक्ति अपने सहज, स्वाभाविक रूप में प्रकाशित होती है। दूसरे शब्दों में यह आत्मस्वभावा रूप ही है।^१ इस अवस्था में न तो आत्मा का प्रभाव होता है और न उसके किसी गुण का नाश होता है और न ससारी जीव की भाँति इन्द्रियाधीन प्रवृत्ति होती है किन्तु समस्त लौकिक सुखों से परे स्वाधीन तथा अनन्त चतुष्टययुक्त ही प्रक्षय, निरावस, सतत अवस्थित सच्चिदानन्द परब्रह्म की स्थिति बनी रहनी है।

आध्यात्मिक उत्थानों के विभिन्न चरण

वर्तमान में यह परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बर रूप से दो मुख्य सम्प्रदायों में प्रचलित है। दोनों ही सम्प्रदायों के साधु-सन्त मूलगुणों तथा छह आवश्यकों का नियम से पालन करते हैं। दिगम्बर-परंपरा में मूल गुण अष्टाईस माने गए हैं, किन्तु श्वेताम्बर-परंपरा में मूल गुणों की संख्या छह है। दोनों ही परंपराएँ साधना के प्रमुख चार चरणों (सम्कृद्दर्शन-ज्ञान चारित्र्य और तप) को समान रूप से महत्त्व देती हैं। इसी प्रकार दर्शन के आठ अंग ज्ञान के पाँच अंग, चारित्र्य के पाँच अंग और तप की साधना के बारह अंग दोनों में समान हैं। तप के अन्तर्गत

१. बहिरंग परमतत्त्व णक्का णाणं खु ज ठिय णाणे ।

तं इह णिच्छयणाणं पुब्ब तं मुणह ववहारं ॥

नयचक्र, गा० ३२७

२. जेण रागो परे दब्बे संसारस्स हि कारणं ।

तेणवि जोइमो णिच्च कुज्जा अप्पे समावणं ॥

—मोक्षपाहुड, गा० ७१

३. विषयाशावशातीतो निरारम्भो परिग्रहः ।

ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

—रत्नकरणश्रावकाचार, १, १०

४. जं अप्सहावो मूलोत्तरपापडिसंचिय भूयइ ।

त मुक्खं अविरुद्धं दुविहं खलु दब्बभावगय ॥

नयचक्र, गा० १५८

ब्राह्म और अन्तरंग—दोनों प्रकार के तपों को दोनों स्वीकार करते हैं। बहिरंग तप के अन्तर्गत काय-क्लेश को भी दोनों महत्त्वपूर्ण मानती हैं। दश प्रकार की समाचारी भी दोनों में लगभग समान है। समाचार या समाचारी का अर्थ है—समताभाव। किन्तु दोनों की चर्याओं में अन्तर है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि श्रमण-सन्तों के लिए प्रत्येक चर्या, समाचारी, आवश्यक कर्म तथा साधना के मूल में समता भाव बनाये रखना अनिवार्य है। इसी प्रकार मोह आदि कर्म के निवारण के लिए ध्यान-तप अनिवार्य माना गया है।

यह निश्चय है कि भारत की सभी धार्मिक परम्पराओं ने साधु-सन्तों के लिए परमतत्त्व के साक्षात्कार हेतु आध्यात्मिक उत्थान की विभिन्न भूमिकाओं का प्रतिपादन किया है। बौद्ध दर्शन में छह भूमियों का वर्णन किया गया है। उनके नाम हैं—अन्धक्यजन, कल्याणक्यजन, श्रोतापन्न, सकृदागमी, औपपातिक या अनागामी और अर्हत्। वैदिक परम्परा में महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में चित्त की पाँच भूमिकाओं का निरूपण किया है। वे इस प्रकार हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। वही एकाग्र के वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत चार भेदों का वर्णन है। निरुद्ध के पश्चात् कैवल्य या मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है। ‘योगशास्त्र’ में चित्त की चौदह भूमिकाएँ बताई गई हैं। आजीविक सम्प्रदाय में आठ पेड़ियों के रूप में उनका उल्लेख किया गया है, जिनमें से तीन अविकार की तथा पाँच विकास की अवस्था की द्योतक हैं। उनके नाम हैं—मन्दा, खिड्वा, पदवीमंसा, उजुगत, सेख, समण, जिन और पन्न। जैन-परम्परा में मुख्य रूप से ज्ञान धारा का महत्त्व है—क्योंकि सत्य के साक्षात्कार हेतु उसकी सर्वतोमुखी उपयोगिता है। जिनागम परम्परा में ज्ञान का केन्द्र में स्थान दिया है। अतः एक ओर ज्ञान सत्य की मान्यता से संयुक्त है और दूसरी ओर सत्य की मूल प्रवृत्ति से सम्बद्ध है। इसे ही आगम में सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप रत्नत्रय कहा गया है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की साधना में विवेक की जागृति आवश्यक है। आत्मानुभूति से लेकर स्वसंवेद्य निर्विकल्प ज्ञान की सतत धारा किस प्रकार

केवल ज्ञान की स्थिति को उपलब्ध करा देती है—यही संक्षेप में जैन अवस्थाओं के आधार पर चौदह गुणस्थानों के रूप में विस्तार एवं सूक्ष्म विवेचित किया है जो जैन गणित के आधार पर ही भर्त्ती-भर्त्ति सम्पन्न जा सकता है। इन सबका सारांश यही है कि चित्त के पूर्ण निरोध होते ही साधक एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ साधन साध्य और साधक में कोई भेद नहीं रह जाता। इस स्थिति में ध्यान की सिद्धि के बल पर योगी अष्टकर्म रूप माया का उच्छेद कर अद्वितीय परब्रह्म को उपलब्ध हो जाता है जो स्वानुभूति रूप परमानन्द स्वरूप है। एक बार परम पद को प्राप्त करने के पश्चात् फिर यह कभी माया से लिप्त नहीं होता और न इसे कभी अवतार ही लेना पड़ता है। अपनी शुद्धात्मपरिणति को उपलब्ध हुआ श्रमणयोगी स्वानुभूति रूप परमानन्द दशा में अनन्त काल तक निमज्जित रहता है। श्रमण-सन्तों की साधना का उद्देश्य शुद्धात्म तत्त्व रूप परमानन्द की स्थिति को उपलब्ध होना कहा जाता है। उनके लिए परमब्रह्म ही एक उपादेय होता है, शुद्धात्म तत्त्वरूप परब्रह्म के सिवाय सब हेय है। इसलिये उपादेयता की अपेक्षा परमब्रह्म अद्वितीय है। शक्ति रूप से शुद्धात्मस्वरूप जीव और अनन्त शुद्धात्माओं के समूहरूप परब्रह्म में अश-अशी सम्बन्ध है परब्रह्म में अश-अशी सम्बन्ध है। परब्रह्म को उपलब्ध होने ही ने जीवन्मुक्त हो जाते हैं, उनमें और परब्रह्म में कोई अन्तर नहीं रहता है। यही इस साधना का चरम लक्ष्य है। सन्तों की अविच्छिन्न परम्परा

संक्षेप में, जैन श्रमण-सन्तों की परम्परा आत्मवादी तप-त्याग की अनाद्यन्त प्रवहमान वह धारा है जो अतीत, अनागत और वर्तमान का भी अतिक्रान्तकर सतत त्रैकालिक विद्यमान है। भारतीय सन्तों की साधना-पद्धति में त्याग का उच्चतम आदर्श, अहिंसा का सूक्ष्मतम पालन, व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास तथा संयम एवं तप की पराकाष्ठा पाई जाती है। साधना की शुद्धता तथा कठोरता के कारण छठी शताब्दी के पश्चात् भले ही इसके अनुयायियों की संख्या कम हो गई हो, किन्तु आज भी इसकी गौरव-गरिमा किसी भी प्रकार क्षीण नहीं हुई है। केवल इस देश में ही नहीं, देशान्तरों में भी जैन सन्तों के विहार करने के

उल्लेख मिलते हैं। पालि-ग्रन्थ “महावंश” के अनुसार लंका में ईस्वीपूर्व चौथी शताब्दी में गिर्यन्थ साधु विद्यमान थे। सिंहल नरेश पाण्डुकामयने अनुरुद्धपुर में जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। तीर्थंकर महावीर के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्होंने धर्म-प्रचार करते हुए वृक्षार्थक, वाह्लीक, यवन, गन्धार, वनाथतोय, समुद्रवर्ती देशों एवं उत्तर दिशा के तार्ण, काण एवं प्रच्छाल आदि देशों में विहार किया था। यह एक इतिहासप्रसिद्ध घटना मानी जाती है कि सिकन्दर महान् के साथ दिगम्बर मुनि कल्याण एवं एक अन्य दिगम्बर सन्त ने यूनान के लिए विहार किया था। यूनानी लेखकों के कथन से बेक्ट्रिया और इथोपिया देशों में श्रमणों के विहार का पता चलता है। मिश्र में दिगम्बर मूर्तियों का निर्माण हुआ था। वहाँ की कुमारी सेन्टमरी आधिका के भेष में रहती थीं। भृगु कच्छ के श्रमणाचार्य ने एथेन्स में पहुँच कर अहिंसा धर्म का प्रचार किया था। हुएनसांग के वर्णन से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी तक दिगम्बर मुनि अफगानिस्तान में जैनधर्म का प्रचार करते रह रहे हैं। जा० एफ० मूर का कथन है कि ईसा की जन्म शती के पूर्व ईराक, शाम और फिलिस्तीन में जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु संकड़ों की सख्या में चारों ओर फैलकर अहिंसा का प्रचार करते थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथोपिया के पहाड़ों व जंगलों में उन दिनों अगणित भारतीय साधु रहते थे। वे अपने आध्यात्मिक ज्ञान और त्याग के लिए प्रसिद्ध थे जो वस्त्र तक नहीं पहनते थे। मेजर जनरल जे० जी० मार० फ्लॉग ने भी अपनी खोज में बताया है कि ओक्सियन केस्पिया एवं बलख तथा समरकन्द के नगरों में जैनधर्म के केन्द्र पाए गए हैं, जहाँ से अहिंसा धर्म का प्रचार एवं प्रसार होता था। वर्तमान में भी मुनि सुशीलकुमार तथा भट्टारक चारुकीर्ति के समान सन्त इस जीवित रहे हुए हैं।

विगत तीन सहस्र वर्षों में जैनधर्म का जो प्रचार व प्रसार हुआ, उसमें वैश्वों से भी अधिक ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का योगदान रहा है। भगवान् महावीर के पट्टधर शिष्यों में ग्यारह गणधर थे जो सभी ब्राह्मण थे। जैनधर्म

की परम्परा के प्रवर्तक जिन चौबीस तीर्थंकरों का वर्णन मिलता है, उससे निश्चित है कि सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे। केवल तीर्थंकर ही नहीं, समस्त शालाकापुरुष क्षत्रिय कहे जाते हैं। प्रत्येक कल्प काल में तिरैसठ शालाका के पुरुष होते हैं। इसी प्रकार जैनधर्म के प्रतिपालक अनेक चक्रवर्ती महाराजा हुए। जहाँ बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजाओं ने इस देश की अखण्डता को स्थापित कर शान्ति की दुन्दुभि बजाई थी, वही महाराजा बिम्बसार (श्रेणिक), सम्राट् चन्द्रगुप्त, मगधनरेश सम्प्रति, कलिंगनरेश खारबेल, महाराजा आषादसेन, अश्विनीत गग, दुर्विनीत गंग, मंगनरेश मारसिंह, वीरमार्तण्ड चामुण्डराय, महारानी कुन्दम्बे, सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम, कोलुतुंग, चोल, साहसतुंग, त्रैलोक्यमल्ल, आहवमल्ल, बोप्पदेव, कदम्ब, सेनापति गग-राज, महारानी भीमादेवी, दण्डनाथक बोप्प और राजा सुहेल आदि ने भी इस धर्म का प्रचार व प्रसार किया है। पाँचवी-छठी शताब्दी के अनेक कदम्बवंशी राजा जैनधर्म के अनुयायी थे। राष्ट्रकूट-काल में राज्याश्रय के कारण इस धर्म का व्यापक प्रचार व प्रसार था। अनेक ब्राह्मण विद्वान् जैनदर्शन की विशेषताओं से आकृष्ट होकर जैनधर्मावलम्बी हुए। मूलसूत्र के अनुयायी ब्रह्मसेन बहुत बड़े विद्वान् तथा तपस्वी थे। ‘सन्मतिमूत्र’ तथा ‘द्वात्रिंशिकाओं’ के रचयिता सिद्धसेन ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे जो आगे चल कर प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। वत्सगोत्री ब्रह्मशिव ने सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन कर ‘समय परीक्षा’ ग्रन्थ की रचना की जो बारहवीं शताब्दी की रचना है। भारद्वाज गोत्रीय आचरण ‘वर्द्धमानपुराण’ के रचयिता बारहवीं शताब्दी के कवि थे। दसवीं शताब्दी के अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि धवलका जन्म भी विप्रकुल में हुआ था। कुनीर्थ और कुधर्म से चित्त विरक्त होने पर उन्होंने जैनधर्म का आश्रय लिया और ‘हरिवंशपुराण’ की रचना की। दिगम्बर परम्परा के प्रसिद्ध आचार्य कर्नाटक-देशीय पूज्यपाद का जन्म भी ब्राह्मणकुल में हुआ था। इस प्रकार से अनेक विप्र साधकों ने वस्तु-स्वरूप का ज्ञान कर जैन साधना-पद्धति को अंगीकार किया था। □□□

शासकीय महाविद्यालय, नीमच (म० प्र०)

१. आचार्य जिनसेन : हरिवंशपुराण, ३, ३-७
२. डा० कामताप्रसाद जैन : दिगम्बरस्व और दिगम्बर मुनि, द्वितीय संस्करण, पृ० २४३
३. ठाकुरप्रसाद शर्मा : हुएनसांग का भारत भ्रमण,

- इन्डियन प्रेस, प्रयाग, १९२६, पृ० ३७
४. हुकमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७४
५. साइन्स आंव कम्पेरेटिव रिलीजन्स, इन्ट्रोडक्शन, १९६७, पृ० ८

षड्-द्रव्य में काल-द्रव्य

मुनि श्री विजयमुनि शास्त्री

षड्-द्रव्य में काल :

जैन-आगम-साहित्य में लोक को षड्-द्रव्यात्मक कहा है। षड्-द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल में सम्पूर्ण लोक में स्थित समस्त पदार्थ समाविष्ट हो जाते हैं। दुनिया में, विश्व में ऐसा एक भी पदार्थ शेष नहीं रहता, जो षड्-द्रव्य से बाहर रहता हो। षड्-द्रव्यों में से काल के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों के लिए आगमों में पञ्चस्तिकाय शब्द का भी प्रयोग मिलता है। आचार्य श्री उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्र में और आचार्य कुंदकुन्दने पञ्चस्तिकायसार में उक्त पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय कहा है। अन्य आचार्यों ने भी इनके लिए अस्तिकाय कहा है। अस्तिकाय का अर्थ है—प्रदेशों का समूह। पाँच द्रव्यों में धर्म, अधर्म और जीव असंख्यात प्रदेशों से युक्त द्रव्य हैं। आकाश अनन्त प्रदेशों से युक्त है। क्योंकि अलोक में जो आकाश है, वह अनन्त प्रदेशों से युक्त है और लोक में स्थित आकाश असंख्यात प्रदेशों से युक्त है। इसलिए आकाश को सान्त भी कहा है और अनन्त भी। पुद्गलों के स्पर्शों का आकार एक जैसा नहीं है, उनके विभिन्न प्रकार हैं। इसलिए उनमें प्रदेशों की संख्या भी एक-सी नहीं है। परन्तु इन पाँच द्रव्यों की तरह काल द्रव्य भी स्वतन्त्र है, परन्तु वह प्रदेशों के समूह रूप नहीं है। अन्य द्रव्यों की तरह काल भी सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है और लोक के एक-एक आकाश प्रदेश पर एक-एक कालाणु रहे हुए हैं। ये कालाणु अदृश्य (Invisible) हैं, आकार रहित हैं और निष्क्रिय (Inactive) हैं। आगमों में एवं द्रव्यसंग्रह तथा तत्त्वार्थसार आदि ग्रंथों में एक उपमा देकर बताया है कि कालाणु रत्नों की राशि की तरह प्रत्येक आकाश प्रदेश पर रहे हुए हैं, और संख्या की दृष्टि से वे असंख्य (Countless in number) हैं। रत्नों की राशि की तरह की उपमा केवल समझाने के लिए एवं यह बताने के लिए दी है कि जिस प्रकार रत्न

परस्पर एक-दूसरे में नहीं मिलते, उसी प्रकार कालाणु भी एक-दूसरे में नहीं मिलते हैं। परन्तु रत्नों की तरह न तो उनका आकार ही होता है, और न उनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ही होता है। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—उन पदार्थों में होता है, जो मूर्त हैं, आकार प्रकार से युक्त हैं। इस प्रकार काल, प्रदेशों के समूह से रहित है। अतः उसे आगमों में अस्तिकाय नहीं कहा है।

जैन-दर्शन में द्रव्य को सत् कहा है और सत् वह है—जो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और सदा स्थित भी रहता है। उत्पाद, व्यय एवं ध्रुव्य तीनों एक ही समय में होते हैं। इस प्रकार लोक में स्थित सभी द्रव्यों के उत्पाद-दादि रूप परिणमन में अथवा उनके पर्यायान्तर होने में जो द्रव्य सहायक होता है, उसे 'काल-द्रव्य' कहते हैं। यह स्वयं अपनी पर्यायों में परिणमन करते हुए, अन्य द्रव्यों के परिवर्तन या परिणमन में तथा उन द्रव्यों में होने वाले उत्पाद, व्यय और स्थायित्व में सहायक होता है, निमित्त बनता है, माध्यम (Medium) बनता है और विश्व में सैकंड, मिनट, घण्टा, दिन-रात, सप्ताह, महीना, वर्ष, युग, शताब्दी आदि व्यवहार रूप काल में निमित्त बनता है। यह धर्म-अधर्म द्रव्यों की तरह लोक-व्यापी एक अखण्ड द्रव्य नहीं है। क्योंकि समय-भेद की अपेक्षा से इसे प्रत्येक आकाश प्रदेश पर एक कालाणु के रूप में अनेक माने बिना काल का व्यवहार हो नहीं सकता। क्योंकि भारत और अमरीका में दिन-रात एवं तारीख आदि का अलग-अलग व्यवहार उन-उन स्थानों के काल-भेद के कारण ही होता है। यदि काल एक अखण्ड द्रव्य होता, तो सर्वत्र सदा एक-सा ही समय रहता और दिन-रात भी सर्वत्र एक ही समय पर होते। एक और अखण्ड द्रव्य स्वीकार करने पर काल-भेद कथमपि संभव नहीं हो सकता। परन्तु काल-भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भारत में

जिस समय दिन होता है, उस समय अमरीका में रात होती है, और जिस समय भारत में रात होती है, तब अमरीका में सूर्य चमकता है। २२ जून को जब भारत में चौदह घण्टे का दिन और दस घण्टे की रात होती है, तब नार्थ देश के ओखलो प्रदेश में चौबीस घण्टे सूर्य की मुनहली घूब नजर आती है, और २२ दिसम्बर को जब भारत में चौदह घण्टे की रात और दस घण्टे का दिन होता है, तब ओखलो चौबीस ही घण्टे रात्रि के अन्धकार में डूबा रहता है। जब वायु-यान एवं पानी के जहाज यूरोप से भारत की ओर आते हैं या भारत से यूरोप की यात्रा पर जाते हैं, तब जिस समय वे भूमध्य रेखा पर पहुँचते हैं, उस समय तुरन्त वे अपनी-अपनी घड़ियों के समय और कैलेंडर की तारीख को बदल लेते हैं। इस प्रकार का भेद प्रधान व्यवहार काल को अखण्ड न मानकर खण्ड रूप मानने पर ही हो पाता है।

काल और समय :

आगम-साहित्य में काल के लिए दो शब्दों का प्रयोग मिलता है—काल और समय। काल स्थूल है और समय सूक्ष्म है। काल प्रवाह रूप है, समय प्रवाह से रहित है। काल अनन्त है और समय उसका सबसे छोटा हिस्सा है, जिसके दो भाग नहीं हो सकते। अतीत की प्रवेक्षा से अनन्त-काल व्यतीत हो चुका और अनागत की दृष्टि से अनन्त-काल धीरे-धीरे क्रमशः आने वाला है। परन्तु समय में भूत और भविष्य अथवा अतीत और अनागत के भेद को अवकाश ही नहीं है। समय, वर्तमान काल का बोधक है। वर्तमान काल मात्र एक समय का होता है। आगमों में समय का माप इस प्रकार बताया है—एक परमाणु को एक अकाश प्रदेश पर से दूसरे अकाश-प्रदेश पर जाने में जितना समय (Time) लगता है, वह एक समय है। इसे समझाने के लिए आचार्यों ने यह उदाहरण भी दिया है कि हमारी आँखों की पलकें झपकती रहती हैं, वे खुलती और बन्द होती रहती हैं। आँख के झपकने में अथवा खुलने और बन्द होने में जो समय लगता है, उसमें

असंख्यात समय बीत जाते हैं। दूसरा उदाहरण यह भी दे सकते हैं—कमल के हजार पत्तों को क्रमशः एक-दूसरे के ऊपर रखकर एक तीक्ष्ण नोक वाली बड़ी सुई को उन पर रखकर जोर से दबाएँ तो पलक झपकते ही या क्षण भर में वह सुई हजारों कमल-पत्रों को छेद कर एक सिरे से दूसरे सिरे पर पहुँच जाती है। परन्तु जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार इस प्रक्रिया में एक-दो या दस-बीस नहीं, असंख्यात समय लगते हैं। समय इतना सूक्ष्म है कि हम उसे देख नहीं सकते। परमाणु रूपी है, मूल है, वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से युक्त है, फिर भी हम उसे आँखों से देख नहीं सकते। तब समय, जो कि अरूपी है, अमूर्त है और वर्णादि से रहित है, उसे तो हम तब तक देख नहीं सकते, जब तक सर्वज्ञ नहीं बन जाते। केवल ज्ञान में कोई भी पदार्थ एवं द्रव्य—भले ही वह कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, अज्ञात नहीं रहता अदृश्य नहीं रहता अतः समय को हम देख नहीं सकते, पर सर्वज्ञ देख सकते हैं।

काल का लक्षण :

आगम में काल का लक्षण 'वर्तना' कहा है।^१ जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों के परिणमन में, परिवर्तन में काल सहायक (Helper) द्रव्य है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि जीव और पुद्गल पर वर्तना, परिणाम, क्रिया, परस्व, अपरस्व आदि में काल का उपकार है।^२ द्रव्य में परिवर्तन, परिणमन आदि जो कार्य होते हैं वे सब काल के निमित्त से होते हैं। गोमटसार में भी लिखा है कि द्रव्य काल के कारण ही निरन्तर अपने स्वरूप में रहते हुए द्रवित होते हैं, प्रवाहमान रहते हैं। विश्व में स्थित षड्-द्रव्यों में—जो सत् है, उनका सतत प्रवाह रूप में रहते हुए भी अपने स्वरूप में स्थित रहना और सभी द्रव्यों में निरन्तर परिवर्तन होना—जो परिलक्षित होता है, वह काल के कारण ही होता है। यह काल द्रव्य का ही गुण है कि उसके कारण अन्य द्रव्यों में परिवर्तन (Change) होता है।^३ परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि काल (Time) कभी भी अन्य द्रव्यों में

१. वृत्तना लब्धङ्गो कालो । —उत्तराख्ययन सूत्र, २८.१०.

२. गोमट्टहार, जीवकाण्ड ।

३. तत्त्वार्थ सूत्र, ५.२२.

परिवर्तित नहीं होता और न वह अन्य द्रव्यों को अपने रूप में बदलता है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने आप में स्वतंत्र है, वह अपने से भिन्न किसी भी द्रव्य में न स्वयं मिलता है और न दूसरे द्रव्य को अपने रूप में परिणित करता है। कोई भी द्रव्य अपने से भिन्न द्रव्य को बदल नहीं सकता, उसमें परिवर्तन नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य अपनी ही पर्यायों में परिणमन करता है।

द्रवित होना, परिणमन करना यह द्रव्य का स्वभाव है। काल उस परिणमन एवं परिवर्तन में सहायक बनता है, निमित्त रूप में रहता है। काल के कारण पदार्थ नये से पुराना होता है, पुरानेपन के बाद नष्ट होकर पुनः नया बनता है अर्थात् वस्तु का पूर्व आकार नष्ट होता है और वह नये आकार को ग्रहण करती है। परन्तु इससे द्रव्य का विनाश नहीं होता—वह दोनों आकारों में विद्यमान रहता है। जैसे आयु-कर्म का क्षय होने पर मनुष्य-पर्याय नष्ट होती है और देव आयु का उदय होने के कारण देव-पर्याय उत्पन्न होती है। परन्तु मनुष्य पर्याय के समय जो जीव-द्रव्य था, देव-पर्याय के समय भी उसका अस्तित्व बना रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि द्रव्य की पर्यायों के परिवर्तन में काल-द्रव्य सहायक है, परन्तु काल द्रव्य का निमित्त पाकर सभी द्रव्यों की पूर्व पर्याय का नाश होता है और उत्तर-पर्याय उत्पन्न होती है, इसके साथ द्रव्य अपने स्वरूप में सदा विद्यमान रहता है। कर्मयोगी श्री कृष्ण ने भी गीता में यही कहा है कि आत्मा की न तो कभी मृत्यु होती है और न उसका जन्मोत्सव होता है। मृत्यु और जन्म भव का परिवर्तन मात्र है। जैसे वस्त्रों के जीर्ण होने पर व्यक्ति जीर्ण वस्त्र को उतार कर फेंक देता है और नये वस्त्र को धारण कर लेता है। उसी प्रकार आयु कर्म के समाप्त होते ही आत्मा एक भव के शरीररूप वस्त्र का परित्याग करके, दूसरे भवरूपी नये वस्त्र को धारण करती है। परन्तु भव-नाश के साथ आत्मा का नाश-विनाश नहीं होता। उसका अस्तित्व इस भव के पूर्व अनन्त अतीत काल में भी था, इस भव में वर्तमान में है और इस भव के अनन्तर अन्य भवों में अथवा अनन्त अनागत काल में भी रहेगा। चार्वाक-दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय-दर्शन आत्मा के

अस्तित्व को तीनों काल में स्वीकार करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्य अपने द्रव्यत्व अथवा अपने स्वरूप की अपेक्षा ध्रुव है, नित्य है, परन्तु पर्यायत्व की अपेक्षा प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहा है और अनन्त अनागत काल में भी परिवर्तित होता रहेगा।

काल अपने स्वभाव के अनुरूप किसी द्रव्य के प्रवाह को निरन्तर प्रवहमान करने की योग्यता नहीं रखता। द्रव्य की पर्यायों में परिणमन कराना यह काल का स्वभाव नहीं है। जैन दर्शन उभी द्रव्य को काल कहता है, जो द्रव्य अपने स्वभाव के अनुरूप अपनी पर्यायों में निरन्तर परिणत होता रहता है, उसमें सहायक बनना काल का कार्य है। जिस प्रकार मशीन के चक्र के मध्य में लगी हुई कील (Pin) चक्र (Wheel) को चलाती नहीं है, फिर भी उसका होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। यदि चक्र में पिन न हो, सहायक के रूप में उसकी उपस्थिति न हो, तो चक्र घूम ही नहीं सकता। पिन चक्र को चलाती एवं घूमती नहीं है, पर उसके घूमने में वह सहायक अवश्य है। इसी प्रकार काल-द्रव्य, द्रव्य में होने वाले निरन्तर परिवर्तन में सहायक है। C. R. Jain ने Key of knowledge में लिखा है -

‘विश्व में ऐसा कोई दर्शन नहीं, जो पदार्थ में रहे हुए निरन्तरता के तत्त्व से अनभिज्ञ हो, फिर भी इस रहस्य एवं पहेली को हल करने में सफल नहीं हो सका। विश्व के अधिकांश दर्शन काल (Time) को केवल पर्यायवाची शब्द (Synonymous) के रूप में जानते हैं, परन्तु उसके वास्तविक स्वभाव (True nature) को समझने में वे प्रायः असफल (Fail) रहे हैं। आज भी बहुत से विचारक एवं दर्शन तो द्रव्यों के अस्तित्व की सूची के आधार पर काल की लम्बाई को नापते हैं, और उसे उसी रूप में जानने हैं। परन्तु वे इस बात का भूल जाते हैं कि सिर्फ काल के कारण पदार्थ निरन्तर अपनी पर्यायों में बहता रहता है, द्रवित होता रहता है और उसके आकार में भी परिवर्तन आता है। काल का प्रथम गुण यह है कि वह निरन्तर प्रवह का स्रोत है, परिणमन में सहायक कारण है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि काल एक प्रकार की शक्ति है, जो पदार्थों में होने वाले परिवर्तन को क्रमबद्ध

रखती है।" फ्रेंच दार्शनिक बोसिन ने घोषणा की थी, "पदार्थों में जो क्रान्ति एवं परिवर्तन आता है, उसमें काल आवश्यक तत्त्व है। काल के बिना (Without time element) वस्तुओं में परिवर्तन होना पूर्णतः असंभव है।" जैन-दर्शन भी इस सत्य तथ्य को स्वीकार करता है कि काल-द्रव्य केवल समय-नापने का ही साधन या माध्यम नहीं है, उसका गुण एवं स्वभाव यह है कि द्रव्य के द्रवित होने में, परिणमन होने में एवं द्रव्य की पर्यायों के परिवर्तन में सहायक होना।

वैशेषिक-दर्शन की मान्यता :

वैशेषिक-दर्शन अपने द्वारा मान्य नव द्रव्यों में काल को भी एक द्रव्य मानता है। उसकी मान्यता के अनुसार काल एक नित्य और व्यापक द्रव्य है। परन्तु यह मान्यता युक्ति-युक्त नहीं है, न तर्क सगत ही है और न अनुभव सिद्ध ही है। क्योंकि नित्य और एक होने के कारण उसमें स्वयं में अतीत, वर्तमान और अनागत त्रि-काल बोधक भेद नहीं हो सकता और तब उसके निमित्त को माध्यम मानकर अन्य द्रव्यों एवं पदार्थों में अतीतादि भेदों को कैसे नापा जा सकता है? द्रव्य में जो परिणमन होता है, वह किसी समय में ही होता है, जो परिणमन हो चुका, वह भी किसी समय विशेष में हुआ था और जो परिणमन होगा, वह भी किसी समय विशेष में ही होगा। समय के बिना परिणमन को वर्तमान, अतीत और अनागत काल से संबद्ध कैसे कहा जा सकता है? कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक आकाश-प्रदेश पर द्रव्यों में जो विलक्षण परिणमन हो रहे है, उसमें साधारण निमित्त काल है, वह अणु रूप है। उसका सबसे छोटा रूप समय है।

बौद्ध-दर्शन की मान्यता :

बौद्ध-दर्शन काल को स्वभाव सिद्ध स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता, उसकी मान्यता के अनुसार काल मात्र व्यवहार के लिए कल्पित है, वह प्रज्ञप्ति मात्र है।^१ परन्तु हम अतीत, वर्तमान और अनागत का जो व्यवहार करते हैं, वह केवल काल की कल्पना मात्र नहीं हो सकती। क्योंकि मुख्य काल-द्रव्य के बिना हम उसका व्यवहार भी नहीं कर सकते। जैसे व्यक्ति में शेर का उपचार करते हैं, वह मुख्य

शेर के सद्भाव में ही करते हैं। ठीक इसी प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान कालिक व्यवहार से मुख्य काल का सद्भाव स्पष्ट सिद्ध होता है। अन्य द्रव्यों की तरह वह भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है और उत्पाद, व्यय और द्रौढ्य से युक्त है।

काल के भेद :

हम काल को सैकण्ड, मिनिट, घण्टे, दिन-रात, वर्ष आदि के रूप में जानते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में उसे तीन भागों में भी विभाजित करते हैं। आर.मों में अन्य प्रकार से भी काल का विभाजन किया है— निश्चय-काल और व्यवहार-काल। व्यवहार-काल चन्द्र और सूर्य की गति पर आधारित है, उसी के अनुसार सैकण्ड, मिनिट, घण्टे, दिन-रात, पक्ष, महीना, वर्ष, युग, शताब्दी पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी आदि के रूप में काल-चक्र का विभाजन करते हैं। वैदिक परम्परा में सतयुग, द्वापर त्रेता एवं कलियुग आदि के रूप में व्यवहार-काल का वर्णन मिलता है। इस व्यवहार-काल की अपेक्षा से ही इसे मनुष्य क्षेत्र अथवा ढाई-द्वीप में ही माना है। व्यवहार-काल लोक-व्यापी नहीं है। क्योंकि जितने लोक में सूर्य और चन्द्र गतिशील है, उतने ही क्षेत्र में व्यवहार-काल का उपयोग होता है, उसके बाहर नहीं है। परन्तु लोक का एक भी ऐसा आकाश-प्रदेश नहीं है, जहाँ काल-द्रव्य न हो। व्यवहार-काल भले ही वहाँ न हो, निश्चय-काल लोक में सर्वत्र व्याप्त है।

जिसे हम काल कहते हैं, वह व्यवहार जगत की वस्तु है। परन्तु काल का जो सबसे छोटा अंश है, जिसके दो विभाग नहीं होते, उसे समय कहा है। एक परमाणु लोक-अवकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाता है, उसमें जितना समय लगता है, उसे एक समय कहा है। समय, आश्चर्य जगत की वस्तु है। वह लोक में सर्वत्र व्याप्त है। लोक में व्याप्त षड्-द्रव्यों की पर्यायों में प्रतिक्षण जो परिणमन होता है, उसमें समय ही सहायक है। यदि समयरूप काल का ढाई-द्वीप या मनुष्य-क्षेत्र से बाहर अभाव मान लिया जाए, तो वहाँ किसी भी द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। क्योंकि द्रव्य का स्वभाव ही

ऐसा है कि वह अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए अपनी पर्यायों में द्रवित होता रहता है। उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, उसकी पुरातन पर्याय का नाश होता है और नयी पर्याय उत्पन्न होती है। परिणमन द्रव्य का स्वभाव है और समय के माध्यम के बिना वह कथमपि संभव नहीं है। अतः समय सर्वत्र व्याप्त है।

जैन-दर्शन इस बात को स्वीकार करता है कि समय रूप कालाणु असंख्यात प्रदेश वाले लोक-आकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित है, सभी कालाणु स्वतन्त्र है, वे एक-दूसरे में मिलते नहीं हैं। यदि एक कालाणु दूसरे कालाणु में अथवा एक समय दूसरे समय में मिल जाए, तो फिर वे एक ही हो जाएंगे, उनमें अनेकत्व नहीं रहेगा। अतः स्वभाव से वे एक-दूसरे से अलग हैं। सम्पूर्ण विश्व कालाणुओं से परिपूर्ण है, लोक-आकाश का एक भी ऐसा प्रदेश नहीं, जो इससे शून्य हो। पदार्थ-विज्ञान की दृष्टि से (In a static condition) ये कालाणु दृष्टगत् नहीं होते हैं, आकार रहित हैं, निष्क्रिय हैं और सख्या में गिन नहीं जा सकते (Countless) हैं। इस प्रकार निश्चय काल सर्वत्र है और वह अनन्त है। क्योंकि पर्यायों में परिणमन अनन्त काल से होता आ रहा है, वर्तमान समय में हो रहा है और अनन्त अनागत काल में होता रहेगा। पर्यायों में होने वाला परिवर्तन अनादि-अनन्त है, इस अपेक्षा से समय भी अनन्त है। समय का अस्तित्व अथवा काल-द्रव्य का अस्तित्व लोक में ही है। अलोक में नहीं। अलोक में केवल शुद्ध आकाश (Only pure space) है, फिर भी चारों ओर से लोक को घेरे हुए है, अतः उसके लिए भी यह प्रयोग किया जाता है कि अलोक में स्थित आकाश त्रिकालवर्ती है अनन्त समय से वह है और अनन्त समय तक रहेगा।

वैज्ञानिक दृष्टि में—काल :

जैन-दर्शन की तरह विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि प्रत्यक्ष या व्यवहार-काल (Apparent-time) के पीछे निश्चय अथवा यथार्थ-काल (Real-Time) भी है। प्रो० एडिनटन का कहना है—“Whatever may be time deJure)—जो कुछ भी

हो काल नियमानुसार है।” ज्योतिष-विज्ञानवेत्ता रोयल का कहना है—“Time is Time de-facto) काल कार्य से अथवा यथार्थ में काल है।” महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन भी काल को वास्तविक स्वीकार करता है और वह उसके अस्तित्व को सम्पूर्ण लोक में मानता है। काल के सम्बन्ध में आइन्स्टीन की मान्यता यह है—“Time and space are mixed up in a rather strange way”—काल और आकाश वास्तव में आश्चर्यजनक रास्ते से एक-दूसरे में मिल गए हैं। वास्तव में कोई भी द्रव्य अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता है। जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार एकद्रव्य की अनन्त-अनन्त पर्यायों भी अपने से भिन्न दूसरी पर्याय में नहीं मिलती। ससार अवस्था में आत्मा और पुद्गल का संयोग सम्बन्ध एक-सा दिखाई देता है, फिर भी आत्मा का एक भी प्रदेश, एक भी गुण और एक भी पर्याय पुद्गल के परमाणुओं, उसके गुणा और उसके पर्याय में नहीं मिलते हैं। अतः आकाश-द्रव्य न तो काल के रूप में परिणत होना है और न काल-द्रव्य आकाश के रूप में। दोनों का परिणमन अपनी-अपनी पर्यायों में ही होता है। फिर भी आकाश का एक भी ऐसा प्रदेश नहीं है, जो कालाणु से शून्य हो। इस दृष्टि से काल आकाश में मिला हुआ-सा परिलक्षित होता है। इस अपेक्षा से माना जाए, तो जैन-दर्शन भी इसे स्वीकार करता है कि आकाश का एक-एक प्रदेश न तो भूत काल में कालाणु से शून्य रहा है, न वर्तमान में वह कालाणु से शून्य है और न भविष्य में वह कालाणु से शून्य होगा।

काल, पुद्गल और जीव :

मैं आपको पहले बता चुका हूँ कि षड्-द्रव्यों में जीव और अजीव, चेतन और जड़—दो द्रव्य मुख्य हैं। जीव के अतिरिक्त पाँचो द्रव्य अजीव हैं, अचेतन हैं। आगम में अजीव को दो प्रकार का बताया है—रूपी और अरूपी या मूर्त और अमूर्त। धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चारों द्रव्य अरूपी हैं, अमूर्त हैं। केवल पुद्गल-द्रव्य ही रूपी एवं मूर्त हैं। मैं अभी आपको काल के सम्बन्ध में बता रहा था कि अरूपी एवं अमूर्त द्रव्यों की पर्यायों में जो परिणमन होता है, उसमें काल-द्रव्य सहायक है, परंतु

उसका सीधा असर जीव और पुद्गल पर होता है। व्यवहार काल का प्रभाव जीवों और पुद्गलों पर ही पड़ता है। इसलिए महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने कहा है—“यदि विश्व में पदार्थ (Matter) नहीं होता, तो आकाश और काल—दोनों नष्ट हो जाते। पदार्थ के अभाव में हम काल और आकाश को स्वीकार नहीं करते। यह पदार्थ है, जिसमें से (Space) आकाश और (Time) काल प्रारम्भ होते हैं। और हमें इनसे विश्व (Universe) का बोध होता है। जैन-दर्शन इस बात को नहीं मानता कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को उत्पन्न करता है। पदार्थ, जो कि मूर्त है, अपने से भिन्न काल एवं आकाश द्रव्यों को कथमपि उत्पन्न नहीं कर सकता, जो कि अमूर्त है। भारतीय-दर्शन और उसमें विशेष रूप से जैन-दर्शन यह भी नहीं मानता कि काल एवं आकाश का अस्तित्व एवं मूल्य पदार्थ (Matter) के कारण है। सभी द्रव्यों का अपना स्वतन्त्र मूल्य एवं महत्व है। यदि विश्व में किसी को सर्व-श्रेष्ठ स्थान दिया जाए, तो वह जीव है, जो अपने ज्ञान के द्वारा अपने से भिन्न द्रव्यों के स्वरूप का यथार्थ रूप से जानने का प्रयत्न करता है और उन्हें जान भी लेता है। परन्तु विज्ञान की इस बात से जैन-दर्शन सहमत है कि पदार्थ का अस्तित्व होने के कारण काल का स्वरूप क्या है, उसकी शक्ति क्या है? यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है।

जीव-द्रव्य अमूर्त है और वह अपनी पर्यायों में ही परिणमन करता है। उस परिणमन में काल सहायक है माध्यम मात्र है। परन्तु ससार अवस्था में राग-द्वेष आदि वैभाविक-भावों में परिणति होने के कारण आत्मा कर्मों से आबद्ध होकर चार गति एवं चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है। जब कार्माण-वर्गणा के पुद्गलों का बन्ध होता है, उस समय प्रकृति, अनुभाग एवं प्रदेश बन्ध के साथ स्थिति-बन्ध भी होता है और जितने काल की स्थिति का बन्ध होता है, उसी के अनुरूप कर्म उदय में आकर अपना फल देकर फिर आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाता है। इसी प्रकार जिस भव का जितने समय का आयु-कर्म का बन्ध होता है, उतने समय तक आयु-कर्म का भोग करने के बाद उस भव का जीवन समाप्त हो जाता

है। आयु-कर्म के क्षय होते ही उस भव की पर्याय का नाश हो जाता है और दूसरे भव के बान्धे हुए आयु-कर्म के अनुरूप उस भव की पर्याय उत्पन्न होती है। इसी को लोक-भाषा में मृत्यु कहते हैं और व्यक्ति सदा इससे भयभीत बना रहता है। रात-दिन व्यक्ति काल से, मृत्यु से बचने का प्रयत्न करता है। वैज्ञानिक भी व्यक्ति को मृत्यु से बचाने के लिए प्रयत्नशील है। फिर भी वे अब तक उसमें सफल नहीं हो सके हैं। परन्तु जिस व्यक्ति ने अपने स्वरूप को जान लिया और जिसे स्वरूप पर विश्वास है, वह मृत्यु से या काल से भयभीत नहीं होता। क्योंकि काल, पुद्गल के आकार में ही परिवर्तन करता है। आत्मा के अस्तित्व का नाश करने की ताकत काल में नहीं है। वीतराग एवं प्रबुद्ध-याधक यह भली-भाँति जानते हैं कि काल अपनी गति से चलता रहा है और चलना रहेगा। वह न तो कभी समाप्त हुआ है और न कभी समाप्त होगा। वह अपने स्वभाव के अनुरूप अपना कार्य करता है। परन्तु इस निमित्त को पाकर जो मुझे भव-भ्रमण करना पड़ता है, उसका मूल कारण काल नहीं, प्रत्युत राग-द्वेष आदि वैभाविक भावों में होने वाली मेरी परिणति ही है। विभाव से हटकर स्वभाव में स्थिर हो जाऊँ, स्वरूप में रमण करता रहूँ, तो उससे कभी भी बन्ध नहीं होगा और नये कर्मों के बन्ध के अभाव के कारण वर्तमान भव के आयु-कर्म का क्षय होने के बाद अन्य भवों की पर्याय भी उत्पन्न नहीं होगी। अतः परिणाम स्वरूप मृत्यु का स्वतः ही अन्त हो जायेगा।

वस्तुतः राग-द्वेष एवं कषाय आदि विकारों के कारण आत्मा का पुद्गलों के साथ संयोग सम्बन्ध होने के कारण ही उसे ससार में जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवाहमान होना पड़ता है। अतः काल को नष्ट करने का नहीं, प्रत्युत राग-द्वेष को हटाकर वीतराग-भाव, जो आत्मा का स्वभाव है और आत्मा का निज गुण है, उसमें स्थिर होने का प्रयत्न करे। जितनी-जितनी राग-द्वेष की परिणति कम होगी, आत्मा उतनी ही जहरी भव-भ्रमण के चक्र से मुक्त हो सकेगा। अतः काल के कारण मूर्त पुद्गलों के आकार-प्रकार में परिवर्तन होता है। पुद्गल की स्थूलता एवं (शेष पृ० ६७ पर)

विष्णुसहस्रनाम और जिनसहस्रनाम

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र सरोज, जावरा, (म० प्र०)

हिन्दुओं के विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र के समान जैनो में भी सहस्रनाम स्तोत्र प्रसिद्ध है। प्रायः दोनों समाजों में भक्तजन प्रतिदिन सहस्रनाम-स्तोत्र पढ़ते हैं। अन्तर केवल इतना है कि हिन्दू समाज में यह स्तोत्र पूजन के पश्चात् पढ़ते हैं और जैन समाज में यह स्तोत्र पूजन की प्रस्तावना में पढ़ते हैं। असुविधा या शीघ्रता के कारण जो जिनसहस्रनाम पठ नहीं पाते हैं वे भी प्रतिदिन जिन सहस्रनाम के लिये अर्घ्य तो चढ़ाते ही हैं। पर्युषण या दशलक्षण पर्व में तो प्रायः सभी स्थानों पर पूजन की प्रस्तावना में जिनसहस्रनाम पढ़ने की और उसके प्रत्येक भाग की सघाति पर अर्घ्य या पुष्प चढ़ाने की भी परम्परा है। यद्यपि जिनसहस्रनाम में जिन भगवान के और उनके गुणों को व्यक्त करने वाले एक हजार आठ नाम हैं, तथापि इसकी ह्यति सहस्रनाम के रूप में वैसे ही है जैसे माला में एक सौ आठ मोती या दाने होने पर भी हिन्दू लोग उन्हें सौ ही गिनते हैं, अथवा उपलब्ध सप्तसङ्गो में सात सौ से अधिक छन्द होने पर भी उन्हें सात सौ ही गिनते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेखनीय यह भी है कि हिन्दू धर्म में विष्णु सहस्रनाम के समान शिवसहस्रनाम या गणेशसहस्रनाम और सोतासहस्रनाम भी मिलते हैं। इसी प्रकार जैनो में भी जिनवाणी में सग्रहीत लघुसहस्रनाम भी पठनाथ मिलता है।

संज्ञा और रचयिता : दोनों सहस्रनामों की सज्ञा मार्थक है। विष्णुसहस्रनाम में भगवान विष्णु के एक हजार नाम हैं और जिनसहस्रनाम में भगवान जिन के एक सहस्र नाम हैं। विष्णुसहस्रनाम के रचयिता महापिबर वेदव्यास हैं। यह उनके अमर ग्रन्थ महाभारत के आत्मानुशासन पर्व में भीष्म-युधिष्ठिर-सम्वाद के अन्तर्गत है। जिनसहस्रनाम-स्तोत्र के रचयिता आचार्य जिनसेन हैं, जो कीर्तिस्तम्भ के सद्गुरु अपने प्रादि पुराण के लिये सुप्रसिद्ध हैं।

छन्द प्रस्ताव और समापन : दोनों सहस्रनाम

स्तोत्र संस्कृत भाषा के उस अनुष्टुप छन्द में हैं जो आठ अक्षरों के चार चरणों से बना है। दोनों सहस्रनाम स्तोत्रों में अपनी प्रस्तावना है और अपना समापन है। पर जहाँ विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्र की प्रस्तावना में तेरह और समापन में बारह श्लोक हैं वहीं जिनसहस्रनाम स्तोत्र की प्रस्तावना में तीस और समापन में तेरह श्लोक हैं। विष्णु सहस्रनाम में कुल १४२ श्लोक हैं और जिन सहस्रनाम में कुल १६७ श्लोक हैं।

दोनों सहस्रनाम अपने-अपने धर्म और देवता की देन को संजोये हैं। दोनों की अपनी शिक्षा और संस्कृति है, पर विष्णुसहस्रनाम में जहाँ लौकिक प्रवृत्ति भी लक्षित होती है, वहीं जिनसहस्रनाम में अलौकिक निवृत्ति ही लक्षित हो रही है। जहाँ विष्णुसहस्रनाम में कर्तृत्वभाव मुखरित हो रहा है, वहीं जिनसहस्रनाम प्रस्तुत प्रसंग में मोन है। उसमें आद्योपात्त बीतरागता का ही गुंजन हो रहा है। चूँकि दोनों स्तोत्र भक्तिमूल हैं और भक्ति में भगवान का आश्रय लेना ही पड़ता है, अतएव विचार के घरातल में दोनों ही सहस्रनाम भक्ति के प्रकाशस्तम्भ हैं। जहाँ विष्णु सहस्रनाम में एकमात्र विष्णु ही सर्वोपरि शीर्षस्थ है, वहीं जिनसहस्रनाम में सभी जिनेन्द्रों को पूर्णतया सर्वशक्तिसम्पन्न अनन्तदर्शन-ज्ञान-बल-सुख सम्पन्न समझने की सुस्पष्ट स्वीकृति है। विष्णुसहस्रनाम में दक्षित एक हजार नाम भीष्म-युधिष्ठिर को सुनाते हैं, जिन सहस्रनाम में उल्लिखित एक हजार आठ नाम जिनसेन पाठकों के लिये लिखते हैं, पर उन्होंने भी समापन के दसवें श्लोक में संकेत किया है कि इन नामों के द्वारा इन्द्र ने भगवान की स्तुति की थी।

विष्णुसहस्रनाम की प्रस्तावना में कहा गया है कि विष्णु जन्म, मृत्यु आदि छह विकारों से रहित हैं, सर्वव्यापक हैं, सम्पूर्ण लोक-महेश्वर हैं, लोकालयक हैं। इनकी प्रतिदिन स्तुति करने से मनुष्य सभी दुखों से दूर हो जाता है :

अनादिनिधनं विष्णुं सबलोकमहेश्वरम् ।

लोकाध्यक्षं स्तवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥

जिन सहस्रनाम की प्रस्तावना में कहा गया है कि जिनेंद्र भगवान् वीतराग, क्षायिक सम्यक्दृष्टि हैं। आप अजर और अमर, अजन्म और अचल तथा अविनाशी हैं, अतः आपके लिये नमस्कार हैं। आपके नाम का स्मरण करने मात्र से हम सभी परम शान्ति और अतीत सुख-सन्तोष तथा समृद्धि को प्राप्त होते हैं। आपके अनन्त गुण हैं :

अजराय नमस्तुभ्यं नमस्ते अतीतजन्मने ।

अमृत्यवे नमस्तुभ्यं अचलायाक्षरात्मने ॥

अलमास्तां गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणा ।

त्वन्नाम स्मृतिमात्रेण परमं श प्रशास्महे ॥

विष्णुसहस्रनाम के समापन में कहा गया है कि जो पुरुष परम श्रेय और सुख पाना चाहता हो, वह भगवान् व्यास द्वारा कहे गये विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र का प्रतिदिन पाठ करे :

इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम् ।

पठेत् य इच्छेत्पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च ॥

जिनसहस्रनाम के समापन में भी आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि इस स्तोत्र का प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक पाठ करने वाला भक्त पवित्र और कल्याण का पात्र होता है। विष्णु-सहस्र नाम स्तोत्र का समापन अनुष्टुप् छन्द में ही हुआ है। दोनों ही स्तोत्र सार्थ मिलते हैं, अतएव संस्कृतविद् सुधी पाठक ही नहीं, अपितु हिन्दी भाषी भी दोनों स्तोत्रों का आनन्द ले सकते हैं।

समानता, असमानता एवं कलात्मकता

दोनों सहस्रनामों में जहाँ कुछ समानता और असमानता है, वहाँ कुछ कलात्मक न्यूनाधिकता भी है। यह उनके रचयिताओं की अभिरुचि है, पर दोनों की भगवद्-भक्ति अनन्य निष्ठा की अभिव्यक्ति करती है। स्थविष्ठ, स्वयम्भू, सम्भव, पण्डरीकाक्ष, सुव्रत, हृषीकेश, शंकर, घाता, हिरण्यगर्भ, सहस्रशीर्ष, धर्मयूप जैसे शब्द दोनों स्तोत्रों में मिलते हैं। देवताओं की नामावली में ऐसे शब्द आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। कारण, एक तो प्रत्येक भाषा के अपने शब्दकोष की सीमा है और दूसरे एक धर्म, एक

व्यक्ति, एक साहित्य, एक संस्कृति अपने अपने समीपस्थ धर्म, व्यक्ति, साहित्य और संस्कृति से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकती है। फिर यह तो भाषा है।

नामावली की समानता के सूचक कतिपय उदाहरण यहाँ सतर्क, सजग होकर देखें। प्रत्येक उदाहरण में प्रथम पंक्ति विष्णुसहस्रनाम की है और द्वितीय-तृतीय पंक्ति जिनसहस्रनाम की है। भगवान् के नामों के आधार पर भक्तों में भावनात्मक एकता की अभिवृद्धि की बात भी देश और काल को दृष्टि में रखते हुये निस्संकोच कही जा सकती है।

(१) स्वयम्भू शम्भुरादित्यः पुष्पकराक्षो महास्वनः ।

ओमान् स्वयम्भू वृषभूः सम्भवः शम्भुरात्मनः ॥

(२) अग्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः ।

स्तवनार्हा हृषीकेशो जितेन्द्रियः कृतक्रियः ॥

(३) अनिर्विण्णः स्थविष्ठोऽमूर्धमयूषो महामखः ।

धर्मयूपो वयारागो धर्मेनेमिर्मुनीश्वरः ॥

(४) अनन्तगुणोऽनन्तशीजितमयुर्भयापहः ।

जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः ।

मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुविदारणः ।

(५) श्रीवः शीघ्रः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः ।

श्रीनिवासश्चतुर्बन्धुः चतुरास्यः चतुर्मुखः ॥

प्रबुद्ध पाठक देखेंगे कि पाँचवें उदाहरण की प्रथम पंक्ति और चतुर्थ उदाहरण की द्वितीय पंक्ति पढ़ते हुये लगता है कि एक ही पोशाक में सड़क पर दो विद्यालयों के विद्यार्थी जा रहे हैं और साहित्य की दृष्टि से अनुप्रास अलङ्कार तो सुस्पष्ट हैं ही।

विष्णुसहस्रनाम की नामावली में विभाजन नहीं है, पर जिनसहस्रनाम की नामावली दस विभागों में विभाजित है। विष्णुसहस्रनामकार ने शायद इसलिये विभाजन नहीं किया कि विष्णु के सभी नाम पृथक्-पृथक् हैं ही, परन्तु जिन सहस्रनामकार ने शायद इसलिये सो-सो नामों का विभाजन कर दिया कि जिसे श्लोक पाठ से बकी जनता की जिह्वा को कुछ विश्राम मिले और अर्घ्य चढ़ाने में भी यत्किञ्चित् सुखानुभूति हो।

हिन्दू धर्म की एक प्रमुख विशेषता समाहार शक्ति भी है। उसमें एक ईश्वर के तीन रूप-ब्रह्मा, विष्णु महेश की

शक्ति में हैं और विष्णु भगवान के चौबीस अवतार भी हैं। इनमें ऋषभदेव और बुद्ध भी हैं। इसी उदात्त भावना का सूचक विष्णु सहस्र नाम का निम्नलिखित श्लोक है जिसमें अनेक लोगों का एकत्रीकरण या पुण्यस्मरण किया गया है :

चतुर्भूतिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः ।

चतुरात्मा चतुर्भाविश्चतुर्वेदः विदेकवान् ॥

इस श्लोक में राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, बासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध को जहाँ स्मरण किया, वहाँ सालोक, सामीप्य, सायुज्य सारूप्य गति के साथ मन, बुद्धि ग्रहकार और चित्त को भी दृष्टि में रखा तथा धर्म, धर्म काम और मोक्षपुरुषार्थों के साथ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद को भी नहीं भुलाया। यह श्लोक अनुप्रास अलंकार का भी ज्वलन्त निदर्शन है।

अणुर्बृहत्कुशः स्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान् ।

अघृतः स्वघृतः स्वास्यः प्राग्वंशो वंशवर्धनः ॥

अणु, बृहत् कुश, स्थूल, गुणभूत, निर्गुण, अघृत, स्वघृत जैसे विरोधी सार्थक शब्दों को अपने में समेटे हुये यह श्लोक विरोधाभास अलंकार प्रस्तुत कर रहा है, यह कौन नहीं कहेगा ? विष्णु सहस्रनाम में तीर्थंकर, श्रमण, वृषभ, वर्धमान शब्दों का प्रयोग हिन्दी और जैन विद्वानों के लिये विशेषता दर्शनीय, पठनीय और चिन्तनीय है :

वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः ।

वर्धना वर्धमानश्चविदित्तः भृत्तिसागरः ।

मनोजवस्तोर्थंकरो वसुरेता वसुप्रवः

आश्रमः धमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ॥

जिनसहस्रनाम स्तोत्र में स्थविष्ठादिशतक का चतुर्थ श्लोक पुनः पुनः पठनीय है। इसमें भगवान् जितेन्द्र का गुणगान करते हुये कहा गया है कि जितेन्द्रदेव पृथ्वी से क्षमावान् है, सलिल-से शीतल हैं, वायु से अपरिग्रही हैं, और अग्निशिखा सदृश ऊर्ध्वधर्म को धारण करने वाले हैं। सुप्रसिद्ध उपमानों से अपने आराध्य उपमेय की अभिव्यक्ति की यह विशिष्ट शैली किसके हृदय को स्पर्श नहीं करेगी ?

शान्तिर्भाक् पृथ्वीभूतिः शान्तिर्भाक् सलिलात्मकः ।

वायुभूतिरसंगारमा बह्निभूतिरवर्धयूक् ॥

इसी प्रकार श्रीवृक्षादिशत के आठवें से ग्यारहवें श्लोकों में और महामुन्यादिशत के आरम्भिक छह श्लोकों में कवि कुल-भूषण जिनसेन ने 'म' वर्ण के शब्दों की झड़ी लगा कर प्रबुद्ध पाठकों को भी चमत्कृत कर दिया है। उदाहरणस्वरूप महामुनि तीर्थंकर विषयक निम्नलिखित श्लोक देखिये, जो अनुप्रास अलंकार का एक श्रेष्ठतम उदाहरण है :

महामुनिर्महामौनो महाध्यानो महाव्रमः ।

महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामल्लः ॥

जिनसहस्रनाम-स्तोत्र में जितने भी श्लोक हैं, वे जिनके ही विषय में हैं, उनमें योगमूलक निवृत्ति है भोगमूलक वह लोक प्रवृत्ति नहीं है जो विष्णुसहस्रनाम के पुण्यहस, ब्राह्मणप्रिय जैसे शब्दों के प्रयोग में है।

दिग्वासादिशत का प्रथम श्लोक जिनचर्या का एक उत्कृष्ट उदाहरण है :

दिग्वासा वातरशनो निर्गन्धो निरम्बरः ।

निरिकचनो निराशसो ज्ञानचक्षुरमोमुहः ॥

दिशायें जिनके वस्त्र हैं और जिनका हवा भोजन है, जो बाहर भीतर की ग्रन्थियों (मनोविकारों) से रहित है, स्वयं आत्मा के वैभव सम्पन्न होने से ईश्वर है और वस्त्र-विहीन है, अमिलाषामो और आकाक्षामो से रहित है, ज्ञानरूपी नयनवाले है और अमावस्या के अन्धकार सदृश अज्ञान-मिथ्यात्व-दुराचार से दूर है, ऐसे जिन ज्ञानाब्धि, शीतसागर, अमलज्योति तथा मोहान्धकारभेदक भी हैं। जिन सहस्रनाम में ब्रह्मा, शिव, बुद्ध, ब्रह्मयोनि, प्रभविष्णु, प्रच्युत, हिरण्यगर्भ, श्रीगर्भ, पद्मयोनि जैसे नाम भी जिन (जितेन्द्रिय) के बतलाए गये हैं।

जिनसहस्रनाम में जिनकी प्रणवः, प्रणयः, प्राणदः, प्रणतेश्वरः" कहा गया है। इसके अनुरूप ही विष्णु सहस्रनाम में "वैकुण्ठः पुरुषः, प्राणः, प्राणदः, प्रणवः पृथुः" कहा गया है। जिनसहस्रनाम स्तोत्र में जहाँ "प्रधानात्मा प्रकृतिः परमः, परमोदयः" कहा गया है, वहाँ विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र में जहाँ "प्रधानात्मा प्रकृतिः, परमः परमोदयः" कहा गया है, वहाँ विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र में "योगायोगविदा नेता प्रधानपुरुषेश्वरः" कहा गया है। जिनसहस्रनाम में

“सदागतिः, सत्कृतिः सत्ता सद्भूतिः सत्यपरायणः” कहा गया। “सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः” भी कहा गया है।

इस प्रकार दोनों स्तोत्रों के शब्दों, अर्थों और भावों में पर्याप्त साम्य उपलब्ध होता है और यह सकुचित स्वार्थ पर आधारित साम्प्रदायिक व्यामोह से ऊपर उठ कर भावनात्मक एकता और धार्मिक सहिष्णुता की ओर इंगित करता है। धर्म की धरा पर जाति का नहीं, गुण और कर्म का ही महत्त्व है। जैनधर्म के प्रचारक तीर्थंकर जैन (वैश्य) नहीं, अपितु क्षत्रिय ही थे।

अन्यभक्ति निष्ठा

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥

यह श्लोक विष्णुसहस्रनाम का आमुख ही है पर यह उसमें नहीं है। इसमें जैसे भवन की भगवान विषयक अनन्य निष्ठा की अभिव्यक्ति हुई है, वैसे ही जिनसहस्रनाम के निम्नलिखित श्लोकों में भी जिनसेन या जिन भक्त की अनन्य निष्ठा प्रगट हुई है :

त्वमतोऽसि जगद्बन्धुः, त्वमतोऽसि जगद्भिषक्।

त्वमतोऽसि जगद्धाताः त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥

सक्षेप में दोनों ही सहस्र नाम अपने में अनन्य निष्ठा की आत्ममात्र किये हैं और भगवान के एक नहीं अनेक नामों के लिये स्वीकृति दे रहे हैं। दोनों ही प्रतिदिन पढ़े जाते पर भक्तों के लिये लोक-परलोक के कल्याण की बात कह रहे हैं। सारिणी १ में उपरोक्त विवेचन का संक्षेपण किया गया है।

सारिणी १. जिनसहस्रनाम और विष्णुसहस्रनाम

	जिनस०	विष्णुस०
१ रचयिता	जिनसेन	वेदव्यास
२ श्लोक संख्या	१६७	१४२
३ प्रस्तावना में श्लोक	१३	१३
४ समापन में श्लोक	१३	१२
५ छन्द	अनुष्टुप्	अनुष्टुप्
६ अलंकार	उपमा, अनुप्रास बहुल	उपमा-अनुप्रास बहुल
७ नाम	१००८	१००८
८ उद्देश्य	परमश्रेय, लौकिक निवृत्ति	परमश्रेय, किञ्चित् शुभलौकिक प्रवृत्ति
९ विभाजन	दश अध्याय	—
१० अभिव्यक्ति	वीतरागता	ईश्वर के प्रति कर्तव्यभाव

□ □ □

बाहुबली की मूर्ति

बाहुबली अथवा गोम्मटेश्वर का जीवन-चरित्र किसी भी महाकाव्य का विषय हो सकता है। सन् १९२५ में मैं कारकल गया था, वहाँ की पहाड़ी पर बाहुबली की ४७ फुट ऊँची मूर्ति देखी थी। श्रवणबेलगोल की ५७ फुट ऊँची मूर्ति देख आय हूँ। एक ही पत्थर में से खादी हुई ऐसा सुन्दर मूर्ति ससार में कोई दूसरी नहीं। इतनी बड़ी मूर्ति भी इतनी सलौनी और सुन्दर है कि भक्ति के साथ-साथ प्रेम की अधिकारी हो गई है।

इस प्रदेश के गाव-गाव में बिखरी मूर्तियाँ और कारीगरी से खडित पत्थरों को इकट्ठा करके किसी भी राष्ट्र के गर्व करने योग्य अद्भुत संग्रहालय तैयार हो सकता है। —काका कालेलकर

तीर्थंकर महावीर की निर्वाण-भूमि 'पावा'

□ श्री गणेशप्रसाद जैन, बाराणसी

तीर्थंकर महावीर का निर्वाण ७२ वर्ष की आयु में ई० सन् से ५२७ वर्षोंपूर्व पावा में हुआ था। दिगम्बर-शास्त्रों के अनुसार उन्तीस वर्ष पाच मास और बीस दिन तक केवली भगवान महावीर चार प्रकार के अनागारों तथा बारह प्रकार के गणों (सभाओं) के साथ विहार करते हुए अन्त में 'पावा' में पधारे, और दो दिनों तक योग निरोध करके अन्तिम गुण स्थान को प्राप्त कर लिया। इनके चारों अघातिया कर्म नष्ट हो गये। कार्तिक मास की कृष्ण चतुर्दशी को रात्रि पूर्णकर प्रातः की उषा बेला में स्वाति नक्षत्र के रहते हुए निर्वाण प्राप्त कर मोक्ष चले गये। यह कार्तिक कृष्ण अमावस्या का प्रातःकाल था।

श्वेताम्बर परम्परा में कार्तिक कृष्ण अमावस्या और शुक्ला एकम के प्रभात में स्वाति नक्षत्र के रहते उषा बेला में मोक्ष प्राप्त किया है। दोनों सम्प्रदाय में महावीर के मोक्ष-काल में २४ घण्टे (एक दिन एक रात्रि) का अन्तर है। परन्तु निर्वाण-स्थल दोनों का 'पावा' ही है।

कार्तिक कृष्ण १४ की अथवा १५ की रात्रि को महान् अन्धकार की रात्रि कहा जाता है। इन्द्र निर्वाण-महोत्सव मनाने के लिये अपने देव परिषद के साथ 'पावा' आया था, और वहाँ उसने असंख्य दीपों की दीप मालिका संजोकर महान् प्रकाश किया था। आगन्तुक देवों के उच्च मधुर स्वर के जयकार के बारम्बर के घोष से 'पावा' का आकाश गुंजित हो गया था। पावा नगर के नर-नारी उस घोष को सुनकर जाग गए और ती० महावीर का निर्वाण जान समस्त परिवारों के लोग हाथों में दीपक लिए निर्वाण स्थल पर आये थे, इसी प्रकार से वहाँ असंख्य दीप एकत्रित हो गये। इन्द्र, देव-परिषद पावा के नागरिकों ने बड़े ही धूमधाम से ती० महावीर का निर्वाण महोत्सव मनाया।

श्वेताम्बर परम्परा में ती० केवली भगवान महावीर

का उपदेश सुनने के लिए विभिन्न देशों से राजा एवं प्रजा जन 'पावा' पधारे थे। ती० महावीर—उपस्थित जन-समूह को छह दिनों तक उपदेश करते रहे। सातवें दिन रात्रि-भर उपदेश देते रहे। जब रात्रि के पिछले प्रहर में सब श्रोता नीद में थे, भगवान महावीर पर्यकासन से शुक्ल ध्यान में स्थित हो गये। जैसे ही दिन निकलने का समय हुआ। तीर्थंकर महावीर प्रभु ने निर्वाण लाभ कर लिया। जब उपस्थित जन समूह की तन्द्वा भंग हुई तो उन्हें दिखा कि वीर प्रभु निर्वाण लाभ कर चुके हैं। उस समय ती० केवली भगवान के प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम को केवल ज्ञान भी प्राप्त हुआ। 'हस्तिपाल' राजा, मल्लगण राज्य के नायक तथा १८ गण नायकों ने उस दिन प्रोषध रखा था। यह निर्वाण 'मध्यमा-पावा' में गणतन्त्री मल्ल राजा हस्तिपाल के शुल्कशाला में हुआ।

आज २५०७ वर्षों से समस्त भारत तथा कुछ विदेशों में भी प्रतिवर्ष कार्तिक कृष्ण अमावस्या को ती० महावीर के निर्वाण दिवस की स्मृति में दीपावली का महापर्व मनाया जा रहा है। इसे सभी सम्प्रदाय भिन्न रूप में मनाने लगे हैं किन्तु सभी दीपोत्सव करके ही मनाते हैं।

भारत और विदेशों में मिला कर लगभग एक ही सवत्सरों का प्रचलन है सम्भवतः उनमें सर्व प्राचीन संबत ती० महावीर का निर्वाण सवत ही है। विक्रम संबत महावीर-निर्वाण सवत से ४७० वर्षों बाद का है, शालि-वाहन शकसवत ६०५ वर्ष ५ माह बाद का है, और ई० सन् ५२७ वर्षों पश्चात् प्रचलित हुआ है। तथागत बुद्ध ती० महावीर के समकालीन थे, और उनके जीवन काल में ती० महावीर निर्वाण प्राप्त कर चुके थे।

आज जिस 'पावा' का तीर्थंकर महावीर की निर्वाण

भूमि मानकर वहां निर्वाण महोत्सव प्रति वर्ष दिगम्बर और श्वेताम्बर धूमधाम से मनाते हैं, वह इतिहासकारों और शोधकों की दृष्टि में विवाद की वस्तु बन गई है। उनका कहना है कि यहां के स्थल में एक भी ऐसे चिन्ह प्राप्त नहीं होते हैं, जो यह सिद्ध करने में समर्थ हों कि यह तीर्थंकर महावीर की निर्वाण भूमि है।

यह प्रचलित 'पावा' जिसे पुरी भी कहा जाता है बिहार शरीफ स्टेशन से नौ मील दूर है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय इस निर्वाण स्थल को कई सदियों से श्रद्धा पूर्वक पूजते आ रहे हैं। इस 'पावापुरी' में निर्वाण-स्थल पर एक जल-मन्दिर निर्मित है। यह मन्दिर पूर्ण संगमरमर से बना हुआ है, और एक बड़े सरोवर के मध्य स्थित है। मन्दिर तक पहुंचने के लिए ६०० फुट लम्बा लाल पत्थरों से निर्मित पुल है। सरोवर कमल पुष्पों से सदा आच्छादित रहता है। चांदनी रात्रि में मन्दिर का प्रतिबिम्ब जब सरोवर के स्वच्छ जल में झिलमिलाता दोखता है तब वह शोभा और भी अनुपम बन दर्शकों को मोह लेती है। 'वास्तु-कला' की दृष्टि से भी यह बिहार प्रान्त की एक अनुपम निधि है। यहां धर्मशालायें और अन्य मन्दिर भी हैं।

मुनि कल्याण विजय गणी ने लिखा है कि प्राचीन भारत में 'पावा' नाम की तीन नगरिया थी। जैन सूत्रों के अनुसार एक 'पावा' मंगि देश की राजधानी थी। यह प्रदेश पार्श्वनाथ पर्वत (सम्मेल-शिखर) के आसपास के भूमि भाग में फैला हुआ था, जिसमें हजारीबाग और मानभूमि जिलों के भाग शामिल थे। बौद्ध-साहित्य के मर्मज्ञ कुछ विद्वान इस 'पावा' को मलय देश की राजधानी बतलाते हैं, परन्तु जैन-सूत्र ग्रन्थों के अनुसार यह मंगि देश की ही राजधानी सिद्ध होती है। दूसरी 'पावा' कोशल से उत्तर-पूर्व कुशीनारा की ओर मल्ल राज्य की राजधानी थी। जिसे महापंडित 'राहुल सांकृत्यायन' गोरख जिले के 'पण्डर' ग्राम को मान्यता देते हैं। यह पण्डरीना के निकट और कसाया से १२ मील उत्तर-पूर्व में है। 'मल्ल' लोगों के गणतन्त्र का सभा भवन भी इसी नगर में था।

तीसरी 'पावा' मगध जनपद में थी, जो आजकल तीर्थ क्षेत्र के रूप में मान्य है। इन तीनों 'पावाओं' में पहली

'पावा' आग्नेय दिशा में, दूसरी 'पावा' दायव्य-कोण में स्थित थी, अतः तीसरी पावा मध्यमा के नाम से प्रख्यात थी। भगवान महावीर का निर्वाण और अन्तिम चातुर्मास इसी पावा में हुआ था। (श्रवण भगवान महावीर-पृ० ३७५)।

डा० राजबली पाण्डे का—“भगवान महावीर की निर्वाण भूमि” शीर्षक एक लेख (निबन्ध) प्रकाशित हुआ है। आपने उसमें 'कुशीनगर से वैशाली' की ओर जाती हुई सड़क पर कुशीनगर से ६ मील की दूरी पर पूर्व-दक्षिण दिशा में 'सठियाव गाँव' के 'भग्नावशेष' (फाजिलनगर) को ही निश्चित किया है।

यह भग्नावशेष लगभग डेढ़ मील विस्तृत है, और योगनगर तथा कुशीनगर के मध्य में स्थित है। यहां पर जैन-मूर्तियों के ध्वसावशेष अभी तक पाये जाते हैं। बौद्ध-साहित्य में जो पावा की स्थिति बतलायी गयी है, वह भी इसी स्थान पर घटित होती है।

डा० मेमिचन्द्र जी शास्त्री (आरा) ने लिखा है कि—तीनों पावाओं की—स्थिति पर विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि ती० महावीर की निर्वाण-भूमि 'पावा' डा० राजबली द्वारा निरूपित ही है। इसी स्थल पर काशी-कोशल के नौ, लिच्छवी, तथा नौ मल्ल, एवं अठारह गणराजाओं ने दीपक प्रज्वलित कर भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव मनाया था। 'नन्दि वर्धन' (वर्धमान के अग्रज) द्वारा ती० महावीर की निर्वाण भूमि पर उनकी पुण्यस्मृति में जिस मन्दिर का निर्वाण किया था, आज वही मन्दिर फाजिल नगर का ध्वसावशेष है। इस मन्दिर का निर्माण एक मील के घेरे में हुआ था, और यह ध्वसावशेष लगभग एक-डेढ़ मील का है। ऐसा अनुमान होता है कि मुसल-मानी सलतनत की ज्यादतियों के कारण इस प्राचीन तीर्थ को छोड़कर 'मध्यम-पावा' को ही तीर्थ मान लिया गया है। यहां पर क्षेत्र की प्राचीनता का द्योतक कोई भी चिन्ह नहीं है। अधिक से अधिक तीन सौ वर्षों से इस क्षेत्र को तीर्थ स्वीकार किया है। ती० महावीर के काल में सोलह जनपद थे। जिसमें काशी, कोशल, मगध, वज्ज और मल्ल प्रमुख थे। काशी की राजधानी वाराणसी,

कोशल की भाषस्ती, मगध की राजगृह, और मल्लों की ‘पावा’ और ‘कुशी नगर’ थी। वैशाली वज्जियों की राजधानी थी। यह एक प्रसिद्ध महत्वपूर्ण नगर था। अन्य सभी राजधानियों भी विस्तृत समृद्ध और युग की श्रेष्ठ प्रसिद्ध नगरियाँ थी।

गणतन्त्र के प्रमुख नगर ‘पावा’, कुशीनगर, भंडग्राम, वालाहार, वनखण्ड, मोगनगर और आम्र ग्राम थे। ‘पावा’ एवं कुशीनगर के मध्य तीन नदियाँ बहती थी, जिनमें तुकुत्था (घाघी) और हिरणावती के नाम और चिन्ह मिलते हैं।

भगवान् बुद्ध के यात्रा मार्ग की चर्चा बौद्धग्रन्थ निव्वानसुत्त में आती है। वैशाली और कुशीनगर के बीच भण्डग्राम, जम्बूग्राम, हत्तिग्राम, आम्रग्राम भोगनगर, ‘पावा’ और कुशीनगर उन्हें मिले थे। ‘कुशीनगर’ से पावा कुल तीन गव्युत्ति अर्थात् १२ मील दूरी पर था।

गणराज्य की राजधानी ‘पावा’ का प्रसार साक्यराज की सीमा तक फैला था। ती० महावीर के अनुयायियों की बस्ती ‘कुशीनारा’ में थी। प्राचीन मल्लराष्ट्र के भूभाग में अब भी मल्लों के राज्य (स्वाधीनता से पूर्व) विद्यमान हैं। किन्तु इन राज्यों के मल्ल शासक शायद अपने को उस पुरातन मल्लों का वंशज न मान कर अन्य क्षत्रिय मानते हैं।

महापंडित ‘राहुल सांकृत्यादन’ का कहना है कि पडरीना के राज्य जो आजकल अपने को ‘सैषवार’, तमरबुड़ी के राजा ‘भूमिहार’-‘ब्राह्मण’ एवं मझौली के राज्य के ‘विमने राजपुत’ कहते हैं ये सभी ‘मल्ल-क्षत्रियों’ के वंशधर हैं। १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ‘कुशीनगर और पावा’ के बौद्ध और जैन-विहार, स्तम्भ तथा मन्दिर मुसलमानों द्वारा नष्ट कर दिये गये थे।

भरतसिंह उपाध्याय ‘बुद्धकालीन भारतीय भूगोल’ में लिखते हैं कि जैन-लोग महावीर की निर्वाण भूमि ‘पावा’ को मानते हैं, जो विहार शरीफ से करीब ७ मील ‘दक्षिण पूर्व’ दिशा में नालन्दा के निकट स्थित है। ‘पावा’ तीर्थ यह स्थान कदापि नहीं हो सकता है, क्योंकि राजगृह के इतने निकट ‘शाक्य’ तथा ‘कुशीनगर’ और गणतन्त्रों

वाली मल्लों की राजधानी ‘पावा’ कैसे हो सकती है? राजगृहों का राज्य ‘साम्राज्यवादी’ था, और अन्य मल्ल-राज्य स्वतन्त्र ‘गणतन्त्र राज्य’ थे। उनका इस भूभाग में होना असम्भव है।

देवताम्बर-सम्प्रदाय के जैन-साहित्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि केवली भगवान् ती० महावीर ने अन्तिम चातुर्मास ‘पावा’ के मल्ल गणतन्त्री राज्य हस्तीपाल की रज्जुग सभा में बिताया था। और उनका निर्वाण ‘पावा’ में हुआ था, जो मल्ल राजा हस्तीपाल की राजधानी थी।

दिगम्बर आग्नाय के ग्रंथ पुष्पदन्तकृत महापुराण (सन्धि १०२ कंडवक १०-११) तथा उत्तरपुराण (७६, ५०८-५१२) में और अन्य ग्रंथों में भी केवली ती० भगवान् महावीर ने अपने विहार का क्रम समाप्त कर ‘पावा’ नगर में अनेक सरोवरों के बीच उन्नत भूमि पर महामणि शिला पर आसन ग्रहण लिया था और वही से वह मोक्ष पधारे थे।

डा० हीरालाल जी जैन और डा० आ० ने० उपाध्याये भी अपनी रचना ‘महावीर युग और जैन दर्शन’ में पृष्ठ ३० पर लिखते हैं कि—‘कल्पमूत्र तथा परिशिष्ट पत्रों के अनुसार जिस पावा में भगवान् का निर्वाण हुआ था, वह मल्ल क्षत्रियों की राजधानी थी। ये मल्ल वैशाली के वज्जिसंघ व लिच्छवि संघ में प्रविष्ट थे। और मगध के सत्तत्त्विक-राज्य से उनका वेर था। अतएव गंगा के दक्षिणवर्ती प्रदेश जहाँ वर्तमान ‘पावापुरी’ क्षेत्र है, वहाँ उनके राज्य होने की सम्भावना नहीं है।

इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रंथों जैसे ‘दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय’ आदि से भी सिद्ध होता है कि ‘पावा’ की स्थिति ‘शाक्य-प्रदेश’ में ही थी, और वह वैशाली से पश्चिम की ओर कुशीनगर से केवल दस बारह मील की दूरी पर थी। शाक्य-प्रदेश के ‘सामग्राम’ में जब भगवान् बुद्ध का निवास था, तभी उनके पास सन्देश पहुँचा था कि अभी-२ अर्थात् एक दिन के भीतर पावा में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ है।

उक्त बातों पर विचार विनमय, पश्चात् इतिहासज्ञ इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि जिस पावापुरी में भगवान्

महावीर का निर्वाण हुआ था, वह यथार्थतः उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में व कुशीनगर के समीप वाला 'पावा' नामक ग्राम है, जो आजकल सठियांव (फाजिलनगर) कहलाता है, और जहां बहुत से प्राचीन खण्डर व भग्नावशेष पाये जाते हैं। अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से इस स्थान को स्वीकार कर उसे भगवान महावीर की निर्वाण भूमि योग्य तीर्थ बनाना चाहिये।

वर्तमान में वहां एक 'श्री पावानगर निर्वाण क्षेत्र समिति' कार्य कर रही है। जिसके राय देवेंद्रप्रसाद जैन, अध्यक्ष (नन्दभवन, गोरखपुर, २७३००१) और आचार्य श्री अनन्त प्रसाद जैन, मंत्री (जैन मन्दिर गली, अलीनगर, गोरखपुर २७३००१) हैं। आप लोगो के सत् प्रयत्न से वहां भारी कार्य हुआ है और बराबर हो रहा है। इन दोनों महानुभावों के परिश्रम का प्रतिफल है कि उस निर्वाण भूमि पर ती० महावीर के एक विशाल मन्दिर का निर्माण हो रहा है, जिसका नाप ७२ फुट × ३० फुट है, और जिसमें १२ फुट का गर्भगृह की वेदी में ती० महावीर की प्रतिमा स्थापित होगी।

७२ वर्ष की आयु में ती० महावीर का निर्वाण हुआ था, ३० वर्ष की आयु में प्रव्रज्या ली थी, और १२ वर्ष उनका तपस्या काल था। मन्दिर की नाप तीर्थंकर

महावीर की जीवन घटनाओं को प्रतिध्वमित करने वाली है। एक धर्मशाला भी निर्माण कराई जा रही है। भारत वर्षीय दि० जैन २५००वां निर्माण समिति, दिल्ली ने भूमि खरीदने के लिये १५००० रुपये तथा श्रावक शिरोमणि दानवीर साहू शान्तिप्रसाद जी ने पांच हजार नगद और एक बैंगन सीमेंट द्वारा सहायता की है। अन्य भक्तो की ओर से नित्य कार्य प्रगति पर है।

२५०० सीवी तीर्थंकर महावीर के निर्वाणोत्सव पर वहां महाविद्यालय (डिग्री कालेज) भी स्थापित हो चुका है। सरकार और विश्वविद्यालय-मान्यता उसे प्राप्त हो चुकी है। हम सब का कर्तव्य है कि इस दीपावली पर तीर्थंकर महावीर के २५०७वें निर्वाण पर हम फाजिलनगर जाने का निर्णय करें और वहां यात्रा कर पुण्य उपाजन करें तथा यह भी देखें कि यथार्थ क्या है? दीपावली के अतिरिक्त भी वहां की यात्रा की जा सकती है।

पूर्वोत्तर (ई. एन.) रेलवे के गोरखपुर अथवा देवरिया स्टेशन पर उतरें, वहां से बस-टैक्सी आदि सवारी से पावानगर (वर्तमान फाजिलनगर) पहुंचें। गोरखपुर से ४४ और देवरिया से ३५ मील दूर है, और पक्की सड़क पर है। धर्मशाला में ठहर कर वहां का वैभज निरीक्षण सुविधापूर्वक किया जा सकता है।



‘अनेकान्त’ के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली। मुद्रक-प्रकाशक वीर सेवा मन्दिर के निमित्त प्रकाशन अधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन,

पता—२३, दरियागंज दिल्ली-२

राष्ट्रीयता—भारतीय

सम्पादक—गोकुलप्रसाद जैन

राष्ट्रीयता—भारतीय

पता—वीरसेवामन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं ओमप्रकाश जैन, एतद्वारा घोषित करता हूं कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक

लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र होता है। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादन-मण्डल के सभी विचारों से सहमत हो।

—सम्पादक

नागछत्र-परंपरा और पार्श्वनाथ

इस देश और संसार में, लोक में नाग-महिमा व्याप्त है। नागों के बारे में अनन्त अनन्त लोक कथाएँ प्रचलित हैं। इन लोककथाओं में नागों का मानविकरण भी हो गया है। नाग स्वभाव से ही क्रोधी माने गए। इसीलिए क्रोधी लक्ष्मण, बलराम इत्यादि को शेष का अवतार माना गया। शेष के सहस्र-फणों पर पृथ्वी टिकी है, यह भी मान्यता रही है। शेष बहुत भी माना गया है।

विष्णु को शेष फणों में छात्र किए बताए जाते हैं। ऐसी प्रतिमाएँ गुप्तकाल तक की प्राप्त होती हैं जिनमें देवगढ़ की शेषशायी प्रतिमा सर्वप्रसिद्ध है। जिव के आभूषण ही नागों के हैं। पतञ्जलि नागव्रज में उत्पन्न होने से तथा बहुलता के कारण शेष के अवतार माने जाते हैं और उनका महाभाग्य कृष्णभाग्य कहलाता है।

नागनृपों का इस देश में पर्याप्त वर्चस्व रहा। तक्षशिला, अहिच्छत्र, नागपुर, उरगपुर (उरगु—मदुरे) इत्यादि नागरम्परा तथा नागवर्चस्व के ही अवशेष हैं। काशी में नागनृपों ने ही दश अश्वमेध किए थे। वह स्थल आज भी दशाश्वमेध घाट के नाम से प्रसिद्ध है। जनमेजय का नागयज्ञ लोकविश्रुत है जिसमें जनमेजय ने नागनिनाश का वीटा ही उठा लिया था।

नागों का इस देश के साहित्य, कला और सांस्कृतिक में पर्याप्त योगदान रहा है। विदिशा से मथुरा तक का क्षेत्र इनके ही वर्चस्व में था जहाँ से अनन्त अनन्त नागमूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। उन्होंने भारतीय परम्परा के अनुरूप अपने राज्य क्षेत्र में विभिन्न धर्मों तथा उनकी परम्पराओं को आश्रय तथा प्रश्रय दिया। अशोक ने आजीवकों को गुहादान किया था और ब्राह्मण सातवाहनो ने बौद्धों को गुहादान किया था। नागाओं ने भी ऐसी ही उदारता दर्शाई थी। परन्तु एक चतुर्थ अवश्य किया था। जिस सम्प्रदाय को सुरक्षा प्रदान कर उन्होंने पल्लवित किया उसे उन्होंने नागचिन्ह में अवश्य सम्पूत कर दिया जिसमें उनका नागसम्बन्ध चिरविज्ञात रहे।

विष्णु की शेषशायी प्रतिमा नागों के ही राज्य क्षेत्र—देवगढ़ से प्राप्त हुई है। असंभव नहीं, यह तथा ऐसी प्रतिमा के निर्माण का प्रथम प्रयास नागों ने ही किया हो। शेष नामक नागराजा भी हुआ है। सम्भव है उसने ही

□ डा० भगवतीलाल पुरोहित, उज्जैन (म० प्र०)

विष्णुकी पहली ऐसी प्रतिमा बनवायी हो। और उसके संरक्षण में वैष्णव-धर्म का पल्लवन हुआ हो। उस प्रतीक के माध्यम से अपनी राजक्षमता व्यक्त करने के लिए उसने यह भी घोषित करवा दिया कि शेष के सिर पर ही धरती टिकी है। शेष के बिना धरती रसातल में चली जाती।

कहते हैं पार्श्वनाथ ने पूर्वजन्म में नाग की रक्षा की थी। फलतः इस जन्म में पार्श्वनाथ पर कठिनायी आने पर नाग ने उन्हें संरक्षण प्रदान किया। नाग के संरक्षण के कारण ही पार्श्वनाथ की रक्षा हो सकी। इस कथा से यही ज्ञात होता है कि किसी समकालीन नागनृप अथवा नाग जाति के वीर ने पार्श्वनाथ की संकट में रक्षा की तथा वह उनका प्रमुख सहयोगी बना। बल्कि अधिक सर्वाधिक यही प्रतीत होता है कि किसी नाग के संरक्षण में ही पार्श्वनाथ के विचारों का प्रचार-प्रसार हुआ। पार्श्वनाथ के प्रति अत्युपकार के कारण ही नागछत्र उनके साथ मृदा के लिए सम्पूत हो गया। सम्भव है नागफणों से युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा का प्रचार भी उस संरक्षक नाग अथवा उसके उत्तराधिकारियों के द्वारा ही हुआ हो। क्योंकि यह उनके स्वभाव के अनुरूप आचरण है। पार्श्वनाथ को अधिक लोकप्रिय बनाने में किसी नाग का हाथ था या उनके तत्पुत्रीन अनुयाइयों ने भी सहर्ष स्वीकारा और तभी इनके साथ उपर्युक्त अन्य देवों के समान नागछत्र स्थायी रूप से जुड़ ही नहीं गया, बल्कि वह उनका प्रतीक चिन्ह भी बन गया।

वस्तुतः नागों के अवदान को बिसारा नहीं जा सकता अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य का एक नाम मल्लनाग था। छद्मशास्त्र का प्रथम प्रणेता पिमलनाग था। योगसूत्र तथा महाभाष्य के रचयिता पतञ्जलि भी नाग ही थे। भावदानक रचयिता गुप्तयुगीन गणपतिनाग था जो ममुद्रगुप्त से पराजित हुआ था। और इसी प्रकार अनेकानेक विद्वान हुए हैं। नाग-नृपों ने साहित्य और कला के साथ ही भारतीय स्वयुगीन विभिन्न धर्मों को भी समान आदर ही नहीं दिया उनके साहित्य-कलादि के द्वारा प्रसार-प्रचार में भी पूर्ण सहयोग दिया। भारत को नागों के अवदान सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन से और भी अनन्त अज्ञात तथ्य प्रकाशित होने की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

‘अनागत चौबीसी’ : दो दुर्लभ कलाकृतियां

□ श्री कुन्दन लाल जैन, बिल्ली

जैन शास्त्रों में तीन चौबीसी प्रचलित हैं। वर्तमान, भूत (अतीत) और भविष्यत (अनागत)। वर्तमान चौबीसी में ऋषभदेव, अजितनाथ आदि से लेकर भ० महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर हैं जिनकी पहिचान उनके लाल्छन (चिन्ह) बैल, हाथी, घोड़ा आदि से लेकर सिंह पर्यन्त चौबीस चिन्हों से होती है। यद्यपि यह चिन्ह परम्परा छठी शताब्दी के बाद प्राप्त होने वाली प्रतिमाओं में ही दृष्टि गोचर होती है इससे पूर्व की प्रतिमाएँ बिना लाल्छनो (चिन्हो) की ही मिली हैं।

भूतकाल (अतीत) के २४ तीर्थंकरों के नाम शास्त्रानुसार १ निर्वाण २. सागर ३. महासाधु ४. विमल प्रभु ५. शुद्धाय ६. श्रीधर ७. मुदत्त ८. विमल प्रभु ९. उद्धर १०. अगिर ११. सम्मति १२. सिधु १३. कुसुमाजलि १४. शिवगण १५. उत्साह १६. ज्ञानेश्वर १७. परमेश्वर १८. विमलेश्वर १९. यशोधर २०. कृष्णमति २१. ज्ञानमति २२. शुद्धमति २३. श्रीभद्र २४. इमतः आदि है।

भविष्यत (अनागत) काल के २४ तीर्थंकरों के नाम १. महापद्म २. मुरदेव ३. सुपाश्व ४. स्वयंप्रभु ५. सर्वात्म-भूत ६. देवपुत्र ७. कुलपुत्र ८. उदङ्क ९. प्रोष्टिल १०. जयकीर्ति ११. मुनिसुव्रत १२. अर १३. निरपाप १४. निराकाय १५. विपुल १६. निर्मल १७. चित्रगुप्त १८. समाधिगुप्त १९. स्वयंभू २०. अनिवृत्तक २१. जय २२. विमल २३. देवपाल और २४. अनन्तवीर्य आदि है।

वर्तमान चौबीसी की अनेको मूर्तियां व प्रतिमाएँ पुरातत्त्व एवं इतिहास की दृष्टि से उपलब्ध है। चन्देरी की चौबीसी तो प्रसिद्ध ही है पर है वह वर्तमान २४ तीर्थंकरों की। पर अतीत और अनागत चौबीसी की कोई प्रतिमा या मूर्ति किसी अनुसंधित्सु विज्ञ पाठक या लेखक को कहीं प्राप्त हुई हो तो कृपया लेख के संदर्भ में आगे प्रकाश डालें और मुझे भी सूचित करने की कृपा करें

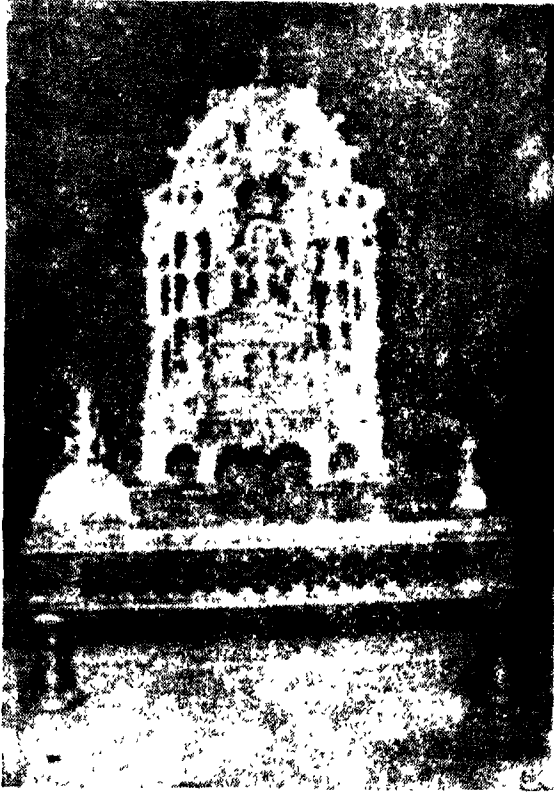
जिससे मैं अपनी अल्पज्ञता में कुछ संशोधन कर सकूँ।

अभी इस दशहरा अवकाश पर लगभग दो हजार कि. मी. के प्रवास पर सपरिवार निकला था। दिल्ली लौटते हुए दो दिन को करेरा भी चला गया था क्योंकि वहाँ रिश्तेदारी है। यहाँ श्री मन्खनलाल जी वगैरा कपड़े के व्यापारी है तथा मि. बद्रीप्रसादजी दोनों ही बड़े धार्मिक एवं श्रद्धालु श्रेष्ठ श्रावक है उन्होंने मुझे यहाँ के प्राचीन दि० जैन बड़े मंदिर में महज भाव से मात्र धार्मिक चर्चा हेतु आमंत्रित किया। मंदिर शिखर बंध एवं प्राचीन है। पहले भी कई बार दर्शन कर आया हूँ। अब की बार जब इस मंदिर में गया तो अचानक दो प्राचीन कलाकृतियों पर दृष्टि गड़ गई और ऐसा अनुभव हुआ किये कोई विशिष्ट प्रतिमाएँ हैं। मैंने श्री मन्खनलालजी से इनको देखने तथा इनमें उत्कीर्ण लेख को पढ़ने की उत्कण्ठा प्रकट की। चूँकि भाई मन्खनलालजी ने भोजन का आयोजन कर रखा था। अतः इस शुभ कार्य को भोजनोपरान्त ही सम्पन्न करने की स्वीकृति दी। मैं तो शोधार्थी ठहरा मुझे भाई मन्खनलाल जी का आग्रह स्वीकारना पड़ा। इस बीच खूब जमकर धार्मिक एवं आधुनिक समाज की विकृतियों के सम्बन्ध में खुलकर चर्चा हुई।

भोजनोपरान्त श्री मन्खनलालजी ने पुनः स्नान कर शुद्ध वस्त्र धारण कर मूर्तियों को बाहर प्रकाश में निकाला और सि. बद्रीप्रसादजी व श्री मन्खनलालजी के सहयोग से उन मूर्तियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया और उनसे अंकित लेख नोट किए। यहाँ जो उल्लेखनीय ऐतिहासिक एवं पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण दो अनागत चौबीसी, एक पंचमेरु तथा एक ताम्रयत्र हैं। ग्वालियर के पुरातत्त्व के विभाग ने उन्हें रजिस्टर्ड कर लिया है नियमानुसार रजिस्ट्रेशन पत्र भी दिया है तथा उपर्युक्त प्रतिमाओं के चित्र भी दिए हैं। पर लगता है पुरातत्त्व विभाग के

अधिकारियों ने या तो लेख पढ़े नहीं या वे ‘अनागत चौबीसी’ के महत्व को समझे नहीं।

जैसे ही मैंने स. १६७४ वाली चौबीसी में पूर्ण विवरण के साथ, जो आगे उल्लिखित है, ‘अनागत चौबीसी’ शब्द पढ़ा तो मेरा मन हर्ष से प्रफुल्लित हो उठा और मस्तिष्क में खनबली मच गई कि यह तो एक सर्वथा दुर्लभ और अप्रकाशित एवं अज्ञात कलाकृति है। यद्यपि अब तक मैंने दस पाँच या सौ पचास नहीं मपितु हजार से अधिक मूर्ति



(संवत् १६७४)

लेख, यंत्रलेख, चौबीसी वगैरह देख चुका हूँ और उनके लेख संग्रहीत एवं संकलित कर प्रकाशित कराए हैं पर अब तक ‘अनागत चौबीसी’ के नाम से कोई भी प्रतिमा या चौबीसी दृष्टि गोचर नहीं हुई, अतः अपनी अल्पज्ञता की शांति हेतु मैंने अनेकों विद्वानों से पुरातत्वविदों से, तथा जैन इतिहासकारों से पत्र व्यवहार किया जिनमें से कुछ निम्न प्रकार है :—

पं० श्रीकैलाश चन्द जी शास्त्री वाराणसी, डॉ. श्री ज्योतिप्रसादजी जैन लखनऊ, पं० श्री अमरचन्द नाहटा, दुर्गावती पुरातत्व संग्रहालय जबलपुर के अध्यक्ष श्री बालू चन्द जी एम. ए., लखनऊ पुरातत्व संग्रहालय के विद्वान् श्री शैलेन्द्र रस्तोगी, जैन पुरातत्व के पंडित श्री गोपीलाल जी अमर, पं. श्री हीरालाल जी सादूमल, ज्ञानपीठ के डॉ. गुलाब चन्द जी, पं. श्री हीरालाल जी कौशल प्रभृति विद्वानों से ‘अनागत चौबीसी’ के बारे में चर्चा की पर सभी ने शास्त्रानुसार ‘अनागत चौबीसी’ का अस्तित्व तो स्वीकार किया पर प्रमाणस्वरूप कोई प्रतिमा या कहीं किसी शास्त्र में ऐसी प्रतिमा के निर्माण के उल्लेख के बारे में कोई ऐतिहासिक या पुरातात्विक प्रमाण के विषय में कोई आधिकारिक उत्तर नहीं लिखा। इन सभी विद्वानों का मैं हृदय से आभारी हूँ।

यद्यपि श्रद्धालु रूढ़िवादी पाठक इस विषय में शंका कुशंका या तर्क-वितर्क करेंगे कि इस पंचमकाल में अनागत चौबीसी का निर्माण कैसे हो सकता है यह तो चौथे काल (आने वाले) की बात होनी चाहिए। पर यह एक ऐतिहासिक सत्य है तथा पुरातत्व की दृष्टि से सिद्ध हो गया है कि लगभग चार सौ वर्ष पूर्व सं० १२८३ में निर्मित ऐसी ही चौबीसी उपलब्ध हैं। ‘अनागत चौबीसी’ के निर्माण के पीछे आचार्यों की तथा विद्वानों की क्या परिकल्पना रही होगी और किस भक्ति-भाव से उन्होंने ऐसा किया कुछ नहीं कहा जा सकता जबकि प्रायः वर्तमान चौबीसी के ही निर्माण की प्रथा प्रचलित रही है। अनुसंधित्सु विद्वान इस पर विचार विमर्श करें और ऐसी मूर्ति निर्माण के कारण खोजें। पर यह निर्विवाद सत्य है कि यह एक नई खोज है जो आज तक अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुई है और न कहीं चर्चा भी है, अतः इस पर विस्तार से चर्चा होनी चाहिए। अभी १५ दिसम्बर, ८० को ज्ञानपीठ पुरस्कार के अवसर पर पं. श्री कैलाश चन्द जी से चर्चा हुई थी तो उन्होंने इस प्रतिमा को अद्भुत बताया साथ ही उन्होंने बताया कि विदेह क्षेत्र स्थित विद्यमान बीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में से प्रथम तीर्थंकर सीमंघर स्वामी की प्रतिमा के विषय में लोग शंकास्पद थे, जब स्व. पू. कानजी स्वामी ने सोनगढ़ समीपस्थ क्षेत्र में सीमंघर स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई लोगों ने इसका विरोध किया था पर अब खोज शोध के

बाद बवाना में सीमधर स्वामी की प्रतिमा प्राप्त हो गई है। ऐसी जनश्रुति है कि सीमधर स्वामी के समोहरण में कुम्हकुन्दाचार्य जी को कोई देव ले गया था जो वहाँ बहुत ही छोटे से जीव प्रतीत हुए थे।

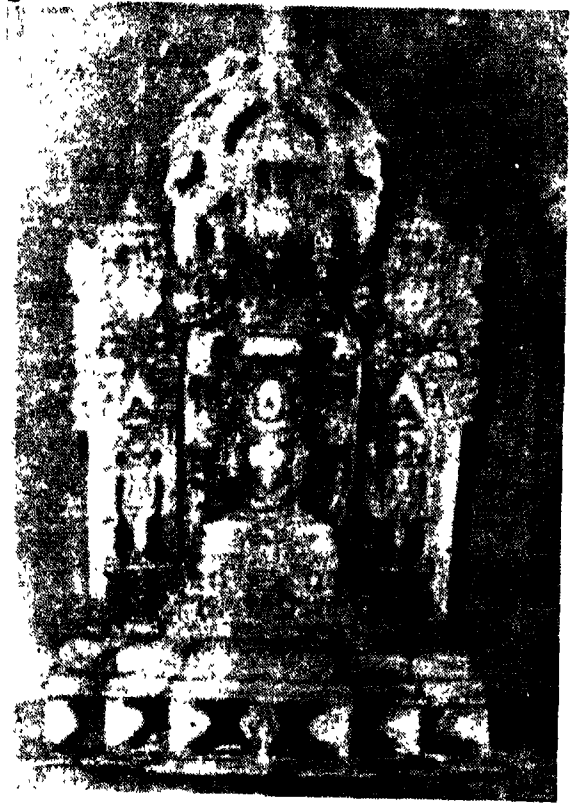
अब उन 'अनागत चौबीसी' का विवरण करता हूँ। पहली चौबीसी धातु पीतल की निर्मित है और अत्यधिक कलापूर्ण ढंग से ढाली गई है चित्र संलग्न है। यह लगभग एक फुट लम्बी, ऊँची होगी और लगभग ८३ इंच चौड़ी होगी। प्रायः चौबीस में पचासन प्रतिमाएँ होती हैं पर इसमें कुछ खड्गामन भी हैं। मूलनायक प्रतिमा कुछ बड़ी है बाकी २३ प्रतिमाएँ छोटी-छोटी हैं यहाँ तक की नाक नक्श भी स्पष्ट दिखाई नहीं देते पर शिल्पी ने जिस यलात्मक ढंग से इसे सजाया है। वह सर्वथा दर्शनीय है। इसमें जो पृष्ठ भाग में उत्कीर्ण है वह निम्न प्रकार है— 'संवत् १२८३ वर्षे मूलसंधे वैसाख सुदी ६ साधुलाल गजे सिंह सल्लेखना नमति' यद्यपि इस प्रतिमा में 'अनागत चौबीसी' का उल्लेख नहीं है पर इसकी आकृति तथा कला एवं रचना पद्धति दूसरी चौबीसी जो स. १६७४ की है और जिसमें 'अनागत चौबीसी' उत्कीर्ण है उससे बिल्कुल मिलती जुलती है और ऐसी प्रतीत होती है कि उसी साँचे की हल्की हो यद्यपि आकार में कुछ बड़ी है।

दूसरा चौबीसी का लेख—यह पहली चौबीसी की भांति पीतल की बनी है इसकी मूल नायक प्रतिमा मिनाथ की है जिसमें शख का चिन्ह अंकित है इसमें साथ २३ प्रतिमाएँ पचासन और खड्गामन की हैं। इसमें जो लेख पृष्ठ भाग में अंकित है वह इस प्रकार है :—

संवत् १६७४ जेठ सुदी नौमी सोमे मूलसंधे सरस्वती गच्छे भट्टारक श्रीयश कीर्ति भट्टारक तत्पट्टे भ. ललितकीर्ति तत्पट्टे भ. धर्मकीर्ति उपदेशत जैसवाल जाती कोटिया गं जे, बी. गोपालदास भार्या कपूर के पुत्र द्वौ ज्येष्ठ संघपति श्री चितामणि भार्या बसाइकदे पुत्र त्रयाः बनराज भार्या मधुरावती, सागरचन्द भार्या किमुनावती भूपति भार्या दगम, द्वितीय संघपति किमुनदास भार्या परभावती पुत्र त्रयाः खडेराय भार्या अन्हपदे धर्मदास महिमा एते नमति। 'अनागत चौबीसी' उपर्युक्त भट्टारक बलात्कार गण की जो हर शास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। भ. धर्मकीर्ति अपने

समय के बड़े प्रतिष्ठित विद्वान और आचार्य थे इन्होंने अनेकों मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई थी तथा आश्विन कृष्ण ५ स. १६७१ में हर्गिवश पुराण की रचना की थी विशेष जानकारी के लिए भट्टारक संप्रदाय के पृ. २०३-२०४ पर देखें।

पंच मेरु प्रतिमा —तीसरी कलाकृति पीतल की चौकोर मेरु प्रतिमा है जो लगभग एक फुट ऊँचा गोल गुम्फदकार है प्रत्येक ओर पाँच-पाँच प्रतिमाएँ विराज है इस तरह कुल



(संवत् १२८३)

बीस प्रतिमाएँ इस मेरु मंदिर में विराजमान हैं। इसमें जो लेख उत्कीर्ण है वह निम्न प्रकार है— 'संवत् १७२५ वर्षे पोष सुदी १५ गुरुवासरे श्रीमूलसंध बलात्कार गणे सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्दान्वये सकलकीर्ति उपवेशात् स वसते कुजमणी नित्य प्रणमति सकुटुम्बैः' यह भट्टारक सकलकीर्ति भी उपर्युक्त बलात्कार गण की गेरहट शाखा के ही भट्टारक प्रतीत होते हैं।

ताम्र यन्त्र—यह एक चौकोर ताम्बे का यंत्र है जो किसी प्रतिष्ठा या अष्टान्हिका व्रत आदि के उद्यापन के समय तैयार कराया गया होगा। इसमें उल्लिखित लेख से ज्ञात होता है कि सिधई अमरसिंह ने कर्ममल दहन हेतु इसकी प्रतिष्ठा कराई थी तभी यह यंत्र प्रनिष्ठित हुआ था। पूर्ण लेख निम्न प्रकार है— प्रारम्भ मंगला वरणात्मक श्लोक से होता है जो अपूर्ण और अस्पष्ट है तथा ठीक से पढ़ा नहीं गया, जो कुछ पढ़ा गया वह निम्न प्रकार है : श्रद्धालु विज्ञ जन इसमें सगोधन कर नें—

तत्त्वं निर्विकल्प सर्ववृत्ति तात्पर्यं परिग्रहं
सम्मान निश्च विवहारं न सधर्मं.....

संवत् १५२६ वर्ष वैसाख सुदी सप्तमी दिने बुधवासरे मूलसंधे बलात्कार गण सरस्वती गच्छे पद्मनदीदेवा स्तत्पट्टे शुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे जिनचन्द्रदेवा सिधकीर्ति देवा तस्याः पोरवालवशे स धनपति स उद्धरण च सद्गुणि स चाद स राव देवा सं विजयसिंह सं कर्मसिंह सं मही पति स रतन स मनमुख स सामन्त पुत्रा स मन्ना स धन्ना पुत्र मन् स अमरमी पुत्र स होरिल द्वितीय पुत्र स वीरभान श्री स रावदेव भार्या जसोवहा तत्पुत्र श्री विजयसिंह भार्या हेमा स भीक् भार्या दुणांघा स अमर सिंह प्रणमति सुभ स्नान प्रतिष्ठा कार्यं स विजय सिंह स मक्षिम स अमरसिंह कर्मदहन मल इति।

उपर्युक्त आचार्य परम्परा बलात्कार गण दिल्ली-जयपुर शास्त्र की अष्टेर शाखा से संबंधित है। भ जिन चन्द्र के दो शिष्य थे रतनकीर्ति और सिंहकीर्ति जिनमें से इस प्रशस्ति का नामोल्लेख है वहीं इस प्रतिष्ठा के प्रमुख प्रेरणा स्रोत रहे होंगे, इसीलिए भ. रतनकीर्ति का उल्लेख छूट गया है क्योंकि उन्होंने नागौर शास्त्र की पृथक स्थापना कर ली थी। विशेष विवरण के लिए भट्टारक सम्प्रदाय के पृष्ठ ६७ से १०४ तक विभिन्न उद्धरणों में उपर्युक्त भट्टारकों का उल्लेख है। विस्तारमय के कारण उन सबका परिचय यहां अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार ‘अनागत चौबीसी’ की दो कलाकृतियों की शोध सर्वथा नवीन है और विद्वानों को विशेषतया सिद्धांत तथा तत्त्वशास्त्र के वक्ताओं को चिन्तन के लिए एक प्रमाण उपलब्ध हुआ है कि तेरहवीं सदी में ‘अनागत चौबीसी’ के निर्माण की कल्पना कैसे उद्भूत हुई और क्यों

तथा किस कारण से यह अद्भुत परम्परा प्रचलित हुई। यद्यपि खोज शोध करने पर ऐसी कलाकृतियाँ और भी उपलब्ध हो सकेंगी पर आवश्यकता है त्याग एवं साधना की।

यद्यपि कलाकृति में भविष्यत काल के २४ तीर्थंकरों के नाम का उल्लेख नहीं है क्योंकि प्रतिमाएँ इतनी छोटी हैं कि जिन पर नामोल्लेख नहीं हो सकता था और चिह्न या लाक्षण का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि शास्त्रों में भूत भविष्यत् (अतीत अनागत) काल के २४ तीर्थंकरों के चिह्न या लाक्षणों का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है अतः प्रतिष्ठाचार्य भट्टारक महोदय ने श्रावक धर्मदास की यही मलाह दी होगी कि पूर्ण चौबीसी का निर्माण करावर अन्त में इसका मूल शीर्षक ‘अनागत चौबीसी’ रख दिया जाये। और आज मदियों बाद हमें ऐसी दुर्लभ कृति उपलब्ध हो सकी। दोनों चौबीसियों के चित्र प्रस्तुत हैं। इसके लिए भाई मन्खनलाल जी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

करैरा ग्वालियर राज्य की एक प्रसिद्ध तहसील थी और एक मजबूत किला था। जो अब ध्वंसावशेष मात्र रह गया है। इसके भीतर इतनी अधिक ऊँचाई पर एक बड़ा गहरा तालाब है जिसमें जनश्रुति के अनुसार प्रतिवर्ष किसी न किसी व्यक्ति की मृत्यु होती आ रही है। यहां के राज्य ने भासी की रानी महारानी लक्ष्मीबाई को अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई लड़ने में बड़ी मदद की थी। स्व० डा० वृन्दावन लाल जी वर्मा ने अपने उपन्यासों में करैरा का बड़ा महत्त्वपूर्ण वर्णन किया है। करैरा जाने के लिए भासी से बसें चलती है। इतिहास एवं पुरातत्व के विशेषज्ञ एक बार इस गांव के मंदिर में स्थित न बहुमूल्य कृतियों को देखें और उनका गंभीर अध्ययन कर इस पर विशेष चर्चा करें। और ‘अनागत चौबीसी’ पर विशेष प्रकाश डालें। हो सकता है किसी ने ‘अतीत चौबीसी’ भी बनवाई हो जो भविष्य में शोध खोज करने पर यंत्र तत्र कहीं प्राप्त हो सके। जैसी की सीमंश्वर स्वामी की प्रतिमा बयाना में मिल गई है।

अन्त में इतना ही उल्लेख करना चाहता हूं कि शिवपुरी जिला जैन पुरातत्व एवं कला की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस जिले में कोलारस, मगरीनी, नरवर, करैरा, शिवपुरी स्वयं, अमोला, अमोल, सखाया आदि (शेष पृ० ६६ पर)

कुन्दकुन्द की कृतियों का संरचनात्मक अध्ययन*

□ डा० बी० भट्ट, पटियाला (पंजाब)

जैन धर्म के इतिहास में आ० कुन्दकुन्द का महत्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बरों के प्राचीन जैन सिद्धान्त के प्रस्तोता के रूप में उनकी अच्छी ख्याति है। द्वादशांश्वर संप्रदाय में भी इनकी मान्यता है। ये दक्षिण भारत के सभ्यतः आन्ध्र क्षेत्र में लगभग तीसरी-चौथी सदी में हुए थे। इनके ८४ ग्रंथ बताये जाते हैं, लेकिन वर्तमान में इनके केवल १५ ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनमें लगभग २००० गाथाएँ हैं इन ग्रंथों की विषयवस्तु विविध एवं व्यापक है। इनमें से लगभग आठ ग्रंथ 'अष्टपाहुड' के रूप में प्रकाशित हैं। इनमें से छह ग्रंथों को 'छप्पाहुड' कहते हैं। इनका आलोचनात्मक अध्ययन शूब्रिंग (कुन्दकुन्द एष्ट एड उनेष्ट, ZDMG, १०७, १९५७), डैनेके (फैस्टक्रिफ्ट जेकोबी, १९१०) तथा लायमान (उबरशिष्ट) ने किया है।

इन पन्द्रह ग्रंथों में हमें निश्चय नय (शुद्ध और परमार्थ नय) तथा व्यवहार नय शब्द मिलते हैं। समय-सार, अनुप्रेक्षा और नियमसार में इन पदों का उपयोग पर्याप्त मात्रा में है। ये नय-युगल सामान्य सात नयों से भिन्न हैं। यह नय-युगल कुन्दकुन्द के ग्रंथों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से इनका अध्ययन पूर्व में नहीं किया गया है। सर्वप्रथम मैंने ही अपने जर्मनी के प्रवास में इस रूप में इनका अध्ययन प्रकाशित किया था। (ZDMG, Suppt. II १९७२)। अन्य विद्वानों की सुविधा के लिए मैं इस अध्ययन को पुनः प्रकाशित कर रहा हूँ लेकिन इसमें अनेक नई सूचनाएँ कुछ संक्षेप में तथा कुछ बिस्तार से दी गई हैं।

शूब्रिंग ने छन्दभेद आदि के आधार पर आठ पाहुडों के मिश्रित रूप को निर्दिष्ट किया था। कुन्दकुन्द के पन्द्रह ग्रंथों में वर्णित नय-सम्बन्धी विषयवस्तु की परीक्षा तथा मूल्योंकन के आधार पर मैं भी शूब्रिंग के मत का समर्थन करूँगा। ऐसा करने से पहले मैं शूब्रिंग के पाहुड-

अध्ययन का संक्षेप भी करूँगा।

अष्टपाहुड में विभिन्न गाथाओं में एक-दूसरे की अनुवृत्ति है। इसकी लगभग ५०० गाथाओं में केवल सात श्लोक हैं और कुछ गीतियाँ हैं। इनमें उत्तमग ३ निःवेक्या, ४, तिल-ओमे, ४, पावया (प्रब्रज्या), ३ के समान अनेक भाषायी अनियमितार्ये, रयणन्त (रत्नत्रय) ४, के समान संक्षेपण एवं छन्दपूर्ति के लिये दु (तु) य और स- (प्रत्यय) आदि के कालगिरिमा के प्रतिकूल उपयोग, सत्ज-उत्पन्ना, १, कम्मक्खय कारण-निमित्त, १, वोसेत्था और चत्तेहा आदि के समान पुनरुक्तियाँ, सच्चित्ता और अज्जीवा, ६, आत्तावन (आतावन), ५, आयत्तन (आयतन) ८, ग्गनं, २, निग्गोय, ५, ग्गमनं, १, ३ में जिन-मग के बदले दंसणमग के समान विचित्र द्वि-रावृत्तियाँ, भये (भ्रमयेत्ते), य (यः) सोपान, कान्तार, भभादेइ आदि के समान प्राकृत में संस्कृतीकरण के प्रयोग पाये जाते हैं।

इन पाहुडों की शैली भी अत्यन्त कमजोर है। डैनेके के अनुसार, इसकी प्राकृत अपभ्रंश से प्रभावित है। उदाहरणार्थ इनमें श्रमण के स्थान पर सवन (३, ५, ६, ८), तथा तम-जम (८), तव-जव (८), जहा-तहा (८) आदि शब्द पाये जाते हैं। उपाध्ये का विचार है कि ये पाहुड जनसाधारण में पर्याप्त लोकप्रिय थे। सभ्यतः इन अपभ्रंशभाषी लोगों के कारण ही इनमें मिश्रण हो गया है। लेकिन इस सुझाव के समय उन्हें यह ध्यान नहीं रहा कि पद्यों में इस प्रकार के परिवर्तन संभव नहीं होते। इन तथा अन्य अनेक कारणों से (जिनका विवरण देना आवश्यक नहीं है, अन्यथा हम शूब्रिंग के तर्कों को नहीं समझ पायेंगे) यह कहा जा सकता है कि ऐसे दुर्बल पाहुड कुन्दकुन्द के समान बिद्वान् साधु के द्वारा रचित नहीं हो सकते।

कुन्दकुन्द के द्वारा रचित दो हजार गाथाओं के विश्लेषण से पता चलता है कि इनमें निश्चय-व्यवहार

*कै० च० शास्त्री अभि. समय में पठित मूल ग्रंथों की शोधन को मन्दलाल जैन द्वारा अनूदित कर प्रस्तुत किया गया है।

नय-युगल को दो रूपों में वर्णित किया गया है—रहस्यवादी और यथार्थवादी। ये दोनों रूप एक-दूसरे से भिन्न हैं और परस्पर विरोधी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। इस तथ्य पर अभी तक किसी भी विद्वान् गवेषक ने प्रकाश नहीं डाला है।

रहस्यवादी रूप का उद्देश्य स्वानुभूति है। यह जीव और आत्मा को मानता है, परमार्थ मानता है।

तत्त्वको विच्छिन्नो जीवो (समयसार, ४८)

अहमिवको (समयसार, १९९)

इसके विपर्यास में, संसार किसी शुद्ध क्रिस्टल में वस्तु के प्रतिबिम्ब के समान आभासी तत्त्व है (समयसार, २७८-७९)। रहस्यवादी विचारधारा केवल आत्मा की प्रकृति पर विचार करती है और उसकी अजीब (संसार) में कोई विशेष रुचि नहीं है। जीव और अजीब का सम्पर्क केवल कल्पना (उपचार, समयसार, १०५) है। समयसार (२६६) में बताया गया है कि यह सम्पर्क वास्तविक नहीं है, लेकिन यह संसार की वास्तविकता के मायाजाल को प्रकट करता है। यहाँ तक की गाथा ७ तथा १५२-५३ के अनुसार वत-उपवामादि चारित्र्य और रत्नत्रय भी सांसारिक वास्तविकता के क्षेत्र में समाहित होते हैं। यद्यपि शास्त्रों में इनका विधान किया गया है फिर भी ये अज्ञानी के मिथ्या गण हैं। समयसार की गाथा ३६० के अनुसार शास्त्र भी परम तत्त्व के विषय में अज्ञान हैं। इस गाथा की तुलना गाथा २०१ तथा प्रवचनसार की गाथा ३, ३६ की जा सकती है। इस प्रकार, रहस्यवादी के अनुसार संसार तब तक वास्तविक है जब तक आत्मा इसकी प्रकृति के विषय में अज्ञान में है। इसे वह ज्ञान और स्वानुभूति से ही जानता है।

१. उपरोक्त विवरण में पाहुड़ों को निम्न प्रकार क्रमांकित किया गया है :

- | | | |
|-----------------|----------------|---------------|
| १. दर्शनपाहुड़ | ४. बांधपाहुड़ | ७. लिंगपाहुड़ |
| २. चरित्रपाहुड़ | ५. भावपाहुड़ | ८. शीलपाहुड़ |
| ३. सूत्रपाहुड़ | ६. मोक्षपाहुड़ | |

रहस्यवादी दृष्टिकोण में निश्चय नय केवल आत्मा से ही संबंधित है। यह अनन्यक, शुद्ध, नियत, मुक्त, अव्यय और अस्पष्ट होता है। (समयसार, १४)। यह निश्चय

नय व्यवहार नय को अस्वीकार करता है। समयसार की गाथा ११ और २७२ के अनुसार व्यवहार नय की किसी भी मान्यता को निश्चय नय अस्वीकार कर देता है। इस मत की तुलना समयसार, गाथा, ५६, अनुप्रेक्षा, ६०, ६५ तथा नागार्जुन की 'मूलमाध्यमिक कारिका' (१७, २४) से की जा सकती है :

व्यवहारा विरुध्यन्ते सर्व एव, न संशय.....
तथा

सर्वं संव्यवहारांश्च लौकिकान् प्रतिबाधते ॥ २४, २६ ॥

रहस्यवादी दृष्टिकोण में व्यवहार नय संसार से संबंधित है। वह इसे वास्तविक मानता है। वह जीव और अजीब के सम्पर्क एव उसके सांसारिक अनुभवों को भी वास्तविक मानता है (समयसार, १०७)। साथ ही, समय-सार की गाथा ८ में कहा गया है कि जिस प्रकार अनार्य को उसकी भाषा जाने बिना नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार परमार्थ वास्तविक तत्त्व को व्यवहार के बिना नहीं समझा जा सकता इस गाथा की नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव के चतुरशतक की गाथा ८.१९ से तुलना की जा सकती है (भाषान्तरकार : विधुशेखर भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९३१) :

नान्यया भाषया शक्यो ग्राहयितुं यथा ।

न लौकिकां ऋते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा ॥

चतुरशतक की यह गाथा अप्रामाणिक प्रतीत होती है। व्यवहारनय निश्चय नय की इस प्रकार सहायता करता है जिससे अन्त में वह नष्ट हो जावे। यह उत्तरवर्ती वेदांत दर्शन के कण्टक न्याय के समान व्यवहार का व्याहार करता है। यह मत रत्नावली (नागार्जुन) के 'विशेषणानि विसंहन्यात्' तथा 'मूलमाध्यमिक कारिका' के २४.८ तथा १० में भी तुलनीय है :

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य, बुद्धानां धर्मवेक्षणा ।

लोकसंबृति-सत्यं च, सत्यं च परमार्थतः ॥

व्यवहारं अनाश्रित्य, परमार्थो न विद्यते ।

परमार्थमनागम्य, निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

रहस्यवादी धारा के निश्चय और व्यवहार नय माध्यमिक दर्शन के परमार्थ और व्यवहार (संवृति या लोक संवृति) के समानान्तर हैं। यहाँ नहीं, इनकी तुलना शंकर वेदान्त दर्शन से भी की जा सकती है। लेकिन

मनोरंजक तथ्य यह है कि कुन्दकुन्द के अनेक ग्रन्थों में से केवल समयसार में ही यह रस्यवादी निरूपण विस्तार में किया गया है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण दार्शनिक सिद्धान्तों के निदर्शन के लिये है। इसमें रत्नत्रय और उससे संबंधित दार्शनिक धारणाओं पर बल दिया गया है। इस दृष्टिकोण को जैनों के सभी संप्रदाय मानते हैं। इस मत में जीव और अजीव-दोनों ही वास्तविक हैं। इनमें परस्पर संपर्क होता है : इनकी प्रकृति में परिणमन होता है जैसा कि प्रवचनसार की गाथा १, ४६ में तथा समयसार की गाथा १२२ में बताया गया है। इसके अनुसार जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा भौतिक जगत सभी वास्तविक है। (रत्नत्रय इत्यादि के विषय में नियमसार, अष्टपाहुड, समयसार, प्रवचनसार आदि देखिये)।

यथार्थवादी विचारधारा आत्मा की अनेकता में विश्वास करती है। इसके अनुसार, प्रत्येक आत्मा का विस्तार शरीर के परिमाण तक सीमित होता है (पंचास्तिकाय २७, ३४ तथा भावपाहुड, १४८)। जीव-अजीव के संपर्क में आने से कर्म और कषायों के आश्रय के कारण दूषित हो जाता है (समयसार, ४५, १६४-६५, १०६ आदि)। इससे जीव स्वयं अपने को सासारिक क्रियाओं का कर्ता और भोक्ता समझने लगता है। इस प्रकार जीव सुख और दुःख के समार में बंध जाता है। जीव अपनी प्रकृति के विषय में अज्ञानी बना रहता है (समयसार, ६६)। जीवन के सुख-दुःख से मुक्ति के लिये तपस्या और साधना

करनी पड़ती है। इससे संवर और निर्जरा (समयसार, १६६-६७, १६९) होते हैं। इस यथार्थवादी दृष्टिकोण के विवरण में ही हमें जैन-धर्म की पारिभाषिक शब्दावली-उपयोग, परभाव, स्वभाव आदि मिलती है। यह कहना नर्कसंगत होगा कि इस दृष्टिकोण का उद्देश्य आत्मानुभूति नहीं, आत्म-सुधार है।

इम विचारधारा के निश्चय नय में जीव स्वाभाविक परिवर्तनों का कर्ता और भोक्ता है (दर्शन, पाहुड, ३०, शीलपाहुड, २७, समयसार, २३)। जीव और अजीव दोनों ही स्वक-भाव में शुद्ध और असदूषित रहते हैं। जीव शुद्ध होता है, स्वभाव में परिणत होता है और अनेक परिवर्तनों का कर्ता होता है। (समयसार, ८२-८३)। यही तथ्य प्रवचनसार (११, ६२) तथा पंचास्तिकाय (६७) में भी कहा गया है।

आत्मा का शुद्ध स्वभाव रत्नत्रय है। उपयोग इससे समीपतः संबंधित है अथवा इसे रत्नत्रय हेतु प्रयुक्त किया जाता है (प्रवचनसार, ११६३, नियमसार, १०, समयसार, १६, ६४-६५)। समयसार (३५६) के अनुसार, आत्म निश्चय नय से दृष्टा भी होता है। इसी प्रकार पुद्गल भी असदूषित अवस्था में स्वभाव स्थित होता है। यह भी स्वयं के परिवर्तनों का कर्ता है (समयसार, ७६, ११२-१३ और पंचास्तिकाय ६८, ८७)।

यथार्थवाद में व्यवहार नय का संबन्ध पर भाव या द्वितीयक दशाओं में रहता है। जीव और अजीव जब स्वयं के या एक-दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं, तब परभाव

(पृ० ८० का शेषांश)

रूपोपन के कारण वह परिवर्तन परिलक्षित होता है और वह भी पुद्गल-द्रव्य के स्वभाव के कारण उनकी पर्यायें बदलती रहती हैं। काल-द्रव्य उस परिणमन एवं परिवर्तन में सहायक होता है। परन्तु पुद्गल-द्रव्य का कभी भी

नाश नहीं होता। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए अपनी पर्यायों में परिणमन करता है। द्रव्य के उस यथार्थ स्वरूप को समझना ही सम्यक् ज्ञान है और वही आत्म-विकास का सही मार्ग है।

□ □ □

(पृ० ६३ का शेषांश)

अनेकों स्थान हैं जहां पर शोध खोज एवं खुदाई की आवश्यकता है। मगरीनी में तो मुझे अपभ्रंश के महाकवि रङ्ग की कुछ रचनाओं के उपलब्ध होने की भी आशा है। जब मैं नरवर से मगरीनी जाना चाहता था तो लोगों ने बताया था कि वहां कुछ हस्तलिखित ग्रंथ हैं पर वहां के चौधरी किसी को दिखाते नहीं हैं। समाज को इस दिशा में सतर्क और सजग होकर इस शोध कार्य को कराना

चाहिए। जैन पुरातत्वविदों को शिवपुरी जिला शोध खोज के लिए निश्चय ही वरदान स्वरूप सिद्ध होगा।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु अनामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् भवतु दुःखभाग् ॥

श्रुत कुटीर

६८, कुन्ती मार्ग, विश्वास नगर

दिल्ली-११००३२

□ □ □

(विभाव) में होते हैं। इस विचारधारा में पुद्गल का यह स्वभाव ही है कि वह बिना किसी की सहायता के भी दूसरे पदार्थों के संपर्क में आये। यही नहीं, इस संपर्क में सद्गुण के बावजूद भी जीव और अजीव अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। यथार्थवादी व्यवहार नय में रत्नत्रय में भी यह तथ्य समाविष्ट रहता है कि जीव ज्ञाता है और दृष्टा है और यह अन्य पदार्थों से किया करता है। यही स्थिति गर्यायों पर भी लागू होती है (समयसार, ३६१-६५)।

निश्चय नय के अनुसार, पुद्गल स्वभावतः परमाणुरूप होता है और व्यवहार नय के अनुसार, इसका विभाव स्कन्ध रूप होता है। यह परभाव स्वभाव में विकृति या सद्गुण का परिणाम है (नियमसार, २६ और पंचास्तिकाय, ८२)।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रहस्यवादी और यथार्थवादी दृष्टिकोणों में मौलिक अन्तर है। जिन ग्रन्थों पर हम चर्चा कर रहे हैं, उनमें से केवल समयसार में ही रहस्यवादी धारा का विशद निरूपण है। इसे हम समय-सार का रहस्यवाद कह सकते हैं। फिर भी, यह ध्यान में रखना चाहिये कि समयसार की ४३६ गाथाओं में से ३०३ में यथार्थवादी विचारधारा निरूपित हुई है। हमारी संरचनात्मक विश्लेषण से हम यह कह सकते हैं कि समय-सार का वर्तमान रूप समांग नहीं है। यह संभव है कि समयसार की रहस्यवादी विचारधारा की १३६ गाथाएँ एक व्यक्ति ने रची हों जो कुन्दकुन्द थे। एक-दूसरे की विरोधी दो विचारधाराओं को समाहित करने वाले ग्रन्थ का एक ही कर्ता नहीं माना जा सकता।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल समयसार निम्न प्रकार से तीन अध्यायों में विभाजित हो :

प्रथम अध्याय गाथा १-१४४

द्वितीय अध्याय गाथा १४१-२७२

तृतीय अध्याय गाथा २७६-४१५

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि भारतीय

दर्शनों में रहस्यवादी विचारधारा का आविर्भाव प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत में हुआ था। तृतीय शताब्दी के नागार्जुन ने बौद्ध रहस्यवाद का प्रसार किया। यह संभवतः आन्ध्र का ही दार्शनिक था। इसे ही आन्ध्र के ही कुन्दकुन्द (३-५ सदी) ने समयसार के रहस्यवाद में विकसित किया। यही रहस्यवाद बाद में ब्राह्मण रहस्यवाद के रूप आठवीं शताब्दी में शंकर ने अपनाया और निरूपित किया। शंकर भी संभवतः मालाबार या आन्ध्र के समीप-वर्ती दक्षिण भारत क्षेत्र में जन्मे थे।

मैं यहां यह भी बता देना चाहता हूं कि कुछ दिगम्बराचार्यों ने उत्तरवर्ती काल में भी कुन्दकुन्द की इस रहस्यवादी विचारधारा को न्यूनतम परिचित रूप में निरूपित किया है। इसके विपर्यास में श्वेतांबर विद्वान् कुन्दकुन्द की इस विचारधारा को शास्त्रविरुद्ध मानते हैं। नयोपदेश (८०-८२) के कर्ता यशोविजय समान उत्तरवर्ती श्वेतांबराचार्यों ने इस विचारधारा की आलोचना भी की है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि बाद में वे इस विचार-धारा से प्रभावित भी हो गये थे। लेकिन यह एक तथ्य है कि श्वेतांबरों में इस रहस्यवादी विचारधारा को विशेष स्थान नहीं मिला है। इस दृष्टि से हम औपपातिक की गाथा १६ (सुतंगम् ४, पृष्ठ ३६) और आवश्यक नियुक्ति (हरिभद्र-संस्करण, पृष्ठ ४४६) की गाथा ६८३ को समयसार की गाथा ८ तथा चतुरशतक की गाथा ८.१६ से तुलना कर सकते हैं। समयसार की गाथा ३२७ तथा आवश्यक नियुक्ति के मत परस्पर तुलनीय हैं। ये ग्रन्थ श्वेतांबराचार्यों के हैं। इसके विपर्यास में, यथार्थवादी विचारधारा दोनों ही समुदायों में एक समान रूप से अभिस्वीकृत की गई है।

—जैन विद्या विभाग, पंजाबी यूनिवर्सिटी
पटियाला (पंजाब)

संदर्भ

१. समयसार सं. प. कैलाशचन्द्र शास्त्री, कुन्दकुन्द प्राकृत संग्रह में जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९६०
२. अनुप्रेक्षा पूर्वोक्त
३. बाठ भक्तियां पूर्वोक्त
४. नियमसार एस. बी. जे. सीरीज ६, जे. एल. जीनीट्रस्ट, १९३१
५. अष्टपादुङ हिम्मतनगर प्रकाशन, संवत् २०२५
६. रयणसार हिम्मतनगर, १९६७
७. प्रवचनसार सं. ए. एन. उपाध्ये, रामचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, १९६४
८. पंचास्तिकाय सार, सं. ए. चक्रवर्ती नायनार, एस. बी. मे. जे, १९२०

संक्षेप

एस. बी. जे.—सेकेण्ड बुक्स आफ दी जैनाज, धारा लखनऊ

ZDMG—जीड शिफ्ट डेट डयूशन मोगेनलेन्डिशेन गैशामशन ४२ बीजेवेडेन (४० जर्मनी)



बाहुबलि-चरित्-विकास एवं तद्विषयक वाङ्मय

□ डा० राजाराम जैन, आरा

भगवान् बाहुबलि प्राच्य भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रतीक हैं। उनके चरित के माध्यम से संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, राजस्थानी एवं हिन्दी के कवियों ने सम-कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक विविध पक्षों को मार्मिक-शैली में मुखरित किया है। राजनैतिक दृष्टि से पोदनपुर में उनकी प्रादर्श राज्य-व्यवस्था, सामन्ती युग में भी प्रजातन्त्रोप बिचारधारा तथा शत्रु राजाओं के समक्ष बल, वीर्य, पुरुषार्थ एवं पराक्रम का प्रदर्शन अपना विशेष महत्त्व रखता है। सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मी एवं सुन्दरी नाम की अपनी बहनों के साथ उनका ७२ कलाघो का ग्रहण वस्तुतः उनकी स्वस्थ, बलिष्ठ, सुरक्षित सम्पन्न एवं समृद्ध समाज की परिकल्पना की प्रतीक है। इसी प्रकार उनका पारिवारिक-जीवन भी बड़ों के प्रति आदर-सम्मान की भावना के साथ-साथ स्वतन्त्र एवं स्वाभिमानो जीवन जीने का एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत करता है। अघ्यात्म-साधना की दृष्टि से भी उनका विषम-उपसर्ग-सहन तथा कठोर तपश्चरण करने का उदाहरण अन्यत्र खोजे नहीं मिलता। विश्व में इस प्रकार के उदात्त एवं सदागीण जीवन बिरले ही मिलते हैं। जो होंगे भी, उनमें बाहुबलि का स्थान निस्सन्देह ही सर्वोपरि है। यही कारण है कि एक ओर जहाँ युगों-युगों से साहित्यकार अपनी साहित्यिक कृतियों में उन्हें महानाथक के रूप में चित्रित कर अपनी भावभीनी अट्टाञ्जलिया व्यक्त करते रहे, तो दूसरी ओर शिल्पकार भी अपने शिल्प-चातुर्य-पूर्ण विशाल-मूर्तियों का निर्माण कर उनके चरणों में निरन्तर अपनी पूज्य बुद्धि व्यक्त करते रहे।

धार्मिक भाषा में कह सकते हैं कि भ० बाहुबलि भारतीय भाषात्मक एकता के प्रतीक रहे हैं। यदि वे उत्तर-भारत के अयोध्या में जन्मे और पोदनपुर, जो कि वर्तमान में सम्भवतः पाकिस्तान में कहीं पर स्थित है, से

सम्बद्ध थे, तो उन्हें धवल यश एवं प्रतिष्ठा मिली दक्षिण-भारत में। उत्तर भारतीय उस महापुरुष के चरित का अंकन, चाहे वह साहित्यिक हो और चाहे शिल्पकलात्मक, उसे प्रथमतः एवं अधिकांशतः दक्षिण भारतीयों ने ही विशेष रूपेण किया है। उनकी लेखनी एवं छिनी से ही उनका काव्यात्मक, कलात्मक, धार्मिक एवं धवल रूप इतना भव्य बन सका कि उनको देखते, सुनते एवं पढ़ते ही भावुक हृदय पाठक भाव विभोर हो उठता है। आठवीं सदी के गंग नरेश राचमल्ल के परम विश्वस्त मन्त्रो महामति चामुण्डराम प्रथम महापुरुष थे, जिन्होंने अपनी तीर्थस्वरूपा माता की कल्पना को साकार बनाने हेतु सर्व-प्रथम ५७ फीट ऊँची बाहुबलि की भव्य मूर्ति का निर्माण श्रमणबेलगोल (कर्नाटक) में करवाया। कला के क्षेत्र में यह युक्ति सुप्रसिद्ध है कि—“मूर्ति जब बहुत विशाल होती है, तब उसमें सौन्दर्य प्रायः नहीं हो पाता है। यदि विशाल मूर्ति में सौन्दर्य आ भी गया तो उसमें देवी-चमत्कार का अभाव रह सकता है, किन्तु गोम्मटेश्वर बाहुबलि की मूर्ति में तीनों तत्त्वों के मिश्रण से उसमें अपूर्व छटा उत्पन्न हो गई है।” (दे० श्रवणबेलगोल शिलालेख सं० २३४)।

हमारा जहाँ तक अध्ययन है, बाहुबलि की (अर्थात् गोम्मटेश्वर की) यही सर्व प्रथम निर्मित एवं उत्तुंगकाय सुन्दरतम प्राचीन मूर्ति है। इससे प्रेरित होकर धीरे-धीरे अन्ध्र भी बाहुबलि की मूर्तियों का निर्माण होने लगा। दक्षिण-भारत की इस परम्परा ने उत्तर-भारत को भी पर्याप्त प्रेरित-प्रभावित किया है और अब यत्र-तत्र बाहुबलि की मूर्तियों का निर्माण होने लगा है। प्रारम्भ में ये मूर्तियाँ पाषाण से निर्मित होती थी किन्तु अब धातु की भी प्रतिमाएँ बनने लगी हैं।

बाहुबलि-चरित के लेखन के प्रमाण ईस्वी की प्रथम

सबो से उपलब्ध होते हैं किन्तु उस समय वह सर्वथा अविकसित था। आचार्य कुन्दकुन्द ने मावपाहुड की ४४वीं गाथा में कठोर तपश्चर्या के प्रसंग में उनका उल्लेख किया है किन्तु वह विकसनशील अवस्था बना रहा। ७वीं सदी तक उसकी कथा में पर्याप्त विकास हुआ। उसे आलंकारिक रूप भी प्रदान किया गया, यद्यपि कथा "प्रकरण" के रूप में बनी रही। १३वीं सदी से बाहुबलि पर स्वतन्त्र काव्यों की रचनाएँ लिखी जाने लगी। प्राधुनिक शैली में भी उनके ऊपर पर्याप्त लिखा जा रहा है किन्तु आचार्य यही है कि तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक शैली से बाहुबलि-साहित्य पर स्तरीय शोधकार्य करने की ओर अभी किसी का ध्यान नहीं गया है और इसी कारण बाहुबलि-सम्बन्धी एक विशाल भारतीय-बाहुमय एवं तत्सम्बन्धी पुरातत्त्व अभी उपेक्षित जैसा ही पड़ा है। साहित्य के शोधार्थियों के लिए तद्विषयक सन्दर्भों तथा प्रकाशित एवं अप्रकाशित कुछ प्रमुख ग्रन्थों की एक सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है :—

ग्रन्थकार-	ग्रन्थ	काल	विशेषज्ञ
आचार्य कुन्दकुन्द	भावपाहुड (प्राकृत)	वि. स. की प्रथम सदी	बाहुबलि का नामोल्लेख मात्र तथा कठोर तपस्या की प्रशंसा
आचार्य बिमलसूरि	पउमचरिय (प्राकृत)	ईस्वी की तीसरी सदी	संक्षिप्तकथा-विस्तार तथा दृष्टि एवं मुष्टि युद्ध का सर्वप्रथम वर्णन
यतिवृषभ	तिलोपपण्णत्ती (प्राकृत)	ईस्वी की ४-५वीं सदी	नामोल्लेख मात्र
"	अर्धमावली (प्राकृत)	६वीं सदी	सामान्य कथा विस्तार एवं दृष्टि, वाणी एवं मल्ल युद्ध के उल्लेख
शंभुदासमणी	वसुदेव हिण्डी (प्राकृत)	५वी-छठी सदी	" "
धर्मदासमणी	उपदेशमाला (संस्कृत)	" "	" "
रविचेल	पद्मपुराण	"	वि. स ७६१

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	काल
जिनसेन (हि०)	आदिपुराण (संस्कृत)	वि. सं. ८४६
पद्म	आदिपुराण (कन्नड)	वि. सं. ८६८
पुष्पवन्त	महापुराण (अपभ्रंश)	वि. सं. १०२२
जिनेश्वरसूरि	कथाकोषप्रकरण (संस्कृत) (प्राकृत)	वि. सं. ११०८
सोमप्रभसूरि	कुमारपालप्रतिबोध (संस्कृत) (प्राकृत)	वि. सं. १२५२
वाल्लभद्रसूरि	भरतेश्वर व बाहुबलिरास (राजस्थानी)	वि. सं. १२६८
हेमचन्द्राचार्य	नाभेय-नेमि द्विसन्धान-काव्य (संस्कृत)	१३वीं सदी विक्रमी
अमरचन्द्र	पद्मानन्द महाकाव्य	१४वीं सदी विक्रमी
अनेश्वर	शानुञ्जय महाकाव्य (संस्कृत)	१४वीं सदी विक्रमी
रघू	तिसद्विम्बपुराण पुरिसचरित (अपभ्रंश)	१५वीं सदी विक्रमी
रत्नाकर वर्णी	भरतेश वैभव (कन्नड)	१५वीं सदी विक्रमी
कुमुदचन्द्र	बाहुबलि छन्द (संस्कृत)	१५वीं सदी विक्रमी
दोड्डय	भुजबलि शतक (कन्नड)	१६वीं सदी विक्रमी
सकलकीर्ति चन्द्रम	वृषभदेव चरित काकलद्गोम्मटेश्वर-चरित (कन्नड)	१६वीं सदी विक्रमी
पंचवर्ण	बाहुबलिचरित (कन्नड)	१७वीं सदी विक्रमी
पुष्पकलक्षणी	भरतबाहुबलि-महाकाव्यम् (संस्कृत)	१७वीं सदी विक्रमी
पामो	भरतभुजबलि चरितम् (संस्कृत)	१८वीं सदी विक्रमी
अज्ञात	भरतराजद्विविधय (वर्णन भाषा (हिन्दू))	१८वीं सदी विक्रमी
लक्ष्मीचन्द्र जैन	अमृतद्वन्द्वों के पार	२०वीं सदी विक्रमी
पक्षय कुमार-जैन	जय गोम्मटेश बाहुबलि	२०वीं सदी विक्रमी

उक्त बाहुबलि-वाङ्मय के आचार पर बाहुबलि-कथा विकास सम्बन्धी निम्न ग्रन्थ सम्मुख आते हैं—

१. प्रारम्भ में अर्थात् दूसरी सदी तक के बाहुबलि-चरित के विषय में सामान्यतया यह बताया गया है कि वे (बाहुबलि) महान् बलिष्ठ एवं तपस्वी थे। यह चर्चा मात्र १-२ गाथाओं में ही मिलती है।

२. तीसरी सदी से कथा में कुछ विस्तार मिलने लगता है। दृष्टि एवं मुष्टि युद्ध का सर्वप्रथम उल्लेख बिमलसूरि कृत पञ्चमचरिय में मिलता है।

३. छठवीं सदी में दृष्टि एवं मुष्टि के साथ-साथ मल्लयुद्ध की चर्चा मिलने लगती है। फिर भी कथावस्तु संक्षिप्त ही बनी रही।

४. आठवीं सदी के प्रारम्भ में बाहुबलि का आलंकारिक वर्णन मिलने लगता है। इस दिशा में महाकवि रविशेण अग्रगण्य हैं।

५. १३वीं सदी से बाहुबलि पर स्वतन्त्र रचनाएं लिखी जाने लगी। इसमें शालिभद्रसूरि द्वारा लिखित भरतेश्वर-बाहुबलिरास बाहुबलिचरित की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही, रासा साहित्य भी यह आद्यग्रन्थ है।

६. अष्टमश में आद्य स्वतन्त्र बाहुबलिचरित महाकवि धनपाल कृत है जो अष्टमश के महाकाव्यों में वीररस प्रधान होने के कारण अपनी विधा की दृष्टि विशेष महत्त्वपूर्ण है।

७. अष्टावधि ज्ञान एवं उपलब्ध बाहुबलिचरितों में १५वीं सदी के महाकवि रत्नाकर वर्णी द्वारा कन्नड-भाषा में लिखित “भरतेश-वैभव” सर्वाधिक सशक्त, मार्मिक तथा पाठकों को झुमा देने वाली महाकाव्य शैली की रचना सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुई है। सुनते हैं कि उनके समकालीन किसी राजा ने उस कृति को सुन कर कवि एवं कृति दोनों को ही सम्मानित कर हाथी पर उसकी सवारी निकाली थी।

८. प्रो० डा० विद्यावती जैन (भारा) के एक बाहुबलि-साहित्य सर्वेक्षण के अनुसार^१ अभी तक तद्विषयक अनेक रचनाओं (मूल एवं सामान्य समीक्षात्मक) की जानकारी मिली है। मेरी दृष्टि से उनका वर्गीकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

(क) प्रकरण-साहित्य—(ज्ञान एवं प्रकाशित-प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड राजस्थानी एवं हिन्दी में लिखित ग्रन्थ संख्या)—२१

(ख) स्वतन्त्र-साहित्य—(ज्ञात एवं प्रकाशित-प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड, राजस्थानी एवं हिन्दी में लिखित ग्रन्थ संख्या)—१४

(ग) स्वतन्त्र-साहित्य—(ज्ञात, अप्रकाशित)—३०

(घ) प्रकरण अथवा स्वतन्त्र साहित्य—(विविध भाषात्मक अज्ञात प्रकाशित अथवा अप्रकाशित ग्रन्थ)

—अनेक

(च) बाहुबलि विषयक समीक्षात्मक शोध-निबन्ध—(विविध भाषात्मक, ज्ञात एवं प्रकाशित)—३१

(छ) बाहुबलि विषयक समीक्षात्मक शोध-निबन्ध—(विविध भाषात्मक अज्ञात प्रकाशित)—अनेक

९. बाहुबलि-वाङ्मय एवं पुरातत्व पर अभी तक कोई भी स्तरीय शोध कार्य नहीं हुआ है। बहुत सम्भव है कि तिनबुघाटी सभ्यता में कायोत्सर्ग-मुद्रा की जो नग्न मूर्तियाँ मिली हैं वे भगवान् बाहुबलि की हों? अमण संस्कृति, सभ्यता एवं साहित्य को नए आयाम प्रदान करने के लिए इस अष्टावधि उपेक्षित एवं सर्वथा अचित वाङ्मय एवं पुरातत्व पर स्तरीय शोध कार्य हेतु शोधार्थियों को प्रोत्साहित करने की तत्काल आवश्यकता है।

१०. भ० बाहुबलि भारतीय भाषात्मक एकता के प्रतीक हैं। भतः उसका सुन्दर एवं सर्वोपयोगी प्रकाशन तो होना ही चाहिए साथ ही उसे चित्रात्मक एवं चलचित्रमयी भी बनाया जाय जिससे वह महलों के साथ-साथ ओपड़ों में भी समान रूप से पहुंच सके।

रीडर एवं विभागाध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग,

ह० दि० जैन० कालेज, भारा

निवास : महाजन टोली नं० २, भारा (बिहार)

१. वे० भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वारा प्रकाश्यमान—बाहुबलि स्मारक ग्रन्थ का—“युगों-युगों में बाहुबलि : बाहुबलि-चरित विकास, इतिहास, समीक्षा एवं साहित्यिक सर्वेक्षण नामक शोध निबन्ध।

महाकवि पुष्पदंत का बाहुबलि-प्राख्यान

□ डा० बेवेन्ड्रकुमार जैन, इम्बौर

६८१ ई० में चामुण्डराय की प्रेरणा से श्रवणबेलगोला में बाहुबली की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठापना हुई। इससे तेरह वर्ष पूर्व ६६८ में मंत्री भरत के अनुरोध पर महाकवि पुष्पदंत ग्रन्थश्रवण में महापुराण की रचना कर चुके थे। जो बहुत बड़ा काव्यात्मक प्रयोग था। इससे पहले संस्कृत की ही पुराण काव्य लिखने के लिए उपयुक्त समझा जाता था। पुष्पदंत ने प्रकेले त्रैलोक्यलाका पुरुषों के चरितों की ग्रन्थश्रवण जैसी लोकभाषा में कलात्मक शक्ति-व्यक्ति देकर सिद्ध कर दिया कि व्यक्ति पर किसी एक भाषा का अधिकार नहीं माना जा सकता। महापुराण के 'नाभेयचरित'। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का वर्णन है, बाहुबलि प्राख्यान उसी का एक ग्रन्थ है, जो तीन संघियों में सीमित होने पर भी कवि की सृजनशीलता का श्रेष्ठ नमूना है, जो सामंतवाद की पृष्ठभूमि पर लिखित है। सामंतवाद, मूल्य विहीन राजनीति का सबसे घिनौना रूप था। पुष्पदंत का खुद, यह भोगा हुआ सत्य था। एक ग्रीक मुहम्मद बिनकासिम के प्राक्रमण के साथ सिंध पर विदेशी प्राक्रमणों को इसकी चिन्ता नहीं थी। वे आपसी बढाईयों में एक-दूसरे की नीचा दिसाने ग्रीक लूटपाट में लगे थे। महापुराण, ग्रीक खासकर बाहुबली का प्राख्यान जिससे समय कवि के मन में यह चेतना थी।

बाहुबली का प्राख्यान—प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के चरित से संबद्ध है, क्योंकि वे उनकी दूसरी पत्नी सुनंदा के इकलौते बेटे थे। पहली पत्नी यशोवती से ही पुत्र ग्रीक पुत्री थी—बाह्यी। बाहुबली की बहन भी सुंदरी। बाहुबलि प्राख्यान तब प्रारंभ होता है जब भरत द्विग्विजय से लौट कर अपने भाइयों के पास यह संदेश भेजता है कि वे उसकी अधीनता मान लें। चक्रवर्ती सम्राट बन कर भरत अपनी गृह नगरी लौट रहा है। कैलाश पर्वत पर ऋषभ तीर्थंकर की बंदिनामति कर, जब अरुण चलता है, तो

उसकी सेना के मार्च से बड़े-बड़े पहाड़ समतल हो गए, कोन जल कीचड़ नहीं हुआ ?

होइ गिरिस्थलु विभित्तें समचलु ।
किण किण किर कह्निघउ जलु ॥
किण किण संचूरियउ वलु ।
किण किण बली जायउ तलु ॥

भरत के स्वागत में बहल-पहल का नया पूछना। कुमकुम का छिड़काव कपूर की रंगोली भीरों से गुंजते हुए पुष्पों की वर्षा, कल्पवृक्षों के वंदनवार, घर-घर गाए जाते हुए, भरत के गीत। कुछ स्त्रियों के द्वारा दूब, वही सरसों और चन्वन ग्रहण किया जा रहा है जब कि ग्रन्थों के द्वारा दर्पण। सुरकन्या मंगल गान कर रही हैं :—

कुंकुमेण छत्रजलज विज्जइ ।
कपूरें रंयावलि किण्णइ ॥
चिप्पइ कुसुम करं व ससज्जवु ।
वज्जइ सुरतस-पल्लव तोरणु ॥
घरि घरि गाइज्जइ विणजंजवु ।
दोष बहिय-सिद्धत्थय चंजवु ॥
इप्पवु कलसु घरिज्जइ उज्जहि ॥
उज्जोसिउ मंजलु सुरकण्णिहि ॥

यह सब इसलिए हो रहा है क्योंकि भरताविष समस्त धरती जीत कर, ग्रीक साठ हजार वर्षों तक द्विग्विजय की क्रीड़ा कर प्रयोध्या में प्रवेश कर रहा है। उसकी क्रीड़ा जकर पूरी हो चुकी होगी, परन्तु उसके चक्रवर्ती की क्रीड़ा अभी पूरी नहीं हुई। वह प्रयोध्या की सीमा पर रुक जाता है क्योंकि देवी विद्या के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट बनने के लिए अपने ही घर के भाइयों को जीतना बाकी है। चक्र के स्थिर होने पर कवि की कल्पना सक्रिय हो उठती है :—

‘सुहृदरि णं अण्णाय विवत्तउ ।
परपुरिसाणुराह सइचित्तु व
परदासलवम्मि सवसित्तु व
मायाणेहणि बंभणि मित्रु व
अवाणिपाविट्ठु चित्तु व
अणय-विलीणइ विण्णउ भत्तु व
रइरसतुरियइ णवउ कलत्तु व ॥

चक्र धयोध्या में वैसे ही प्रवेश नहीं करता, जैसे, पवित्र घर में अन्याय से कमाया हुआ धन, दूसरे पुरुषों के अनुराग में सती का चित्त, जैसे दूसरों की दासता में स्वाधीन वृत्ति (चित्त), जैसे मित्र छल-कपट पूर्ण स्नेह बन्धन में, जैसे पापी का चित्त पात्रदान में, जैसे दिया हुआ भात (भोजन) अरुचि से पीड़ित व्यक्ति में, जैसे नई बुलहिम रतिस से चंचल व्यक्ति के मन में प्रवेश नहीं करती ।

उहरा हुआ चक्र ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोपाम्नि का ज्वाला मंडल हो । जैसे नगर की लक्ष्मी के कान का कुंडल हो, जैसे भरत के प्रताप से कायर हुआ सूर्य ज्वल हो ।

णं कोवाणल जाला मंडलु ।
णं पुरलच्छिइ पस्सिहउ कुंडलु ॥
अरहपयार्वे कायरिआवउ ।
आणुविणु णं छज्जइ ॥२/१६॥

भरत के दूत, भाइयों के सामने बड़े भाई की अधीनता मान लेने का प्रस्ताव रखते हैं, भरत के सगे निन्यावें भाई गुलामी जिवंदगी जीने के बजाय सन्धास ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु सुनंदा का बेटा बाहुबली न तो प्रस्ताव स्वीकार करता है और न अधीनता मानता है, वह भाई की प्रभु-सत्ता को चुनौती देने से नहीं चूकता । उसका मुख्य तर्क है कि दुश्मनों का नाश करने वाले सहीदेवर (ऋषभ तीर्थंकर) ने नगर और देश से सोमित जो प्रभुसत्ता मुझे दी है वह मेरा लिखित शासन है—उसका अपहरण कौन कर सकता है ? अपने स्वार्थ और सत्ता की धिनीनी प्रवृत्ति को राजनीति का रूप देने वाले भाई के दूत से वह कहते हैं ?

सामजिधं सहेउणा मयरकेउणा एत्थकहिं मि जग्गइ ।

जे पर बबिणहारिणो कलह कारिनो ते जयम्मिरावइ ॥

मुहउउ अंबउ तिव संदिउजइ ।
एण गाहं महु हासउ विउजइ ॥
ओ बलवत्तु ओह सो राणउ ।
णिज्जलु पुणु किउजइ णिप्राणउ ॥
हिप्पइ मृगहु मृगेण जि आमिसु ।
हिप्पइ मणुयहु मणुएण जि वसु ॥
रक्खार्कलइ जूहु रएप्पिणु ।
एणकहु फेरी आण लएप्पिणु ॥
ते नि वसंति लिलोइ गविट्ठउ ।
सीहहु केरउ वंदु ण विट्ठउ ॥
माणभंगि वर मरणु ण जीविउ ।
एहय दूय सुट्ठु महं भाविउ ॥
आवउ भाउ घाउ तहु वंसभि ।
संभाराउ व खणि विट्ठंसमि ॥

तर्क देकर कामदेव बाहुबली कहते हैं—चाहे वे यहां पैदा हुए हों या और कहीं, जो दूसरों के धन का अपहरण करने वाले और ऋणदा करने वाले हैं, वे इस दुनिया में राजा होते हैं । बूढ़ा सियार लोककल्याण की बात करता है यह देखकर मुझे हंसी आती है । निर्बल को और निष्प्राण बनाया जाता है, पशु के द्वारा पशु के मांस का अपहरण किया जाता है, और मनुष्य के द्वारा मनुष्य के धन का । रक्षा की आकांक्षा के नाम पर गिरोह बना कर, और किसी एक की आज्ञा मान कर ये लोग निवास करते हैं, मैंने तीनों लोकों की छानबीन कर ली है । सिद्धों का गिरोह कहीं दिखाई नहीं दिया । मान के भंग होने पर, अगर जल्दा अच्छा, जोना अच्छा नहीं, हे दूत, मुझे यह अच्छा लगता है । भाई आए मैं उसे घात दूंगा, और संस्था की लाबिम का तरह एक क्षण में स्वस्त कर दूंगा ।

बाहुबली के उत्तर को दूत भरत के सम्मुख इन शब्दों में रखता है :

‘वित्तमुदेव बाहुबलि जरेसर ।
जेहु ण संजइ संजइ गुणि सच ॥
सज्जु ण संजइ संजइ परियउ ।
संजि ण इज्जइ इज्जइ संगह ॥
पइं कउ वेचइइ मुय वलु ।
आण ण जालइ पाकइ विवत्तलु ॥

माणु ण छंडइ छंडइ भयरसु ।

बइवु ण चितइ चितइ पोरिसु ॥

हे देव बाहुबली अत्यन्त विषम राजा है, वह स्नेह का सधान नहीं करता, डोरी पर तीर का संधान करता है, वह कार्य नहीं साधता, अपना परिकर साधता है, वह संवि नहीं चाहता, युद्ध चाहता है वह तुम्हें नहीं देखता, अपना बाहुबल देखता है । वह तुम्हारी आज्ञा नहीं मानता अपने छल का पालन करता है । वह मान नहीं छोड़ता, भयरस छोड़ता है !

दूत के इस कथन के साथ सूरज खूबता है और कवि डूबती किरणों की रक्ताभा, निदूरी क्षितिज, आकाश-कामिनी रजनी और सूर्य को लेकर, अपनी अपार कल्पना शक्ति से प्रकृति के बिम्ब खड़े करता है जिनमें आकाश की लक्ष्मी सूर्य के रूप में अपना शिरोमणि अस्ताचल को निवेदित कर रही है कि लो जब भाग्येशा ही नहीं रहा, तो तो उसके प्रतीक का क्या करूंगी, निशा बधू ने मानो दिवस के सामने शिखाओं से संतप्त, अत्यंत आरक्त दीप प्रज्वलित कर दिया कि जिससे वह प्रवेश न कर सके । मानो सामने आई हुई उत्तर दिशा रूपी बधू का चन्द्रमुख खोलकर जल रूपी लक्ष्मीने सिद्धर का पिटारा बिया हो । धीरे-धीरे संघ्याराग फैलता है पहाड़ नदियाँ और घाटिया उसमें डूब जाती हैं, लगता है सब कुछ लाक्षारस में डूब गया हो । संघ्याराग को कामदेव की प्राग समझता हुआ कवि कहता है कि सहनशीलता को समाप्त करने वाला तयस्वियों और युवतियों को क्षुब्ध करने वाला कामदेव चूंकि मानव मन में नहीं समा सका, इसलिए दशों दिशाओं में दौड़ रहा है, अब उस संघ्याराग की ज्वाला को अंधकार रूपी जल की लहरों शांत कर रही हैं, जिस संघ्याराग को केशर समझा जा रहा था उसे अंधकार के सिद्ध ने उखाड़ फेंका जिसे संघ्याराग रूप वृक्ष समझा जा रहा था, उसे अंधकार के गजराज ने उखाड़ कर फेंक दिया ॥२४/१६

संघ्याराग के विजेता अंधकार को हरा कर चन्द्रमा ने संसार पर अपना आधिपत्य जमा लिया । उसका प्रकाश गोलों में घुसता है, स्तन तल पर आँवोलित होता है, वह बधू के हार के समान दिखाई देता है । रंघों के आकार का होकर, मार्जारों के लिए दूध की आर्शका उत्पन्न कर

रहा है । कामरत जोड़ों के पसीने की बूंदें, उससे घालीकित होकर इस तरह चमक उठती है जैसे साँप के मणि हों । इसके बाद कवि सामंतों की रतिक्रीड़ा का वर्णन करता है ।

सूर्योदय होने पर जैसे-जैसे सूर्य बिम्ब ऊपर उठता है, उसकी लालिमा (उषाराग) कम होती जाती है इस प्रकार वह समस्त राग चेतना का त्याग करने वाले अरहंत की तरह परमउन्नति को प्राप्त होता है ।

‘राउ भुयंसु बिगुणसंजसउ ।

अरहंतु ब रवि उणइ पसउ ॥

रागचेतना की दो ही प्रवृत्तियाँ हैं या तो वह बिन में सूर्य की तरह विश्व को आकांत करेगी, या रात की चांदनी में आत्मरति में डूबी रहेगी प्रकृति के दृश्य बदलते हैं, विश्व का घटना चक्र घूमता है, जीवन चेतना राग-विराग की घुरी पर घूमती है ।

आज फिर सबेरा है, अरहत की तरह सूर्य रक्ताभा छोड़कर सिर के ऊपर है । परन्तु बाहुबली मनुष्य के द्वारा मनुष्य के अधिकारों को हड़पे जाने की प्रवृत्ति के खिलाफ हैं, भले ही हड़पने वाला उसका भाई हो । वह लड़ने का निश्चय करते हैं, दोनों भाइयों की सेनाएं युद्ध के मैदान में तैयार हैं । होने वाले नरसंहार को टालने के लिए बड़े मंत्री द्रव्ययुद्ध द्वारा हारजीत का फंसला करने का अनुरोध करते हैं । लेकिन जब चक्रवर्ती सम्राट् देखता है कि तीन-तीन द्रव्ययुद्धों में पराजित होकर उसके सम्राट बनने का ग्रह धूल में मिल चुका है, विश्व को जीतने वाला वह अपने घर ही में हार गया, तो उसे लगा उसकी शक्ति, वह स्वयं नहीं, उसका चक्र है, वह उसे बाहुबली पर चलाता है ? वह वार भी खाली जाता है । बड़े भाई की करतूत—और हारे की मुद्रा से बाहुबली आत्मग्लानि से अभिभूत है । क्या गिरौह का मुखिया बनकर जनसेवा और जनकल्याण की डींग हाकने वाले राजनेताओं का यही चरित्र है ? सत्ता की तामझाम में आदमी इतना गिर जाता है ? वह आत्म-विश्लेषण करते हुए कहते हैं—हाय मैं ही नीच हूँ कि जो मैंने अपने गोन के स्वामी चक्रवर्ती सम्राट की नीचा दिखाया ? मेरे बाहुबल के द्वारा यह क्या किया गया, जो मैं सुखीजनों के प्रति अन्याय करने वाला हुआ । बेव्या की तरह इस घरेली (सत्ता) का उपयोग किसने नहीं किया ?

राज्य पर गाज गिरे—यह उक्ति बिल्कुल ठीक है, राज्य के लिए पिता को मार दिया जाता है और भाइयों को भी जहर दे दिया जाता है, जब भट सामंत और मंत्री के वर्ग-विभाजन पर विचार करता हूं तो वह सब पराया प्रतीत होता है।

“महिपुष्पालि व केण ण भुत्ती।

रज्जुह पडउ वज्जु सम सुत्ती॥

रज्जुह कारणि पिउ मारिज्जह।

बंधव हं मि विमु संचारिज्जह॥

भटसामंत मंतकियभायउ।

चित्तिज्जउ सम्भु परायउ॥” १/१८

बाहुबली आत्मचिन्तन के क्षणों में सोच रहे है—यदि राज्य मे सुख होता, तो पितृदेव ऋषभ उसका परिश्रम क्यों करते ? कहाँ है सुखों की निधि वह भोग-भूमि, कहाँ है संपति पैदा करने वाले कल्पवृक्ष ? कहाँ गए वे कुलकर ?

कालरूपी महानाग से कोई नहीं बच सकता है केवल एक सुजनता है कि उसके सामने टिकी रहती है। वह बड़े भाई को क्षमायाचना पूर्वक राज देकर तप ग्रहण करना चाहता, परन्तु भरत पराभव से दूषित राज्य नहीं चाहता। वह कहता है—हे भाई तुमने रनिवाम के सामने मुझे अपने हाथों से उठाया और तड करके धरती पर पटक दिया। तब क्या इस चक्ररत्न ने मेरी रक्षा की ? तुमने अपने क्षमाभाव से क्षमा (धरती को भी जीत लिया है। (तुम्हारे क्षमा मांगने से क्या ?) तुम्हारे समान तेजस्वी सूर्य भी नहीं है, तुम्हारे समान गभीर समुद्र भी नहीं है, तुमने प्रपयश के कलंक को धो डाला है, तुमने नाभि राजा के कुल को उज्ज्वल किया है, इस दुनिया मे तुम अकेले पुरुषरत्न हो, कि जिसने मेरे बल को विकल कर दिया ? दुनिया मे तुम्हें छोड़ कर किसके यश का डंका बजता है ? तुम्हारे समान त्रिभुवन मे कौन भला है ? दूसरा कौन साक्षात कामदेव है ? जिनवर के चरणों की सेवा करने वाला और नृपशासन की नीति की रक्षा करने वाला दूसरा कौन है ? शशि सूर्य से, मंदर मदराचल से और इन्द्र इन्द्र से तुलनीय है परन्तु सुनंदा देवी के पुत्र एक तुम हो कि तुम्हारे समान दूसरा नहीं ? हे भाई, लो यह राज्य तुम सम्हालो, मैं अब दीक्षा ग्रहण करूंगा।”

कहते हैं सज्जन की कृपा से सज्जन ही द्रवित होता है, बाहुबली बड़े भाई की बात से अभिभूत हो उठते हैं, लाख-लाख अनुरोध करने पर, वह सन्यास लेने से नहीं

चूकते कामदेव होकर अब वह काम साधना में लीन हैं। वर्ष भर ध्यान योग में खड़े हुए उनकी देह लताओं मे घिर जाती है, हिरन उससे सींग घिसते हैं, लेकिन वह अविचल हैं। लेकिन तपस्या का बाहरी रूप अंतरंग को शुद्ध करने में असमर्थ है। उनका मन उधेड़-बुन में लगा है। एक दिन भरत सपत्नीक उनके दर्शन करके कहता है :

तुम्हारे समान संसार मे दूसरा भद्रजन नहीं है, तुमने कामदेव होकर अश्रम साधना प्रारम्भ की है, तुमने राग से अराग को मल रहित कर दिया, तुमने बाहुबल से मुझे निस्तेज (मलिन) किया, फिर तुम्हीं ने कृष्णा से मेरी रक्षा की फिर अपने हाथ से मुझे धरती दी। इस दुनिया मे वास्तव मे परमेश्वर तुम ही हो (मैं नहीं)।

भाई और सम्राट भरत के इन शब्दों से बाहुबली का अह गलता है, और अन्त में उन्हे केवल प्राप्त होता है।

देवों और मनुष्यों की भीड़ मे देवेन्द्र उनकी स्तुति मे कहता है : राजचक्र को तुमने तिनका समझा, और कम-चक्र को ध्यान की आग ने झोंक दिया।

देवचक्र (मंडल) तुम्हारे आगे-आगे दौड़ता है, चक्र-वर्ती (भरत) को अपना चक्र अच्छा नहीं लगता, हे मुनि आपके साक्षात्कार से राग नहीं बढ़ता, तुम्हें छोड़ कर और कौन नरक मे निकाल सकता है। पृथ्वीश्वर ने काम की आसक्ति से दीक्षा लेकर काम को जीत लिया।

अन्त मे कवि=ऋषभ तीर्थंकर के समवसरण में बैठे हुए बाहुबलि से कहता है—हे बाहुबली मुझे बोध और ज्ञान दीजिए ?

महाकवि के महापुराण (दो रचनाएं और है, णायकुमार चरित जसहरचरित) जैन चरणानुयोग का ही नहीं समूचे भारतीय मृजनात्मक साहित्य की अमूल्य धरोहर है, एक ओर उसमे लोकभाषा और शास्त्रीय भाषा का संगम है, दूसरी ओर नई छंद शैली और शिल्प का प्रयोग है, काम चेतना और राग चेतना का द्वंद्व है, उसके सृजन में अपभ्रंश की प्राणवत्ता और अभिव्यक्ति-शक्ति मुखरित हुई है, कवि पौराणिक व्यक्तित्वों के माध्यम से अपने युग यथार्थ मूल्यों की अनुभूतिमय आंकां प्रस्तुत करता है, भाषिक अध्ययन की दृष्टि से उसका महत्त्व सृजन से भी अधिक है। कुल मिलाकर पुष्पदत्त का बाहुबलि-आख्यान भारत की पुराणमूलक आध्यात्मिक चेतना की पृष्ठ भूमि पर दसवीं सदी के भारतीय समाज के सामंत-बादी मूल्यों के विश्लेषण की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति है।

शांति निवास, ११४ उषानगर, इंदौर-४६२००२

गोम्मटेश्वर बाहुबली स्वामी और उनसे संबंधित साहित्य

□ श्री वेदप्रकाश गर्ग, मुजफ्फरनगर

अत्यन्त प्राचीन युग में इस आर्य भूमि पर महाराजा नाभि राज्य करते थे, जो १४वें कुलकर थे।^१ वे आग्नीध्र के नौ पुत्रों में ज्येष्ठ थे।^२ वे अपने विशिष्ट ज्ञान, उदार गुण और परमेश्वर्य के कारण कुलकर अथवा मनु कहलाते थे।^३ उन्हें हुए कितना समय बीता कुछ कहा नहीं जा सकता।

उनका युग एक सक्रान्ति काल था। उनके जीवन-काल में ही भोग-भूमि की समाप्ति हुई और कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ। उन्होंने धैर्यपूर्वक इन नवीन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर युग-प्रवर्तन किया। उनके नाम पर ही इस आर्य भूमि को अजनाभ वर्ष कहा गया।^४

उदयाचन और पूर्व दिशा के रूप में क्रमशः संबोधित अयोध्या-नरेश महाराजा नाभिराय और मरुदेवी से सूर्य-समान भास्वर तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ था।^५ उनका जन्म दो युगों की संघर्षेला अर्थात् मानव-सम्पत्ता के प्रथम चरण में हुआ था, जब भोगभूमि का अन्त और कर्मभूमि का प्रारम्भ हो रहा था।

कुलकर-व्यवस्था से जब सामाजिक जीवन विकसित होने लगा तो कुलकर के पुत्र होने के नाते ऋषभ पर उन व्यवस्थाओं का दायित्व आया।^६ उन्होंने बहुत मूढमता एवं गम्भीरता से समस्याओं का विचारोपरान्त समाधान

उपस्थित कर 'कर्म' का उपदेश दिया और उसकी महत्ता का प्रतिपादन किया। ऋषभ ने जिन कार्यों की व्यवस्था की, उन्हें लौकिक षट्कर्म कहा जाता है।^७ इनके द्वारा सामाजिक जीवन को एक व्यवस्थित आधार प्राप्त हुआ। इसके साथ ही धार्मिक षट्कर्मों का उपदेश भी दिया। कर्मश्रम से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में अम-विभाजन का भी निर्देश दिया। वे स्वयं इक्ष्वाकु कहलाये।^८ इससे उन्होंने से भारतीय क्षत्रियों के प्राचीनतम इक्ष्वाकुवंश का प्रारम्भ हुआ। कृषि-कर्म में 'वृषभ' की प्रतिष्ठा प्रतिपादित करने के कारण वे स्वयं 'वृषभदेव' कहलाए और 'वृषभलाञ्छन' उनकी पहचान का विशेष चिह्न बना। आज पुरातत्त्वज्ञ इसी चिह्न से उनकी मूर्तियों को पहचानते हैं। वे क्षात्रधर्म के प्रथम प्रवर्तयिता थे।^९ अग्निष्ट से रक्षा तथा जीवनीय उपायों से प्रतिपालन ये दोनों गुण प्रजापति ऋषभदेव में होने से उनकी 'पुरुदेव' संज्ञा भी हुई।^{१०}

ऋषभ का विवाह सुनन्दा और सुमंगला से हुआ था। उनके दो पुत्र थे। उनमें दो विशेष प्रसिद्ध थे— भरत और बाहुबली^{११} भरत को कलाओं और बाहुबली को प्राणी-लक्षण का ज्ञान कराया। इनके मलावा उनकी दो पुत्रियाँ भी थी। एक ब्राह्मी और दूसरी सुन्दरी ऋषभ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि तथा सुन्दरी को अक्ष विद्या सिखाई।^{१२}

१. त्रिलोकसार ७६२-६३।

२. भागवत पुराण ११।२।१५।

३. तिलोपपण्णत्ति ४।४।६।

४. स्कन्द पुराण १।२।३७।५५; महा पुराण ६२।८।

५. महापुराण १।४।८१।

६. वही १६।१३३-३४। (कुलकर उसे कहते हैं, जो जनता के जीवन की नई समस्याओं का सही समाधान देता है।

७. अग्नि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प तथा वाणिज्य।

(प्रादि पुराण १६।१७६)

८. देवपूजा, गृह-भक्ति, स्वाध्याय, संयम तप और दान।

९. महा पुराण १६।२६४।

१०. महापुराण ४२।६ तथा महाभारत, शान्ति पर्व १२।६४।२०।

११. ब्रह्माण्ड पुराण २।१४।

१२. वसुदेव हिण्डी, प्र० ख० पृ० १८६।

१३. अभिधान, राजेन्द्र कोश भाग २, पृ० ११२६।

आधा भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है।

ऋषभदेव के शतपुत्रों में भरत ज्येष्ठ थे। वही उनके उत्तराधिकारी बने। अतः भरत को राज्य पद पर अभिषिक्त कर ऋषभ स्वयं संन्यस्त हो तपश्चर्या में लीन हो गए। ऋषभ ने भरत को हिमवत् नामक दक्षिण देश शासन के लिए दिया था। उसी के नाम से यह देश 'अजनाभवर्ष' के स्थान पर 'भारतवर्ष' कहलाया। और प्राचीन धार्यों का भरतवश चला। भरत प्रथम चक्रवर्ती थे। और उनके पीछे उनके पितामह तथा पिता आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतापी परम्परा थी। उन्होंने षट्-खण्ड पृथ्वी को जीता और संपूर्ण भारत को राजनैतिक एक सूत्रना में बाँधने का प्रयत्न किया।^१

जिस समय भरत का राज्याभिषेक हुआ था तभी बाहुबली ने पोदनपुर (लक्षशिला) का शासन सूत्र संभाला था। वे भी भरत की भाँति प्रतापी थे। उनका जन्म ऋषभदेव की पत्नी मुनन्दा से हुआ था। उनका शरीर कामदेव के समान सुन्दर था। इसी से वे 'गोम्पटेश' कहलाते थे। वे दृढ़ तपस्वी और मोक्षगामी महासत्त्व थे।^२

इधर जब ऋषभ-साधना में उत्कर्ष प्राप्त कर रहे थे, उधर तब भरत ने अपने शासन का विस्तार किया। उन्होंने चारों ओर की सभी प्रशासनिक इकाइयों को अपने अधीन कर लिया। स्वाभिमानी बाहुबली ने, जो पराधीन जीवन को मृत्यु से कम नहीं मानते थे, भरत की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। ऐसी स्थिति में विचारवान् ज्ञान वृद्धों ने इसका समाधान निकाला कि 'दोनों भाई आपस में शक्ति-परीक्षण करें। व्यर्थ ही जन-घन का विनाश न हो। शक्ति-परीक्षण के लिए तीन प्रकार चुने गए :—

१. दोनों एक-दूसरे की ओर अपलक देखें। जिसकी पलक पहले झपके वही हारा। इसे दृष्टि-युद्ध कहा गया।

२. सरोवर में एक-दूसरे पर जल उछालें। जो आकुल होकर बाहर निकल आये, वह हारा इसे जल-युद्ध कहा

३. दोनों पहलवानों की तरह एक-दूसरे को पछाड़ें। जो चित्त हो जाये, वह हारा। इसे मल्लयुद्ध कहा गया।

बाहुबली का शरीर भरत की अपेक्षा विशाल था। वे उन्नतकाय भी थे। तीनों युद्धों में बाहुबली विजयी हुए। भरत अपनी इस हार से खीझ उठे। बदले की भावना से उन्होंने अपने भाई पर चक्र चलाया, किन्तु देवोपुनीत अस्त्र परिजनों पर नहीं चलते। वह बाहुबली के चरणों में जा गिरा। वह उन्हें कोई हानि न पहुँचा सका। इस प्रकार भरत की एक ओर पराजय हुई।^३

बाहुबली को विजयी होने पर भी संसार-दशा का बड़ा विचित्र अनुभव हुआ। इस घटना से उनका मन बहुत विचलित हो गया। वे सोचने लगे कि भाई को परिग्रह की चाह ने अंधा कर दिया और अहंकार ने उनके विवेक को भी नष्ट कर दिया है। धिक्कार है इस तृष्णा को! जो व्याय-अप्याय का विवेक भूला देती है। अब मैं इस राज्य का त्याग कर आत्म-साधना का अनुष्ठान करना चाहता हूँ और बाहुबली संन्यस्त हो गये।

बाहुबली संन्यस्त होने के बाद कायोत्सर्ग-मुद्रा में ध्यानमग्न हो गए। वे लगातार लम्बे समय तक तपस्या-रत रहे। भूमि के लता-गुल्म बढ़ कर उनके उन्नत स्कन्धों तक पहुँच गए। मिट्टी की ऊँची-ऊँची बाँधियाँ उनके पैरों के चारों ओर उठ आयीं। इस प्रकार उन्होंने कठोर तपश्चर्या द्वारा आत्म-साधना की ओर अन्त में पूर्ण ज्ञानी बन स्वात्मोपलब्धि को प्राप्त हुए। उन्हें कैवल्य ज्ञान हो गया।^४

ध्यान-मग्न कायोत्सर्ग मुद्रा में बाहुबली स्वामी की अनेक खड़गासन मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें सबसे प्राचीन प्रतिमा बादा की गुफा की है। यह सातवीं सदी में निर्मित हुई थी। इसकी ऊँचाई साढ़े सात फुट है। दूसरी प्रतिमा एलोरा के छोटे कैलाश नामक जैन शिला मन्दिर की इन्द्र सभा की दक्षिणी दीवार पर उत्कीर्ण है। इस गुफा का निर्माण काल लगभग षठीं शती माना जाता है। तीसरी

१. 'अग्नि', 'माकण्डेय', 'ब्रह्माण्ड', 'नारद', 'निग', तथा 'भागवत', आदि पुराण इस संबंध में साक्ष्य रूप हैं।

२. महा पुराण ३७:२०-२१।

३. दे० कवि जनपाल रचित 'बाहुबली चरित' तथा

जिनप्रभसूरि रचित 'विबिध तीर्थकल्प' पृ० ६०।

४. दे० कवि जनपाल रचित—'बाहुबली चरित'।

५. दे० वही 'बाहुबली चरित'।

मूर्ति देवगढ़ के शान्तिनाथ मन्दिर में है, जिसकी विशेषज्ञ यह है कि इसमें बामी, कुङ्कुट, सर्प व लताओं के प्रतिरिक्त मूर्ति पर रेंगते हुए बिन्धु, छिपकली आदि जीव-जन्तु भी अंकित किए गए हैं और इन उपसर्गकारी जीवों का निवारण करते हुए एक देव युगल भी दिखाया गया है।^१

सबसे विशाल और सुप्रसिद्ध मैसूर राज्य के श्रवण-बेलगोला^२ बिन्ध्यगिरि पर विराजमान वह पाषाण मूर्ति है, जिसकी दक्षिण के गंग नरेश के महामात्य चामुण्डराय ने १००० वर्ष पूर्व उत्कीर्णित करवाया था। एक ही शिला को काट कर इसका निर्माण किया गया था। यह मनोज्ञ प्रतिमा ५७ फुट ऊँची है और उस पर्वत पर दूर से दिखाई देती है। मूर्ति की सुडौलता, मनोज्ञता तथा शांत मुखमूद्रा देखते ही बनती है। यह 'गोमटेश्वर' भी कहलाती है। दूसरे भ्रंगों का संतुलन, मुख का शान्त और प्रसन्नभाव, वस्त्रों का व माधवी लता की लपेटने इतनी सुन्दरता को लिए हुए हैं कि जिनकी तुलना अन्यत्र कही नहीं पाई जाते। इसीलिए इसके वीतराग भ्रंग-सौष्ठव और मनोज्ञता को भारतीय तथा पाश्चात्य सभी विद्वानों ने सराहा है। इसके महामस्तकाभिषेक का मंगलानुष्ठान आयोजित कर धर्माग्रागी जन-व्याधियों को पराभूत करने में समर्थ होते हैं। यह मूर्ति विश्व का आठवाँ आश्चर्य मानी जाती है।

इस मूर्ति के अनुकरण पर कारकल में एक पर्वत पर सन् १४३२ ई० में ४२ फुट ऊँची तथा बेपूर में १६०४ ई० में ३५ फुट ऊँची अन्य दो विशाल पाषाण प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गई थीं। कारीगरी की दृष्टि से ये भी दर्शनीय हैं। धीरे-धीरे बाहुबली जी की मूर्तियों का प्रचार उत्तर भारत में भी होता जा रहा है।^३

उपर्युक्त मूर्तियों के प्रतिरिक्त आबू की सं० १०८८ की विमल सही की शिल्पकला में भरत बाहुबली-युद्ध के

दृश्य भी शिल्प-चित्रों में दिखाए गए हैं।^४

बाहुबली स्वामी के उदात्त चरित्र को लेकर साहित्य-रचना भी हुई है। कई कवियों और लेखकों ने उनके चरित्र को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया है। श्री लालचंद भगवान गांधी ने अब तक भरत-बाहुबली पर आधारित साहित्य पर विस्तार से विचार किया है। संक्षेप में यह साहित्य इस प्रकार है -

(१) विमलसूरि कृत 'पद्म चरित्र' के चौथे उद्देश्य में ऋषभ चरित के साथ भरत और बाहुबली के अधिकार की संक्षेप में सूचना मिलती है।

(२) घनेश्वर सूरि के ग्रंथ 'शत्रुञ्जय महाबलभी' के तृतीय सर्ग में दोनों के युद्ध का वर्णन है।

(३) वि० सं० ७३३ में जिनदास गाणी की प्राकृत-भाषा में चूर्णि नामक व्यख्या में दोनों का चरित्र वर्णित है।

(४) रविषेणचार्य रचित पद्मचरित पुराण में दोनों का युद्ध वर्णन है।

(५) दिगम्बर कवि जिनसेन के 'आदिपुरा', कवि पुष्पदंत के 'त्रिसट्टि महापुरिस-गुणालकार' तथा हेमचन्द्र के 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' के प्रथम पर्व भी इस सबध में उल्लेखनीय हैं।

(६) सोमप्रभाचार्य के 'कुमारपाल प्रतिबोध', (१२४१) विनय चन्द्रसूरिकृत 'आदिनाथ चरित'; जिनेंद्र रचित 'पद्मनन्द महाकाव्य', मेरुतुंग रचित (१४०१) 'स्तम्भेन्द्र प्रबंध'; जयशेखर सूरि कृत (१४३६) 'उपदेश चिन्तामणि' की टीका; (१४वीं शती) गुणरत्नसूरि (१५३०) के 'ऋषभ चरित्र' तथा 'भरतेश्वर बाहुबली पवाड़ा'; आवक ऋषभदास (१६७८) के 'भरतेश्वर रास' तथा जिनहर्षगणि (१७५५) के 'शत्रुञ्जय रास' में भरत-बाहुबली चरित वर्णित हैं।^५

१. दे.डॉ. हीरालाल जैन का 'जैन मूर्ति कला' शीर्षक लेख।

२. यह कन्नड़ी शब्द है। बिन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि पर्वतों के मध्य एक चौकोर तालाब है, जहाँ श्रमण ठहरा करते थे। इसी से यह नाम पड़ गया।

३. जिस पर्वत पर यह मूर्ति है, उसे विविधतीर्थ कल्प में 'अष्टापद गिरि' कहा गया है। (दे० पृ० ६६, २०८)।

४. दे० डॉ० मूर्ति कला शीर्षक लेख, वर्षमान, पृ० १०३।

५. दे० श्री लालचंद भगवान गांधी द्वारा संपादित भरतेश्वर बाहुबली राम, प्रस्तावना पृ० ५७-५८।

६. उपर्युक्त रचनाओं के विशेष विस्तार के लिए दे० श्री लालचंद भगवान गांधी द्वारा संपादित-भरतेश्वर बाहुबली राम की प्रस्तावना, पृ० ५३-५६। वस्तुतः इन दोनों चरितनायकों पर व्याप्त लिखने की परम्परा क्रमशः १८वीं शती तक सुरक्षित मिलती है।

उपर्युक्त रचनाओं के प्रतिरिक्त भी कई अन्य रचनाएँ 'भरत-बाहुबली' चरित से संबंधित प्राप्त होती है।

वज्रसेनसूरि रचित 'भरतेश्वर-बाहुबलि घोर' पुरानी राजस्थानी की प्राचीनतम रचना है, जिसका प्रकाशन श्री भगरचन्द नाहुटा ने 'शोध-पत्रिका' में कराया था। यह घोर और शांति रास का ४६ पदों की छोटा-सा काव्य है।

सं० १२४१ में शालिभद्र सूरि ने भरतेश्वर-बाहुबली-रास' नामक खण्डकाव्य की रचना की, जिसको पुरानी राजस्थानी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। यह आदिकालीन हिन्दी-साहित्य का सर्व प्रथम रास माना जा सकता है।

मालदेव रचित 'भरत बाहुबलि गीत' व 'खदक बाहुबली गीत' के प्रतिरिक्त 'भरत बाहुबली रास' नामक एक अपभ्रंश की अन्य रचना भी प्राप्त होती है। सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य की प्राकृत भाषा की रचना 'गोमटसार' भी बाहुबली-चरित्र से संबंधित प्रतीत होता है। संभवतः तेजबद्धन कृत 'भरत बाहुबली रास' का उल्लेख भी मिलता है।

सं० १४५४ में कवि धनपाल द्वारा रचित 'बाहुबली चरित' में पूर्णतया बाहुबली स्वामी के चरित्र का ही वर्णन

किया गया है। कवि ने इस ग्रंथ का नाम 'काय चरित' (कामदेव चरित) भी प्रकट किया है। इस ग्रंथ की भाषा हिन्दी-भाषा के बहुत कुछ विकसित रूप को लिए हुये है। रचना सरस, गंभीर और रुचिकर प्रतीत होती है।

उपर्युक्त रचनाओं के प्रतिरिक्त कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिलती हैं, जो सीधे बाहुबली स्वामी के चरित्र से तो संबंध नहीं रखती, किन्तु प्रसंगवश बाहुबली के चरित्र का भी पर्याप्त उल्लेख हुआ है। ऐसी रचनाओं में देवसेन कृष्ण 'मेहेसर चरित' तथा कवि रघू का 'मेहेसर चरित' मुख्य हैं, जिनमें भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमार (मेघेश्वर) और उनकी धर्मपत्नी सुलोचना के चरित्र-चित्रण के साथ-साथ प्रासंगिक रूप में भरत-बाहुबली-युद्ध, बाहुबली का तपश्चरण और कैवल्य-प्राप्ति आदि का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि भरतेश्वर-बाहुबली-वृत्त प्राकृत, संस्कृत अपभ्रंश, प्राचीन राजस्थानी, गुजराती आदि में विस्तृत रूप में मिलता है। संभव है, खोज करने पर अन्य ग्रंथों में भी उनके चरित्रोत्प्रेषण प्राप्त हो जाय। विद्वानों को अवलोकन द्वारा उनके पावन चरित्र से संबंधित साहित्यका प्रकाश में लाना चाहिए। □ □ □

महामस्तकाभिषेक

श्री गोमटेश्वर के महामस्तकाभिषेक का अवलोकन स्थित सन् १५०० के शिलालेख नं० २३१ में जो वर्णन है उसमें अभिषेक कराने वाले प्राचार्य, शिल्पकार, बड़ई और अन्य कर्मचारियों के पारिश्रमिक का व्योरा है तथा दुग्ध और दही का भी खर्चा लिखा है। सन् १५६८ के शिलालेख नं० २५४ (१०५) में लिखा है कि पण्डितार्य ने गोमटेश्वर का ७ बार मस्तकाभिषेक कराया था। पञ्चबाण कवि ने सन् १६१२ ई० में शान्ति वर्णी द्वारा कराये हुए मस्तकाभिषेक का उल्लेख किया है व अनन्त कवि ने सन् १६७७ में मैसूर नरेश चिक्कदेवराज ओडेयर के मंत्री विशालाक्ष पंडित द्वारा कराये हुए और शान्तराज पंडित ने सन् १८२५ के लगभग मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर तृतीय द्वारा कराये हुए मस्तकाभिषेक का उल्लेख किया है। शिलालेख नं० २२३ (६८) में सन् १८२७ में होने वाले मस्तकाभिषेक का उल्लेख है। सन् १९०६ में भी मस्तकाभिषेक हुआ था। मार्च सन् १९२५ में भी मस्तकाभिषेक हुआ था, जिसे मैसूर नरेश महाराजा कृष्णराजबहादुर ने अपनी तरफ से कराया था। महाराजा ने अभिषेक के लिए ५०००) रु० प्रदान किये थे। उन्होंने स्वयं गोमटेश्वर की प्रशिक्षा की थी नमस्कार किया था तथा द्रव्य से पूजन किया था। तदनन्तर भी प्रयास समय महामस्तकाभिषेक होते रहे हैं। महामस्तकाभिषेक दूध, दही, केव, पुष्प चारियन का चरा, घृत, चरन, सशोडि, इक्षुरत, लाल बंदन, बादाव, लारक, गुड़, शक्कर, लसूत आदि वस्तुओं से और जल से अभिषेक कराया जाता है। □ □

१. दे० शोध-पत्रिका, वर्ष ३, अंक ४।

२. दे० श्री गौरी द्वारा संग्रहित उक्त रास ग्रंथ तथा डा० हरीश का 'रास-परम्परा और भरतेश्वर बाहुबली' शीर्षक लेख।

३. दे० राजस्थानी भाषा और साहित्य डा० होरालाल महेश्वरी, पृ० २६३।

४. दे० परभ्रम साहित्य, डा० कोछड़, पृ० ३६३-६४।

५. दे० जैन ग्रंथ दशास्तिसंग्रह, भाग २ प्रस्तावना, पृ० ७८-८०।

६. दे० जैन-ग्रंथ-प्रशस्ति-संग्रह, प्रस्तावना, पृ० ६६-६७।

७. इस लेख के लिखने में जिन विद्वान लेखकों के ग्रंथों तथा लेखों से सहायता ली गई है, उनके प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

बाहुबली : पुष्पदंत के सृजन के आइने में

□ डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन, इन्दौर

बूढ़ा सियार कल्याण की बात करता है—यह देख कर मुझे हँसी आती है। दुनिया में जो ताकतवर चोर है वह राजा है दुर्बल को और प्राणहीन बनाया जाता है। और पशु के द्वारा पशु का घन छीना जाता है और आदमी के द्वारा आदमी का घन छीना जाता है और आदमी के द्वारा आदमी का घन। सुरक्षा के नाम पर लोग गिराह बनाते हैं, और एक मुखिया की आज्ञा में रहते हैं। मैंने सारी दुनिया छान मारी, सिद्धों का गिराह नहीं होता। मान खंडित होने पर जीने के बजाय मर जाना अच्छा है दूत मुझे यही भाता है भाई यदि आता है तो आए मैं उसे आवात दूंगा और पल भर में संघारारण की तरह ध्वस्त कर दूंगा। चुनौती भरे ये शब्द किसी आधुनिक राजनेता या दामपथी के राजनैतिक पार्टी के नहीं बल्कि अश्वमेध के महान कवि पुष्पदंत के महापुराण से उद्धृत बाहुबली के कथन के कुछ अंश हैं। जिनमें वे बड़े भाई भरत के अधीनता मान लेने के प्रस्ताव पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे हैं। पौराणिक सन्दर्भ : जैन विश्वास के अनुसार योगभूमि के समाप्त होने पर जब कम भूमि प्रारम्भ हुई तो लोगों के सामने नई-नई समस्याएँ आ खड़ी हुई। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने उनका हल खोजा, और इस प्रकार वे कर्ममूलक मानव सस्कृति के निर्णायक बने। उनके १०१ पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। पहली रानी से भरत आदि सो भाई तथा ब्राह्मी भी दूसरी से बाहुबली और सुनंदा। लंब प्रशासन के बाद ऋषभनाथ पुत्रों में राज्य का बंटवारा कर तप करने के लिये चले गये। सब भाई बंटवारे से सन्तुष्ट हैं परन्तु भरत महत्वाकांक्षी है वह चक्रवर्ती सम्राट बनने के लिये दिग्विजय करता है साठ हजार वर्ष के सफल अभिनय के बाद वह घर लौटता है। गृह नगरी अयोध्या दुर्लभिन की तरह सजाई जाती है। मंगल वाद्य और जयगान के बीच सम्राट नगर की सीमा में प्रवेश

करता है, परन्तु उसका चक्र वर्तन नहीं करता। वह भरत की महत्वाकांक्षा के लिये विराम चिह्न बन कर खड़ा हो जाता है। बड़े मन्त्री उसे बताते हैं कि जब तक उसके भाई अधीनता नहीं मानते तब तक चक्र भीतर नहीं जा सकता। भरत, भाइयों के पास दूत के जरिए आज्ञा मानने का संदेश भेजता है दूसरे भाई अधीन होने के बजाय अपने पिता तीर्थंकर ऋषभ से दीक्षा-ग्रहण कर लेते हैं लेकिन बाहुबली इसे समस्या का हल नहीं मानता इसलिए जब दूत से बड़े भाई का अभिमान जनक प्रस्ताव सुनता है तो उसका स्वाभिमान आक्रोश भरी चुनौती दे डालता है बिना इसके परवाह किये कि एक चक्रवर्ती सम्राट से जूझने का नतीजा क्या होगा? बाहुबली का विरोध भाई से नहीं बल्कि उसमें रहने वाले राजा से था जिसमें सत्ता की राक्षसी भूख थी जो दूसरों के स्वत्वों और स्वतन्त्रता को छीनता है, मानवीय मूल्य का हनन करती है।

राज्य और मनुष्य :

दूत लौटकर सम्राट को बताता है कि बाहुबली विषय है मेल-मिलाप के बजाय वह लड़ेंगा। दूसरे दिन न दोनों पक्ष की सेना आमने सामने उठ खड़ी होती है। मानव सस्कृति का प्रारम्भिक इतिहास कहीं खून से न लिखा जाय इस आशंका से बड़े मन्त्री दोनों को समझाते हैं आप कुल-भद्र है, यह आप लोगों का धरेलू झगड़ा है आप आपन में युद्ध कर निपट लें व्यर्थ खून खराबा क्यों? दोनों भाई इस मुझाव का सम्मान करते हुए कुछ युद्ध करते हैं।

दृष्टि युद्ध, जल और मल्लयुद्ध, एक के बाद एक युद्ध लगातार हारने के बाद सम्राट भरत अपना संतुलन खो बैठता है कुल और युद्ध की नीति की ताक पर रक्त वह छोटे भाई पर चक्र से प्रहार करता है। बार खासी जाते देख कर वह नीचा मुँह करके रह जाता है।

सत्ता की भूख इतनी क्रूर और प्राणलेवा हो सकती

है ? यह देख कर बाहुबली का आक्रोश विघ्न उठता है । आत्मसंतोष से अभिभूत वह स्वयं को विचारता है 'हय मेरी बाहुबल ने क्या किया ? मैंने अपने कुल के स्वामी सम्राट् चक्रवर्ती को नीचा दिखाया किसके लिए ? क्या उस धरती के लिए जो बेध्या की तरह अनेक राजाओं के द्वारा भोगी गई है और यह राज्य इस पर वज्र गिरे किसी की यह उचित ठीक है इसके लिए पिता की हत्या की जाती है, भाइयों को जहर दिया जाता है, समाज और राष्ट्र में विषमता विद्वेष और घृणा के बीज राज्य ही बोता है राजा मन्त्री सामंत सुभट शासक और शासित —यह सारा वर्गविभाजित बनावटो है पराधीन बनाने की दुरभिसंधि है । अपने बड़े भाई और चक्रवर्ती से क्षमा मांगते हुए वह कहता है --ओ भग्न, यह राज्य ले, मैं दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण करूंगा । मैंने आज तक जो भी प्रतिकूल आचरण किया है उसके लिए क्षमा मांगता हूं ।

भरत की प्रतिक्रिया :

लेकिन भरत यह स्वीकार करने को तैयार नहीं वह कहता है मुझे पराभव से दूषित राज्य नहीं चाहिये जिन चक्र का मुझे गर्व था, क्या वह मेरे सम्मान को बचा सका ? हे भाई तुमने अपने क्षमा मान से जीत लिया तुम सूर्य की तरह तेजस्वी और समुन्द्र की तरह गंभीर हो सज्जन की कृपा से सज्जन ही द्रवित होता है । आत्म-ग्लानि, विरक्ति में बदलती है, और बाहुबली राजपाट छोड़कर तप करने चल देते हैं । वर्ष भर, वन में वे कायोत्सर्ग में खड़े रहे, हिम घातप और वर्षासे बेपरवाह लताएँ देह से लिपट गईं । उस विशाल शरीर से वन्य प्राणी खाज खुजलाते रहे । एक दिन सम्राट भरत सपत्नीक आता है और उनकी स्तुति में कहता है ।

हे भद्र, विश्व में तुम्हीं हो जिसने कामदेव हाकर राग को भराग से जीता, जीत कर भी क्षमाभाव का प्रदर्शन किया ।

सम्राट भरत के इस कथन से तपस्वी बाहुबली के मन का यह भ्रम टूट जाता है कि मैं दूसरे की धरती पर खड़ा हूं और वह कर्मजाल से मुक्त होते हैं ।

उनकी मुक्ति के अभिनन्दन में इन्द्र ने कहा हे भद्र तुमने राजचक्र को तिनका समझा कर्मचक्र ध्यान की

आग में भस्म कर दिया, देवचक्र तुम्हारे आगे-पीछे घूमता है तुम्हें चक्रमुक्त देख कर चक्रवर्ती को भी अपना चक्र अच्छा नहीं लग रहा है ।

बाहुबली को गोम्मटेश्वर इसलिए कहा गया कि एक तो साधना काल में लतागुल्मों के बढ़ने से उनकी देह गुल्मवत् हो गई थी दूसरे वह गोमत् का अर्थ है प्रकाशवान् दोनों का प्राकृत में गोम्मट बनता है ।

समय की दूरी सृजन मूल्यों की निकष :

पुष्पदंत १०वीं सदी में हुए और राष्ट्रकूटों के मंत्री भरत के अनुरोध पर उन्हीं के शुभदेश भवन में रहते हुए कवि ने महापुराण की रचना की, बाहुबली आश्वयान उसी का एक अंश है । इसमें संदेह नहीं कि पुष्पदंत और बाहुबली के बीच समय की बहुत दूरी है ।

इस अन्तराल में कई मानव सस्कृतियां बनीं और मिटी । इतिहास में कई उतार-चढ़ाव आए फिर भी स्मृति और कला ने उस "पुराण पुष्प" को प्रतीक रूप में जीवित रखा उनके पावन व्यक्तित्व की याद मानव मूल्य की याद है ये मूल्य प्रत्येक युग की परिस्थितियों से टकराते हैं । कभी वे परिस्थितियों को नया मोड़ देते हैं और कभी परिस्थितियां उन पर हावी होती हैं खासकर भारत में ऐसा इसलिए भी होता रहा है कि इन मूल्यों की सामाजिक स्तर पर नहीं परखा गया, हमने परलोक के सदर्भ में उनका महत्व समझा यह अजीब संयोग है । गंगवंश के प्रधान मन्त्री और सेनापति चामुण्डराय की प्रेरणा से ६८१ ईसवी में जब श्रवणबेलगोला में गोम्मटेश्वर बाहुबली की विराट् मूर्ति निमित्त और प्रतिष्ठापित हुई उसके १५-१६ वर्ष पहले पुष्पदंत महापुराण के अन्तर्गत अपना बाहुबली आश्वयान लिख चुके थे । उन्होंने बाहुबली के... को अपनी उन अनुभूतियों के आश्रय में देखा जिनका आचार युग की सामंतवादी पृष्ठभूमि थी । उन्होंने सत्ता के लिए राजाओं को लड़ते देखा था । युद्ध के खूनी दृश्य उनके सामने थे, राजनीति की घिनौनी हरकतों से चिढ़ कर ही वह किसी दूसरे राज्य से राष्ट्रकूटों की राजधानी माग्यखेट में आए थे । पुष्पदंत बाहुबली के समग्र चरित को हम राज्य समाज, परिवार और व्यक्ति के संबर्ध में देखते (शेष पृष्ठ ११३ पर)

बाहुबली की कहानी : उनकी ही जुबानी

□ डा० शिवकुमार नामदेव, होशंगाबाद

“स जयति हिमकाले यो हिमानी परोतं,
वपुश्चल इवोर्ध्वैवभ्रवावभूव ।
नवधनसलिलोर्ध्वंश्च घौतोऽव काले,
स्तरघृणिकिरणानयुष्ण काले विषेहे ॥

मेरे पिता का नाम ऋषभदेव तथा माता का नाम सुनन्दा था । जब मेरे पिता अयोध्या के राजसिंहासन पर आरुढ़ हुए तब उन्होंने अपने राज्यकाल में अनेक जनोपयोग कार्यों के साथ ही साथ प्रजा की अग्नि, ममि, कृषि, विद्या, वाणिज्य एवं शिल्प इन षट्कर्मों से आजीविका करना सिखाया । उन्हें प्रजापति, ब्रह्मा, विधाता पुरुष आदि नामों से भी स्मरण किया जाता है । मेरा शारीरिक गठन अति सुन्दर था, लोग मेरे रूप को कामदेव से भी सुन्दर कहते थे । मेरी भुजाएं बलिष्ठ एवं असाधारण थीं । गुणानुरूप ही मेरा नामकरण बाहुबली रखा गया ।

जब पिताजी ने प्रव्रज्या ग्रहण की :

चैत्र कृष्ण नवमी का दिन था मेरे पिता ऋषभदेव सैकड़ों नरेशों सहित अपने राजसिंहासन पर विराजमान थे, अप्सरा नीलांगना का नृत्य चल रहा था । सभी मंत्र मुख से उस नृत्य का आनन्द ले रहे थे, तभी देवांगना की आयु पूर्ण हो गई । उसके दिवंगत होते ही इन्द्र ने तत्काल उसी के अनुरूप अन्य देवांगना से नृत्य प्रारम्भ करा दिया । इन्द्र का यह कृत्य मेरे सूक्ष्मदर्शी पिता की दृष्टि से ओझल न हो सका । उन्हें इहलोक की क्षणभंगुरता एवं नश्वरता का स्मरण आया और उन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ । उन्होंने अपना समस्त राज-पाट अपने पुत्रों में विभाजित कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । मेरे ज्येष्ठ भ्राता भरत को अयोध्या का और मुझे पौदनपुर का राज्य प्राप्त हुआ । मुझे अपनी पैतृक सम्पत्ति से संतोष था, किन्तु भरत की लौकिक लालसा अभी भी अतृप्त थी ।

भरत से संघर्ष :

भरत और मेरे मध्य हुए संघर्ष की कहानी पुराणों में वर्णित है । भरत ने चक्रवर्ती पद प्राप्त हेतु दिग्विजय किया । दिग्विजय-यात्रा यद्यपि सकुशल सम्पन्न हुई, परन्तु चक्र-रत्न अयोध्या के द्वार पर आकर रुक गया । चारों ओर आश्चर्य का वातावरण व्याप्त हो गया । अनेकों प्रकार के तर्क-वितर्क होने लगे । तब भरत ने इस कारण की खोज-बीन करने के लिए मन्त्रियों को नियुक्त किया । कारण शीघ्र ही ज्ञात हो गया मन्त्रियों ने भरत से इसका कारण बताते हुए कहा कि चक्र-रत्न अयोध्या के द्वार पर आकर इस कारण स्थिर हो गया है कि अभी आपके भाइयों ने अधीनता स्वीकार नहीं की है । भरत संतुष्ट हो गए । उन्हें यह आशा थी कि मेरे लघु-भ्राता मेरी आशा की अवहेलना नहीं करेंगे । उन्होंने अपने समस्त भ्राताओं के पास अधीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्ताव भेजा । उनका राजदूत मेरे पास भी आया । इस प्रस्ताव को सुनकर मेरे अन्य भाइयों को तो संसार की स्वार्थपरता देखकर वैराग्य हो गया और उन्होंने पिताजी के पास दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली, किन्तु मुझे भरत का उक्त प्रस्ताव खिचकर नहीं प्रतीत हुआ । पिताजी द्वारा प्रदत्त मेरी इस अल्प भूमि पर भी भरत, जो महान साम्राज्य का भोक्ता है, अपना वर्चस्व चाहता है । मेरा अन्तःकरण भरत के प्रस्ताव को स्वीकार न कर सका । मैंने राजदूत के द्वारा भरत को यह सन्देश भेजा कि यद्यपि भरत मुझसे ज्येष्ठ है, तथापि यदि मस्तक पर खड्ग रखकर बात करना पसन्द करते हैं, तब उन्हें प्रणाम करना क्षत्रियोचित शील के प्रतिकूल है ।

भरत को मेरा जब उक्त सन्देश प्राप्त हुआ तब उन्होंने चतुरंगिणी सेना के साथ मेरे दमन के लिए तक्षशिला को प्रस्थान किया । मैंने भी अपनी सेना के साथ भरत से युद्धार्थ रणभूमि की ओर प्रस्थान किया । समरांगण में

हम दोनों भाइयों की सेनाएं जब आमने-सामने तैयार खड़ी थीं तब मन्त्रियों ने हमसे आग्रह किया कि द्वन्द्व युद्ध द्वारा जय-पराजय का निर्णय कर लें तो निरापराध सैनिकों का रक्तपात होने से बच जाए। यह उनका आग्रह तर्क-संगत था, जिसे हम लोगों ने स्वीकार कर लिया। जय-पराजय के निर्णय के हेतु हमारे लिए तीन प्रकार की प्रतियोगिताएं—दृष्टि युद्ध, मल्ल युद्ध एवं जल युद्ध निश्चित की गईं। मैंने तीनों प्रतियोगिताओं में भरत को पराजित कर विजय श्री प्राप्त की। भरत इस पराजय को सहन न कर सका। और अपनी पराजय को जय में परिवर्तित करने के लिए युद्ध-मर्यादा का उल्लंघन कर मेरे ऊपर अमोघ-प्रस्त्र चक्र चला दिया। इस पर भी मेरा कोई अहित न हुआ।

सम्पदा का त्याग एवं दीक्षा :

अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत के क्रूर-कृत्य से मेरे मन में विराग रूपी ज्ञान सूर्य का उन्मेष हुआ। मैंने नश्वर पार्थिव सम्पदा को भरत के लिए त्याग कर अपने पिता ऋषभदेव के पास जाने का निश्चय किया। वहां जाने के पूर्व मेरे मन में यह जिज्ञासा जागृत हुई कि क्यों न मैं पहले केवल-ज्ञान की प्राप्ति कर लूं। इस हेतु मैं तप में लीन हो गया। एक वर्ष से अधिक व्यतीत हो गया, मैं मूर्तिवत् सीधा खड़ा हुआ ध्यान में लीन रहा, वृक्षों में लिपटी हुई लताएं मेरे देह से लिपट गईं, वे अपने वितान से मेरे सिर पर छत्र सा बना दिया। पैरों के मध्य कुश उग आए जो देखने में बारुकीक जैसे लगते थे। केश बढ़ गए, जिनमें पक्षी नोड बनाकर रहने लगे। घुटनों तक मिट्टी के बरुकीक चढ़ गए जिनमें विषधर सर्प निवास करने लगे।

एक वर्ष की कठोर तपस्या के उपरान्त भी मैं केवल-ज्ञान से वंचित रहा। इसका कारण मेरा अपना मोह था, अज्ञानता थी। मेरे मानस-पटल में यह भावना घर कर गई थी कि मुझे अपने पिताजी के पास जाकर अपने छोटे भाइयों की वन्दना करनी होगी। मेरा मोह था, यही मेरी अज्ञानता थी, जिसने मुझे ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में बाधा पहुंचाई थी। इस अज्ञानता को दूर करने के लिए मेरी बहर्न-बुद्धि एवं सुन्दरी मेरे पास आई।

जब मुझे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ :

दोनों बहर्न मेरे निकट आकर बोलीं “भैया मोह के

मदोम्मत हस्ति से नीचे उतरो। इसने ही तुम्हारी तपश्चर्या को निरर्थक बना दिया है। इतना श्रवण करते ही मुझे ज्योति मार्ग प्राप्त हो गया तथा मुझे केवल ज्ञान की प्राप्ति हो गई। केवल ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त मैं विहार करते हुए अपने पिता के दर्शनार्थ कैलाश पर्वत पर पहुंचा। और इसी स्थान पर ही मैंने अपने देह को त्याग कर मोक्ष को प्राप्त किया।

देवालय एवं प्रतिमायें :

मैंने घोर तपस्या के द्वारा मोक्ष को प्राप्त किया था। मेरी इस तपस्या का वर्णन जिनसेन कृत ‘महापुराण’ एवं रविषेणाचार्य ने पद्मपुराण में किया है। यद्यपि मेरी गणना तीर्थंकरों में नहीं होती है, पर मध्यकालीन जैन परंपराओं में मुझे बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ है। मेरे अनेक देवालय एवं मूर्तियों का निर्माण भी हुआ है। दक्षिण भारत के तीर्थहलिल के समीप हुबच के आदिनाथ मंदिर के समीप ही पहाड़ी पर मेरा एक मंदिर विद्यमान है। गर्भगृह में मेरी एक सुन्दर-सी मूर्ति है। देवगढ की पहाड़ी में मेरी एक सुन्दर मूर्ति है।

बादामी में ७वीं सदी में निर्मित मेरी ७॥ फुट ऊंची प्रतिमा विद्यमान है। एलोरा के छोटे कैलास नामक जैन शिला मंदिर की इन्द्र सभा की दक्षिणी दीवार पर, तथा देवगढ के शातिनाथ मंदिर में भी मेरी प्रतिमायें उत्कीर्ण की गई हैं। यद्यपि मेरी प्रतिमायें एलोरा, बादामी, मध्य-प्रदेश तथा अन्य स्थानों में हैं, किन्तु इन सबसे विशाल और सुपसिद्ध मेरी मूर्ति कर्नाटक के श्रवणबेलगोला में है।

यह विश्व की सबसे लंबी प्रतिमा है, जिसका निर्माण एक वृहदाकार शिला को काट कर किया गया है। कायोत्पगं मुद्रा में ५७ फुट लंबी तपोरत मेरी यह प्रतिमा दूर से ही दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इसका निर्माण गंग नरेश राजमल्ल (राचमल्ल) चतुर्थ (६७४-८४ ई०) के मंत्री एवं सेनापति चामुण्डराय ने कराया था। चामुण्डराय ने ‘चामुण्डराय पुराण’ की कन्नड भाषा में रचना भी की थी। मेरी इस प्रतिमा का निर्माता शिल्पी अरिष्टनेमि है। उसने मूर्ति-निर्माण में अंगों का विन्यास ऐसे नपे तुले ढंग से किया है कि उसमें किसी प्रकार का दोष निकाल पाना किसी के लिए संभव

नहीं है। मेरे स्कंध सीधे हैं, उनसे दो विशाल भुजायें अपने स्वाभाविक ढंग से अवलंबित हैं। हाथ की उंगलियां सीधी एवं अँगूठा ऊर्ध्व की उठा हुआ उंगलियों से विलग है। घुंघराले केश-गुच्छों का अंकन सुस्पष्ट है।

मेरी इस विशालकाय प्रतिमा का निर्माण बेलगोला के इन्द्रगिरि के कठोर-हल्के भूरे पाषाण से किया गया है। लोगों का ऐसा अनुभव है कि मेरा वजन लगभग २१७४ मन होगा। मेरे निर्माण काल के विषय में भी कला-मर्मज्ञों एवं ऐतिहासिकों की मेरी तिथि ६८० ई० अथवा ६८२ ई० निश्चित की है।

मेरी, विश्व की सर्वोच्च ५७ फुट लंबी इस प्रतिमा के अंगों के विन्यास से आप विशालता का स्वतः ही अनुमान लगा सकते हैं --

चरण से कर्ण के अधोभाग तक—५० फुट

कर्ण के अधोभाग से मस्तक तक—६ फुट ६ इंच

चरण की लंबाई—६ फुट

चरण के अग्रभाग की चौड़ाई—४ फुट ६ इंच

चरण का अँगूठा—फुट ६ इंच।

पांव की उंगली—२ $\frac{3}{4}$ फुट

मध्य की उंगली—५ $\frac{1}{4}$ फुट

एडी की ऊँचाई—२ $\frac{3}{4}$ फुट

कर्ण का पारिल—५ $\frac{1}{2}$ फुट

कटि—१० फुट।

अवणबेलगोला की मेरी यह प्रतिमा जैनमत में अधिक पूजित है। प्रतिवर्ष लाखों यात्री दर्शन कर अपना अहो-भाग्य मानते हैं। मेरे विषय में आचार्य विमलसूरि ने 'उसभस्स वीयपुत्तो बाहुबली नाम अस्ति चिन्तामो' उल्लेख किया है। मैं अपने पिता एवं भ्राताओं से उन्नत शरीर या अतः मुझे गोम्मटेश भी कहा जाने लगा। जैन परंपरा में मुझे अनेक स्थानों पर 'पौदनेश' शब्द से भी संबोधित किया गया है।

प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास,
शासकीय गृहविज्ञान महाविद्यालय,
होशंगाबाद (म० प्र०)



(पृ० ११० का शेषांश)

हैं। उनके बाहुबली केवल आध्यात्मिक पुरुष नहीं हैं बल्कि मानवी मूल्यों और अधिकारों के संघर्ष करने वाले लौकिक व्यक्ति भी हैं इसके लिए वे अपने बड़े भाई से भी लोहा लेने में नहीं चूके। छल कपट की राजनीति में उनकी व्यवस्था नहीं थी उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जीत के उन्माद में वह अपना विवेक नहीं खोते दूसरे घर की फूट को राष्ट्र की फूट नहीं बनने देते, दुनिया के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ कि जब कोई जीती हुई बाजी छोड़ दे, जीत कर भी क्षमा मांगें, वे अयुद्ध पुरुष नहीं थे अन्त्याय के खिलाफ युद्ध न करना उन्हें माध्य नहीं। पश्चाताप के क्षणों में वे अपने भाई से जो कुछ कहते हैं वह महज औपचारिकता नहीं बल्कि आत्म-मंथन से उपजी व्यथा से लिखा गया, मनुष्य के सम्मान जीने और मुक्त होने का अत्यन्त अनुभूतिभय शब्द लेख है। चामुण्डराय के आदेश पर शिल्पियों द्वारा निर्मित बाहुबली की प्रस्तरमूर्ति और पुष्पदन्त द्वारा रचित शब्द मूर्ति को कलात्मक अभिव्यक्तियां हैं उनकी तुलना का न आधार है और न प्रश्न। एक विराट है तो दूसरी गहक, एक दृश्य

है दूसरी पाठ्य, एक खिलती है दूसरी के साक्षात्कार के लिए। कवि को सृजन प्रक्रिया में से गुजरना पड़ा है। यह सृजन ही वह आहना है जिसमें बाहुबली का करोड़ों वर्षों पुराना संवेदनशील व्यक्तित्व सभायकालीन चेतना के संदर्भ में मनुष्य की समस्त गरिमा के साथ उभर कर आता है। चामुण्डराय द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तिशिल्प की स्थापना सहस्राब्दि धूमधाम से मनाई जाए यह प्रसन्नता का विषय है परन्तु उस कोलाहल पूर्ण समारोह में भरत पुष्पदन्त और उनके महापुराण का कहीं उल्लेख न हो, यह जरूर पीड़ाजनक है। एक पुष्पदन्त जिन्होंने लगातार १३ वर्षों तक भरत के शुभ तुङ्ग भवन में रहते हुए उपभ्रंश जैसी लोकभाषा में महापुराण की रचना कर मानव मूल्यों की धरोहर के रूप में हमें सौंपा, और हम हैं उसकी याद में मंगलकलशों के अभिषेक जल की एक बूंद भी देने को तैयार नहीं हैं क्या इससे यह जाहिर नहीं होता कि सृजन के प्रति हम कितने उदासीन हैं।

शान्ति निवास, १४ उषा नगर,
इन्दौर-४५२००२

गोम्मट-मूर्ति की कुण्डली

□ ज्योतिषाचार्य श्री गोविन्द पें

‘अषणबेस्गोल’ के गोम्मट स्वामी की मूर्ति की स्थापना तिथि १३ मार्च, सन् ६८१ मानी गई है। वस्तुतः सम्भव है कि यह तिथि ही मूर्ति की स्थापना-तिथि हो, क्योंकि भारतीय ज्योतिष के अनुसार ‘बाहुबलि चरित्र’ में गोम्मट-मूर्ति की स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, संवत्सर आदि दिये गये हैं, वे उस तिथि में अर्थात् १३ मार्च, ६८१ में ठीक घटित होते हैं। अतएव इस प्रस्तुत लेख में उसी तिथि और लग्न के अनुसार उस समय के ग्रह स्फुट करके लग्न-कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली दी जाती हैं और उस लग्न-कुण्डली का फल भी लिखा जाता है। उस समय का पञ्चांग विवरण इस प्रकार है—

श्रीविक्रम सं० १०३८ शकाब्द ६०३ चैत्र शुक्ल पंचमी रविवार घटी ५६, पल ५८, रोहिणी नाम नक्षत्र, २२ घटी, १५ पल, तदुपरान्त प्रतिष्ठा के समय मृगशिर नक्षत्र २५ घटी ४६ पल, आयुष्मान् योग ३४ घटी, ४६ पल इसके बाद प्रतिष्ठा समय में सौभाग्य योग २१ घटी, ४६ पल।

उस समय की लग्न स्पष्ट १० राशि, २६ अंश ३६ कला और ५७ विकला रही होगी। उसकी षड्वर्ग-शुद्धि इस प्रकार है—

१०।२६।३६।५७ लग्न स्पष्ट—इस लग्न में गृह शनि का हुआ और नवांश स्थिर लग्न अर्थात् वृश्चिक का आठवां है, इसका स्वामी मंगल है। अतएव मंगल का नवांश हुआ। द्रेष्काण तृतीय तुलाराशि का हुआ जिसका स्वामी शुक्र है। त्रिंशांश विषम राशि कुम्भ में चतुर्थ बुध का हुआ और द्वादशांश ग्यारहवां धनराशि का हुआ जिसका स्वामी गुरु है। इसलिए यह षड्वर्ग बना—

(१) गृह—शनि, (२) होरा—चन्द्र, (३) नामवंश—मंगल, (४) त्रिंशांश—बुध, (५) द्रेष्काण—शुक्र, (६) द्वादशांश गुरु का हुआ। अब इस बात का विचार करना

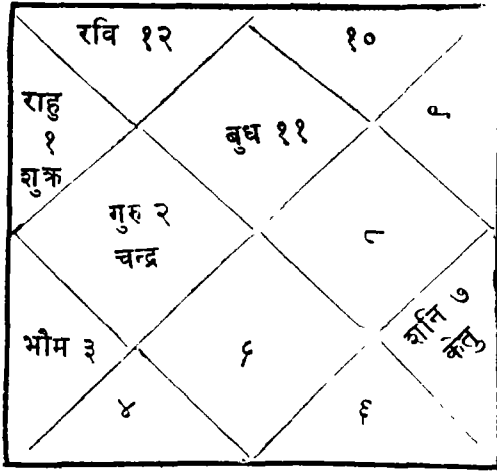
चाहिए कि षड्वर्ग कैसा है और प्रतिष्ठा में इसका क्या फल है? इस षड्वर्ग में चार शुभग्रह पदाधिकारी हैं और दो क्रूर ग्रह। परन्तु दोनों क्रूर ग्रह भी यहां नितान्त अशुभ नहीं कहे जा सकते हैं क्योंकि शनि यहां पर उच्च राशि का है। अतएव यह सौम्य ग्रहों के ही समान फल देने वाला है। इसलिए इस षड्वर्ग में सभी सौम्य ग्रह हैं, यह प्रतिष्ठा में शुभ है और लग्न भी बलवान है; क्योंकि षड्वर्गकी शुद्धि का प्रयोजन केवल लग्न की सबलता अथवा निर्बलता देखने के लिए ही होता है, फलतः यह मानना पड़ेगा कि यह लग्न बहुत ही बलिष्ठ है। जिसका कि फल आगे लिखा जायगा। इस लग्न के अनुसार प्रतिष्ठा का समय सुबह ४ बज कर ३८ मिनट होना चाहिए। क्योंकि ये लग्न, नवांशादि की ठीक ४ बज कर ३८ मिनट पर ही आते हैं। उस समय के ग्रह स्पष्ट इस प्रकार रहे होंगे।

नवग्रह-स्पष्ट-चक्र

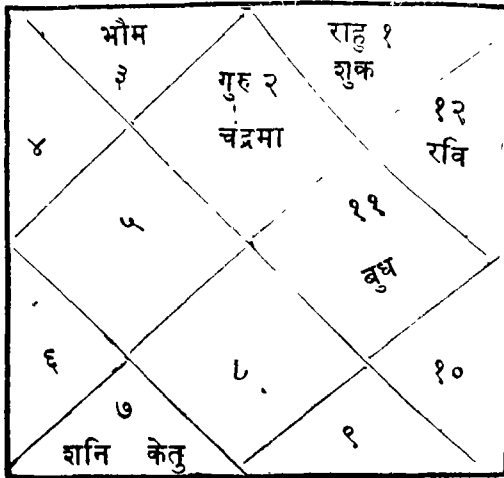
रवि	चन्द्र	शुक्र	मंगल	बुध	गुरु	शनि	राहु	केतु	ग्रह
११	१	२	१०	१	०	६	०	६	राशि
२४	२५	७	२	३	५	६	७	७	अंश
४३	४१	२६	५८	११	३६	१३	२१	२१	कला
१४	२५	४८	५१	३१	४२	५६	३७	३७	विकला
५८	७८२	४५	१०८	४	५६	२	३	३	गति
४५	५२	३७	५६	४१	५२	३१	११	११	विमति

यहाँ पर 'ग्रह-लाघव के अनुसार ग्रहगण ४७८ हैं तथा चक्र ४९ है, करणकुतूहलीय ग्रहगण १२३५-९२ मकरन्दीय १६८८३२९ और सूर्यसिद्धांतीय ७१४४०३९८४९५६ है। परन्तु इस लेख में ग्रहलाघव के ग्रहगण पर से ही ग्रह बनाए गए हैं और तिथि नक्षत्रादिक के घटपादि भी इसीके अनुसार हैं।

उस समय की लग्न-कुण्डली



उस समय की चन्द्र-कुण्डली



प्रतिष्ठाकर्ता के लिए लग्नकुण्डली का फल सूर्य

जिस प्रतिष्ठापक के प्रतिष्ठा-समय द्वितीय स्थान में सूर्य रहता है वह पुरुष बड़ा भाग्यवान् होता है। गो, घोड़ा और हाथों आदि चीपाये पशुओं का पूर्ण सुख उसे होता है। उसका धन उत्तम कार्यों में खर्च होता है। लाभ के लिए उसे अधिक चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। वायु और पित्त से उसके शरीर में पीड़ा होती है।

चन्द्रमा का फल

यह लग्न से चतुर्थ है इसलिए केन्द्र में है साथ-ही-साथ उच्च राशि का तथा शुक्लपक्षीय है। इसलिए इसका फल इस प्रकार हुआ होगा।

चतुर्थ स्थान में चन्द्रमा रहने से पुरुष राजा के यहाँ सबसे बड़ा अधिकारी रहता है। पुत्र और स्त्रियों का सुख उसे अपूर्व मिलता है। परन्तु यह फल बृद्धावस्था में बहुत ठीक घटता है। कहा है—

“यदा बन्धुगोबान्धवैरत्रिजन्मा नवद्वारि सर्वाधिकारी सदैव” इत्यादि—

भौम का फल

यह लग्न से पंचम है इसलिए त्रिकोण में है और पंचम मंगल होने से पेट की अग्नि बहुत तेज हो जाती है। उसका मन पाप से बिल्कुल हट जाता है और यात्रा करने में उसका मन प्रसन्न रहता है। परन्तु वह क्षिप्त रहता है और बहुत समय तक पुण्य का फल भोग कर अमर कीर्ति संसार में फैलाता है।

बुधफल

यह लग्न में है। इसका फल प्रतिष्ठा-कारक को इस प्रकार रहा होगा—

लग्नस्थ बुध कुम्भ राशि का होकर अन्य ग्रहों के अरिष्टो को नाश करता है और बुद्धि को श्रेष्ठ बनाता है, उसका शरीर सुवर्ण के समान दिव्य होता है और उस पुरुष को वैद्य, शिल्प आदि विद्याओं में दक्ष बनाता है। प्रतिष्ठा के द्बे वर्ष में शनि और केतु से रोग आदि जो पीड़ाएँ होती हैं उनको विनाश करता है।

१. “बुधो मूर्तिगो मार्जयेदग्निरिष्टं गरिष्ठा धियो वैखरीवृत्तिभाजः।

जना दिव्यचामीकरीभूतदेहविवक्तिरसावि दो दुश्चिकित्स्या भवन्ति॥”

“लग्ने स्थिताः जीवेन्दुमार्गवबुधाः सुखकान्तिदाः स्युः।”

गुरुफल

यह लग्न से चतुर्थ है और चतुर्थ बृहस्पति ग्रन्थ पाप ग्रहों के परिण्टों को दूर करता है तथा उस पुरुष के द्वार पर घोड़ों का हिनहिनाना, बन्दीजनों से स्तुति का होना आदि बातें हैं। उसका पराक्रम इतना बढ़ता है कि शत्रु लोग भी उसकी सेवा करते हैं; उसकी कीर्ति सर्वत्र फैल जाती है और उसकी आयु को भी बृहस्पति बढ़ाता है। शूरता, सौजन्य, धीरता आदि गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।^१

शुक्रफल

यह लग्न से तृतीय और राहु के साथ है। अतएव इसका फल प्रतिष्ठा के ५वें वर्ष में सन्तान-सुख को देना सूचित करता है। साथ-ही-साथ उसके मुख से सुन्दर वाणी निकलती है। उसकी बुद्धि सुन्दर होती है। उसका मुख सुन्दर होता है और वस्त्र सुन्दर होते हैं। मतलब यह है कि इस प्रकार के शुक्र होने से उस पूजक के सभी कार्य सुन्दर होते हैं।^१

शनिफल

यह लग्न से नवम है और इसके साथ केतु भी है,

परन्तु यह तुला राशि का है। इसलिए उच्च का शनि हुआ अतएव यह धर्म की वृद्धि करने वाला और शत्रुओं को वश में करता है। क्षत्रियों में मान्य होता है और कवित्व शक्ति, धार्मिक कार्यों में रुचि, ज्ञान की वृद्धि आदि शुभ चिह्न धर्मस्थ उच्च शनि के है।

राहुफल

यह लग्न से तृतीय है अतएव शुभग्रह के समान फल का देने वाला है। प्रतिष्ठा समय राहु तृतीय स्थान में होने से, हाथी या सिंह पराक्रम में उसकी बराबरी नहीं कर सकते; जगत् उस पुरुष का सहोदर भाई के समान हो जाता है। तत्काल ही उसका भाग्योदय होता है। भाग्योदय के लिए उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।^१

केतु का फल

यह लग्न से नवम में है अर्थात् धर्म-भाव में है। इसके होने से बलेश का नाश होना, पुत्र की प्राप्ति होना, दान देना, इमारत बनाना, प्रशसनीय कार्य करना आदि बातें

२. गृहद्वारतः श्रूयतेवाजिह्वेषा

द्विजोच्चारितो वेदशेषोऽपि तद्वत् ।

प्रतिस्पर्धितः कुर्वते पारिचर्यं

चतुर्थे गुरौ तप्तमन्तर्गतञ्च ॥

— चमत्कारचिन्तामणि

सुखे जीवे सुखी लोकः सुभगो राजपूजितः ।

विजातारिः कुलाध्यक्षो गुरुभक्तश्च जायते ॥

— लग्नचन्द्रिका

अर्थ—सुख अर्थात् लग्न से चतुर्थ स्थान में बृहस्पति होवे तो पूजक (प्रतिष्ठाकारक) सुखी राजा से मान्य, शत्रुओं को जीतने वाला, कुलशिरोमणि तथा गुरु का भक्त होता है। विशेष के लिए बृहज्जतक १९वां अध्याय देखो ।

३. मुख चारुभाषं मनोवापि चार्वी मुखं

चारु चारुणि वासांसि तस्य ।

— बाराही संहिता

भार्गवे सहजे जातो घनघान्यसुतान्वितः ।

नीरोगी राजमान्यश्च प्रतापी चापि ज्ञायते ॥

— लग्नचन्द्रिका

अर्थ—शुक्र के तीसरे स्थान में रहने से पूजक घन-घान्य, सन्तान आदि सुखों से युक्त होता है। तथा निरोगी, राजा से मान्य और प्रतापी होता है। बृहज्जतक में भी इसी आशय के कई श्लोक हैं जिनका तात्पर्य यही है जो ऊपर लिखा गया है।

४. न नागोऽयं सिंही भुजो विक्रमेण

प्रयातीह सिंहीसुते तत्समत्वम् ।

विद्याधर्मधनैर्युक्तो बहुभाषी च भाग्यवान् ॥ इत्यादि

अर्थ—जिस प्रतिष्ठाकारक के तृतीय स्थान में राहु होने से उसके विद्या, धर्म धन और भाग्य उसी समय से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वह उत्तम वक्ता होता है।

होती है। अन्यत्र भी कहा है—

‘शिखी धर्मभावे यदा व्लेशनाशः

सुतार्थी भवेन्मलेच्छतो भाग्यवृद्धिः।” इत्यादि

मूर्ति और दर्शकों के लिए तत्कालीन ग्रहों का फल मूर्ति के लिए फल तत्कालीन कुण्डली से कहा जाता है। दूसरा प्रकार यह भी है कि चर स्थिरादि लग्न नवांश और त्रिंशंश से भी मूर्ति का फल कहा गया है।

लग्न, नवांशादि का फल

लग्न स्थिर और नवांश भी स्थिर राशि का है तथा त्रिंशंशादिक भी षड्वर्ग के अनुसार शुभ ग्रहों के हैं। अतएव मूर्ति का स्थिर रहना और भूकम्प, बिजली आदि महान् उत्पातों से मूर्ति को रक्षित रखना सूचित करते हैं। चोर डाकू आदि का भय नहीं हो सकता। दिन प्रतिदिन मनोज्ञता बढ़ती है और शक्ति अधिक आती है। बहुत काल तक सब विघ्न-बाधाओं से रहित हो कर उस स्थान की प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। विघ्नमियों का आक्रमण नहीं हो सकता और राजा, महाराजा, सभी उस मूर्ति का पूजन करते हैं। सब ही जन-समुदाय उस पुण्य-शाली मूर्ति को मानता है और उसकी कीर्ति सब दिशाओं में फैल जाती है आदि शुभ बातें नवांश और लग्न से जानी जाती हैं।

चन्द्रकुण्डली के अनुसार फल

बुध राशि का चन्द्रमा है और यह उच्च का है तथा चन्द्रराशि चन्द्रमा से बारहवां है और गुरु चन्द्र के साथ में है तथा चन्द्रमा से द्वितीय मंगल और दसवें बुध तथा बारहवें शुक्र हैं। अतएव गृहाध्याय के अनुसार गृह ‘चिरंजीवी’ योग होता है। इसका फल मूर्ति को चिरकाल तक स्थायी रहना है। कोई भी उत्पात मूर्ति को हानि नहीं पहुँचा सकता है। परन्तु ग्रह स्पष्ट के अनुसार तात्कालिक लग्न से जब आयु बनाते हैं तो परमाणु तीन

हजार सात सौ उन्नीस वर्ष, ग्यारह महीने और १६ दिन आते हैं।

मूर्ति के लिए कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली का फल उत्तम है और अनेक चमत्कार वहाँ पर हमें गा होते रहेंगे। भयभीत मनुष्य भी उस मनुष्य भी उस स्थान में पहुँच कर निर्भय हो जायगा।

इस चन्द्रकुण्डली में ‘डिम्भाख्य’ योग है। उसका फल अनेक उपद्रवों से रक्षा करना तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाना है। कई अन्य योग भी हैं किन्तु विशेष महत्वपूर्ण न होने से नाम नहीं दिये हैं।

प्रतिष्ठा के समय उपस्थित लोगों के लिए भी इसका उत्तम फल रहा होगा। इस मूर्त में बाण पचक अर्थात् रोग, चोर, अग्नि, राज, मृत्यु इनमें से कोई भी बाण नहीं है। अतः उपस्थित सज्जनों को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ होगा। सबको अगार सुख एवं शान्ति मिली होगी।

इन लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक में ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से कोई भी दोष नहीं है प्रत्युत अनेक महत्वपूर्ण गुण मौजूद हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में लोग मूर्त, लग्नादिक के शुभाशुभ का बहुत विचार करते थे। परन्तु आज कल की प्रतिष्ठाओं में मनचाहा लग्न तथा मूर्त ले लेते हैं जिससे अनेक उपद्रवों का सामना करना पड़ता है। ज्योतिष-शास्त्र का फल असत्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि काल का प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर पड़ता है और काल की निष्पत्ति ज्योतिष-देवों से ही होती है। इसलिए ज्योतिष-शास्त्र का फल गणितागत बिल्कुल सत्य है। अतएव प्रत्येक प्रतिष्ठा में पञ्चाङ्ग-शुद्धि के अतिरिक्त लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक का भी सूक्ष्म विचार करना अत्यन्त जरूरी है। □□□

५. एकोऽपि जीवो बलबांस्तनुष्यः

सितोऽपि सौम्योऽप्यथवा बली चेत्।

दोषानशेषान्विनिर्हति सद्यः

स्कंदो यथा तारकदैत्यवर्गम्॥

गुणाधिकतरे लग्ने दोषेऽत्यल्पतरे यदि।

सुराणां स्थापनं तत्र कर्तुरिष्टार्थसिद्धिम्॥

भावार्थ—इस लग्न में गुण अधिक हैं और दोष बहुत कम हैं अर्थात् नहीं के बराबर हैं। अतएव यह लग्न सम्पूर्ण अरिष्टों को नाश करने वाला और श्री चामुण्डराय के लिए सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को देनेवाला सिद्ध हुआ होगा।

अंतिम श्रुतकेवली महान् प्रभावक आचार्य भद्रबाहु

□ श्री सतीशकुमार जैन, नई दिल्ली

श्रवणवेलगोल के अनेक शिलालेखों में आचार्य भद्रबाहु का उल्लेख हुआ है। भगवान महावीर की आचार्य परम्परा में स्वामी भद्रबाहु अंतिम श्रुतकेवली हुए हैं। मुनियों आर्यिकाओं, श्रावकों एवं श्राविकाओं का विशाल समुदाय भगवान महावीर का चतुर्विध संघ कहलाता था। मुनिसंघ तो गणों अथवा वृन्दों में विभक्त था जिनके अध्यक्ष थे भगवान महावीर के ग्यारह गणधर अथवा प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति (गौतम), अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्म, मंडिकपुत्र, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल, मेतार्य एवं प्रभास। ये सभी गणधर ब्राह्मण तथा उपाध्याय थे एवं ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के ज्ञाता थे। महासती चन्दना आर्यिका संघ की नेत्री थी और आर्यिका संघ का संचालन होता था मगध की साम्राज्ञी चेलना द्वारा। उनके प्रथम समवशरण के मुख्य श्रोता थे मगध सम्राट बिम्बिसार-श्रेणिक। भारत के लगभग प्रत्येक भाग में भगवान महावीर के अनुयायी होने के अतिरिक्त गान्धार, कपिशा, पारसीक आदि देशों में भी उनके भक्त थे।

भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों में से इन्द्रभूति एवं सुधर्म के अतिरिक्त नौ को उनके जीवन काल में ही निर्वाण पद प्राप्त हो गया था। भगवान महावीर को निर्वाण लाभ हुआ १५ अक्तूबर, ई० पू० ५२७ के प्रातःकाल में। उनके पश्चात् संघ नायक रहे गणधर इन्द्रभूति और उनके पश्चात् गणधर सुधर्म। सुधर्म आचार्य के निर्वाण के पश्चात् संघनायक हुए अंतिम केवली जम्बू-स्वामी। उनके पश्चात् संघनायक रहे क्रमशः श्रुतकेवली विष्णुनन्दि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धनाचार्य एवं भद्रबाहु। उन्हें सम्पूर्ण श्रुत का यथावत ज्ञान था इसी कारण वह पाँचों श्रुतकेवली कहलाये।

स्वामी भद्रबाहु जैन धर्म के महान् प्रभावक आचार्य

रहे हैं। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य की ही भांति वे ऐतिहासिक महापुरुष हुए हैं। यद्यपि भद्रबाहु नामक कई आचार्य हुए हैं किन्तु यहां तात्पर्य उन्हीं अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से है जो आचार्य गोवर्धन के शिष्य तथा सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे। हरिषेण के बृहत् कथाकोष के अनुसार चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धनाचार्य ने ब्राह्मण दम्पति सोम-शर्मा एवं सोमश्री के पुत्र को, उसकी प्रतिभा के कारण, अपना योग्य शिष्य बनाने तथा अपना उत्तराधिकार सौंपने का निश्चय किया था।

गोवर्धनाचार्य द्वारा भद्रबाहु को अपना उत्तराधिकारी चयन करने की कथा उल्लेखनीय है। गिरनार की यात्रा के पश्चात् विहार करते हुए पुण्ड्रवर्धन देश के कोटिपुर नामक नगर के समीप गोवर्धनाचार्य ने एक बालक को अन्य बालकों के मध्य चौदह गोलियों को एक पर एक पंक्तिबद्ध खड़ा करते हुए देखा। आचार्य उसकी बुद्धिमत्ता से प्रभावित हुए। निमित्तज्ञान द्वारा उनको स्पष्ट हुआ कि यही मेधावी बालक भली प्रकार शिक्षित एवं दीक्षित होने पर उनके आचार्य पद का सुयोग्य उत्तराधिकारी बनेगा। बालक से उसके माता-पिता का पता ज्ञात कर उन्होंने ब्राह्मण दम्पति से उस बालक को उचित शिक्षा देने के लिए ले लिया। गोवर्धनाचार्य ने बालक को यथोचित शिक्षा देकर विद्वान शिष्य बनाने के उपरांत माता-पिता के पास वापिस भेज दिया। किशोर विद्वान ने माता-पिता से मुनिधर्म में दीक्षित होने की अनुमति मांगी जो उन्होंने सहर्ष प्रदान की। गोवर्धनाचार्य ने दीक्षा उपरांत नाम दिया भद्रबाहु। मुनि भद्रबाहु का जीवन मुनिचर्या में व्यतीत होने लगा। वह जैनधर्म के धुरन्धर विद्वान बन गये। आचार्य ने उन्हें अपने पट्ट पर प्रतिष्ठित कर संघ का सब भार उन्हीं को सौंप दिया। उनके देह-स्वाग के

पश्चात् भद्रबाहु ने आचार्य पद धारण किया। वे चतुर्दश पूर्वधर तथा अष्टांग निमित्तज्ञानी श्रुतकेवली थे। अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुए अपने उपदेशों द्वारा उन्होंने धर्म प्रचार एवं जन-कल्याण किया। विहार करते हुए वह संघ सहित उज्जयिनी भी पधारे एवं क्षिप्रा नदी के किनारे उपवन में प्रवास किया। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य उस समय अपनी उपराजधानी उज्जयिनी में ही राज्य संचालन कर रहे थे। वे महारानी सहित उनके दर्शनों के लिए आए और उनके संघ को आहार के लिए निमंत्रित किया। विधिपूर्वक उनके संघ ने नगरी में आहार ग्रहण किया। आहार के निमित्त नगरी में पधारने पर वे एक दिन जैसे ही एक आवास-गृह के आंगन में प्रविष्ट हुए झूले में झूलते हुए एक सर्वथा अकेले शिशु ने उनको सम्बोधित कर कहा—“जाओ-जाओ।” आचार्य भद्रबाहु ने निमित्तज्ञान से जाना कि भविष्य उस क्षेत्र में शुभ नहीं है, वहां बारह वर्ष का भारी दुर्मिक्ष पड़ने वाला है। वर्षा न होने से अन्नादि उत्पन्न न होंगे तथा मुनिसंघ को आहार में भारी कष्ट होगा, समय पूर्वक चर्या पालन कठिन होता जायेगा। बिना आहार लिए वह वापिस आ गये तथा संघ को भारी संकट से सूचित करते हुए दक्षिण की ओर जाने का निश्चित किया।

रात्री में सम्राट चन्द्रगुप्त ने भी सोलह प्रशुभ स्वप्न देखे। वे उन स्वप्नों का फल ज्ञात करने के लिए आचार्य भद्रबाहु के पास पहुंचे। उन्होंने स्वप्नों को भी आने वाले संकट काल का सूचक बताया। स्वामी भद्रबाहु के संघ सहित दक्षिण में प्रस्थान करने के निश्चय को ज्ञात कर सम्राट ने भी राज्य कार्य अपने पुत्र बिन्दुसार को सौंप आचार्य से जैन मुनि दीक्षा ले ली। महान सम्राट एक दिगम्बर साधु बन गये, सभी परीषद्ओं को भेजने के लिए सहर्ष तत्पर। धर्मोपदेश देते हुए आचार्य ने संघ एवं चन्द्रगुप्त सहित जिसमें लगभग बारह सहस्र साधु सम्मिलित थे दक्षिण की ओर प्रस्थान करने की तैयारी की। यद्यपि राजपरिवार के अनेक सदस्यों एवं श्रेष्ठी वर्ग ने उनसे वह क्षेत्र न छोड़कर जाने के लिए अनुनय की किन्तु साधुओं की चर्या एवं संयम की रक्षा के लिए वह अपने निश्चय पर अग्रिम रहे।

चन्द्रगिरि पर निमित्त चन्द्रगुप्त बसदि में शिल्पकार दासोज द्वारा उत्कीर्ण ६० जालीदार पाषाण चित्रफलकों में से अनेक चित्रफलकों में उपरोक्त घटनाओं को चित्रित किया गया है।

स्वामी भद्रबाहु जैन धर्म के महान प्रभावक आचार्य हुए हैं। कितनी अपूर्व रही होगी उनकी नेतृत्व शक्ति तथा जैन धर्म के प्रसार के लिए उत्कट कामना। यह जान कर भी कि सुदूर दक्षिण में इतने विशाल संघ सहित जाने में मार्ग में कितने ही कष्ट आयेंगे, साधुओं को कभी-कभी निराहार भी रहना पड़ेगा, ऋतु सम्बन्धी तथा परीषद् भी भेजने पड़ेंगे उन्होंने प्रस्थान का निश्चय लेकर कितने साहस का परिचय दिया। किन्तु जहां संघ ने सभी परीषद्ओं को समभाव से भेजा, उस विशाल संघ द्वारा समस्त मार्ग में धर्म प्रभावना भी कम नहीं हुई। स्थान-स्थान पर दिगम्बर जैन साधुओं के कठोर आचरणमय जीवन तथा उनकी शान्त तपस्या मुद्रा से सहस्रो-सहस्रो व्यक्तियों के हृदय में जैन धर्म के उत्कट त्याग एवं संयम के प्रति आदर तथा आस्था अवश्य ही उत्पन्न हुए।

उनके कण्टिक में संघ सहित कटवप्र पर्वत, वर्तमान चन्द्रगिरि पर पहुंचने के उपरान्त वह समस्त क्षेत्र जैन जयघोष से गुंजित हो उठा। श्रवणबेलगोल समस्त दक्षिण-पथ में जैन धर्म के प्रसार के लिए केन्द्र-बिन्दु बन गया। कैसा अपूर्व रहता होगा उस समस्त स्थान का धार्मिक एवं पवित्र वातावरण। आचार्य भद्रबाहु की ज्ञान-गरिमा से प्रभावित होकर अनेकों ने जैन धर्म अंगीकार किया एवं वह मुनि धर्म में दीक्षित हुए। जैन धर्म का पालन करना तथा मृत्यु निकट होने पर सात्विक वृत्ति से संयम पूर्वक सल्लेखना-व्रत धारण कर समाधिमरण पूर्वक देह त्याग करना उस काल में एक प्रचलित एवं धार्मिक महत्त्व की बात बन गई। चन्द्रगिरि के सर्वाधिक प्राचीन ६ठीं शती के शिलालेख क्रमांक १ में उल्लेख है कि स्वामी भद्रबाहु ने वहां से समाधिमरण पूर्वक देह त्याग किया तथा उनके पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य चन्द्रगुप्त (दीक्षा नाम प्रभाचन्द्र) तथा ७०० अन्य साधुओं ने समाधिमरण पूर्वक द्वारा देह त्याग किया।

भगवती आराधना की एक गाथा में भद्रबाहु की समाधि का निम्नलिखित रूप में उल्लेख किया गया है—

ओमोवरिये घोराए भद्रबाहु य संकलिट्टमवी ।

घोराए तिगिच्छाए पडिबण्णो उत्तमं ठाणं ॥

अर्थात् भद्रबाहु ने अवमोदर्य द्वारा न्यून आहार की घोर वेदना सहकर उत्तम पुण्य की प्राप्ति की ।

दिगम्बर साहित्य में स्वामी भद्रबाहु के जन्म आदि का परिचय हरिषेण कृत बृहत् कथाकोष, श्रीचन्द्र कथाकोष तथा भद्रबाहु चरित आदि में मिलता है । श्वेताम्बर-साहित्य में उन पर सामयी के श्रोत है कल्पसूत्र, आवश्यकसूत्र, नंदिसूत्र, आर्षमंडलसूत्र तथा हेमचन्द्र का परिशिष्ट पर्व । दि० परम्परा में स्वामी भद्रबाहु द्वारा साहित्य रचना का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार व्यवहारसूत्र, छेदसूत्र, आदि ग्रंथ श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा रचित माने जाते हैं । दिगम्बर परम्परा में भद्रबाहु का पट्टकाल (आचार्य पद) २६ वर्ष (ई० पू० ३६४ से ई० पू० ३६५) तथा श्वेताम्बर परम्परा में १४ वर्ष (ई० पू० ३७१ से ई० पू० ३५७) बताया गया है । दिगम्बर परम्परा के अनुसार उनका निधन ई० पू० ३६५ में हुआ जबकि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उनका देहत्याग भगवान महावीर के निर्वाण वर्ष से १७०वें वर्ष में अर्थात् ई० पू० ३५७ में हुआ । ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल ई० पू० ३२१ से ई० पू० २६८ पर्यन्त रहा है । स्वामी भद्रबाहु के आचार्य काल में चन्द्रगुप्त उनके शिष्य रहे अतएव जैन परम्परा एवं इतिहास सम्मत काल के अनुसार उनके जीवन काल सम्बन्धित लगभग ७० वर्ष का अन्तर आता है । विद्वान उनका ऐतिहासिक काल निश्चित करने की शोध-खोज में लगे हुए हैं ।

अपना अन्तकाल निकट आया जानकर, कटवप्र पर्वत (चन्द्रगिरि) पर, स्वामी भद्रबाहु ने अपने समस्त संघ को दक्षिण के पाण्ड्य आदि राज्यों की ओर जाने का आदेश

दिया । मुनि चन्द्रगुप्त (प्रभाचन्द्र) के अनुरोध पर केवल वे ही उनकी सेवा के लिए वहां पर रुके रहे । भद्रबाहु गुफा में समाधिभरण-पूर्वक उनका देह त्याग हुआ । उस समय चन्द्रगुप्त उनके पास ही थे । स्मृतिस्वरूप उस गुफा में उनके चरण-बिह्व स्थापित हैं जिनकी पूजा की जाती है ।

स्वामी भद्रबाहु के आदेश पर विशाखाचार्य उस संघ के नेता हुए और उस विशाल मुनिसंघ ने दक्षिण के पाण्ड्य आदि देशों में विहार कर धर्म प्रचार किया ।

बारह वर्ष के दुर्मिक्ष के समाप्त हो जाने के पश्चात् उस साधु संघ का मूल एवं अधिकतर भाग स्थायी रूप से दक्षिण में ही रह गया । भवणवेत्तगोल को प्रधान केन्द्र बनाकर दिगम्बर जैन साधु दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों में तथा सागर के निकट द्वीपों में भी जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार करने में लगे रहे ।

भगवान महावीर के ग्रहिसा धर्म के अनुयायी मगध तथा उत्तर-पूर्वी भारत में तो अनेक राजवंश थे ही, आचार्य भद्रबाहु की धर्म प्रभावना के फलस्वरूप शताब्दियों के अन्तराल के पश्चात् भी दक्षिण के अनेक प्रसिद्ध राजवंश जैनधर्म से प्रभावित रहे और अनेक नरेश, मंत्री, मामंत, अधिकारी, उच्च श्रेष्ठी आदि जैन धर्म के अनुयायी बने रहे । तथा उनके द्वारा बहुविध रूपों में जैनधर्म को संरक्षण मिलना रहा ।

दक्षिण में ही अधिकशतः वह महान जैनाचार्य हुए जिन्होंने अपने अग्राध ज्ञान से शास्त्रार्थ में अनेक प्रमुख जैनतर विद्वानों पर विजय प्राप्त कर जैन धर्म के यश को और उज्ज्वल किया तथा उसके महत्त्व एवं श्रेष्ठता को स्थापित किया । जैन वाङ्मय का अधिकांश भाग भी दक्षिण के महान जैनाचार्यों द्वारा सृजित हुआ है । दक्षिण में जैन धर्म के विकास का श्रेय इस प्रकार मूलतः आचार्य भद्रबाहु को ही प्राप्त होता है ।

हिन्दी कवि उदयशंकर भट्ट की काव्य-सृष्टि में बाहुबलि

□ श्री राजमल जैन, नई दिल्ली

जैन शलाका पुरुषों के चरित्र ने न केवल जैन कवियों को ही प्रेरित किया है। इनमें हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार स्वर्गीय उदयशंकर भट्ट की भी गणना की जा सकती है। उन्होंने 'तक्षशिला' नामक एक खण्डकाव्य की रचना की है। यद्यपि कवि को इसमें भारत की सुविख्यात प्राचीन नगरी या विश्वविद्यालयस्थली का गुणगान ही प्रभोष्ठ है तदपि इस काव्यके पांच स्तरों (अध्यायों) ... द्वितीय एवं तृतीय... में से दो में तक्षशिला शासक बाहुबली की यशोगाथा का गान भगवान् भ्रादिनाथ का स्मरण निम्नलिखित शब्दों से प्रारम्भ करते हुए किया है—

ग्रहंतगामी ऋणभस्वामी, जैनधर्म मतरूरे ।

तीर्थंकर ये सृष्टिपूज्य, अथ सद्बिवेक मतपूरे ॥

भट्ट जी ने "सृष्टिपूज्य" शब्द का प्रयोग कर यह मान्यता पुष्ट की है कि किसी समय भगवान् ऋषभदेव सारे भारत में पूज्य थे। इस प्रकार भ्रादिदेव को एक सत्य मानकर उन्होंने भरत और बाहुबलि के शासन और युद्ध भ्रादि का वर्णन किया है। इन दोनों भाइयों के कथानक को भट्टजी ने हेमचंद्राचार्य विरचित त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र से ग्रहण किया है। किन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वे इसे केवल एक जैन पौराणिक आख्यान ही नहीं मानते अपितु उसे एक ऐतिहासिक घटना मानते हैं। उक्त काव्य की भूमिका में उन्होंने लिखा है :—यह कहना कठिन है कि पुस्तक के सारे ही कथाभाग इतिहाससिद्ध हैं। कवियों की दृष्टि से जो मुझे उचित जान पड़ा उसी के अनुसार कथा को मैंने लिखने का प्रयास किया है। वर्णन-प्रसंगों में, बाह्योक्त में, विचार-शृंखला को मुख्यता दी गई है फिर भी पुस्तक का ऐतिहासिक रूप बिगड़ने

नहीं पाया है ऐसी मेरी धारणा है। इसके प्रतिरिक्त बहुत से विद्वान् बौद्ध और जैन-ग्रंथों के इन प्रकरणों को इतिहास-सिद्ध नहीं मानते। उदाहरणार्थ कुणाल-स्तूप के विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है, उनके विचार से तक्षशिला का कुणाल-स्तूप नहीं है। इसी तरह बाहुबली की कथा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं रखती। परन्तु मैं इनको ऐतिहासिक मानता हूँ। उमका कारण यह है कि जैन-ग्रंथों में त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ग्रंथ जहाँ धार्मिक आधार पर लिखा गया है वहाँ उसमें जैन-साहित्यका इतिहास भी सम्मिलित है। इसी के आधार पर जैन इतिहास की सृष्टि हुई है। उन्होंने पुनः इस बात को दोहराया है कि "सारांश यह है कि पुस्तक को उपादेय बनाने की दृष्टि से मैंने कथाभागों को ऐतिहासिक मानकर ही लिया है।" इस प्रकार कवि ने अपनी काव्यगत आवश्यकता के प्रतिरिक्त अपनी ऐतिहासिक मान्यता भी स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर यह मत प्रकट कर दिया है कि जैन ग्रंथों के कथानकों को भी उसी प्रकार ऐतिहासिक मान्यता दी जा सकती है जिस प्रकार कि ग्रन्थ संप्रदायों के ग्रंथों को दी जाती है। भागवत पुराण के पांच अध्यायों में भगवान् ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत के चरित्र को ग्रन्थकार की मान्यता के अनुसार स्थान मिला है किन्तु संभवतः "तक्षशिला" एक प्रधान रचना है जिसमें भरत-बाहुबलि द्वंद्व युद्ध प्रकरण को ऐतिहासिक मान्यता प्रदान की गई है। इस दृष्टि से इस खंडकाव्य का अपना महत्व है। कवि ने अपनी रचना के लिए एक और जहाँ सर जान मार्शल की तक्षशिला संबंधी खोजों से सामग्री ली है, वहीं अनेक जैन ग्रंथों यथा आवश्यक निर्युक्ति, प्रभावक चरित्र, दर्शन रत्नाकर हरि-सौभाग्य, शत्रुंजय महात्म्य भ्रादि जैन ग्रंथों से भी तथ्य संग्रह कर तक्षशिला की ऐतिहासिक गाथा की है।

तक्षशिला की गौरव-गाथा के गाने में ग्रन्थ कोई कवि तक्षशिलाधिप बाहुबलि के बड़े भाई चक्रवर्ती भरत के चरित्र को सभवतः अपने नायक की तुलना में हीन दिखाने का प्रयास कर सकता था क्योंकि बाहुबलि का उनसे युद्ध हुआ था किन्तु भट्ट जी ने ऐसा नहीं किया। भरत की गुरुता को उन्होंने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

भरत अयोध्या के राजा थे,
मुकुट मोलि पृथ्वी के।
मनोनीत सम्पन्न प्रजा के,
गुरु थे ज्ञान धनी के ॥

इस प्रकार भरत का यह चित्रण जैन परंपरा से मेल खाता है जिसके अनुसार चक्रवर्ती भरत की प्रजा सभी प्रकार से सुखी थी और वे स्वयं ज्ञान और तप की मूर्ति थे।

द्वितीय स्तर के प्रारम्भ में भट्ट जी ने अपनी काव्यमय भाषा में बाहुबलि के मुशामन का चित्र खींचते हुए लिखा है कि उनके राज्य में “कुत्तिन और कुटिल” जैसे शब्द केवल शब्दकोशों में ही पाए जाते थे। बाहुबलि के सभी प्रजाजन संपन्न और साक्षर थे। उनके शासनकाल में तक्षशिला इद्र की अपर या दूसरी नगरी ही लगती थी। ऐसी नगरी में—

कहीं पाप का नाम नहीं था,
कही न भेद वचन में।
कहीं न कूटनीति का परिचय,
कहीं न ईर्ष्या मन में ॥

और इस नगरी का शासक शौर्य-वीर्य की मूर्ति होने के साथ-ही-साथ रूप-राशि का भी धनी था। प्रजा का रजन करने में व्यस्त होने के साथ-ही-साथ यह शासक शास्त्र-पाठ और चिन्तन-मनन में रत रहता था।

इतने लोकप्रिय राजा के जीवन में उस समय क्षुब्धता उत्पन्न हुई जब चक्रवर्ती भरत के दूत ने अयोध्यापति का सदेश उन्हें सुनाया।

दूत के आगमन को कवि ने मानों शर का आगमन बताते हुए नृप बाहुबलि की कल्पना भी सदेह मनु के रूप में की है। उधर बाहुबलि ने भी “नय की परंपरा से” “सुवेग नामक” कामादिक षट् शत्रु विजेता, छह खंडों के

स्वामी भरत के दूत से सभी की बुद्धि लूट ली। दूत ने भरत की प्रजा, विशाल साम्राज्य आदि की चर्चा करते हुए चक्रवर्ती के मन का शूल इस प्रकार सुनाया— (सारे नृप उन्हें सिर नवा कर भेंट देकर अधीनता स्वीकार चुके किन्तु...)

वज्र समान कठोर आप हो,
केवल निकट न आये।
आतृभाव की रक्षा करने,
कोई भेंट न लाये।
है अवज्ञा यह नृप,
वर्ष न अच्छा है ॥

दूत ने बाहुबलि से यह भी निवेदन किया कि उन्हें बड़े भाई का आदर करने की दृष्टि से भी अयोध्या चल कर चक्रवर्ती की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिए। दूत की चतुराई की प्रशंसा करते हुए बाहुबलि ने कहा कि “बड़े भाई उनके लिए पिता के समान पूज्य है” किन्तु कौटिल्य शास्त्र के सब रहस्य सीखे हुए अपने बड़े भाई के विषय में शंका व्यक्त करते हुए कहा कि मेरे बड़े भाई ने अन्य राज्यों का तो सर्वस्व हरण कर लिया है फिर मैं कैसे यह मान लूं कि मेरे प्रति उनका प्रेम खारा है। अंतर्ध्यापी ऋषभ-स्वामी हमारे पिता हैं यह तो ठीक है मगर (भरत)—

वे स्वामी में अनुचर यह तो,
वाम्बिक नीति विषम है।
यदि मैं वज्र समान पुरुष,
हूं यह स्वभाव यदि मेरा।
तो अभेद्य अविजेय रहूंगा,
व्यर्थ विवाद घनेरा ॥

बाहुबलि का यह उत्तर सुन कर दूत तिलमिला कर चला गया। भरत ने जब अपने वीर-वृत्ति, उद्धृत बल छोटे भाई की कुशल और उत्तर पूछा, तो दूत ने उन्हें बताया कि साम, दाम आदि उसकी सभी नीतियाँ विफल हो गईं क्योंकि “उन्हें बांधना सिंह को बांधना” और वे तो केवल “संग्राम साध्य है। भरत ने स्वीकार किया कि उनका छोटा भाई स्वभाव से ही कड़ा है। मगर मन्त्री न यह सलाह दी कि यदि वे चक्रवर्ती की अवज्ञा करने वाले

अपने अनुज को दंड नहीं देंगे तो कर्तव्यच्युत होंगे अतः “युद्ध-ध्वनि ही युद्ध मंत्रणा” दी। जब भरत ने इस पर हुकूमत भर दी, तो युद्ध की तैयारियाँ शुरू हो गईं। इस प्रसंग पर भट्ट जी ने लिखा है—

इस प्रकार सुविवेकशून्य, भूपति ने रण की ठानी।

आतृभाव की हुई हानि, विजयश्री ललचानी ॥

परिणाम यह हुआ कि चक्रवर्ती की अगणित सेना, अश्व पक्तियाँ, गजालियाँ सैन्य सागा-सी तक्षशिला की ओर चल पड़ीं। कवि के कथानक के अनुसार देवता यह देख कर घबरा गए और उन्होंने भरत से निवेदन किया कि आप देवपति सम हैं और आप का कोई प्रतिस्पर्धी नहीं है और आप जरा यह विचार तो करते कि दो भाइयों के इस युद्ध में “विनाश जीव का होगा” किन्तु भरत ने कहा कि अभिमानी का मान तोड़ना भी तो राजा का कर्तव्य है। इस पर देवों ने प्रस्ताव रखा कि यदि युद्ध आवश्यक ही है तो दोनों भाई ही आपस में लड़ लें और इस बात के लिए वे बाहुबलि को भी राजी कर लेंगे। भरत ने जब यह प्रस्ताव मान लिया, तो भरत की सेना बड़ी निराश हो गई मगर बाहुबलि ने उत्तर दिया—

“विनय, नीति, मति, शुद्ध न्याय से किंचित भी न टहंगा जैसी इच्छा हो भाई की मैं भी वही करूंगा”

योंकि “मनुजनाश से यही भला है।” इस प्रकार तक्षशिला शासक बाहुबलि ने संसार के सामने एक अहिंसक युद्ध का प्रथम उदाहरण प्रस्तुत किया।

एक रम्य अखाड़े में दोनों भाई अनगिनत दर्शकों के समक्ष द्वन्द्व युद्ध के लिए उतर पड़े। इस मल्ल युद्ध का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

हुई युद्ध की दृष्टि-सी गर्जना, महाताल-सी ताल की तर्जना।
किया बख्तिर्घोष यो लक्ष ने नंग स्कोट जाना प्रजापक्ष ने ॥

किन्तु इस मल्ल युद्ध में विजयश्री बाहुबलि को मिली और भरत भूमि पर गिर पड़े (कवि के अनुसार) और चारों तरफ हाहाकार मच गया। यहाँ यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि कवि ने जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और भरत द्वारा बाहुबलि पर चक्र चलाए जाने की घटनाओं को छोड़ दिया है। इसी प्रकार इस वर्णन में वह भी परिवर्तन है कि बाहुबलि ने अपने बड़े भाई को जमीन पर नहीं गिराया था अपितु उन्हें अपने दोनों हाथों में ऊपर

उठा लिया था और भरत को नीचे गिराने का भाव आते ही उन्हें बैराग्य हो गया था और वे इस प्रकार अपने बड़े भाई का अपमान करने के दोष से बच गए थे। जो भी हो, कवि ने बाहुबलि की उस समय की मनःस्थिति का संक्षिप्त किन्तु सशक्त वर्णन किया है जो निम्न प्रकार है—

“विस्मृत हुई विजय की, इच्छा वंश रक्त गरमाया।
मोती से घाँसू घा भूलके, आतृप्रेम अकुराया ॥

हाथ वहाँ विषरस घोला, इस कुल की परम्परा में।
यौवन, राज्य विजय की, इच्छा है ये पाप घरा में ॥

जग-विधुत ऋषभस्वामी, का मैं कुपुत्र सुप्रतापी।
आतृहनन को हुआ व्यग्र हा, अस्पृक्तुष्ट नशा पी ॥

यत्नजन्य उपचारों द्वारा, मूर्च्छा से वे जागे।
विह्वल-हृदय निरख आता, को स्वयं प्रेम से पागे ॥

गाढ़ भुजग से आलिंगन कर, अपनी निन्दा करके।
लज्जा खेव विनय रस साने, स्नेह सुधा से भरके ॥

अशु-बिंदु से चरण कमल धो, बाहुबलि यो बोले।
आन्ति हुई मम दूर ज्ञान ने, चक्षु-पटलचर्च खोले ॥

सब कुछ सौंप भरत भूपति को, लिया विराग सभी से।
निस्पृह, निर्मम, निभय हो सब त्यागा जग निज जी से ॥

समाधिस्थ हो सत्पथ देखा, परब्रह्म पद पाया।
जीवन भूति उवलन्त निरख, सब जग ने शीश झुकाया ॥

यह ऊपर कहा जा चुका है कि उदयशंकर भट्ट ने अपना कथानक हेमचंद्राचार्य के त्रिशष्टिशलाका पुरुषचरित्र से लिया है किन्तु उसमें अंतिम प्रकरण इस प्रकार दिया गया है। बाहुबली ने जब रुष्ट होकर भरत पर प्रहार करने के लिए मुष्टि उठाई तब सहसा दर्शकों के दिल कांप गए और सब एक स्वर में कहने लगे—“क्षमा कीजिए, सामर्थ्य होकर क्षमा करने वाला बड़ा होता है। भूल का प्रतिकार भूल से नहीं होता। बाहुबली शान्त मन से सोचने लग—“ऋषभ की सन्तानों की परम्परा हिंसा की नहीं, अपितु अहिंसा की है। प्रेम ही मेरी कुल परम्परा है किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाए?” उन्होंने विवेक से काम लिया। अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर डाला और वालों का लुंचन कर वे श्रमण बन गए। उन्होंने ऋषभदेव के चरणों में वही से भावपूर्वक नमन किया और कृत अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना की।” इस प्रकार कवि ने कथा के अंतिम भाग में भी किंचित परिवर्तन किया है।

श्री पुण्य कुशल गणि और उनका 'भरतबाहुबलि-महाकाव्यम्'

□ महामहोपाध्याय डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, उज्जैन

'भरतबाहुबलि महाकाव्यम्' विक्रम की १७वीं शती के प्रभावक आचार्य, श्री पुण्यकुशलगणि की संस्कृत भाषा में निबद्ध एक मनोहर रचना है। इसकी पञ्जिका नामक एक लघुटीका भी उपलब्ध है जिसका कर्तृत्व सुनिश्चित नहीं है। पञ्जिका के साथ इस महाकाव्य का सुन्दर प्रकाशन सर्वप्रथम ई० १९४७ में भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण शती के उपलक्ष्य में 'द्विव्व भारती' लाडन् (राजस्थान) से किया गया। इस प्रकाशन के प्रेरक श्वेताम्बर तेरह पथ के आचार्य श्री तुलसी गणि, सम्पादक मुनि श्री नथमल और हिन्दी अनुवादक मुनि श्री दुलहराज हैं।

काव्यकर्त्ता और उनका समय :

संस्कृत साहित्य की परम्परा के अनुसार काव्यकर्त्ता श्री पुण्यकुशलगणि ने काव्य में अपना नाम कहीं पर भी नहीं लिखा है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक सर्ग के अंतिम श्लोक में 'पुण्योदय' शब्द का प्रयोग करके उन्होंने अपने नाम का संकेत कर दिया है। यथा—

"भरतनृपतिचारः सोऽथ संयोज्य प्राणी
क्षितिपतिमवनम्यात्यन्तपुण्योदयाद्यम् ।" (७६)
(भरतबाहुबलि महाकाव्यम् — प्रथम सर्ग अंतिम श्लोक)

पञ्जिकायुक्त प्रति में प्रत्येक सर्ग के अंत में सर्गपूर्ति की कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं, उनसे ज्ञात होता है कि श्री पुण्य कुशलगणि तपागच्छ के श्री विजयसूरी के प्रशिष्य और पं० सोमकुशलगणि के शिष्य थे। उन्होंने प्रस्तुत काव्य विजयसेन सूरि के शासनकाल में लिखा। विजयसेन सूरी का अस्तित्व काल विक्रम की १७वीं शती है। अतः यह मानना उच्युक्त होगा कि प्रस्तुत काव्य की रचना विक्रम की १७वीं शताब्दी के मध्य हुई।

पंजिका :

'पंजिका पञ्जिका' इस वाक्य के अनुसार पंजिका

में केवल पदों का संक्षिप्त अर्थ होता है। यह प्रस्तुत काव्य का व्याख्या-ग्रन्थ है। यह अपूर्ण उपलब्ध हुई है। इसमें भरतबाहुबलि महाकाव्यम् के ग्यारहवें सर्ग तक की व्याख्या है।

पंजिका के प्रत्येक सर्ग के अंत में एक श्लोक है जिसके द्वितीय एवं चतुर्थचरण प्रायः भिन्न हैं और प्रथम एवं तृतीय चरण सभी में समान है। तृतीयचरण में 'पुण्यकुशल' शब्द का प्रयोग मिलता है।

कथावस्तु :

महाराज भरत ने समस्त आर्यावर्त का राज्य अपने सौ पुत्रों में विभक्त कर प्रवृज्या ग्रहण की। ज्येष्ठ पुत्र भरत को अयोध्या तथा द्वितीय पुत्र बाहुबली को बहली-प्रदेश (तक्षशिला) का राज्य प्राप्त हुआ।

सम्राट् भरत सम्पूर्ण भारत की दिग्विजय यात्रा करके जब अपनी राजधानी लौटे तो उनका चक्ररत्न आयुधशाला में प्रविष्ट नहीं हुआ क्योंकि उनके अनुज महाराज बाहुबली ने चक्रवर्ती सम्राट् भरत के शासन को स्वीकार नहीं किया था। भरत ने बाहुबली को अपना शासन स्वीकारने का संदेश देकर एक दूत को उनके पास भेजा। काव्य का प्रारंभ यहीं से होता है।

जब महाराज बाहुबली ने भरत के शासन को स्वीकार नहीं किया तो भरत ने अपने सेनापति के परामर्श से युद्ध की घोषणा कर दी। दोनों की सेनाओं में ब्रमासान युद्ध हुआ। युद्ध की भीषणता को देख कर देवगण भूमि पर आए और दोनों को संबोधित किया। अंत में निश्चय हुआ कि सर्व-सहारी हिंसा से बचाने के लिए दोनों योद्धा, आपस में दृष्टि, मुष्टि, शब्द और दण्ड युद्धों के द्वारा विजय का निर्णय करें।

सम्राट् भरत चारों युद्धों में बाहुबली से हार गए। अतिशय क्रोध में भरत ने चक्ररत्न से बाहुबली को नष्ट

करने की धमकी दी और बाहुबली रोष से मुष्टि प्रहार करने के लिए भरत की ओर दौड़ पड़े। किन्तु देवताओं द्वारा प्रतिबुद्ध होने पर उन्होंने अपनी मुष्टि का प्रयोग केश-लुंचन के लिए किया, और वे महाभक्तधारी मुनि बन गए। यह देख सम्राट् भरत भी उनके चरणों में विनत हो गए।

तपः संस्कृत बाहुबली के मन में 'ग्रह' का अंकुर विद्यमान था। अतः कठोर तप करने पर भी एक वर्ष तक उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। भगवान् ऋषभ द्वारा प्रेरित प्रव्रजित ब्राह्मी और सुन्दरी (नामक बहिनों) के द्वारा प्रतिबुद्ध बाहुबली को 'ग्रह' का त्याग करते ही निरावरण ज्ञान की उपलब्धि हुई। [अन्त में भरत की भी वैराग्य दृष्टि और उन्होंने दीक्षा धारण कर केवलज्ञान को प्राप्त किया।

महाकाव्यत्व :

'भरत बाहुबलि महाकाव्यम्' शास्त्रीय-दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। दण्डी (काव्यादर्श—१.१४-१९), विश्वनाथ कविराज (साहित्य दर्पण—६.१५-२५), हेमचन्द्र (काव्यानुशासन—८.६) आदि आलंकारिकों ने महाकाव्य की जो परिभाषाएँ दी हैं, तदनुसार प्रस्तुत काव्य महाकाव्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

इसकी रचना अठारह सगों में की गई है। क्षत्रिय-कुल के धीर-प्रशान्त और धीर शिरोमणि, बाहुबली इसके नायक है। इसका मुख्य रस 'शान्त' है। 'वीर' एवं 'शृंगार' इसके गौण रस हैं। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द का परिवर्तन किया गया है। वृत्त को अलंकृत करने के लिए प्रकृति वर्णन, अन्द्रोदय, वन विहार, जलकोडा, श्रुतु-वर्णन, वन, पर्वत, समुद्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार आदि का मनीहारी वर्णन है। वीर रस के प्रसंग में दिग्विजय, युद्ध, मन्त्रणा, शत्रु पर चढ़ाई आदि विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। काव्य का मुख्य उद्देश्य धर्म की विजय है।

कुछ आलोचक (मुनि श्री नथमल—'भरत बाहुबलि महाकाव्यम्'—प्रस्तुति, पृ० १३-१४) इसे न तो महाकाव्यम्' प्रस्तुति, पृ० १३-१४) इसे न तो महाकाव्य मानते हैं और बल्लभकाव्य, किन्तु वे इसे दोनों काव्यों के लक्षणों से समन्वित काव्य की किसी तृतीय विधा में रखने के पक्षपाती हैं।

इस संबंध में मेरा मत है कि यद्यपि इसमें नायक के जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण न होकर केवल युद्ध का प्रसङ्ग प्रधान रूप से वर्णित है, फिर भी यदि किरात वेष-धारी शिव और अर्जुन के युद्ध की एकाङ्ग-घटना के होने पर भी, 'किरातार्जुनीयम्' को महाकाव्य के ग्रन्थ उपादानों के कारण सर्वसम्मत महाकाव्य माना जाता है तो फिर उसके ही समान 'भरत बाहुबलि-महाकाव्यम्' को महाकाव्य माने जाने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए।

रस, अलङ्कार और छन्दोयोजना :

रस—यद्यपि काव्य में 'वीर' और 'शृंगार' रस सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं, फिर भी इन दोनों रसों का समापन, बाहुबली और भरत के द्वारा तपः साधना कर कैवल्य-प्राप्ति के रूप में होता है, अतः 'शान्त' ही इस काव्य का अङ्गी रस माना जाना उपयुक्त है। सर्वत्र वर्णित होकर भी 'वीर' और 'शृङ्गार' अङ्ग रस के रूप में समझना चाहिए।

अलंकार—प्रस्तुत काव्य में कवि ने शब्दालंकार और अर्थालंकार का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। उपमा और उत्प्रेक्षा की अपेक्षा अर्थान्तरन्यास का अधिक मात्रा में प्रयोग है।

शब्दालंकारों में यद्यपि अनुप्रास, श्लेष आदि अलंकार सर्वत्र दिखाई देते हैं, फिर भी यमकालंकार पर कवि का विशेष प्राग्रह प्रतीत होता है। पूरा पंचम सर्ग यमकालंकार से भरा है। इस सर्ग के ७५ श्लोकों में यमकालंकार प्रयुक्त है। जैसे :—

“इति चमूबलोक्ष्य चमूपतिः,
प्रगुणितां गुणितांतक विग्रहाम् ।
नृपतिमेवमुवाच तनूभवद्वरसमयः
समयः शरवस्त्वयम् ॥”

यहाँ पर, चमू गुणितां तथा समयः, विभिन्न अर्थों वाले इन तीन शब्दों की आवृत्ति होने से यमकालंकार है।

अर्थालंकारों में अर्थान्तरन्यास कवि का प्रतिप्रिय अलंकार है। इसमें सामान्य-विशेष कथनों का विशेष-सामान्य कथनों के द्वारा समर्थन होता है। विशेष सामान्य द्वारा समर्थन का सुन्दर उदाहरण देखिए।

“तदात्मजेष्वो विहितानतिभ्यः प्रत्यपि पैत्रं भरतेन राज्यम्
कीवः प्रणामान्त इहोत्तमानामनुत्तमानां जननाविहितम् ।”
(अ० बा० म० २-८०)

(भाइयो के पुत्र, भरत का आधिपत्य स्वीकार कर नत हो गए। उनको भरत ने छोना हुआ पैतृक राज्य पुनः सौंप दिया। क्योंकि उत्तम व्यक्तियों के क्रोध की अवधि प्रणाम न करने तक और अधम व्यक्तियों के क्रोध की अवधि जीवन पर्यन्त होती है।)

इसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष दृष्टान्त आदि अलंकारों का यथास्थान अतिमनोहर प्रयोग हुआ है।

छन्द—प्रस्तुत काव्य में वर्ण विषय के अनुसार कवि ने छन्दों का प्रयोग किया है। इसमें १८ सर्ग और १५३५ श्लोक हैं। सर्गों में मुख्य रूप से प्रयुक्त छन्द घाठ हैं :— वंशस्थ, उपजाति, अनुष्टुप, विधोगिनी, द्रुतबिलम्बित, स्वागता, रघोद्धता और प्रहृषिणी। उपजाति का सबसे अधिक प्रयोग है। सर्ग के अन्त में प्रयुक्त छन्द बड़े हैं। जैसे :—मालिनी, वसन्ततिलका हरिणी, पुष्पिताम्रा, शार्दूल विक्रीडित, शिखरिणी मन्दक्रांता और स्रगधरा। इनमें वसन्ततिलका का प्रयोग सबसे अधिक है।

भाषा और शैली :

भाषा—काव्य में भाषा की जटिलता नहीं है। ललित-पदावली में सरलता से गुम्फित अर्थ पाठक के मन को मोह लेता है। पद-लालित्य और अर्थ-गाम्भीर्य, ये दोनों काव्य की भाषा की विशेषताएं हैं।

शैली—काव्य में तीन गुण मुख्य माने जाते हैं—माधुर्य, प्रसाद और ओज। माधुर्य और प्रसाद वाली रचना में समासान्त पदों का प्रयोग नहीं होता। ओज गुण वाली रचना में समास बहुल पद प्रयुक्त होते हैं। प्रस्तुत काव्य में प्रसाद और माधुर्य, दोनों गुणों की प्रधानता है। कहीं-कहीं युद्ध आदि के प्रसंग में ओज गुण भी परिलक्षित होता है।

रीति या शैली की दृष्टि से प्रस्तुत रचना वैदर्भी और पाञ्चाली शैली की है। कहीं-कहीं गौणी शैली का भी प्रयोग है।

दोष

नीरसता—कथानक के संक्षिप्त होने का कारण काव्य के कलेवर को बढ़ाने के लिए वर्णनों, बातलापों आदि का इतना अधिक विस्तार कर दिया है कि कहीं-

कहीं पर नीरसता प्रतीत होने लगती है।

अनौचित्य—अनेक देश के राजा-महाराजाओं की सेना के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करने के पश्चात्, षष्ठ एवं सप्तम सर्ग में महाराज भरत का, उपवन में प्रवेश कर, अन्तःपुर की रानियों के साथ वन विहार और जल क्रीड़ा के प्रसंग में, अठखेलियों का वर्णन रस-निवेश की दृष्टि से अनुचित प्रतीत होता है।

पूर्व कवियों का प्रभाव :

प्रस्तुत काव्य पर दो महाकवियों का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है—प्रथम भारवि और द्वितीय कालिदास।

काव्य में भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' से अनेक बातें आदर्श रूप में ग्रहण की गई हैं—काव्य का प्रारम्भ दूत प्रेषण से, प्रत्येक सर्ग के अन्त में किसी विशेष शब्द का पुनः-पुनः प्रयोग ('लक्ष्मी' शब्द का किरातार्जुनीयम् में तथा 'पुण्योदय' शब्द का भरत बाहु० महा० में) आदि।

इसी प्रकार कालिदास में रघुवंश से भी प्रस्तुत काव्य में अनेक बातों की समानता है—रघुदिग्विजय (रघुवंश चतुर्थ सर्ग) से भरत के दिग्विजय (भरत बा० महा० द्वितीय सर्ग) की, मगध, अङ्ग आदि देशों के राजाओं के वर्णन (रघुवंश षष्ठ सर्ग) से, अवन्ति, मगध, कुरु आदि देशों के राजाओं के वर्णन (भरत बा० महा० द्वादश सर्ग) की, आदि।

निष्कर्ष :

प्रस्तुत महाकाव्य संस्कृत साहित्य की एक अपूर्व निधि है। यह अद्यावधि विद्वानों से अपरिचित है। 'बृहत्त्रयो' किरातार्जुनीयम् से इसकी समानता है। भारवि अर्थ गौरव के लिए प्रसिद्ध हैं। प्रस्तुत काव्य में पद-पद पर उपलब्ध सूक्तियों के कारण यह काव्य भी अर्थ गौरव का अच्छा निदर्शन बन गया है।

यह महाकाव्य रस, अलंकार, रीति, भाषा, भाव, ध्वनि, सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। अतएव यह संस्कृत के महाकाव्यों की श्रेणी में महती प्रतिष्ठा प्राप्त करने के योग्य है।

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

साहित्य-समीक्षा

आविर्तीर्थ अयोध्या—लेखक : डा० ज्योतिप्रसाद जैन ।

प्रकाशक : उत्तर प्रदेश दि० जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, लखनऊ । प्रथमावृत्ति १९७६; सचित्र; पृ० सं० ११४; मूल्य ३/- रु० ।

विद्वान् लेखक प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता, इतिहासकार और अनेक गवेषणापूर्ण ग्रन्थों के रचयिता हैं । प्रस्तुत पुस्तक को १२ परिच्छेदों में विभक्त किया गया है जिनमें क्रमशः जैनधर्म और तीर्थ 'अयोध्या' स्थिति, नाम-इतिहास, पुरातत्व, अयोध्या का सांस्कृतिक महत्व, साहित्यगत वर्णन, तीर्थंकरों की जन्मभूमि, महावीरोत्तर इतिहास, धर्माश्रितन और दर्शनीय स्थल, विकास और व्यवस्था, अयोध्या तीर्थ, पूजन एवं माहात्म्य, अयोध्या जिन स्तवन, दिगम्बरत्व तथा जैन परम्परा की प्रधानता आदि विषयों पर सप्रमाण प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है । आदि तीर्थ अयोध्या के विषय में यह प्रायः सर्वांगपूर्ण कृति है जो स्वविषय पर सभी दृष्टियों से प्रकाश डालती है ।

यह मनीषियों, शोधार्थियों एवं जैन विद्यार्थियों के मननशील ग्रन्थेताओं के लिए समान रूप से सर्वथा उपयोगी एवं उपादेय है ।

डा० ज्योतिप्रसाद जैन : कृतिश्च परिचय—सम्पादक : श्री रमाकान्त जैन । प्रकाशक—ज्ञानदीप प्रकाशन, ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ; १९७६; पृष्ठ १४७ ।

प्रस्तुत कृति जैन इतिहास, पुरातत्व एवं इतर जैन विद्यार्थियों के उद्भूत विद्वान् डा० ज्योति प्रसाद जैन की विविध कृतियों की परिचायिका है । इसमें डा० साहब की कृतियों, समीक्षाओं, अभिमतादि, वर्गीकृत लेखसूची तथा सांस्कृतिक सामाजिक प्रवृत्तियों का परिचय दिया गया है । पुस्तक अत्यन्त उपयोगी एवं सर्वथा उपादेय है ।

चेतना का ऊर्ध्वारोहण—लेखक मुनि श्री नथमल । प्रकाशक आदर्श साहित्य संघ, चुरू (राजस्थान); पृष्ठ १६७; १९७८; मूल्य १३/- रुपये ।

मुनिवर श्री नथमल जी की यह कृति चेतना के विकास पर एक प्रामाणिक और साद्यन्त पठनीय कृति है । समीक्ष्य कृति का १९७१ में एक लघु संस्करण भी प्रकाशित हुआ था ।

प्रस्तुत ग्रंथ में चेतना के ऊर्ध्वारोहण की प्रक्रिया, उसे जानने के उपायों और विधियों, उसके व्यवहार्य स्वरूप आदि पर प्रकाश डाला गया है । इसके दो खण्ड हैं—चेतना का ऊर्ध्वारोहण तथा चेतना और कर्म । यह ग्रंथ १७ अध्यायों में समाप्त हुआ है तथा इसका १०वां और ११वां अध्याय विशेष पठनीय है । इन अध्यायों में कर्म की रासायनिक प्रक्रिया पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार किया गया है ।

यह कृति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है । मनोज्ञ सज्जा, आधुनिक प्रस्तुति, निर्दोष छपाई और उचित मूल्य के कारण इसकी उपयोगिता और उपादेयता बढ़ गई है ।

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास—लेखक : श्रीचन्द्र चौरडिया । प्रकाशक : जैन-दर्शन-समिति, कलकत्ता । पृष्ठ ३६०; मूल्य : बीस रुपए मात्र ।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक भव्य-आत्मा में परमात्म-पद पाने की शक्ति विद्यमान है । जीव का संसार उसकी मिथ्यात्व-दशा पर्यन्त है । जब यह अपने पुरुषार्थ द्वारा अपना आध्यात्मिक-विकास कर लेता है तब मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है । प्रस्तुत कृति में जीव के विकासकी प्रक्रिया पर मिथ्यात्वी के स्वरूप, प्रक्रिया, ज्ञान-दर्शन, क्षत, आराधना-विराधना आदि

के विशद, सप्रमाण उद्धरणों के द्वारा सविस्तार प्रकाश डाला गया है। लेखक ने इस प्रक्रिया में बिना किसी भेद भाव के जैनों के सभी सम्प्रदायों तथा जैनेतर उद्धरणों को ग्रहण किया है। यह लेखक की विशेषता ही है।

सोद्धरण विशद वर्णन में एक लाभ यह भी है कि यदि किन्हीं प्रसंगों में, किन्हीं अंशों में किसी को मतभेद भी हो तो उन्हें परिमार्जित करने में सहज ही सहायता

□ □ □

मिल जाती है। फलतः यह कृति शोधार्थियों के लिए भी परम उपयोगी सिद्ध होगी ऐसा विश्वास है। कुल मिला कर कृति के लिए लेखक एवं प्रकाशक सभी धन्यवादाह्व हैं। प्राशा है इसका अधिक-से-अधिक प्रचार-प्रसार होगा और यह लोक में उपयोगी सिद्ध होगी।

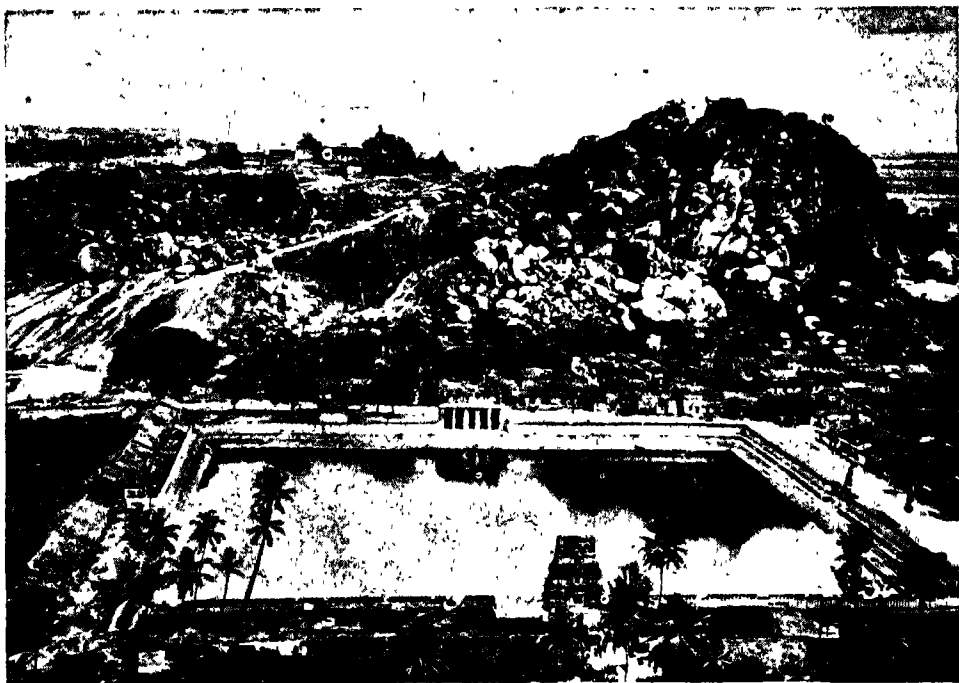
—गोकुल प्रसाद जैन,
सम्पादक

अनागत चौबीसी



[यह अनागत चौबीसी का पृष्ठभाग है जिसमें नीचे स्पष्ट शब्दों में अंत में “अनागत चौबीसी” शब्दों की प्रतिशी शोशे (Magnifying glass) द्वारा पढ़ा जा सकता है। इसमें यशकीर्ति की परम्परा तथा मूर्तिकार की वंश-परम्परा अंकित है जो “अनागत-चौबीसी : दो दुर्लभ कलाकृतियाँ” शीर्षक लेख (लेख इसी अंक में पृ० १० पर मुद्रित है) में विस्तार से वर्णित है। इसका निर्माण संवत् १६७४ की जेठ सुदी नवमी को कराया गया था।]

□ □ □



विष्णुगिरि के जैन मन्दिर, धवणबेलगोल (जिला हासन), कर्नाटक



चन्द्रगिरि के जैन मन्दिर, धवणबेलगोल (जिला हासन), कर्नाटक

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

- पुरातन जैनवाक्य-सूची :** प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-संज्ञ के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। २२-००
- व्यङ्ग्यम् स्तोत्र :** समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... ३००
- स्तुतिविद्या :** स्वामी समन्तभद्र की मनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। २५०
- बुधस्थानुशासन :** तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... २-०
- समीचीन धर्मशास्त्र :** स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ४-५०
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ :** संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और ५० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ६-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ :** अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। जैन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १५-००
- समाधितन्त्र और इष्टोपदेश :** अघ्यात्मकृति, ५० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ५५०
- बाबनबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ :** श्री राजकृष्ण जैन ... ३००
- न्याय-दीपिका :** भा० अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। १०-००
- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश :** पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ७-००
- कलापपाठसुत :** मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री पतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हांगलालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २५००
- जैन निबन्ध-रत्नावली :** श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ७००
- ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) :** संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००
- भावक धर्म संहिता :** श्री दरयावसिंह सोधिया ५-००
- जैन लक्षणवली (तीन भागों में) :** सं० पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री प्रत्येक भाग ४०-००
- Reality :** भा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अग्रजो प अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ८-००
- Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)**

